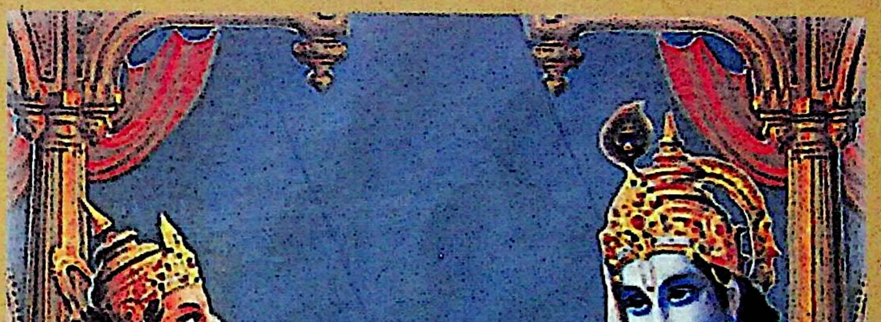
गीता-दर्शन

स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

2



श्रीमती सरला बसन्तकुमार बिरला

गीता-दर्शन

द्वितीय खण्ड

स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

संकलनकर्त्री

श्रीमती सरला बसन्तकुमार बिरला

****

पुस्तक प्राप्ति स्थान :

सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट

'विपुल' 28/16 बी. जी. खेरमार्ग
मालावार हिल
मुम्बई - 400 006
फोन : (022) 23682055
मो. : 09619858361 (नरेश भाई)

स्वामीश्री अखण्डानन्द पुस्तकालय
आनन्द कुटीर, मोतीझील
वृन्दावन - 281 121
फोन : (0565) 2913043, 2540487
मो. : 09837219460

●

प्रथम (नव कलेवर) संस्करण : 500
आराधन दिवस
19 नवम्बर 2011 (मुम्बई)
17 से 23 नवम्बर 2011 (आनन्द वृन्दावन)
(मार्गशीर्ष कृष्ण त्रयोदशी, सम्वत् 2068)

●

मूल्य (तीनों खण्डोंका) : रु0 600/

●

मुद्रक :

आनन्दकानन प्रेस

डी. 14/65, टेढ़ीनीम, वाराणसी - 221001
फोन : (0542) 2392337

****

विनम्र निवेदन

प्रस्तुत 'गीता-दर्शन'' (तीन खण्डोंमें), पूर्व प्रकाशित 'गीता-दर्शन' तेरह खण्डोंका ही एक नवीन संस्करण है। श्रीमद्भगवद्गीता पर परमपूज्य 'महाराजश्री' स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वतीजीका प्रायः दस दिवसीय प्रवचन सत्रका आयोजन श्रीमती सरला एवं श्रीबसन्तकुमार बिरला द्वारा, बिरला पार्क, कोलकातामें सन् 1974 से प्रति वर्ष आयोजित किया जाता रहा। यह क्रम सन् 1986 पर्यन्त, लगातार तेरह वर्षों तक चलता रहा।

पूज्य महाराजश्रीने 19 नवम्बर 1987के दिन वृन्दावनमें अपनी लीलाका संवरण कर लिया। उपरोक्त प्रवचन शृंखलामें श्रीमद्भगवतगीताके पन्द्रहवें अध्याय तक ही प्रवचन हो पाये थे। इन प्रवचनोंकी रिकार्डिंग कर ली जाती थी, तदन्तर सुनके लिख लिया जाता था।

प्रथम तीन प्रवचन-सत्रोंका संकलन श्रीमती सतीशबाला महेन्द्रलाल जेठीने किया। उसके अगले 'गीता-दर्शन' के दस खण्डोंका संकलन स्वयं श्रीमती सरला बसन्तकुमार बिरलाने किया है। पिछले पच्चीस वर्षोंमें 'गीता-दर्शन'के तेरह खण्डोंके सम्पूर्ण सेटकी माँग पाठक वर्ग द्वारा निरन्तर बनी हुई है।

कुछ माह पूर्व सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्टके न्यासी श्री केवलकिशन सेठीने श्रीमती सरला बसन्तकुमार बिरला का 'गीता-दर्शन'के तेरह खण्डोंको तीन खण्डोंमें उपलब्ध करवाये जानेका सुझाव जब ट्रस्टके चेयरमैन स्वामीश्री सच्चिदानन्द सरस्वतीजीके समक्ष प्रस्तुत किया तब उन्होंने इस कार्यके लिए अपनी सहर्ष स्वीकृति प्रदान की। श्रीस्वामीजीने तत्काल श्रीसोमदत्त द्विवेदीको, इस कार्यको शीघ्र-से-शीघ्र सम्पन्न करने हेतु आवश्यक निर्देश दिए। परमादरणीय वीतराग स्वामीश्री गोविन्दानन्द सरस्वतीजीका अथक प्रयास था कि यह ग्रन्थ संशोधित रूपमें पाठकोंके समक्ष प्रस्तुत हो। संशोधनमें ब्रह्मचारी रामनरेशजीका सहयोग सराहनीय है।

आज हम इस बातसे अत्यधिक हर्षित हैं कि पूज्य महाराजश्री जी की श्रीमद्भगवद्गीताकी अनुपम व्याख्याका यह प्रसाद अब हमें इस नवीन कलेवरमें उपलब्ध हो रहा है। इन तीन खण्डोंमें पूज्य महाराजश्रीके रोचक, सरस, प्रसन्न एवं गम्भीर शैलीमें प्रदत्त 130 प्रवचनोंका बेजोड़ संकलन है जिसके माध्यमसे भगवान् श्रीकृष्णका सन्देश 'गीता-दर्शन' साधारण-से-साधारण व्यक्ति भी समझ सकता है। हमें पूर्ण विश्वास है कि सुधी पाठक वर्ग पूज्य महाराजश्रीकी प्रस्तुत व्याख्यासे अवश्य लाभान्वित होंगे।

पुनर्मुद्रणमें प्रकाशनकी अशुद्धियाँ, त्रुटियाँ जहाँ कहीं भी रह गयी हों, आप हमें अवश्य लिखें जिससे कि अगले संस्करणमें शुद्ध किया जा सके। परमपूज्य महाराजश्रीके श्रीचरणोंमें बारम्बार प्रणाम सहित...

–ट्रस्टी

सत्साहित्य-प्रकाशन ट्रस्ट

शुभाशीर्वाद

विरला-परिवारका मानवताकी सेवामें विशेष योग रहा है। इसके द्वारा भारत वर्षके सर्वतोमुखी विकासमें प्रशंसनीय सहायता प्राप्त हुई है। ईश्वर-भक्ति, धर्म, दरिद्रनारायणकी उन्नति, विद्या, उद्योग, राष्ट्रीय स्वतन्त्रता एवं आध्यात्मिक प्रचार-प्रसारमें इसकी सेवा अनुपम है।

श्रीघनश्यामदास बिरलाके पुत्र एवं पुत्रवधू श्रीमती सरला बसन्तकुमार बिरला अनेक वर्षों से कलकत्तामें एवं अन्यत्र भी गीता, उपनिषद् आदिपर प्रवचनका आयोजन करते रहे हैं। उनमें देश-विदेशके अध्यात्मप्रेमी एवं विद्वान्, व्यापारी विविध प्रकारके सम्मान्य वर्ग लाभ उठाता रहा है। उनका रिकार्ड कर लिया जाता है। उसीसे लिखकर अबतक 'गीता-दर्शन' नामसे तीन खण्ड प्रकाशित हो चुके हैं। उनका संकलन एवं सम्पादन श्रीमती सतीशबाला महेन्द्रलाल जेठीने बड़े प्रेम एवं लगनसे किया है।

अब चतुर्थ एवं पञ्चम खण्ड प्रकाशित हो रहे हैं। इनका संकलन श्रीमती सरला बिरलाने बड़े मनोयोगसे किया है। आपको ज्ञात होगा कि एक घण्टेका प्रवचन संग्रह करनेमें छः-सात घण्टे लग जाते हैं। प्रतिदिन प्रातःकाल प्रवचन सुनना, दिनभर आतिथ्य-सत्कार एवं घरकी देखभाल करना सायंकाल पुनः प्रवचनका आयोजन एवं श्रवण करना तथा साथ ही साथ रातमें छः-सात घण्टे प्रवचन लिखना अत्यन्त परिश्रमसाध्य कठिन कार्य है। यह बिना सच्ची लगन एवं प्रेमके नहीं हो सकता। जब हम प्रातःकाल प्रवचन करनेके लिए विरला पार्क पहुँचते तो पहले दिनका किया हुआ प्रवचन लिखित रूपमें हमारे हाथोंमें आजाता। उनके परिश्रम, लगन, शीलस्वभाव एवं गरीबोंकी सेवा की जो नैसर्गिक रुचि है उसकी जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है।

हम हृदयसे आशीर्वाद देते हैं कि वे दीर्घकालतक सपरिवार स्वस्थ प्रसन्न रहकर मानवताकी विशिष्ट सेवा करती रहें।

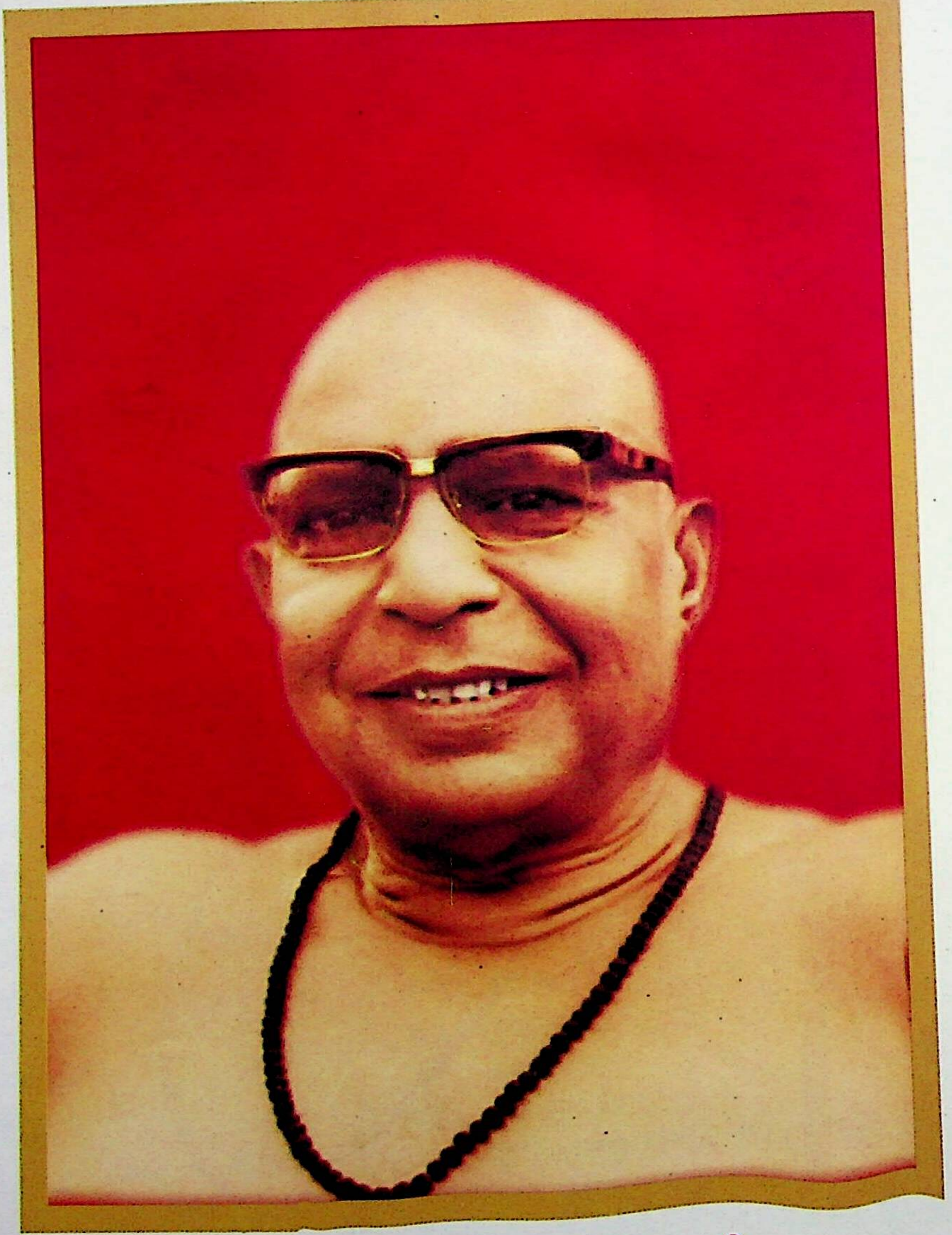
शेष भगवत्कृपा ।

दीपावली
का.कृ.चतुर्दशी
सं. 2036
20-10-79

अखण्डानन्द सरस्वती

अनुक्रमणिका

द्वितीय खण्ड



स्वामीश्री अखण्डानन्दजी सरस्वती

गीता अध्याय-8

प्रवचन : 1

गीता सुगीता है। आओ, हम गीताके संगीतका अभ्यास करें। जैसे गायक लोग संगीतका—उसके आलापका और उसकी राग-रागिनीका चिरकालतक बार-बार अभ्यास करते हैं। वैसे ही हमें भी गीता-संगीतका अभ्यास करना चाहिए।

गीता सुगीता कर्त्तव्या : अद्भुत प्रसङ्ग है। पहले वेदान्तका उपदेश अरण्यमें होता था। आरण्यक विद्या बोलते हैं—इसको। संस्कृतमें वेदान्तका नाम आरण्यक विद्या है। अधिकांश उपनिषद् आरण्यक हैं। अरण्यमें उनका प्रकाश हुआ है। अरण्य शब्दका अर्थ है जहाँ रण न हो। जहाँ लड़ाई-झगड़ा होता हो वहाँ वेदान्त सुननेको मिले तो किसको ग्रहण होगा? वह लड़ाई-झगड़ेमें पड़नेवालोंकी—राग-द्वेष करनेवालोंकी विद्या नहीं है।

परन्तु गीताने इस परम्पराको छोड़ दिया। वह अरण्यमें नहीं, रणभूमिमें प्रकट हुई। एकान्तमें वेदान्त-चिन्तन करना एक विभाग है और रणभूमिमें वेदान्त-चिन्तन करना दूसरा विभाग है। यह दूसरा विभाग रिक्त था। श्रीकृष्णने इसकी पूर्ति कर दी। जरा सोचो तो सही, युद्धभूमिमें वेदान्त! कितना विरोधाभास है दोनोंमें?

एक बातपर आप ध्यान दें—हमारे वेदोंमें, ब्राह्मणोंमें, आरण्यकोंमें जो धर्मकी विद्या है वह यज्ञशालाकी प्रधानतासे है। यज्ञशाला बनाओ, हवन करो, वेदके मन्त्रोंका उच्चारण करो। उसमें कौन अधिकारी है कौन अनधिकारी—इसका ध्यान रखो। वेदमन्त्र शुद्ध बोले जावें। यज्ञकी सामग्री शुद्ध हो। यजमान, पण्डित योग्य होने चाहिए। पवित्र भूमि, पवित्र काल होना चाहिए। जब बड़ी पवित्रतासे यज्ञ करते हैं तब धर्म होता है। यह यज्ञशालाकी प्रक्रियावाले हैं। इसके अतिरिक्त तीर्थमें जाओ। दान करके लौटो तो धर्म होगा। अमुक दिन उपवास करो तो धर्म होगा। अमुक अनुष्ठान कर लो तो धर्म होगा। तात्पर्य यह कि धर्म यज्ञशाला और कर्मकाण्डमें सीमित हो गया। किन्तु गीताने उस धर्मको जीवनके कर्मक्षेत्रमें स्थापित कर दिया। यही गीताकी विशेषता है। युद्धभूमिमें वेदान्त और जीवनकी प्रत्येक क्रियामें, उसके सम्पूर्ण क्रिया-कलापमें धर्म!

अब आप दूसरी बातपर ध्यान दें। धर्मका अनुष्ठान होता था कामनापूर्तिके लिए अथवा अन्तःकरणकी शुद्धिके लिए। यदि सकाम भावसे धर्म किया जाय तो कामनाकी पूर्ति होती है। आप जिस किसी कामनासे भी धर्मानुष्ठान करेंगे आपके संकल्पमें बल आयेगा। क्योंकि धर्ममें कुछ छोड़ना पड़ता है, कुछ पकड़ना पड़ता है। कुछ देना पड़ता है, कुछ नियम ग्रहण करने पड़ते हैं और वे बिना आत्मबलके पूरे नहीं हो सकते। जिसमें आत्मबल नहीं है वह कुछ छोड़नेके लिए चलेगा तो भी जब उसके मनमें लालचका, तृष्णाका उदय हो जायेगा तो वह छोड़ेगा नहीं। इसी तरह उसके मनमें कुछ नियमं पालन करनेका विचार आयेगा तब वह मन निर्बल होनेके कारण नियमका पालन नहीं कर सकेगा। मनुष्यके मनोबलकी, आत्मबलकी वृद्धि ईश्वर-विश्वास और मर्यादा-पालनसे, धर्मानुष्ठानसे होती है। जो अपने नियमका पालन करनेके लिए कष्ट सहनेको तैयार नहीं है,

वह निर्बल रहेगा। जो कष्ट सहकर भी अपनी मर्यादाका पालन करता है, उसके आत्मबलकी वृद्धि होती है। निःसन्देह बड़ा बलवान् है वह व्यक्ति जो विपरीत परिस्थितियोंमें भी धर्मानुष्ठानका, नियमका, मर्यादाका परित्याग नहीं करता।

परन्तु धर्मानुष्ठानको केवल एकादशी आदि व्रतोंतक अथवा काशी-मथुरा आदि तीर्थोंतक अर्थात् अमुक कालसे अमुक काल-तक या अमुक धर्मस्थानसे अमुक धर्मस्थान तक सीमित कर देते हैं तो उसका फल भी सीमित हो जाता है। धर्म असीम होना चाहिए। वह केवल मन्दिरमें न हो, घरमें भी हो। वह केवल यज्ञशालामें न हो, हमारे प्रत्येक व्यवहारमें भी हो। गीताने यही किया। इसने धर्मकी सीमाको देश, काल एवं समाजकी मान्यताओंसे ऊपर उठाकर सब जगह व्यापक बना दिया और ज्ञानके क्षेत्रको भी अरण्यमें-से जंगलमें-से, अयोध्यामें-से बाहर निकालकर सर्वत्र स्थापित कर दिया। अयोध्याका अर्थ भी वही होता है जो अरण्य शब्दका होता है। अयोध्या शब्दकी ब्युत्पत्ति है **नास्ति योध्यो यस्याः**। जहाँ युद्ध करनेके लिए बाकी ही नहीं है, जहाँ युद्ध है ही नहीं, जिससे कोई युद्ध कर ही नहीं सकता, उसका नाम होता है—अयोध्या।

गीताने धर्मको एकान्तसे उठाकर हमारे घरमें, सड़कपर, दूकानमें, व्यापार-व्यवहारमें और ज्ञानको उसके उपदेश-स्थल अरण्यसे निकालकर युद्धभूमिमें उपस्थित कर दिया। यह कहावत तो पहलेसे प्रसिद्ध है कि घोड़ेके रकाबमें पाँव और **ब्रह्मज्ञान!** इसका मतलब है कि ब्रह्मज्ञान घोड़ेपर चढ़ते समय भी हो सकता और तीर चलाते समय भी हो सकता है।

तो गीतामें मुख्य बात यह आयी कि **मामनुस्मर युद्ध्य च**। यह आठवें अध्यायका महावाक्य है। इसका अर्थ है 'मेरा स्मरण करो और युद्ध करो', 'युद्ध करो और मेरा स्मरण करो।' यहाँ हृदयमें, अन्तरङ्गमें अनुस्मृतिकी प्रधानता है और बहिरङ्गमें युद्धकी प्रधानता है। **मामनुस्मर युद्ध्य च**। में जो 'च' है वह युद्धको गौण कर देता है और **मामनुस्मर**को मुख्य कर देता है। लड़ते भी चलो और मेरा स्मरण भी करते चलो।

अब आपको गीताके आठवें अध्यायकी पूर्वपीठिकाकी भूमिकाकी चर्चा सुनाते हैं। सातवें अध्यायमें भगवान्के समग्र रूपके वर्णनकी प्रतिज्ञा है। जैसे राजा लोग अपने महलमें रहते हैं और उनके कर्मचारी लोग उनका राजकाज सम्हालते हैं। वैसे ही भगवान् भी वैकुण्ठमें बैठते हैं और उनके कर्मचारी उनका राजकाज करते हैं। भगवान् यदि जीव हो, मनुष्य हो और संसारकी देखभाल करनेवाला हो तो यही होगा कि वह एक जगह रहेगा। उसके रहनेके स्थानका नाम वैकुण्ठ रखो या ब्रह्मलोक चाहे साकेत या गोलोक, बात एक ही है। यदि उसके एक जगह रहनेकी बात न जँचे तो भगवान् निराकार रूपसे सब जगह रहता है, ऐसा मान लो। यह भी न जँचे तो जितनी क्रिया हो रही है, उसमें प्रेरक रूपसे भगवान् ही बैठा है, यह बात मान लो। गीताके सातवें अध्यायमें इस प्रसंगको अद्भुत रीतिसे प्रतिपादित करते हुए यह बताया गया है कि भगवान्का जो रूप है, वह समग्र है। समग्र है माने निराकार, निर्गुण ब्रह्म—भगवान् सम्पूर्ण जीवोंके रूपमें विद्यमान है। इस सृष्टिमें जो क्रिया-कलाप हो रहा है वह भगवान्, जो पञ्चभूत है वह भगवान्। इनमें जो ब्रह्मा, विष्णु, महेश सृष्टि-संचालन, पोषण और संहार करते हैं वे भगवान्। इतनी उदार दृष्टिसे भगवान्का, परमेश्वरका वर्णन है कि उसमें एक

व्यक्ति भगवान् बनकर बैठ जाय—इसकी गुंजायिश नहीं है। उदाहरणके लिए देखें। भगवान् कहते हैं कि **मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति** मेरे सिवाय दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं। एक परा प्रकृति है और दूसरी अपरा प्रकृति है। दोनोंका कारण मैं हूँ।

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥ 7.4

यह अष्टधा अपरा प्रकृति है। इससे परे जीव प्रकृति है। संसारमें जो कुछ भी दिखायी पड़ रहा है। वह परा प्रकृति और अपरा प्रकृति है। इन सबका कारण मैं एक हूँ।

अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा। 7.6

मुझसे ही सारी सृष्टि उत्पन्न होती है और मुझमें ही सारी सृष्टि लीन हो जाती है।

अतः आप गीताके इन वचनोंको ध्यानमें रखिये और ईश्वरको ढूँढनेके लिए सृष्टिके आदिमें पहुँचनेकी कोशिश मत कीजिए। क्योंकि सृष्टिका आदि आपकी पकड़में कभी नहीं आवेगा। यह असम्भव है। अशक्यानुष्ठान है कि किसी व्यक्तिकी बुद्धि सृष्टिके आदिका साक्षात्कार कर सके। काल अनादि है। आप ईश्वरको ढूँढनेके लिए वहाँ मत जाइये। यह मत सोचिये कि जहाँ सृष्टि नहीं रहेगी वहाँ परमेश्वर मिलेगा। क्योंकि काल अनन्त होता है। कालका आदि, अनादि और कालका अन्त अनंन्त होता है। आप कभी प्रलयावस्थाकी अनुभूति नहीं कर सकते और न सृष्टिके प्रारम्भकी अनुभूति कर सकते हैं। ईश्वरको तो यहीं ढूँढना पड़ेगा। अभी ईश्वर मिलेंगे तो सब समय मिलेंगे। यहीं ईश्वर मिलेंगे तो सब जगह ईश्वर मिलेंगे। यदि इसी रूपमें ईश्वर मिल जावेंगे तो फिर कहना ही क्या है? फिर तो मौत भी ईश्वरके रूपमें दिखायी पड़ेगी।

प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः। 7.30

आठवाँ अध्याय यही बतानेके लिए आया है कि मौत भी आपको भगवान्से अलग नहीं कर सकती। मृत्युमें यह सामर्थ्य नहीं कि वह आपको परमेश्वरसे, अलग कर दे। चलते-फिरते परमेश्वर, बोलते-चुप होते परमेश्वर खाते-पीते परमेश्वर, हँसते-गाते परमेश्वर, जीतते-हारते परमेश्वर, सब समय परमेश्वर ही परमेश्वर। परमेश्वरको ले जाकर एक कोनेमें डाल देना—यह गीताका अभिप्राय नहीं है। ईश्वर निराकार है, यह भी एक पन्थ है। ईश्वर साकार है, यह भी एक पन्थ है। ईश्वर किसी लोकमें रहता है, यह भी एक पन्थ है। हम पन्थकी नहीं सिद्धान्तकी बात करते हैं। सबसे बढ़िया बात यही है कि हम इसी समय ईश्वरको ढूँढकर निकाल लें—पहचान लें कि यही ईश्वर है।

श्रीकृष्णने सातवें अध्यायके अन्तमें आठवें अध्यायकी भूमिका बाँधी। इसको प्रश्न बीज बोलते हैं, जैसे किसी अङ्कुरके लिए बीजका होना आवश्यक है, उसी प्रकार आठवें अध्यायका अङ्कुर निकलनेके लिए सातवें अध्यायके अन्तमें बीज है।

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्॥

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः॥ 7.29-30

आप स्वभावतः संसारके दुःखसे छूटना चाहते हैं। ऐसा कोई प्राणी नहीं होता, जो दुःखसे छूटना नहीं चाहता। पानेकी इच्छा सबके मनमें होती है। जहाँ-जहाँ दुःख होगा वहाँ-वहाँसे छुटकारा पानेकी इच्छा होगी ही। हमने एक चींटीको छूनेकी कोशिश की तो वह भगी। एक मच्छरकी ओर हाथ ले गया तो वह उड़ गया। एक खटमलको पकड़ना चाहा तो वह पकड़में नहीं आया—एक दराजमें जा छिपा। क्यों? इसलिए कि चींटी, मच्छर, खटमल आदि सभी प्राणी दुःखसे छूटना चाहते हैं। आप सब लोग भी मोक्ष चाहते हैं। जहाँ-जहाँ दुःख है वहाँ-वहाँसे हटना चाहते हैं। इसमें कम्युनिज्म, सोशलिज्मका कोई फर्क नहीं होता। नास्तिकको भी दुःखसे छुटकारा चाहिए। इसीलिए मोक्षको पुरुषार्थ कहते हैं। मोक्ष माने छुटकारा—मुक्ति। आप स्वयं सोचये कि छूटना चाहते हैं या नहीं? निश्चय ही आप दुःखसे छूटना चाहते हैं। जड़तामें ही हैं। जन्म भी जड़में, रोग भी जड़में, बुढ़ापा भी जड़में, मृत्यु भी जड़में। जड़ता ही बेहोशी है और आप बेहोशीसे छुटकारा चाहते हैं। वैसे आजकल कई लोग बेहोशीके लिए नशीली चीजें खाते-पीते हैं। परन्तु उनको मालूम रहता है कि इससे जो बेहोशी आयेगी, वह थोड़ी देरके लिए आयेगी। आप भी किसी दर्दसे बचनेके लिए बेहोशीका इञ्जेक्शन लगवाते हैं या गोली खाते हैं; परन्तु आपको मालूम होता है कि उससे जो बेहोशी होगी वह थोड़ी देरके लिए। यदि आपका यह ख्याल हो कि आपको हमेशाके लिए बेहोशी हो जायेगी तो आप उस इञ्जेक्शन या गोलीका सेवन बिल्कुल नहीं करेंगे। हमेशाके लिए जड़ता कोई नहीं चाहता। फिर जो चीज दो दिनके लिए आवे वह तो यही कहावत चरितार्थ करती है कि 'चार दिनकी चाँदनी फिर अँधेरी रात।' आप चार दिनोंकी चाँदनीसे भी छूटना चाहते हैं; क्योंकि उसमें भविष्यका यह दुःख है कि वह फिर जल्दी ही बिछुड़ जायगी।

तो जड़तामें अपनी बुद्धिकी—ज्ञानकी हानि है। दुःख हमको सर्वथा अप्रिय है। हम अप्रियसे छूटना चाहते हैं। अज्ञानसे छूटना चाहते हैं। मृत्युसे छूटना चाहते हैं। दुनियामें सब ऐसा चाहते हैं इसलिए हम लोग ऐसा कहते हैं कि आप नित्यको चाहो, प्रकाशको चाहो, ज्ञानको चाहो, आनन्दको चाहो। तब हम आपको विधान नहीं करते—आज्ञा अथवा उपदेश नहीं करते अपितु इसलिए कहते हैं कि आप सचमुच दुःखसे छूटना चाहते हैं। जड़तासे छूटना चाहते हैं। देखिये आप अपनी प्रगति चाहते हैं न? यह प्रगति क्या है? प्रगति माने जड़तासे छूटना। आगे बढ़ना। उन्नति अर्थात् ऊपर उठना। उत्थानका नाम है उन्नति और आगे बढ़नेका नाम है प्रगति। आजकल प्रगतिशील शब्दका बहुत प्रयोग होता है। इसके प्रयोक्ताओंका तात्पर्य यही होता है कि वे अपने स्थानके आगे बढ़ना चाहते हैं। जड़ता उनकी पसन्द नहीं है। यह बात दूसरी है कि जो लोग किसी पदकी कुर्सीपर बैठते हैं वे इससे उठना नहीं चाहते। उन्हें भी अनित्य कुर्सी नहीं चाहिए। जो कुर्सी आज मिले और कल उलट जाय उसका क्या ठिकाना? पर लोग बैठते उसी पर हैं।

सारांश यह कि आप अनित्यतासे, जड़तासे, दुःखसे बचना चाहते हैं। इसके लिए उपाय क्या है? श्रीकृष्णने बताया। **मामाश्रित्य यतन्ति ये।** भगवान्‌का आश्रय लो और यत्न करो। यहाँ भी दो बाते हैं। एकः

मामाश्रित्य, दूसरी: यतन्ति ये। आश्रय रखो बड़ेका। महान् है, वही आश्रय लेने योग्य है कैकेयीने मन्थराकी शरण ली—बेचारी मारी गयी। दशरथने कैकेयीकी शरण ली—बेटेका वियोग हुआ। स्वयं मर भी गये शरण अथवा आश्रय छोटेका नहीं चाहिए। आश्रय लेने योग्य वही होता है जो हमारी रक्षा कर सके। हमारे अभीष्टकी पूर्ति कर सके। इसके लिए परमेश्वरका आश्रय लेना सबसे उत्तम है।

आश्रय लेकर निकम्मा नहीं होना चाहिए। यह नहीं कि हम तो भगवान्‌के सहारे बैठ गये। नहीं, स्वयं भी प्रयत्न करो। अपना हाथ-पाँव पीटो। तुम्हारे पास जितना बल है, उतना तुम लगाओ। ईश्वरका बल तुम्हारे जीवनमें प्रकट हो जायेगा। ईश्वर बल प्रकट करनेका उपाय ही यह है कि हम अपने बलको लगानेमें कृपणता न बरतें; कञ्जूसी न करें। हमारे पास केवल पाँच रुपये हैं, उनको तो हम दबाकर रखें और सेठसे कहें कि तुम पाँच हजार हमें और दे दो। नहीं, अपने पाँच भी लगाओ, सेठके पाँच हजार भी लगाओ पर चोरी करके नहीं, छिपाकर नहीं बिल्कुल खुले लगाओ। अपने बलका पूरा प्रयोग करो। जितनी शक्ति है, जितना सामर्थ्य है, जितनी बुद्धि है, जितनी प्रतिभा है उसका उपयोग करो। जो कर सकते हो करो। पूर्णरूपसे प्रयत्न करनेपर भी जो न हो सकता हो उसके लिए ईश्वरके बलका आवाहन करो।

मामाश्रित्य यतन्ति ये—में **'आश्रित्य'** असमाप्त क्रिया है। तात्पर्य यह है कि आश्रय लेते चलो—लेते चलो और प्रयत्न करो। यतन्ति मुख्य क्रिया है। मनुष्यको अपने पौरुषका परित्याग नहीं करना चाहिए। यदि मनुष्य अपने पौरुषको छोड़ देता है तो ईश्वरसे छूट जाता है। गीतामें यह बात बतायी है कि भगवान् मनुष्यके शरीरमें पौरुष रूपसे रहते हैं। **पौरुषं नृषु**। मनुष्यके अन्दर जो पुरुषाकार है—पौरुष है, प्रयत्न है वही भगवान् है। यदि आप अपनी ओरसे प्रयत्न कर रहे हैं तो समझें कि आपके जीवनमें भगवान् प्रकट हो रहे हैं। यदि आपने अपनेको मुर्दा कर दिया—अपना पौरुष छोड़ दिया तो भगवान्‌के बलको प्रकट करनेका जो मार्ग था वह अवरुद्ध हो गया—रुक गया। देखते चलो, सूर्यकी रोशनीकी सहायता लेते चलो। अपने ज्ञानका प्रयोग करो, भगवान्‌का ज्ञान आने दो। इसके लिए भगवान्‌ने सात बातें बतायी हैं।

ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्। 7.29
साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः॥ 7.30

ये जो सात बातें हैं इनके लिए आप सात रूपमें ईश्वरको जानें। इनको जाननेके बाद ऐसी कोई चीज नहीं रह जायेगी जो परमेश्वरके रूप न हो। ये सातों परमेश्वरके रूप हैं। ब्रह्म परमात्माका रूप है और आत्मा सबके शरीरोंमें रहनेवाला आत्मदेव, जीव-समुदाय, परा प्रकृति यह भी परमात्माका स्वरूप है—

ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्।

शरीर अलग-अलग हैं और जीव अलग भोक्ता, अलग संसारी, अलग परिच्छिन्न मालूम पड़ते हैं। परन्तु सब जीवात्माओंमें आत्मा एक है। परा प्रकृति है यह। वह कौन है? परमात्मा। **कृत्स्नं अध्यात्मम्**—अध्यात्म माने जीव-समुदाय। यह जो कर्म हो रहा है सृष्टिमें उसीसे नयी-नयी उत्पत्ति होती है। आगे प्रश्न है, इसलिए

भगवान्ने उत्तर दिया। ब्रह्म क्या है? जीव क्या है? कर्म क्या है? अधिभूत क्या है? अधिदैव क्या है? अधियज्ञ क्या है? और मृत्युके समय भी परमेश्वरका दर्शन हो वह क्या है?

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः॥ 8.2

आप अपनेको घड़ा मानोगे तो फूटोगे और मिट्टी मानो तो नहीं फूटोगे। घड़ेमें जो आकाश है वह मानोगे तो छोटे-से हो जाओगे और यदि घड़ेकी दीवार आपको छोटा नहीं बनाती है तो आप अखण्ड आकाश हो जाओगे। घटाकाशमें शराब भी भरेगा, गङ्गाजल भी भरेगा। लेकिन घड़ेकी दीवारको एक बार मनसे अलग करके आकाशकी पूर्णताको देखो तो उसमें न शराब लगेगी, न दूध लगेगा, न गङ्गाजल लगेगा। वह आकाश तो सर्वथा निर्लेप है। भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनको कहते हैं कि 'तू अपने मनको युक्त कर।' युक्त करनेका अर्थ यह है कि हमारे जीवनमें कुछ संयम हो, कुछ नियम हो, कुछ मर्यादा हो। यह सृष्टि कभी स्थूलताकी ओर प्रवाहित होती है और कभी सूक्ष्मताकी ओर प्रवाहित होती है। जब स्थूलताकी ओर जायेगी तो आप पत्थर हो जायेंगे। सूक्ष्मताकी ओर जायेगी तो आप ब्रह्म हो जायेंगे। अपने मनको बाहर बहनेसे बचाइये। चार बातोंपर ध्यान रखिये। आप क्या भोगना चाहते हैं? मर्यादाके अन्दर या मर्यादाके बाहर? यदि मर्यादाके बाहर गये तो गये। फिर तो कहीं रोग-टोक नहीं। आप क्या इकट्ठा करना चाहते हैं? सबकी जेबका पैसा आपकी जेबमें चला आवे, यह चाहते हैं? सारी धरतीके आप मालिक होना चाहते हैं? किस-किस बातका अभिमान करना चाहते हैं? क्या करना चाहते हैं? क्या बोलना चाहते हैं? एकाग्र मनसे इन बातोंपर विचार करें। यदि आपके मनमें भोगकी इच्छा है तो उसको एक सम्प्रदाय दीजिये, एक पन्थ दीजिये, एक मार्ग दीजिये। नहीं तो भोगते-भोगते आपका अन्त हो जायेगा।

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ताः।

भोग तो कभी पूरे होंगे नहीं। आपका जीवन पूरा हो जायेगा। आप असमर्थ हो जायेंगे। भोगका सामर्थ्य भी आपमें नहीं रहेगा यदि आप भोगको नियमित नहीं करेंगे। खाते जायँ—खाते जायँ तो अजीर्ण होगा, बीमार पड़ेंगे और मर जायेंगे। भोजनमें मर्यादा चाहिए। आप इकट्ठा करते जायँ, उसको बाहर न निकालें, बहने न दें और चाहें कि सारा पानी हमारे तालाबमें इकट्ठा हो तो आपका तालाब फूट जायेगा। आप केवल काम करते जायँ—करते जायँ और विश्राम न करें, सोये नहीं तो आपकी शक्तिका लोप हो जायेगा। इसमें भी संयम चाहिए। मनमें जो भी आये वह बोलने लगे तो क्षणभरमें पागल हो जायेंगे। सोचकर बोलना चाहिए। भोगमें मर्यादा रखनी चाहिए। सभी इन्द्रियोंके भोगमें होनी चाहिए। उच्छृङ्खलता नहीं होनी चाहिए। नहीं, तो आप असामाजिक प्राणी हो जायेंगे। आपके जीवनमें पशुत्वका विकास हो जायेगा।

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥ 6.17

गीता कहती हैं कि आप यदि दुःखसे छूटना चाहते हैं तो आपका आहार युक्त हो, विहार युक्त हो, आपकी कर्मचेष्टा युक्त हो, आपका सोना और जागना युक्त हो, आपका मन युक्त हो।

यदि आप एकाग्र मनसे, युक्त मनसे परमात्माका चिन्तन नहीं करेंगे तो आपको सफलता नहीं मिलेगी। आप उच्छृङ्खल हो जायेंगे। इसलिए नियतात्मा होना चाहिए, युक्तचित्त होना चाहिए। युक्तचित्त होकर परमेश्वरको जानना चाहिए।

मनमें प्रश्न आना भी आवश्यक है। भगवान्‌ने बच्चेको कैसी जिज्ञासा दी है। छोटा-सा बच्चा पूछेगा कि यह कौन-सा पेड़ है? यह कौन-सी चिड़िया है? इसे क्या कहते हैं बाबा? बच्चेके मनमें जिज्ञासा होती है। यह ईश्वरकी देन है। ईश्वरकी नियामत है। कुछ पूछकर जानते हैं। छोटेसे बच्चेके मुँहमें शक्कर पड़े तो देख लेता है कि शक्कर कैसी है और उसको बार-बार शक्कर खानेकी इच्छा होती है। लेकिन एक बार उसके मुँहमें कोई कड़वी चीज डाल दो तो थू-थू-कर थूक देगा और फिर उसे मुँहमें नहीं डालेगा। बच्चा बार-बार आगमें हाथ डालनेके लिए दौड़ता है लेकिन जब आँच लग जाती है तो उसे देखकर डर जाता है। मनुष्य कुछ तो खुदके अनुभवसे सीखता है और कुछ बड़े बूढ़ोंके अनुभवसे शिक्षा प्राप्त करता है। मनुष्यके मनमें जो जिज्ञासा है—जाननेकी इच्छा है (ज्ञातुं इच्छा=जिज्ञासा) यह स्वाभाविक है। किसी विषयकी जिज्ञासा जाग्रत होनेपर ही उसकी व्याख्या समझमें आती है। बढ़िया अध्यापक वही होगा जो पहले विद्यार्थीके मनमें जाननेका कौतूहल, जाननेकी इच्छा उत्पन्न कर देगा और जब विद्यार्थी स्वयं जाननेके लिए उत्सुक हो तब उसको उसकी जिज्ञासाका विषय बताये। फिर विद्यार्थीको विषय-ग्रहण हो जायेगा।

हमारे एक मित्र बड़े वेदान्ती थे। उन्होंने कहा—मैं 'खण्डन-खण्डन-खाद्य' पढ़ूँगा। यह वेदान्तका उच्चकोटिका ग्रन्थ है। मैंने वह ग्रन्थ उनके हाथमें दे दिया। फिर, वे एक दिन-दो दिन पढ़कर बोले कि इसमें तो उन प्रश्नोंका समाधान है जो मेरे मनमें नहीं है। अगर मेरे मनमें ये प्रश्न होते तो उनका इसमें जो समाधान है वह ग्रहण हो जाता। जब किसी भी श्रोताके मनमें कोई प्रश्न पैदा हो और फिर उसका उत्तर दिया जाय तो वह उसे हमेशाके लिए पहचान लेगा—समझ लेगा। किन्तु यदि प्रश्न ही पैदा न हो तो उसका उत्तर देनेसे क्या लाभ?

भगवान् श्रीकृष्ण एक अच्छे अध्यापक भी हैं। अध्यापक ही नहीं अध्येता भी हैं। है न अद्भुत बात? श्रीकृष्ण भी पढ़नेके लिए गुरुकुलमें जाते हैं। एक ओर तो हम बोलते हैं कि वे भगवान् हैं, ज्ञानस्वरूप हैं, आनन्दघन हैं, अविनाशी हैं, सत्य हैं, नित्य हैं, परन्तु दूसरी ओर देखते हैं कि गुरुके घरमें पढ़नेके लिए जाते हैं। उन्होंने अर्जुनके मनमें प्रश्न पैदा कर दिया—**किं तद् ब्रह्म?** जिन्होंने गीताका सम्पादन किया उन्होंने लिखा 'अर्जुन उवाच' अर्थात् यह अर्जुनका वचन है। सम्पादनकी दृष्टिसे ऐसा ही बोलना ठीक है कि आगे जो कहा गया है वह अर्जुनका वचन है। 'अर्जुन उवाच' पद क्रिया-विवक्षित नहीं धात्वर्थ-विवक्षित है।

अब अर्जुनके प्रश्नमें जो पुरुषोत्तम शब्दका प्रयोग है **किं कर्म पुरुषोत्तम**—इसके अर्थपर विचार करें। एक पुरुष होता है, दूसरा पुरुषोत्तम होता है। यहाँ अर्जुन पुरुष हैं और श्रीकृष्ण पुरुषोत्तम हैं। पुरुषोत्तम माने पुरुषोंमें बड़े। लोकदृष्टिसे भी पुरुषोत्तम होता है, तत्त्वदृष्टिसे भी पुरुषोत्तम होता है और अधिभूत दृष्टिसे भी पुरुषोत्तम होता है। जैसे आप लोगोंमें कई अर्थ-सिद्ध हैं। यह अर्थ-सिद्धि तब मालूम पड़ती है जब उसके भोगकी इच्छा गौण हो जाती है। आप अपने अर्थमें इतना सुख अनुभव करते हैं कि खाने-पीनेकी चिन्ता नहीं

रहती है। अर्थ-सिद्धि है माने आप उसमें तृप्त हैं। आपको कहीं किसीके पास जानेकी जरूरत नहीं। इसी तरह जो कामसिद्ध होते हैं वे अपने भोग-रागमें इतने तृप्त रहते हैं कि घरमें धन हो तो उड़ा दें, धर्मको ताकपर रख दें। उनको मोक्षकी जरूरत नहीं, वे भोग-सिद्ध हैं।

यदि हम लोग चाहें कि ये हमारे पास आकर शिक्षा ग्रहण करें तो यह हमारी गलती है। उनकी गलती नहीं है। वे तो अपने आपमें तृप्त हैं। इसी प्रकार जो आचार-सिद्ध या धर्म-सिद्ध हैं वे अपने हाथसे बनाकर खाते हैं, सिला कपड़ा नहीं पहनते। यज्ञशालामें होम करते हैं। वे हमलोगोंको प्रणाम नहीं करते क्योंकि उनको इसकी जरूरत नहीं। वे अपने आचारमें, धर्ममें सिद्ध हैं। जो ज्ञान-सिद्ध होते हैं वे सोचते हैं कि हमको क्या जरूरत है किसी धनीकी? क्या जरूरत है किसी भोगीकी? क्या जरूरत है यज्ञशालामें जाकर हवन करनेकी? वे अपने आपमें, ज्ञानमें तृप्त रहते हैं। इस प्रकार भिन्न-भिन्न प्रकारकी सिद्धियाँ होती हैं, सिद्ध होते हैं। उनमें जब एक चाहे कि दूसरा हमारे पास आवे—ज्ञानी चाहे कि धनी हमारे पास आवे, धनी चाहे कि ज्ञानी हमारे पास आवे तो समझना कि दोनों अधूरे हैं। अगर ज्ञानी चाहता है कि धनी हमारे पास आवे तो वह अपने ज्ञानमें तृप्त नहीं है। धनीसे तृप्त होना चाहता है। इसी तरह दूसरे सिद्धोंकी बात समझ लें। तो मनुष्यको होना चाहिए—अपने आपमें सन्तुष्ट—तृप्त।

अर्जुनकी जिज्ञासा देखिये—**किं तद् ब्रह्म, किमध्यात्मम्** यही उसका रूप है। बड़ा लालच है उसकी इस जिज्ञासामें। इसका समाधान जान लेनेपर आप जरा-मरणसे, जन्मसे, रोग और मृत्युके दुःखसे भी मुक्त हो जायेंगे। आइये, हमारी दूकानका जो सौदा है, उसको आप एक बार लीजिए तो सही! उसका नमूना देखिए। यह विज्ञापन है। आपको जो दिनभरमें सौ बार शोक आता है, सौ बार भय आता है, आप जन्मनेको डरते हैं, मरनेको डरते हैं, कमाई छूट जानेकी चिन्तासे डरते हैं। आप डरते हैं कि पत्नी धोखा दे देगी। हमारा पुत्र बेवफा हो जायेगा। इस तरहके जो हजारों भय लगे हुए हैं उन सब भयोंसे आप मुक्त हो जायेंगे। आप समझिये कि ब्रह्म क्या है?

भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः।

भगवान्‌के संकल्पसे कैसे सृष्टि चल रही है? सूर्य चन्द्रमाको कौन चला रहा है? तारागणको कौन धारण करता है? यह धरती अपने चक्रमें कैसे घूमती है? वह अधिष्टान क्या है, जिसमें यह सब हो रहा है? वह 'मैं' क्या है जो कर्ता बना डोलता है? अधिभूत क्या है? **अधिभूतं क्षरोभावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।**

इसमें जो अलग-अलग विभागके अध्यक्ष हैं वे तो अधिदैवत हैं और सम्पूर्ण विश्वसृष्टिका जो मालिक है वह परमेश्वर है। वह स्थान कौन-सा है जिसमें यह सब हो रहा है? यह 'मैं' कौन-सा है जो सबको देख रहा है। यह सृष्टिकी मशीन किसके संकल्पसे चल रही है? यह जो सामग्री है, मसाला है उसके रूपमें कौन है? इसके एक-एक विभागके मालिक कौन हैं? सबका अन्तर्यामी नियन्ता कौन है? वह कभी आँखोंसे ओझल न हो, हमेशा दिखायी पड़े।

प्रयाणकालेऽपि—अर्थात् और समय तो कहना ही क्या मौतके समय भी दिखायी पड़ता रहे। सब दीखे, कहीं अज्ञानान्धकार हो ही नहीं।

असतो मा सद्गमय तमसो मा ज्योतिर्गमय

●

प्रवचन : 2

युद्धभूमिमें, जहाँ दोनों ओरसे शस्त्रास्त्रोंका प्रयोग होने ही वाला है, वहाँ बीचमें बैठकर ब्रह्मकी चर्चा करनेवाले महापुरुष कितने अद्भुत होंगे; इसपर विचार कीजिए। आप लोग किसी व्यापारके कामसे कार चलाते हो और आपका मन उस व्यापार-कार्यमें उलझा हुआ हो तो क्या आप उसके बोझसे मुक्त होकर ब्रह्मचर्चा कर सकते हैं? कितना वशमें होगा अर्जुनका मन, उसमें कितनी एकाग्रता होगी; जो सामने युद्ध-जैसा कठोर कर्त्तव्य उपस्थित होनेपर भी ब्रह्मचिन्तनमें संलग्न है। अर्जुनको कितनी निश्चिन्तता होगी! युद्धकी तो कोई परवाह ही नहीं है। युद्धमें जीतके सम्बन्धमें तो कोई शंका ही नहीं है। वह जानता है उसे विश्वास है कि यदि युद्ध होगा तो वह जीतेगा। उसके सामने प्रश्न केवल विवेकका है कि वह जो काम करने जा रहा है, वह ठीक है या नहीं और ब्रह्मतत्त्वकी अनुभूतिमें कहाँतक सहायक है? इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जब विचार प्रारम्भ हो गया तब उसे बीचमें नहीं छोड़ना, अपितु अन्ततक, ब्रह्मपर्यन्त पहुँचा देना। जो विचार बीचमें रह जाता है वह तो अधूरा है। विचार करना तो पूर्णतापर्यन्त करना।

तो, यह, अरण्य नहीं है, रणभूमि है। जैसा कि बताया जा चुका है अरण्य शब्दका संस्कृतमें सीधा अर्थ होता है, शरण लेने योग्य। घर गृहस्थीसे मुक्त होकर जिस जंगलकी शरण लेते हैं और जहाँ वेदान्त-विचार करते हैं, आरण्यक विचार करते हैं, उसका नाम अरण्य होता है। वहाँ रण नहीं होता। अरण्यका दूसरा अर्थ यह हुआ कि अब रण नहीं होता। जहाँ वादविवाद है, कोलाहल है, मारपीट है, वहाँ वेदान्त-विचार नहीं होता। परन्तु यहाँ तो आप रणभूमिमें बैठकर वेदान्त-विचार कर रहे हैं। जिज्ञासु भी कोई त्यागी, संन्यासी नहीं है। उसके हाथमें शस्त्रास्त्र है और हृदयमें अपने ममतास्पद लोगोंको देखकर मोह है। वह मोहकी निवृत्तिके लिए प्रवृत्त हुआ, परन्तु उसको ब्रह्मचर्चामें इतना रस आया—इतना रस आया कि रणभूमि भूल गयी, मोहास्पद भूल गये और ब्रह्मचिन्तन प्रारम्भ हो गया। आपके मनमें जैसे सुखकी जिज्ञासा होती है कि हमें सुख कहाँ मिलेगा, कब मिलेगा और कैसे मिलेगा, वैसे ही सत्यकी जिज्ञासा होती है कि नहीं? अवश्य ही आपको सुखकी इच्छा होती है, वह चाहे ज्ञानसे मिले, चाहे अज्ञानसे! चाहे सत्यसे मिले, चाहे असत्यसे। वेद, शास्त्र, धर्मकी रीति यह है कि आप सुखको चाहें और प्राप्त भी करें, परन्तु असत्यसे नहीं, सत्यसे। आप अज्ञानमें सुखी न हों, ज्ञानसे सुखी हों, आँख बन्द करके खुश न हों, खुली आँखसे खुश हों। तो जब अर्जुनके मनमें जिज्ञासा जागृत हुई तो उसने प्रश्न करनेमें संकोच नहीं किया। कई लोगोंके मनमें जाननेकी इच्छा तो होती है, परन्तु उन्हें पूछनेमें संकोच होता है। उस प्रश्नगत संकोची स्वभावको कबतक दबाओगे? एक-न-एक दिन तो वह उभरकर रहेगा। इसलिए उसका समाधान कर लेना चाहिए। प्रश्न भी जीवनका एक स्वाभाविक अंग है, जैसा कि बच्चेके जीवनमें होता है। प्रश्न स्वयं भी जगता है और जगाया भी जाता है। यहाँ भगवान्ने अर्जुनके मनमें प्रश्न जगा दिया है—

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः॥ 7.30

इस प्रश्नमें अर्जुन रस ले रहे हैं। यह सत्यका रस है, ज्ञानका रस है। किन्तु यह रस द्रव्यका नहीं है, भोगका नहीं है, कर्मका नहीं है। यह ऐसा रस है जो जिज्ञासुमें होना ही चाहिए। आप अपनेको तौलिये और देखिये कि आपको स्वाद कहाँ आता है? सोनेमें आता है? भोजनमें आता है? काममें आता है? प्रेममें आता है? विचारमें आता है? शान्तिमें आता है? आपका रस, आपका स्वाद आपके जीवनमें कहाँ रखा है?

तो, प्रश्न हुए सात। अर्जुनने सातों बातोंको ग्रहण किया। उसको एक नयी बात मालूम पड़ी। जिसको थोड़ी-सी सुनी हुई बात नयी मालूम पड़ती है, उसको और-और जाननेकी रुचि होती है। एक दिन हमारे पास एक महिला आयीं। उनसे हमारा पहलेसे कोई परिचय नहीं था। पर देखनेमें बहुत प्रभावशाली मालूम पड़ीं। उन्होंने बैठकर भागवतके एक श्लोकका अर्थ पूछा। मैंने उनको सुनाया। वे बोलीं कि स्वामीजी, यह अर्थ तो श्रीमद्भागवतकी किसी भी टीका-टिप्पणीमें नहीं है। यह सुनकर हमको खुशी हुई। मैंने कहा कि आपने भागवतकी सारी टीका-टिप्पणी पढ़ रखीं हैं? उन्होंने कहा कि हाँ महाराज! संस्कृतमें पचास टीकाएँ तो भागवतपर हैं। फिर तो उनको सुनानेमें रस आने लगा। हमको अनुभव हुआ कि यह बहुत अध्ययनशील हैं। पहलेसे इस विषयमें विचार करके आयी हैं। आप चाहे पढ़नेके लिए विद्यालयमें जायें, चाहे श्रवणके लिए सत्संग-भवनमें जायँ आपको जो विषय पढ़ना है या श्रवण करना है, उसके बारेमें यदि पहलेसे थोड़ा-सा अध्ययन कर लें, उसकी टीका-टिप्पणी देख-सुन लें तो आपको मजा आयेगा।

अब आओ सातों प्रश्नोंपर विचार करें—

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः॥ 8.3

अक्षरं ब्रह्म। अक्षर परम ब्रह्म है। यहाँ अक्षर शब्दका अर्थ देखो। लिपियाँ अलग-अलग होती हैं। नागरी अलग है, तमिल अलग है, अंग्रेजी अलग है, रसियन अलग है, चायनीज अलग है। परन्तु उनमें 'अ' या 'क' अक्षर एक है। लिपिके भेदसे अक्षरमें भेद नहीं होता। अक्षरके आकारका नाम लिपि है। आकारके भेदसे निराकार अक्षरमें भेद नहीं होता। आकार स्त्रीका है, आकार पुरुषका है, आकार पशुका है, आकार पक्षीका है, आकार पेड़-पौधेका है। आकार माने शक्ल-सूरत, आकृति। आकृतिसे जातिका ग्रहण होता है। जैसे गाय या भैंसको पहचानने के लिए उनकी आकृति देखनी पड़ेगी। भैंस ऐसी होती है, गाय ऐसी होती है। यह गायोंकी जाति। यह भैंसोंकी जाति। यह मनुष्योंकी जाति। जाति ब्राह्मण नहीं है। जाति हिन्दू-मुसलमान नहीं है। ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि तो वर्ण हैं। **वर्णनात् वर्णः।** शास्त्रीय वर्णनसे वर्णका नाम होता है और आकृतिसे जातिका ग्रहण होता है। आचार्योंसे मजहब बनते हैं। लिंगसे स्त्री-पुरुष बनते हैं।

तो अक्षर क्या है? परब्रह्म परमात्मा है। सम्पूर्ण आकारोंमें रहकर निराकार है। **आकारेभ्यो निष्क्रान्ताः।** निराकार शब्दका अर्थ तो यह है कि सब शक्ल-सूरतोंमें, आकारोंमें रहकर भी उनसे परे हो। जो रासमें भी हो,

कृष्णमें भी हो, शिवमें भी हो, देवीमें भी हो, गणेशमें भी हो, सूर्यमें भी हो, परन्तु हो सबसे अलग। यदि परमेश्वरकी केवल एक आकृति मान ली जाय तो वह एक व्यक्ति हो जायेगा। जैसे हम एक आदमी होते हैं, वैसे ही परमेश्वर भी एक आदमी होगा। व्यक्तियाँ अनेक हैं, लिपियाँ अनेक हैं, परन्तु उनमें जो अक्षरके समान एक तत्त्व है, उसको परम ब्रह्म बोलते हैं। महाभाष्यमें अक्षर शब्दका अर्थ है अश्नुतेति। **अश्नुते व्याप्नोति।** जो अनेक आकारोंमें व्याप्त होता है, उसका नाम है अक्षर। अक्षर माने 'न क्षरति।' जिसका क्षरण हो, जो घिस जाय, उसको क्षर बोलेंगे। जैसे भूक्षरण होता है। माटी बह जाती है। यह क्षर है। परमात्मा वह है, जो कभी घिसता नहीं, पिटता नहीं, मिटता नहीं—एक सरीखा अक्षररूप मानता है, ईसाई भी अक्षररूप मानते हैं, मुसलमान भी अक्षररूप मानते हैं। हमारे सनातन धर्ममें भी परमात्माका स्वरूप अक्षर है। अक्षर माने अविनाशी, अनेकमें एक, सब आकारोंमें रहकर भी निराकार। आप उसका ध्यान कर सकते हैं। आकृतियोंका अलगाव करके सब आकारोंमें जो एक है, उसका ध्यान कीजिए। घड़े अनेक हैं, मिट्टी एक है। तरङ्ग अनेक हैं, पानी एक है। लपटें बहुत हैं, दीये बहुत जल रहे हैं, आग एक है। साँस अलग-अलग चल रही है, हवा एक है। ऐसे ही परमात्मा होता है। अब यदि परमात्मा सगुण है तो आप उससे प्रार्थना भी कर सकते हैं। प्रार्थना माने प्रकृष्टत्वेन अर्थना। प्रभु, आप ही सबसे श्रेष्ठ हो, आपसे श्रेष्ठ और कोई नहीं है। हमारे धनसे, जनसे, अहंसे सबसे श्रेष्ठ आप हो। आपकी श्रेष्ठताको मैं स्वीकार करता हूँ। आप उसको नमस्कार भी कर सकते हैं। नमस्कार माने नमः, नमः, नमः—न मम—न मम। मेरा नहीं है, मेरा नहीं है—सब कुछ तेरा है। तुम्हारे बड़प्पनके सामने मेरा बड़प्पन कुछ नहीं है। आप उसके नामका जप भी कर सकते हैं—**ॐ इत्येकाक्षरं ब्रह्म।** 'ॐ' यह अक्षर ब्रह्म है। एक भी है, अक्षर भी है। **तस्य वाचकः प्रणवः।** उसमें केवल वाच्य, वाचकका भेद है। वाचक अनेक हैं और वाच्य एक है। वाचक राम भी बोल रहे हैं, श्याम भी बोल रहे हैं, ॐ भी बोल रहे हैं। अनेक स्थानपर, अनेक समयमें, अनेक रूपमें ॐकारका उच्चारण हो रहा है। परन्तु परमेश्वर एक है। आप उसका ध्यान कीजिए, प्रार्थना कीजिए, नमस्कार कीजिए, जप कीजिए। उसको अपने जीवनके साथ, मनके साथ, बुद्धिके साथ जोड़िये। यह जो आप एक घेरेमें सीमित हो गये हैं, आपके जीवनमें संकीर्णता आगयी है, यह अखण्ड ज्ञानमें बाधक है। मजहब एक घेरा ही होता है। अखण्ड परमेश्वरके स्थानपर एक आचार्य मजहब हो जाता है। इसी तरह एक जाति, एक परिवार, एक वर्ग, एक लिङ्गका घेरा होता है। ये सब परिच्छिन्नताएँ हैं। यदि आप परमात्माके साथ अपनेको जोड़ेंगे तो इन सारी परिच्छिन्नताओंसे अलग हो जायेंगे। आप कतरे नहीं रहेंगे, दरिया हो जायेंगे। घटाकाश नहीं रहेंगे, महाकाश हो जायेंगे। यह है अक्षर ब्रह्म।

अब दूसरा प्रश्न है अध्यात्म क्या है? उत्तर है **स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।** स्वभाव माने स्वसत्ता। आप द्रष्टा हैं। इधर देखो तो सब परमात्माका स्वरूप है और उधर देखो तो वह अक्षर है, परमब्रह्म है। सह रहा विश्वदृष्टिका आधार और आप स्वयं द्रष्टा बनकर उसे देख रहे हो। द्रष्टा भी परमात्माका स्वरूप है। स्वभाव माने 'स्वस्य भावः'—अपनी सत्ता, अपना भाव अभेदमें भी षष्ठी होती है। जैसे **'पुरुषस्य चैतन्यः'** **'ब्राह्मणस्य शरीरम्'**में अभेद होता है वैसे ही 'स्वभावः' अर्थात् 'स्वस्य भावः'में अभेद है। आपकी जो

अपनी सत्ता है उसीका नाम अध्यात्म है। सबके भीतर हैं आप। इस देहके भीतर हैं, इन्द्रियोंके भीतर हैं, मनके भीतर हैं और बुद्धिके भी भीतर हैं। स्वकी सत्तासे ही सबकी सत्ता प्रकाशित होती है। इसलिए जीवका जो असली रूप है उसका नाम होता है अध्यात्म। आप सबसे निवृत्त होकर इसमें स्थिर हो सकते हैं। यह इसका स्वभाव है। आपके जितने कारखाने हैं उनको थोड़ी देरके लिए अपनी जगहपर रहने दीजिए। मकान, परिवारको अपनी जगहपर, धन-दौलतको अपनी जगहपर, शरीरको अपनी जगहपर—उन सबकी ओरसे आँख मोड़कर आप अपने आपमें बैठ जाइये। यह भी परमात्माका ध्यान है। परमात्माके उपासनाकी एक पद्धति है। वह निवृत्ति है और परमात्माके नमस्कारमें, ध्यानमें जो तन्मयता है वह जपमें प्रवृत्ति है। सभी सांसारिक पदार्थोंकी ओरसे मन हटाकर अपने आपमें बैठ जाना निवृत्ति और परमात्माके नमस्कारमें, ध्यानमें तन्मय होना प्रवृत्ति। साक्षात्कारका मार्ग एकमें परमात्मा रहा 'वह' और दूसरेमें परमात्मा रहा 'मैं'। आखिर व्यवहारमें परमात्मा है कि नहीं? 'वह' और 'यह' के बीचमें ही तो व्यवहार चलता है। उधरसे भगवत्-सङ्कल्प आता है और इधरसे चेष्टा होती है।

अब देखो, **भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः**। दुनियामें आपको कुछ भी बनाना है, मिट्टीसे घड़ा बनाना है, पानीसे बरफ बनाना है, इस्त्रीमें गरमी लेकर कपड़ेकी सिलवट मिटानी है तो कर्म करना पड़ेगा। भगवान् जब सृष्टिकर्म करता है, सृष्टि बनाता है तब अपनी योग-निद्रा छोड़कर अपने स्वरूप रूप वीर्यको सन्तानोत्पत्तिके लिए प्रयोग करता है, वैसे ही परमेश्वर अपने वीर्यको योगमायामें डालकर यह सृष्टि बनाता है। आप यह प्रसङ्ग चौदहवें अध्यायमें देखें—

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥14.3

यह गर्भाधान ही तो है मायामें—प्रकृतिके पेटमें। **महद्ब्रह्मयोनिः अहं बीजप्रदः पिता**—महद्ब्रह्म, महद्तत्त्व, बुद्धि यह माता है और **विसर्गः कर्मसंज्ञितः** जब प्रकृतिके प्रथम परिणाम महत्तत्त्वमें भगवान्का आभास पड़ता है तो आभासरूप वीर्याधानसे यह सृष्टि होती है। **तस्मिन् वीर्यं दधाम्यहम्। सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत**—इसका अर्थ यह है कि वह सृष्टिकर्म भगवान्ने किया है। आप भी कर्म कीजिए और अपने कर्मके द्वारा स्वयंको भगवान्के साथ मिला दीजिए। आपका और भगवान्का मतभेद न हो। आपके कर्मकी दिशा और भगवत्-कर्मकी दिशा अलग-अलग न हो। **राजी हैं हम उसीमें जिसमें तेरी रजा है।** जोड़ दो अपनेको भगवान्के साथ। एक सन्तने कहा कि प्रभो, यदि मैं नरकसे बचनेके लिए तुम्हारी प्रार्थना करता हूँ तो मुझे नरकमें डालो और यदि मैं स्वर्गमें जानेके लिए प्रार्थना करता हूँ तो मुझे स्वर्ग कभी मत दो। मेरी इच्छा नहीं, तुम्हारी इच्छा पूरी हो।

तो, कर्मके द्वारा भगवान्की आराधना कब होती है? वैदिक सिद्धान्तके अनुसार निष्काम भावसे किया हुआ यज्ञ अन्तःकरण-शुद्धिका साधन है। यह अपौरुषेय ज्ञान है। किन्तु गीतामें श्रीकृष्ण कहते हैं कि यज्ञ-योगकी बात तो सीमित है। हमारा तो कर्म ही यज्ञ है। कर्मकी इतनी उदार व्याख्या और किसी शास्त्रमें नहीं

मिलती। द्रव्ययज्ञ, कर्मयज्ञ **एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे** ये सब यज्ञ हैं। यहाँ तक कि हमारा जीवन ही यज्ञ है। यह जो पृथिवी सबको धारण करती है, वह पृथिवीका यज्ञ है।

यज्ञ करते समय क्रोध नहीं आना चाहिए। आपने पुराणोंमें पढ़ा होगा कि जब पृथुके घोड़ेको इन्द्रने कई बार चुरा लिया तो उनको क्रोध आगया और उन्होंने इन्द्रको मारनेका विचार किया। इसपर अत्रिने कहा कि तुम इस समय यज्ञमें दीक्षित होनेके कारण घोड़ा चुरानेवालेको भी नहीं मार सकते। ठहरो हम वेदमन्त्रसे ही इन्द्रको पकड़ते हैं और उसको मारते हैं। यदि तुम अपनी शारीरिक शक्तिका प्रयोग करोगे तो यज्ञकी शक्तिका तिरस्कार हो जायेगा। इसको ऐसे समझो कि तुम धर्मके द्वारा धन कमा रहे हो। तुम्हारे साथ किसीने गड़बड़ी की। इसपर तुमने यदि यह विचार किया कि इसने हमारे साथ बेईमानी की है, इसलिए हम भी इसके साथ बेईमानी करेंगे तो धर्मपर तुम्हारा जो आश्रय था वह छूट गया। सामनेवाला चाहता था कि तुम धर्म छोड़ दो और तुमने धर्म छोड़कर उसका साथ दिया। यदि तुम कहते कि हम तो सच बोलना चाहते थे, पर यह झूठ बोलता है, इसलिए हम भी झूठ बोलते हैं तो तुम्हारा सच छूट गया। तुम भी असत्य-वादियोंकी कोटिमें चले गये। तो कहनेका मतलब यह है कि यज्ञमें कोई विघ्न-बाधा पड़े तब भी आप क्रोध न करें, क्योंकि आपका यज्ञ सबके लिए है। यज्ञ शब्दका अर्थ है कर्मके द्वारा भगवान्की आराधना करना। कर्म अपनी वासनाकी पूर्तिके लिए नहीं, भगवान्की आराधनाके लिए हो। गीता कहती है कि

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।

मनुष्य अपने कर्मके द्वारा भगवान्की आराधना करके सिद्धि प्राप्त करता है। अतः आप देखिये कि अपने कर्मसे किसकी आराधना करते हैं। **कस्मै देवाय हविषा विधेम?** आप इस लक्ष्यको ध्यानमें रखिये कि आपका कर्म होता है—जिनको वस्त्रकी जरूरत है, उनको वस्त्र देनेके लिए, जिनको मकानकी जरूरत है, उनको मकान देनेके लिए, जिनको भोजनकी आवश्यकता है, उनको भोजन देनेके लिए। आप यह भावना रखिये कि हम तो अपने कर्म-कलापसे सर्वात्मा भगवान्की आराधना कर रहे हैं, यज्ञ कर रहे हैं, अपने कर्त्तव्यका पालन करनेके लिए, अपने अन्तःकरणको शुद्ध करनेके लिए, भगवान्को प्रसन्न करनेके लिए और अपनी गल्तियोंका परिमार्जन करनेके लिए। कर्मके चार उद्देश्य होते हैं। एक तो अबतक हमसे जो भूलें हुई हैं, उनके प्रायश्चित्तके लिए कर्म करते हैं। दूसरे हमारे अन्तःकरणमें जो अशुद्धियाँ हैं, वासनाएँ हैं उनको मिटानेके लिए कर्म करते हैं। तीसरे माता-पिताके प्रति, समाजके प्रति हमारा जो कर्त्तव्य है, उसकी पूर्तिके लिए कर्म करते हैं। अपने कर्त्तव्यके पालनमें जब हमारा अन्तःकरण निष्काम होता है, निर्मल होता है तो जैसे आकाशमें सूर्य चमकता है वैसे ही हमारे अन्तःकरणमें परमेश्वरका प्रकाश हो जाता है।

भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसञ्ज्ञितः का तात्पर्य है कि प्राणियोंके हृदयमें नवीन-नवीन भावनाकी उत्पत्तिके लिए अथवा पञ्चभूतोंसे नवीन-नवीन वस्तुओंके निर्माणके लिए, उनके भीतर छिपी शक्तिको प्रकट करनेके लिए भगवान् जो विसर्गरूप कर्म करते हैं, उसमें तब भी अपने कर्म द्वारा सहयोग करें। भगवान् श्रीकृष्ण उठाते हैं गोवर्धन। ग्वाल-बाल गोवर्धन तो नहीं उठा सकते, लाठियाँ लगाते हैं। ऐसे ही

भगवान् जो कर रहे हैं, उसमें हमारी लाठियाका, हमारे हाथका सहयोग भी होना चाहिए। भगवत्कर्ममें अपने कर्मके सहयोग द्वारा हम भगवान्की आराधना कर सकते हैं। **अधिभूतं क्षरोभावः**—क्षर भी भगवान्का ही रूप है, कर्म भी भगवान्का रूप है और अधिभूत भी भगवान्का ही रूप है। हम लोग शिवमह्मिन स्तोत्र पढ़ते है—

त्वमर्कस्त्वं सोमस्त्वमसि पवनस्त्वं हुतवह-
स्त्वमापस्त्वं व्योमस्त्वमु धरणिरात्मा त्वमिति च।
परिच्छिन्नामेवं त्वयि परिणता बिभ्रति गिरं
न विद्मस्तत्तत्त्वं वयमिह तु यत्त्वं न भवसि॥

यह पृथिवी भगवत्रूप है। पृथिवीका कर्मयोग यह है कि वह सबको धारण करती है। परन्तु अपने ऊपर थूकनेवाले पर, लघुशङ्का करनेवालेपर, शौच जानेपर, अपनेको खोदनेवालेपर कभी क्रोध नहीं करती और यह नहीं कहती कि हम तुमको अपने ऊपर धारण नहीं करेंगे। यही कर्मयोगका रूप है। जब अपने भीतर जो दूध डाले, उसका भी आप्यायन करता है, पालन-पोषण करता है और जो गन्दा करे, उसको भी तर करता है। सूर्य सबको रोशनी देता है, चन्द्रमा सबको चाँदनी देता है, हवा सबको साँस देती है, अग्नि सबको तेज देती है। आकाश सबको घूमने, फिरने, बोलने, साँस लेनेका अवकाश देता है। वह यह नहीं कहता है कि गाली देनेवालेकी आवाज वहाँ तक नहीं पहुँचायेंगे और तारीफ करनेवालेकी आवाज पहुँचा देंगे। आकाशमें सबकी आवाज बराबर है। यह यज्ञ है, भगवत्-कर्म है और इस अधिभूतके रूपमें स्वयं भगवान् हैं।

ॐ भूरसि भूमिस्यदितिरसि विश्वधाया विश्वस्य भवनस्य धर्त्री।
पृथिवीं यच्छ पृथिवीं दृ ꣳ ह पृथिवीं मा हि ꣳ सीः॥

'क्षरोभावः'का अर्थ है भगवान् ही क्षर रूपमें हैं। बदलनेवाले भी भगवान् ही हैं। एक वेदान्ती महात्मा थे। उनका आग्रह था कि परमात्मामें परिवर्तन नहीं होता। संसारमें परिवर्तन होता है। परमात्मा अपरिवर्तनशील तत्त्वके रूपमें एकरस और अपरिणामी है। मैंने उन महात्मासे कहा कि आप परिणाम क्यों बोलते हैं। नित्यनूतन क्यों नहीं बोलते? हमारा परमात्मा नित्यनूतन है। हम जितनी बार उसकी ओर देखते हैं, वह बिलकुल नया-नया दीखता है। यह जगत्का रूप है, विकारी नहीं है, परिणामी नहीं है। मोहके कारण ही इसमें विकार मालूम पड़ता है। जैसे दूधमें विकार हुआ तो दही बन गया। क्या दूध उत्तम रूप है और दही निकृष्ट रूप है? नहीं दूध भी उत्तम है, दही भी उत्तम है। दूध दहीके रूपमें बदल गया तो क्या! रस तो उसमें है। जो रस दूधमें था, वही रस एक नया रूप लेकर दहीमें आया। वही रस परमात्मा है—**रसोऽहमप्सु कौन्तेय।** यदि आप कहें कि मल-मूत्र रस नहीं होता तो किसीके लिए उसमें भी रस होता है। सूअरके लिए, पेड़-पौधोंकी खाद आदि के लिए उसीमें रस होता है। उनका भोजन उसीमें रहता है।

तो **अधिभूतं क्षरो भावः।** यह जो परिवर्तन है, इसमें पहचान लो कि इसके भीतर कौन है? यदि कोई

दिनभरमें दस तरहकी पोशाक पहनकर, दस तरहके बाल सँवारकर, दस तरहकी बोली बोलता हुआ आपके सामने आवे तो कैसा लगेगा। यदि आपका प्रिय होगा तो मजा आयेगा और अप्रिय होगा तो आप कहेंगे कि यह बनावट कर रहा है। जैसे अपने प्रियका हर वेश अच्छा लगता है वैसे ही जो लोग परमेश्वरको पहचानते हैं, वे जानते हैं कि परमात्मा नये-नये रूपमें प्रकट हो रहा है। वे सर्वरूपमें परमात्माका दर्शन करते हैं। यह क्षर भाव भी परमात्माका ही है। मिट्टी परमात्मा है तो क्या घड़ा परमात्मा नहीं है? हमलोग देहकी तरफ ज्यादा देखते हैं, तत्त्वकी तरफ नहीं देखते। इस शरीरमें जो माटी है, पानी है, आग है, हवा है, आसमान है, यह सब परमात्माका स्वरूप है। हम पढ़ते हैं—

वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।

यह सब परमात्माका स्वरूप है।

अब आप देवताओंकी बात लीजिये। हमारे सनातन धर्मकी विशेषता है कि प्रत्येक इन्द्रियके अनुग्राहक देवता होते हैं। आप जो आँखसे रूपको देखते हैं, उसके बीचमें सूर्यकी रोशनी है। वह एक ओर जहाँ रूपपर अनुग्रह करती है, रूपको चमका देती है, वहाँ दूसरी ओर हमारी आँखोंमें जो देखनेकी शक्ति है, उसको बढ़ा देती है। रूपका अनुग्राहक भी सूर्य है और नेत्रका अनुग्राहक भी सूर्य है। सूर्य देवता है और वह भेदभाव नहीं करता। यही बात चन्द्रमामें है। सूर्य और चन्द्रमाका अद्भुत जीवन है।

स्वस्ति पन्थां अनुचरेम सूर्यचन्द्रमसाविव।

इसका तात्पर्य है कि हम जीवनमें सूर्यके समान आगें बढ़ें, चन्द्रमाके समान आगें बढ़ें। सबको प्रकाश दें, सबको आह्लाद दें। किसीकी हिंसा न करें और सबको कुछ-न-कुछ देते चलें। ये तीन विशेषताएँ हैं सूर्य और चन्द्रमाकी, मनुष्यको इनसे प्रेरणा लेनी चाहिए। अज्ञानीको ज्ञान देना, प्रकाश देना, सबको शक्ति देना, सबको आनन्द देना, किसीकी हिंसा न करना और चलते रहना-कभी रुकना नहीं। **चरैवेति-चरैवेति।** यह मनुष्यका धर्म है। यज्ञ है।

पुरुषश्चाधिदैवतम्—में जो पुरुष शब्द है उसका अर्थ है—हिरण्यगर्भ। सम्पूर्ण विश्वसृष्टिके मूलमें हिरण्यगर्भ है। एक ब्रह्माण्डमें है ब्रह्मा और हमारी इन्द्रियोंको शक्ति देनेके लिए वह भिन्न-भिन्न रूपमें है। आँखके लिए सूर्य है, कानके लिए दिशाएँ है, हाथके लिए इन्द्र है, वाणीके लिए अग्नि है, जीभके लिए, स्वादके लिए वरुण है। इन देवताओंकी भिन्न-भिन्न रूपसे उपासना करनेसे उन- उन इन्द्रियोंकी शक्ति बढ़ती है। जैसे मिनिस्टरोंके विभाग बँट जाते हैं, वैसे ही हमारे ऐन्द्रियक कर्म हैं। उनका विभाग एक समष्टि देवताके हाथमें बँटा होता है। वही उसका मूलस्रोत होता है। उसकी आराधना अलग-अलग की जा सकती है। जैसे सूर्यकी पूजा होती है, चन्द्रमाकी पूजा होती है वैसे ही अलग-अलग अधिष्ठातृ देवताओंकी पूजा होती है। अश्विनीकुमारोंकी पूजा, वरुणकी पूजा, अग्निकी पूजा, ये सब हमारी व्यष्टिको शक्ति देनेवाले स्रोत हैं। हमको जहाँसे भोजन मिलता है, वहाँके प्रति कृतज्ञ होना, आदरभाव प्रकट करना—देव-पूजा है। यह देव-पूजा भी परमेश्वरकी ही पूजा है, क्योंकि इन सब देवताओं रूपमें परमेश्वर ही आता है।

अब भगवान्‌का छठा रूप है—अधियज्ञ। वह सबके शरीरमें होता है। थोड़ा बहुत सभीके शरीरसे यज्ञ होता है। यह बात दूसरी है कि कोई-कोई मारण-मोहन-उच्चाटनके लिए भी यज्ञ करते हैं। वहाँ उद्देश्य बदल जाता है। कहाँ प्राणियोंके पालन-पोषणके लिए किया जानेवाला यज्ञ और कहाँ मारण-मोहन-उच्चाटनके लिए किया जानेवाला यज्ञ। दोनोंका फल उनके भले-बुरे उद्देश्यके अनुसार मिलता है। जैसे वेद-मन्त्रोंका उच्चारण होता है, वैसे ही अच्छे-बुरे शब्दोंका भी उच्चारण होता है। कोई सामनेवालेको मारनेके लिए बोला जाता है और कोई जिलानेके लिए बोला जाता है। इसी तरह आँखोंकी बात है। किसीको टेढ़ी नजरसे देखते हैं, किसीको लूटनेके लिए देखते हैं और किसीको मदद करनेके लिए देखते हैं, किसीको क्रोधसे देखते हैं, किसीको प्यार देनेके लिए देखते हैं। आँख वही है, परन्तु देखनेमें अन्तर है। आपके भीतर है एक अधियज्ञ पुरुष। अधियज्ञका अर्थ गीताके इस श्लोकके सन्दर्भमें समझना चाहिए।

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥ 5.29

मनुष्यके यज्ञ और तपस्या दोनोंका उपभोग भगवान् करते हैं। जैसे आप कोई दान करते हैं तो जिसे आप दान देते हैं, उसमें बैठकर भगवान् ही दान लेते हैं। इसी तरह आप अपने लिए थोड़ा संकोच करते हैं, तप करते हैं और दूसरेको अन्नदान करते हैं। एकादशीका या और कोई व्रत रखते हैं तो आपने जो दान दिया, वह दान ईश्वरने गरीबके हाथमें बैठकर आपसे लिया। आपने गरीबको दान नहीं दिया ईश्वरको दान दिया। आपने जो तपस्या की, उसे ईश्वरने ग्रहण किया। आप जो भोगके लिए कंगाल हो रहे थे, उसपर आपने नियन्त्रण किया। आप अन्तर्यामीसे एक हो गये। अन्तर्यामी माने परमेश्वर, नियन्ता—जो भीतर रहकर सबको नियन्त्रित करता है। वह सबके भीतर बैठकर अनुशासन करता है। आपने अनुशासित रहकर ईश्वरके अनुशासनमें सहयोग दिया। कब? जब बुरा काम करनेसे आपने अपने हाथको रोक लिया। बुरी जगह जानेसे अपने पाँवोंको रोक लिया। बुरी बात बोलनेसे अपनी जीभको रोक लिया और बुरी बात देखनेसे अपनी आँखोंको रोक लिया। यहाँ तक कि किसीके प्रति दुर्भाव होनेसे अपने मनको बचाना भी मानसिक तप है। यह मत समझना कि हम तो बुरेको बुरा समझते हैं। इसमें क्या दोष है हमारा। बुरेको बुरा समझनेसे तुम्हारा मन जो बुरा बन गया, यह क्या तुम्हारी थोड़ी हानि है? इसीलिए ईश्वर भीतर बैठकर तुम्हें पकड़े हुए है कि तुम बिखर न जाओ। वे अन्तर्यामी हैं। तुम्हारा नियमन करते हैं और तुम्हारे द्वारा जो सत्कर्म होता है उसको दोनों हाथ फैलाकर ग्रहण करते हैं। इसीलिए कहा—**भोक्तारं यज्ञतपसां।**

अब देखो—**सुहृदं सर्वभूतानां...।** ईश्वर सबका सुहृद है, सबका भला करता है। भगवान् गीतामें दूसरी जगह कहते हैं—

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते॥ 9.24

आपके द्वारा जितने भी अच्छे कर्म होते हैं, जितना भी यज्ञ होता है, उसका भोग भगवान् लगाता है। भोग

ही नहीं लगाता, सञ्चालन भी करता है। **प्रभुरेव च**का अर्थ है कि भगवान् उसका फल भी देता है। परन्तु लोग भगवान्को अधियज्ञ रूपसे पहचानते नहीं, इसीलिए वे अपने स्वरूपसे च्युत हो जाते हैं।

आओ गीतामें अधियज्ञका जो स्वरूप है उसकी और चर्चा करें—

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः॥ 13.22

परमात्मा रहता है आपके शरीरमें। भगवान् आपकी देहमें अधियज्ञ रूपसे रहते हैं। असलमें कहना यह है कि निराकार ईश्वर भी वही है, आत्मा भी वही है, यह पृथिवी, जल, वायु, आदि अधिभूत भी वही हैं। इसमें जो देवता हैं, उनके रूपमें भी वही है। फिर भी तुम परमात्माका असली स्वरूप जानना चाहो तो समझो कि—

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।

परमात्मा पाससे वस्तुओंको देखता है। तुम्हारे मनमें जो चीज आती है, उसके बिलकुल पास रहकर उसको देखता है। तुम्हारी आँखें जिसको देखती हैं, उन आँखोंके पीछे बैठकर, आँखोंके झरोखोंसे वही झाँकता है। बुद्धिके दूरबीनमें-से भी वही देखता है। वह उपद्रष्टा है। यह काम करो इसके लिए अनुमति देता है—**अनुमन्ता च**। वही भर्ता है भरण-पोषण करता है और उस कर्मका भोक्ता भी वही है। वही सर्वान्तर्यामी है और वही निर्विकार परमात्मा है। वह कहाँ रहता है, इसी देहमें रहता है—'देहेस्मिन्'। परमात्मा तुम्हारे इसी शरीर रूपी मोटरमें बैठा है। मोटर भी वही है। मोटरका चालक भी वही है। मोटरका एक-एक कलपुर्जा भी वही है। मोटरका मालिक भी वही है। मोटरकी आत्मा भी वही है। मतलब यह कि सम्पूर्ण विश्व-सृष्टिका जो संचालन हो रहा है, वह वही है।

परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः।

यह जो परमपुरुष है, पुरुषोत्तम है, यह यहीं रहता है। यह शरीर एक नगरी है और उसका वासी है परमपुरुष। पुरुष माने शरीररूप नगरका निवासी। वह इसीमें सोता है, रहता है, इसीमें बसता है। यह बिलकुल मूक रूपसे रहता है। किसीका विरोध नहीं करता। यही उस परमात्माकी पहचान है।

अभिवादतऽविरुद्धश्च यो धर्मस्ते निबोधत।

ईश्वरका किसीसे वाद-विवाद नहीं होता। उसका किसीसे विरोध नहीं है। यहाँ तक कि वह अज्ञानको भी रोशनी देता है। उसीकी रोशनीमें अज्ञान मालूम पड़ता है। दुःख उसीकी रोशनीमें मालूम पड़ता है, पाप उसीकी रोशनीमें मालूम पड़ता है। सब कुछ उसीकी रोशनीमें मालूम पड़ता है। किसीको प्रकाशित करनेमें वह संकोच नहीं करता, यह नहीं करता कि हाय-हाय यह मैं कैसे दिखाऊँ? वह सबको अपनी गोदमें रखता है। सबको प्रकाशित करता है। सबको आनन्द देता है। वही जीवन देनेवाला है, ज्ञान देनेवाला है, सुख-शान्ति देनेवाला भी वही है। उसी सुहृद्को जान लेनेपर शान्तिकी प्राप्ति होती है—

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति।

यदि मनुष्य भगवान्‌को अपना सुहृद् नहीं समझता है तो यह उसका दुर्भाग्य ही है। एक विद्यार्थी विद्यालयमें पढ़ रहा था। वह अनाथ था। समझता था कि मेरे माँ-बाप नहीं हैं। एक सेठ विद्यालय देखनेके लिए आये। उनकी दृष्टि उस लड़केपर पड़ी। उन्होंने प्रिंसिपलसे कहा कि इसकी पढ़ाईका खर्च हमारी ओरसे आयेगा। इसकी देख-देख और पालन-पोषणका सब भार मेरे ऊपर होगा। किसीको बताना मत। जब लड़का बड़ा हुआ तो सेठने बुलाया। पहले तो वह डरा कि सेठने मुझे क्यों बुलाया। फिर जब उसको मालूम हुआ कि मैं जब पढ़ रहा था तभीसे इनकी दृष्टि मेरे ऊपर है। इन्हींके धनसे तो मैंने पढ़ा है। इन्हींके सौजन्यसे मैं ऐसा बना हूँ। तब उसको बड़ी प्रसन्नता हुई और वह समझने लगा कि मैं निराश्रय नहीं हूँ, निराधार नहीं हूँ। मेरा कोई आश्रय है, मेरा कोई आधार है। इसीलिए मानव तुम अपने सुहृद्‌को पहचानो। भगवान्‌को सुहृद् बनाना नहीं पड़ता। सुहृद्‌के रूपमें पहचानना पड़ता है। वे कभी चपत लगाते हैं, कभी अपमान भी करते हैं। भूखे-नंगे भी रखते हैं। परन्तु उनके सौहार्दमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। इसीलिए उनको पहचानो। **पुरुषः परः** का अर्थ है कि भगवान् सबसे परे रहकर सबका पालन करता है और सबकी पुष्टि देता है। संस्कृतमें पर शब्दका अर्थ होता है—**पिपर्ति-इति परः**। प्रिय धातुसे पर शब्द बनता है। उसका अर्थ होता है भीतर रहकर पालन करता है और पुष्टि देता है।

अब देखो आप इस व्याख्यासे कहाँ पहुँचे। यह कि निराकार सर्वाधिष्ठान भी वही, द्रष्टा भी वही, कर्म भी वही, अधिभूत भी वही, अधिदैव भी वही, अधियज्ञ भी वही। माने सर्वत्र सब रूपोंमें वही परमात्मा—**वासुदेवः सर्वमिति**। सब वासुदेव हैं, किन्तु **स महात्मा सुदुर्लभः**—इस बातको अनुभव करनेवाला महात्मा दुर्लभ है। माने परमात्मा तो सुलभ है, **तस्याहं सुलभः पार्थ**। महात्मा दुर्लभ है। अब स्मरणकी बात देखो—

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥ 8.5
प्रयाणकालेऽपि च मां ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः।

मृत्युके समय परमात्माकी पहचान कैसे हो? इसका उपाय यह है कि पहलेसे पहचानकर रखो कि सब परमात्मा हैं। तब आपको मृत्युके समय कोई घबराहट नहीं होगी। गीतामें आप पढ़ते हैं कि **मृत्युःसर्वहरश्चाहम्**—मृत्युके रूपमें परमात्माको पहचान लो तो सत्-असत् अथवा मृत्यु, अमृत कहीं भी तुम्हें कोई चिन्ता नहीं है, कोई घबराहट नहीं है, कोई अवनति नहीं, कोई पतन नहीं है। सर्वत्र परमेश्वर, परमेश्वर ही परमेश्वर!

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

●

प्रवचन : 3

अधियज्ञोऽहमेवात्र—भगवान् कहते हैं कि मैं इस देहमें अधियज्ञ रूपसे रहता हूँ। कितने आनन्दकी बात है। भगवान् इसी शरीरमें रहते हैं। जिसमें मैं, उसीमें भगवान्। एक मकानमें दोनों, एक कमरेमें दोनों, एक पलङ्गपर दोनों। यह कितना सुगम है कि भगवान् हमसे दूर नहीं हैं। हम वे एक साथ रहते हैं। निर्गुण भगवान्को प्राप्त करना हो तब तो 'यह नहीं', 'यह नहीं', 'यह नहीं'—ऐसे निषेध करना पड़ता है और जो बच जाता है वह भगवान् होता है। **निषेधशेषो जयतादवशेषः**—सबका निषेध करनेपर जो शेष रह जाता है वही अशेषात्मा भगवान् है। सगुण भगवान्के लिए निषेध करनेकी आवश्यकता नहीं होती। यह भी भगवान् वह भी भगवान्। निर्गुण भी वही, सगुण भी वही, आत्मा भी वही, हृदय भी वही, देवता भी वही। निर्गुण भगवान् सबका निषेध करनेके बाद अपने आपके रूपमें अनुभवस्वरूप है और सगुण भगवान् जो दिखता है सबमें, सब जगह वह है। वेदान्त दृष्टिप्रधान होता है और भक्ति भावप्रधान होती है। दृष्टि जैसी वस्तु होती है वैसी ही होती है और भाव हम जैसा करना चाहते हैं, वैसा होता है। दोनोंमें अन्तर होता है। दृष्टि वस्तुतन्त्र होती है, यह भाव कर्तृतन्त्र होता है। ये दोनों पारिभाषिक शब्द हैं। कर्त्ताके अधीन है भाव और जैसी वस्तु है उसके अनुसार है दृष्टि। जहाँ हम '**वासुदेवः सर्वम्**'—सब वासुदेव ऐसा कहते हैं वहाँ दिखता तो है पेड़, परन्तु उसमें भाव करते हैं वासुदेवका। वेदान्ती कहते हैं कि सब तो अनेक हैं। सब माने हम सब लोग स्त्री-पुरुष, कुमार-कुमारी आदि। ये सब दीखते तो अलग-अलग हैं किन्तु इनको बताते हैं—'वासुदेव'। अब या तो भाव करो कि सब वासुदेव है या इनमें अलगाव है। निषेध करने पर जो शेष रहता है, उसको 'वासुदेव' मानो। ये दो प्रक्रियाएँ हैं। जब हम 'वासुदेवः सर्वम्' बोलते हैं तब वासुदेव एक है और सब अनेक हैं। वासुदेव, परमात्मा एक है और उसको बोल रहे हैं सब। सब माने बहुतोंका जोड़ जैसे वे-वे-वे, ये-ये-ये। मैं-मैं-मैं नहीं, क्योंकि मैंका बहुवचन नहीं होता। मैं-मैं-मैं ऐसा अनुभव तो कभी किसीको होता ही नहीं। ये-ये-ये अथवा वे-वे-वे अनुभव होता है। इसलिए मैंका बहुवचन वैयाकरणोंको अभीष्ट नहीं है। व्याकरणके नियमानुसार—जब दो बोलना होगा तो बोलेंगे 'आवाम्'। इसमें अहंका तो लोप ही हो गया। इसी प्रकार 'वयं'में भी अहं नहीं है। अहंका लोप करके ही हम 'अवाम्', 'वयं' बोलते हैं।

तो जैसे मैं का अहंका, बहुवचन नहीं होता वैसे ही वासुदेवका भी बहुवचन नहीं होता। वासुदेव तो एक ही है। ये जो कहते हैं कि मुसलमानोंका परमात्मा, ईसाइयोंका परमात्मा, वैष्णवोंका परमात्मा, शैवोंका परमात्मा—यह सब मुसलमान, ईसाई, वैष्णव, शैव आदि शब्दोंकी पूँछ जोड़ी गयी है। परमात्मा तो अनेक नहीं, एक है।

अब प्रश्न है कि एकको अनेक कैसे बोलते हैं? **वासुदेवः सर्वम्** कैसे? इसका उत्तर आचार्योंने दिया है। श्रीरामानुजाचार्य कहते हैं कि वासुदेवका शरीर है सब। श्रीनिम्बाकाचार्य कहते हैं कि वासुदेवका कार्य है सब। श्रीमध्वाचार्य कहते हैं कि वासुदेव प्रधान है सब। श्रीबल्लभाचार्य कहते हैं वासुदेव ही सब कुछ बन गया है। श्रीशङ्कराचार्यजी कहते हैं कि सब नहीं है केवल वासुदेव ही है।

अब आपलोग सबको वासुदेवके रूपमें अनुभव कीजिए, अपनी-अपनी रीतिसे। जो सब जगह होता है, उसके लिए पन्थ नहीं होते। जो यहाँ नहीं होगा, वहाँ होगा तो वहाँ जानेके लिए पन्थ चाहिए। उसमें सिक्ख पन्थ चाहिए, इस्लाम पन्थ चाहिए, ईसाई पन्थ चाहिए, शैव पन्थ चाहिए, वैष्णव पन्थ चाहिए। जो सब जगह होता है, उसको पानेके लिए पन्थ नहीं है। उसको तो आप जहाँ हैं, वहीं पा सकते हैं। अक्षर भी ब्रह्म है, आत्मा भी ब्रह्म है, देवता भी ब्रह्म है, भूत भी ब्रह्म है और अधियज्ञ भी ब्रह्म है। इसका अर्थ हुआ कि सब ब्रह्म ही ब्रह्म है। अब आपको स्मरणमें बाधा क्या है? जो सब है, वह तो सब जगह स्पष्ट ही है। स्मरण तो उसका करना पड़ता है, जो पहले कभी मिला हो और अब आँखसे ओझल हो। जैसे एक शास्त्रीजी कल मिले थे। आज वे हमारे सामने नहीं हैं, उनकी याद आती है। हम जिनकी याद करते थे, आज वे हमारे सामने हों तो इसका नाम स्मृति नहीं है। इसका नाम तो प्रत्यक्ष है। इसीसे ऐसा मानते हैं कि परमात्मा तो साक्षात् अपरोक्ष है। प्रत्यक्ष है यह पुस्तक, परोक्ष है स्वर्ग और अपरोक्ष है हमारे मनके काम, क्रोध, लोभ, शान्ति, धृति आदि। ये न स्वर्गके समान परोक्ष हैं, न पुस्तकके समान प्रत्यक्ष हैं। परन्तु इनको भी जाननेके लिए सामने देखा जाता है। इसी तरह अपना आपा साक्षात् अपरोक्ष है। वह देखा जानेवाला नहीं है किन्तु उसको देखना है। इसीको साक्षात् अपरोक्ष बोलते हैं। इसको देखनेके लिए किसी जरियेकी जरूरत नहीं है।

तो आओ परमात्माको देखो। परमात्माकी स्मृति नहीं होती, उसका अनुभव होता है। स्मृति और अनुभव दोनोंमें अन्तर है? अनुभव वर्तमानमें है और स्मृति भूतकी है। गृहीत स्मृति। जिसको पहले ग्रहण किया है, उसको ग्रहण करना, जाने हुएको जानना, इसका नाम स्मृति है और अनजानेको जान लेना इसका नाम ज्ञान है। गीता कहती है—

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः॥ 13.22

यही है परमात्मा, इसी देहमें है। संस्कृत भाषामें देह माने राशि, ढेर। लोग गाते हैं—

मेरा हीरा हेराय गयो कचरेमें।

इसी कचरेमें हीरा है, हड्डी है, मांस है, चाम है। इसीमें स्त्री है, पुत्र है। इसीमें धन-दौलत है, सब कुछ है। सारी दुनियाका कचरा इसी कलेजेमें रहता है और इसीमें वह हीरा भी है। वह हीरा क्या है? हरि है, हर है। वह शक्तोंका 'ह्रीं', वह मुसलमानोंका रहीम यहीं है। मजहब तो महज ऊपर चढ़नेकी एक सीढ़ी मात्र है। मजहबका महत्त्व कुछ परमात्मामें नहीं है। आपके पास मोटर है पर वह दरवाजेतक ही पहुँचायेगी। महलके भीतर, सोनेके कमरेतक उसकी गति नहीं है। इसी प्रकार सब महजब मोटरके समान हैं। चढ़ो, चलो, छोड़ दो। बिना छोड़े अपने महलमें नहीं पहुँच सकते—छोड़ना ही पड़ेगा। इसी देहमें परमात्मा है—वह उपद्रष्टा है, कर्ता है, भोक्ता है, महेश्वर है, परमात्मा है। अब चाहे तो उसका निषेध करके देखो या उसका साक्षात्कार करो। यह-यह-यह करके आप अपने भावको दृढ़ बना लो। दोनोंमें राग-द्वेष नहीं है।

आपके दिलमें जो जलन है, स्पर्धा, असूया, तिरस्कार किसके लिए? आप होड़ किंससे लगाते हैं? सबमें

परमेश्वर है। आप किसके अन्दर दोष देखते हैं! वह तो परमात्मा है। किसका तिरस्कार करते हैं। वह तो परमात्मा है। किसके सामने अहंकार करते हैं? जब आप अपनेसे छोटेको देखते हैं—तब अहंकार करते हैं। अपनेसे बड़ेकी ओर देखिये। अहंकारके लिए कोई जगह नहीं। सबमें देखो परमेश्वरको तो राग, द्वेष नहीं होगा। पाँच दोष अपने साथ लगे हुए हैं। हम मरनेसे डरते हैं और किसीको मारना चाहते हैं। किसीकी मुहब्बतमें फँस जाते हैं और मैं-मैं-मैं अपने जीवनमें आ जाता है। ये चार बात अँधेरेमें होती हैं। आप आँख बन्द करके ऐसा करते हैं। डरते हैं आप आँख बन्द करके। दूसरेको मारना चाहते हैं—आँख बन्द करके। दूसरेसे मुहब्बत करते हैं आँख बन्द करके। असलियतको समझें तो न दुश्मनी होगी, न मुहब्बत होगी। न डर लगेगा। आपका मैं मैं मैं इसको परमात्मामें विलीन हो जाने दो। सब प्रकाश ही प्रकाश है। अज्ञानके अन्धकारमें मैं होता है। उस मैं में मोहब्बत होती है। एकसे मुहब्बत होनेपर दूसरेसे दुश्मनी होती है और अपने मरनेका डर होता है और जहाँ प्रकाश है?

सामनेसे शेर आया—ओ हो प्रभो! तुम आये हो। पहले नृसिंह बने थे न! प्रह्लादकी रक्षा की। आज मेरे लिए नृसिंह बनकर आये हो। इससे उत्तम और क्या होगा कि मैं आपका भोजन बन जाऊँ। लोग हलवा-पूड़ीका भोग लगाते हैं—हमारे शरीरका ही भोग लग जावे। यह होता है भक्तका भाव। वह मृत्युमें भी परमेश्वरको पहचानता है। ऐसा भाव दृढ़ हो जाय कि मृत्युके समय भी परमात्माकी विस्मृति न हो।

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥ 8.5

संशय न करो।

अन्तकाले च—अन्तकालमें जो 'च' है उसका अर्थ यह है कि जीवनकालमें जो परमात्माका स्मरण करता है—अन्तकाले 'च' जीवनकाले—अन्तकाले 'च' दोनोंका समुच्चय है। आप जीवन-कालमें भगवान्‌का स्मरण कीजिए। स्मरण करनेके लिए गुफामें बैठनेकी जरूरत नहीं है। समाधि लगानेकी जरूरत नहीं। आप ऐसे ही स्मरण करें। स्मरण भी दो तरहसे होता है। एक तो ऐन्द्रियक अनुभवसे स्मरण होता है और एक श्रवणसे स्मरण होता है। सुनी हुई बातोंका खूब स्मरण होता है। जैसे आप संगीत सुनते हैं, उसमें जो शब्दका उच्चारण है वह धर्म है, और उसमें जो भगवान्‌का प्रेम है वह भक्ति है, उसमें जो लय है वह योग है और उसमें जो अर्थका साक्षात्कार है वह ज्ञान है। संगीत आप सुनते हैं तो गाये हुए पदका अर्थ भी समझते हैं या नहीं? जो पवित्र शब्दोंका उच्चारण है, वह तो धर्म है। क्योंकि उच्चारण क्रिया है। उससे जो भगवान्‌का प्रेम आता है। हृदयमें, वह भक्ति है और जब लय हो जाता है तो योग है। आप कहाँ हैं देख लीजिये। जिस अर्थका प्रतिपादन है, उस पदमें उस अर्थका साक्षात्कार होता है तो ज्ञान हो जाता है। शब्द सौन्दर्य है, भाव सौन्दर्य है, तन्मयताका सौन्दर्य है और साक्षात्कारका सौन्दर्य है।

अन्तकाले च—जिन्दगी भर दूसरोंका स्मरण करो और भगवान्‌का भी स्मरण करो परन्तु मरनेके समय—केवल भगवान्‌का स्मरण करो। **मामेव स्मरणम्**—केवल मुझे स्मरण करते हुए अर्थात् जिन्दगीमें जो दूसरे स्मरण हैं उनको ऐसा रखो कि वे जीवनकालमें तो भले रहे, आपके साथ परन्तु मृत्युकालमें वे आपके

साथ चिपके न रह जायँ। मृत्युकालमें केवल परमात्मा रहे। अर्थात् आप जीवनकालमें जो दूसरी वस्तुओंका स्मरण करें उनमें आसक्ति न हो, स्मरण हो और भगवान्‌में आसक्ति हो। जब आसक्ति होगी तब मृत्युकालमें भगवान्‌का स्मरण होगा। रही बात कलेवरकी। तो, जगन्नाथजीका भी कलेवर बदलता है। जब-जब आषाढ़ मासमें मलमास होता है, चाहे १२ बरसमें हो चाहे छत्तीस बरसमें हो, तब तब जगन्नाथजीका भी कलेवर बदल जाता है। कलेवर तो सबका ही छूटता है। किसीका कलेवर नहीं रहता। ब्रह्माका भी कलेवर छूट जाता है। यह ब्रह्माण्ड छूटता है तो कलेवर भी छूटता है। कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड जिस महत् तत्त्वमें मालूम पड़ते हैं, जब उसका कलेवर छूटता है तो हिरण्यगर्भका कलेवर भी छूट जाता है। जब निरुपाधिक ब्रह्मात्मैक्य-बोध होता है—तो प्रकृतिरूप कलेवर भी छूट जाता है। अन्तर्यामी हो गया ब्रह्मसे और उसका जो कलेवर है प्रकृतिरूप वह छूट गया। आपका भी कलेवर छूटेगा। इस सत्यसे आप आँख क्यों बन्द करते हैं। यह तो एक ठोस सत्य है। कलेवर तो छूटेगा, छूटेगा। यदि शरीर न छूटे तो आत्माकी पूर्णता जाननेकी कोई जरूरत ही न रहे।

भगवान्‌ने बड़ी भारी कृपा की है। जब आपका शरीर नहीं था तब आप थे, जब नहीं रहेंगे तब भी आप रहेंगे। इस समय भी—शरीर भी है और आप भी हैं। इस शरीरमें भी आप हैं। **स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्**—यह शरीर ज्यों-का-त्यों रहे। इस मशीनको चलाओ इससे काम लो। लेकिन इसको अपनेमें चिपकने मत दो। यदि मशीन तुम्हारे साथ चिपक जायगी, मशीनमें तुम चिपक जाओगे तो जब मशीन टूटेगी तो तुम टूटोगे। जब मशीन मरेगी तो तुम मरोगे। यह तो आपको एक खिलौना मिला है। एक काम करनेका औजार मिला है। यह करण है। यह चिपकनेके लिए नहीं है।

प्रयाणकाले—ऐसा यह शरीर छूटे कि छूटते समय ऐसा न लगे कि हाय-हाय यह छूट रहा है। जैसे हाथीके गलेमें फूलकी माला पड़ी हो और वह कब टूटकर गिर गयी, यह हाथीको पता नहीं चलता। आप तो मस्ताने हैं। भगवतमें तो शराबीका दृष्टान्त दिया है। दो, तीन, चार बार शराबीका दृष्टान्त। **मदिरामदान्धाः** मदिराके मदमें चूर हो रहा है और उसके शरीरपर-से वस्त्र कब गिर गया पता नहीं चला। इसी प्रकार परमात्माके नशेमें चूर हो जाओ—परमात्मामें ऐसे तन्मय हो जाओ—ऐसे तल्लीन हो जाओ कि शरीर कब गिर गया इसका पता न चले। **मद्भावं याति**। परमेश्वरसे मिलकर सचमुच तुमने जीवनकालमें भी शरीरको अपनेसे अलग कर रखा है, अपनी सम्पदा जिसको देनी है दे दो, उत्तराधिकारीको दे दो, चाहे ट्रस्ट को दे दो, शरीर छोड़ते समय यह सम्पदा अपनी है बात मनमें न रहे। यह शरीर भी एक सम्पदा है, बहुत बड़ी सम्पत्ति है क्योंकि यह तो सब काम करनेका यन्त्र है। इससे आप अर्थ कमाते हैं, इससे आप भोग करते हैं, इससे धर्म करते हैं, इससे सत्सङ्ग करते हैं, तत्त्वज्ञान प्राप्त करते हैं। बहुत बड़ी सम्पदा है। परन्तु जब काम पूरा हो जावे तो गिर गये। कहाँ गिर गये? कुछ पता नहीं। और तुम? तुम तो परमात्मासे एक हो गये। जब देहको पकड़ोगे तो देह जहाँ जायेगा, वहाँ तुम्हें जाना पड़ेगा। परमात्माको पकड़ोगे तो देह छूट जायेगा और तुम परमात्माके साथ एक हो जाओगे। इस सम्बन्धमें एक साधारण नियम बताया। वह यह है कि मृत्युके तुम्हारा मन जिस चीजको पकड़ेगा वही हो जाओगे।

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥ 8.6

अब जिन्दगी भर तो देखा सिनेमा, मरते समय क्या याद आयेगा? वहाँ अभिनेत्री है और अभिनेता है तो याद आवेगा। उसका हावभाव, कटाक्ष याद आयेगा। वहाँका दृश्य, फर्नीचर याद आयेगा। भोग-विलास याद आयेगा। यदि आप अपनेको जड़ वस्तुके साथ मिला लेंगे तो आप जड़ हो जाओगे और यदि आप चेतनके साथ अपनेको मिला दोगे तो चेतन हो जाओगे। आप अपनेको किसके साथ मिला रहे हो? समझो कि आपका मन मरते समय जो आकार धारण करेगा वह आकार तो बना रह जायेगा और यह शरीर छूट जायेगा।

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।

इसे बोलते हैं—सावधान भाई, सावधान! आगेके लिए यदि तुम जड़से मिल गये तो फिर चेतना तुम्हारी जगेगी—चेतनाका लोप नहीं होगा। परन्तु कितने दिन जड़ रहोगे, इसका पता नहीं है। जितनी बलवती तुम्हारी तन्मयता होगी उतने ही अधिक दिन तुमको उसमें रहना पड़ेगा। तुम्हारा मन क्या बना तुम्हारा मन हीरा बन गया। सोना बन गया। एक होती है भोग-वासना, वह भी शरीरको बनाती है। बिना आकारका मन नहीं होता। कोई-न-कोई शक्ल मनमें रहती है। मनकी शक्ल कैसे बनती है? एक तो जिससे तुमने प्रेम किया है, उसके अनुसार बनेगी। जैसे वेश्यासे किसीका प्रेम है, तो मन मरते समय वेश्याकार होगा और यह शरीर छूट जायेगा और वेश्याका आकार बना रहेगा। वह मन वेश्या हो जायेगा। यह तो हुआ आकारके अनुसार।

एक समझके अनुसार बनता है। समझ क्या? तुम सबसे श्रेष्ठ किसको समझते हो? यह भी सम्भव है कि मरनेके समय जिसको तुम श्रेष्ठ समझते हो, उसका चिन्तन होने लगे और उसी श्रेष्ठ वस्तुकी शक्ल तुम्हारे मनमें आ जावे और वही हो जाओ। एक होती है वासना। जैसे कोई रहता तो है राजस्थानमें और सन्देश, रसगुल्ला खानेकी वासना ज्यादा है, चावल खानेकी वासना ज्यादा है तो उसका जन्म बंगालमें होगा, क्योंकि यहाँ चावल अधिक मिलेगा और रसगुल्ला, सन्देश अधिक मिलेगा। मतीरा (तरबूज) खानेका मन हो और दालका हलवा खानेका मन हो तो जो बंगालमें है वह राजस्थानमें जा सकता है। वासनाकी प्रबलताके अनुसार मन इधर-उधर जोड़ता-तोड़ता रहता है। आपका प्रेम आपका कर्म और आपकी प्रज्ञा पूर्व-पूर्व जन्मसे सञ्चित हैं। आप बाहरसे ले-लेकर जो मनमें भरते हैं—बाहरकी वस्तुएँ हम आँखसे, कानसे, नाकसे, त्वचासे, जीभसे उठाते हैं और उठाकर उनको अपने मनमें भरते हैं। इसको अन्तःकरण बोलते हैं। अन्तःकरण माने बाहरकी चीजको अन्तरमें कर ले। **अन्तः क्रियन्ते**—अनेन।

बाहरकी वस्तु भीतर आती है। यह बाहरकी वस्तु बन्धक नहीं होती। भीतरकी वस्तु बन्धक होती है। जबतक वह हमारे मनमें नहीं आयेगी तबतक बँधेंगे नहीं। अन्तःकरण शब्दका सीधा अर्थ यही है कि बाहरकी वस्तुको यह भीतर कर लेती है। बाहरकी वस्तु बाहर रहे और भीतर जो है उसको आप देखिये। उसमें भी पहलेसे भीतर बहुत सारी चीजें रखी हुई हैं। उनको संस्कार बोलते हैं। उनके अनुसार वासना होती है। वेदान्ती लोग उनको भी निकालते हैं। अपने कर्तापनको ही निकालते हैं। अन्तःकरणको ही निकाल देते हैं। नियम

यही है कि आप शरीर त्याग करते समय जिस जिस भावका स्मरण करेंगे, **त्यजत्यन्ते कलेवरम्** उसकी अवाप्ति होगी।

एक बात आपको सुनाते हैं। पहले पहल मैंने सुनी तो जँची नहीं। बात बहुत पुरानी हो गयी। यह जो जाना-आना है, यह बिना देहके नहीं होता। आप सोचो कि मिट्टीका जो सार है और जलका जो सार है, अग्निका जो सार है, वायुका जो सार है, आकाशका जो सार है—अवकाश है वह कहीं जाता-आता है? नहीं, यह जाना-आना—असलमें मनको कोई शकल, कोई वाहन जब मिलता है—तो आता-जाता है। मन एक देवता है। हमें बम्बईमें लोग बताते हैं—महाराज आज मोटरकी सुविधा नहीं रही, इसलिए घरसे बाहर नहीं निकले। टैक्सीपर नहीं बैठ सकते। टैक्सीपर बैठना अपनी शानके अनुरूप नहीं है। बड़े आदमी वाहनपर चढ़कर निकलते हैं। जितने देवता होते हैं—जिसको और वाहन न मिले वह चूहेपर चढ़कर निकलते हैं। भेड़ भी वाहन है। बैलपर भी चढ़ते हैं। हाथी घोड़ेपर भी चढ़ते हैं। हमारा मन है यह देवता है। जबतक इसको वाहन नहीं मिले तबतक यह कहीं जाता-आता नहीं। इसको एक आतिवाहिक शरीर चाहिए और ऐसा शरीर चाहिए जो दीवालको छेदकर निकल जाय। जो शीशेकी दीवारको भी पार कर जाय—ऐसा शरीर चाहिए। मनमें जो भाव होता है वही मनका शरीर बन जाता है।

वस्तुतः देशसे देशान्तरमें गमन नहीं होता। आप नरकमें जानेके लिए कहीं जाते हैं या स्वर्गमें जानेके लिए कहीं जाते हैं। यह पौराणिक कथा है। यह हमारे मनीराम तो ऐसे कारीगर हैं कि जहाँ हैं वहीं नरक बना लेते हैं। जहाँ है वहीं स्वर्ग बना लेते हैं। भावान्तर इसको बोलते हैं। देशान्तर गति नहीं। भावान्तर गति होती है। एक भावसे दूसरे भावमें जाना। जैसा आपने कर्म किया है, जैसा आपका ज्ञान है, जैसी आपकी वासना है—वैसा आपको स्वप्न आता है। यह एक सूक्ष्म शरीरकी गति है। कितने मरे हुए लोग जिनको पचास वर्ष हो गये होंगे, हमारा मन सपनेमें उनको बनाकर उनसे मिलता है। कितने देवता—जिनका वर्णन हमने सुना है कि बहुत ऊपर स्वर्गमें रहते हैं, सपनेमें हमारा मन उनको बनाकर, उनसे मिलता है। यह देवता लोग नहीं बनाते, जैसे आप अपने मित्रसे सपनेमें मिल लीजिये और आप उससे पूछिये क्यों भाई! कल तो तुम हमसे सपनेमें मिले थे? कहेगा-नहीं, नहीं मैं नहीं आया। आपका मन सृष्टि बनाता है। मनका गमनागमन क्या है? मनका गमनागमन है—आपने बुरा काम किया, मैं बुरा काम करने वाला हूँ—ऐसा अभिमान हुआ और उसे बुरे कामका जो फल है नतीजा है वह आपका मन स्वर्गके रूपमें या नरकके रूपमें स्वीकार कर लेगा या पुनर्जन्मके रूपमें। माँस खानेकी वासना है और हो गये जबड़ेवाले शेर काटनेका भय है किसी दुश्मनको और हो गये विषैले साँप। जितना वेग है, तीव्रता है आपके द्वेषमें उतने दिन तक आपका मन साँप होकर रहेगा।

जितने भी मजहब हैं—बौद्ध, ईसाई, मुसलमान, सिक्ख ये शरीरसे अलग आत्माको जरूर मानते हैं। वह मजहब ही नहीं होगा जो शरीरसे अलग आत्माको न माने। यह मजहबकी परिभाषा है। मुसलमान दोजख-बहिश्त मानते हैं। ईसाई भी स्वर्ग मानते हैं। बौद्ध भी पुनर्जन्म मानते हैं—जैन भी स्वर्ग, नरक मानते हैं। मजहब माने इस देहसे अलग आपका एक जीवन है, सूक्ष्म शरीर है और यदि वह नहीं मानेंगे तो अनेक बातोंकी

संगति नहीं लगेगी। जैसे इस जीवनमें जन्मसे ही एक सुखी एक दुःखी क्यों होता है? तो इसमें पूर्वजन्मका प्रसंग मानना पड़ता है। इस जन्ममें आप जो अच्छे काम करते हैं, उसका फल सुख नहीं मिलता है, जो बुरे काम करते हैं उनका फल दुःख नहीं मिलता है तो उन कर्मोंका क्या होगा? मानना पड़ेगा कि करनेके बाद अपना फल देंगे। ईश्वर भी यदि आपको बिना किसी निमित्तके ही सुखी-दुःखी बनाता है तो वह ईश्वर पक्षपाती होगा। इसके लिए भी यह मानना जरूरी होगा कि मरनेके बाद कर्मके अनुसार, वासनाके अनुसार और अपने निश्चयके अनुसार गति होती है।

मरनेके समय—पहले ऐसी कहावत थी कि लोग रुपये गाड़ कर रखते थे—जीवनमें तो उसका उपयोग कर नहीं पाते थे। तब मरनेपर साँप होकर उसपर पहरा दिया करते थे। ऐसी भी कहावत है कि यदि नोटके बण्डलमें बहुत रुचि हो तो मरनेके बाद कागजका कीड़ा होकर उसमें रहे। एक साधुके बारेमें यह बात प्रसिद्ध है कि वे अयोध्याजीमें बहुत अच्छे महात्मा माने जाते थे। उन्होंने अपने शिष्योंको बताया कि जब हम मरेंगे तो मुझे लेनेके लिए विमान आयेगा और उसमें घण्टियाँ बजेंगी और मैं बैकुण्ठमें—साकेत लोकमें जाऊँगा। परन्तु जब मर गये तो न घण्टी बजी, न विमान आया तो शिष्य लोगोंने कहा—हमारे गुरुजीकी बात झूठी नहीं हो सकती। शिष्य लोग तो गुरुकी झूठी बातको भी सच्ची बनाकर दिखाते हैं। अयोध्याजीमें जो सबसे बड़े महात्मा थे, बुलाये गये। शिष्योंने उनसे पूछा महाराज, यह क्या हुआ? न घण्टी बजी, न विमान आया, न हमारे गुरुजी विमानपर चढ़कर गये। उस महात्माने चारों ओर देखा। यहाँ क्या है, यहाँ क्या है? छानबीन की। सामने एक बेरका पेड़ था। उसमें बहुत बढ़िया पीला-पीला बेरका फल लगा हुआ था। महात्मा बोले—इस बेरके फलको तोड़कर ले आओ। शिष्योंने तुरन्त आज्ञाका पालन किया। महात्माने अपने हाथमें वह फल लेकर मसल दिया। मसलते ही एक कीड़ा पट्से जमीनपर गिर पड़ा। वह मर गया। बस, अब घण्टी बज उठी, देखते-देखते विमान आगया।

मरते समय उस साधुका जो मन है वह बेरके फलमें चला गया था। इसको आप दृष्टान्तके रूपमें समझिये। इसका जो सार है वह समझिये। आप अपने मनको ऐसा बनाकर रखिये जो अन्तकालमें अच्छी जगह जाये। और ऐसा कब होगा? जब आप जीवनकालमें अपने मनको अच्छी जगह रखेंगे। यदि आप अपने जीवनको ठीक नहीं रखेंगे—यह सोचेंगे कि अन्तमें सब ठीक हो जायेगा तो ऐसा नहीं होगा। जो जीवनमें भरा जाता है वह पहले निकलता है। इस जन्मके कर्मोंका फल सबसे पहले भोगना पड़ता है। उससे समय बचता है तब पिछले-पिछले जन्मोंके कर्म भी अपना फल देनेके लिए आते हैं।

कर्म दो तरहके होते हैं। एक आर्द्र, एक शुष्क। एक गीला-गीला काम होता है—एक सूखा-सूखा होता है। जो आर्द्र फल होता है उसका फल तुरन्त मिलता है और शुष्क कर्मका फल मिलनेमें देर होती है। एक कर्म लघु होता है, एक गुरु होता है। गुरु माने भारी-वजनदार। लघु माने हलका-फुलका। जो हलका-फुलका कर्म होता है उसका फल देरसे मिलता है, लेकिन जो गुरु कर्म होता है उसका फल बहुत जल्दी मिलता है। आपकी रातमें नींद टूटती है तो किसकी याद आती है? वहाँ तो कुछ नहीं होता है। नींद टूटनेके बाद, हमको आजकल

वह सता रहा है—उसकी याद आयी। हमको उसने बहुत सुख दिया है—उसकी याद आयी। आपके मनमें किसकी याद आती है ? किसकी स्फुरणा होती है ? क्यों भाई, वहाँ तो कोई काम नहीं है। न तो आप दुश्मनसे बदला ले सकते हैं और न दोस्तको वहाँ कुछ दे सकते हैं। वहाँ जो कुछ याद आता है वह तो आपके मनका आदर्श है—आपके मनका आईना है—आपके मनका शीशा है। आप अपने मनको देख सकते हैं।

हमने करके देखा। पहले झूठे ही सोचा अमुक आदमी हमारा दुश्मन है। हमको यह-यह तकलीफ दे सकता है। सोचते-सोचते यह बात भूल गयी कि यह तो मैंने झूठी कल्पना की थी। गुस्सा आने लगा—क्रोध आने लगा। झूठी कल्पना ही अपनेको दुःख देती है। झूठी कल्पना मनमें बैठी कि अमुक हमसे प्रेम करता है। हम उसके पास जायेंगे तो वह ऐसे मिलेगा। ऐसे मिलेगा और फिर उसके प्रति मनमें बहुत मजा आने लगा। रस आने लगा। बिल्कुल झूठी कल्पना। हमारी कल्पना बार-बार दुहरानेपर ठोस बन जाती है। मैंने कहीं राजनीतिकी पुस्तकमें यह बात पढ़ी थी कि एक झूठी बात अगर सौ बार बोली जाय तो वह बोलनेवालेको ही सच मालूम पड़ती है। यह जो दुनियाकी बातोंको अपने मनमें दुहराते हैं वह झूठी है कि सच्ची—यह बात अलग छोड़ दो। अपने मनमें उसे दुहराते हैं—यह दुहराना है हमारे सिरपर सवार हो जाता है।

तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः।

यह मनुष्य अपनी भावनासे ही भावित हो जाता है। जैसे वैद्य लोग कोई दवा बनाते हैं। बाजारसे यह दवा ले आओ, कुचला ले आओ—जहर है, इसको सात दिन गोबरमें रखो। सात दिन पानीमें रखो, सात दिन मट्ठेमें रखो। सात दिन दूधमें रखो। सात दिन घीमें रखो। सात दिन शहदमें रखो। अब यह जहर, यह कड़वा कुचला जो पेटमें जाकर आँतको काट देता, भावित होकर औषध बन गया, रसायन बन गया। इसी प्रकार भावनाका प्रभाव पड़ता है वस्तुपर और वस्तुके स्वभावमें परिवर्तन हो जाता है। हम एक क्रोधी आदमीको देखते हैं—अभी थोड़े दिनोंकी बात है एक सज्जन दाढ़ी बढ़ाकर हमारे पास आये। गलेमें माला भी बहुत तरहकी थी। दाढ़ी मनके भावको छिपाती है। गुस्सा या प्रेम आ जाये तो मालूम नहीं पड़े। वे हमारे सामने कुर्सीपर बैठे थे। मैंने गौरसे देखा—तो उस दाढ़ीमें तेल-फुलेल लगा था। दाढ़ी बहुत चिकनी थी। लेकिन भीतर क्रूरता थी। मनुष्यकी भावना केवल अन्तरात्माको ही नहीं शरीरको भी बिगाड़ देती है। आप स्थूल शरीरको तेल-फुलेल लगाते हैं, स्नो पावडर लगाते हैं, चिकना-चुपड़ा रखते हैं, दूसरेकी आँखको मोह ले, ऐसा चाहते हैं। लेकिन आप अपने मनको इतना चिकना-चुपड़ा नहीं रखते हैं। स्नेह माने चिकनाई। दूध स्नेह है। आप मलाई अपने चेहरेपर लगाइये स्नेह है। आपके चेहरेमें चिकनापन आयेगा। दूध, दही, मक्खन सब स्नेह हैं। जैसे आप अपने बाहरके चेहरेको स्नेहसे युक्त रखना चाहते हैं, मुस्कुराकर बोलें, प्रेमसे देखें—वैसे आप अपने मनको भी, मानसिक शरीरको भी सदा तद्भावभावित—अच्छा रखें और अच्छी जगह ले जायँ। तब आपकी गति सुनिश्चित है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

●

प्रवचन : 4

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥ 7.8

युक्तिपूर्वक मनुष्यके कर्त्तव्यका दिशानिर्देश करते हैं। एक होती है आज्ञा 'ऐसा करो।' एक आज्ञाके साथ उसका कारण भी बताया जाता है कि ऐसी आज्ञा क्यों दी है? जब युक्तिपूर्वक बात कही जाती है, तब उसमें बुद्धिमान् पुरुषकी प्रवृत्ति होती है और केवल आज्ञामें श्रद्धालुकी प्रवृत्ति होती है। श्रद्धालु पुरुष सिर झुकाकर आज्ञाको स्वीकार करता है। अनुचित, उचितका विचार छोड़कर हर समय मेरा स्मरण करो और अपने कर्त्तव्य कर्मका पालन करो—ऐसा क्यों कहते हैं? इसमें हेतु क्या है? अविनाशी है परमात्मा—पहला यह हेतु है। **अक्षरं ब्रह्म परमं**। जो अविनाशी वस्तु होती है उसका हर समय स्मरण होना सम्भव है। वह अपना ही स्वरूप है—**स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते**। इसलिए अपना स्वरूप सर्वदा स्मरण किया जा सकता है और जो पञ्चभूतके रूपमें सर्वदा स्मरण किया जा सकता है और जो पञ्चभूतके रूपमें सर्वदा खेल रहा है, जो वही है, उसका भी स्मरण किया जा सकता है। जो अधिदैवत पुरुष है, जैसे—सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि इनका भी सर्वदा स्मरण किया जा सकता है। और जो अधियज्ञ है—अधियज्ञका अर्थ होता है—जितना भी यज्ञ हो रहा है। यह जीवन हमारा यज्ञमय है। सबका जीवन यज्ञमय है। फलके द्वारा यज्ञ करते हैं, फूलके द्वारा, सुगन्धके द्वारा यज्ञ करते हैं। पत्तेके द्वारा यज्ञ करते हैं—तनेसे, छिलकेसे, जड़से, छालसे यज्ञ करते हैं। पेड़-पौधोंका जीवन भी यज्ञमय है। पशु, पक्षी भी यज्ञ करते हैं। कोई अनिष्टके निवारणमें समर्थ होते हैं, कोई इष्टके प्रापणमें समर्थ होते हैं। कुछ लेते हैं, कुछ देते हैं। यह यज्ञका स्वरूप है। आदान—जैसे हम अग्निसे उष्णता लेते हैं। जो आहुति डालते हैं उसकी सुगन्ध लेते हैं। यश लेते हैं। जो उसका स्वर्गादिरूप फल है सो लेते हैं। यज्ञमें लेनेके साथ-साथ देते भी हैं। आदान-प्रदान और उत्सर्ग। उत्सर्ग माने एक नियम। इतने समय तक भोजन नहीं करेंगे। इतने समय तक सोयेंगे नहीं। इतने समय तक कोई संसारका सुख नहीं लेंगे। यज्ञ माने जीवनको नियमित करनेकी एक पद्धति। आदान भी है यज्ञमें—प्रदान भी है—उत्सर्ग भी है।

सर्वव्यापी अन्तर्यामी प्रभु, जो पृथिवीके द्वारा यज्ञ हो रहा है उसमें भी है। पृथिवी अन्नदान करती है—फलात्मक। एक किलो गेहूँ आप धरतीमें बोयें और आपको एक क्विण्टल गेहूँ दे दे। थोड़ा दिया—बहुत लिया। यह पृथिवीका यज्ञ है। जलके द्वारा यज्ञ हो रहा है। यह जितना यज्ञात्मक विश्व है। **यज्ञो वै विश्वः** पृथिवी, जल, मन, विचार सब यज्ञ है। इस सम्पूर्णयज्ञमें वे प्रभु अतर्न्यामीके रूपसे सर्वव्यापीके रूपसे विराजमान हैं। **सर्वेषु कालेषु**—जहाँ देखो वहाँ वही है।

स्वर्गाश्रममें एक महात्मा थे। वे रातको बोलते थे, तू ही तू। तू ही तू। जहाँ देखता हूँ, वहाँ तू ही तू है। **सर्वेषु कालेषु।** फिर स्मरण करनेमें क्या बाधा है? रोटी बनाते हैं—किसके लिए? प्रेमसे रोटी बना रहे हों तो रोटी गोल हो, यह भी ध्यान रहेगा। मोटी पतली न हो, यह भी ध्यान रहेगा। सेंकते समय जले नहीं, यह भी ध्यान रहेगा। जिसके लिए बना रहे हैं, उसकी भी याद रहेगी और हम कहीं जल न जायँ—**स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते**—हमारा हाथ जले नहीं, इसका भी ख्याल है। आपका मन इतनी शीघ्रतासे सब काम करता जायगा कि कहीं आपसे त्रुटि नहीं होगी। आपको कितना सावधान कर देता है प्रेम, प्रियतमकी मानसिक उपस्थिति। काल तो एक ख्याल है। आप कभी संगीत सुननेमें तन्मय होंगे तो कितना समय बीत गया यह आपको पता नहीं चला होगा। कभी आप अपने मित्रसे बात करनेमें लग गये हों तो कालका ख्याल नहीं रहा होगा। हमको ऐसे लोग मिले हैं, जिनसे बात करनेमें सारी रात बीत गयी। अरे, चार बज गये, पाँच बज गये। हम लोग तो ब्रह्मचर्चामें लग गये। जहाँ अपनी रुचि होती है, जहाँ अपनी प्रीति होती है वहाँ कालपर ध्यान नहीं जाता, अपने प्रियपर, अपने इष्टपर ध्यान जाता है। काल तो एक काल है। दु:खका काल हो तो पाँच मिनटमें 2-3 बार घड़ी देख लेते हैं। जैसे कोई श्रोता हो, मन प्रवचनमें न लगता हो तो बार-बार घड़ी देखेंगे कि अभी यह कितना चलेगा? और किसीका मन लग गया हो तो वह पूरा होनेपर कहेगा—अरे, एक घण्टा हो गया? ये घण्टा मिनट हमारी मन:स्थितिके साथ सम्बन्ध रखता है। कालका हम दार्शनिक रूप आपको बतावें।

चार्वाक मतमें भी काल नहीं है। काल नामका द्रव्य ही नहीं है। चार भूतोंके संयोगसे मन बनता है और मन कालकी कल्पना करता है। बौद्ध मतमें भी काल कोई वस्तु नहीं है। जैन मतमें है। न्यायवैशेषिकमें काल है। परन्तु सांख्ययोगमें काल नहीं है। महत्तत्त्वमें यह काल प्रतीत होता है ऐसा सांख्यमत है। काल प्राकृत नहीं है—आविद्यक है। भ्रमजन्य है। मीमांसामें काल द्रव्य है परन्तु वेदान्तमें काल द्रव्य नहीं है। अविद्याकी वृत्ति है। भक्ति सिद्धान्तमें भी काल द्रव्य नहीं है। एक भगवत्-संकल्प है। शैव मतमें भी काल द्रव्य नहीं है। इसलिए काल आपको मालूम पड़ता है। सेकण्ड-सेकण्ड। मिनट-मिनट। उधर आपका ध्यान ही नहीं जाता। काल आपके मनका एक ख्याल है। आप कालको मत देखिए—अपने कर्मको देखिए। आप अपने भावको देखिए। अपने इष्टको देखिए। अन्तर्यामीको देखिए। अपने आपको देखिए। कालको क्यों देखते हैं? आप कालको मत देखिए। घड़ीमें अलार्म लगा दीजिए। वह टनटन करके आपका ध्यान खींच लेगा। काल दूसरेके जिम्मे कर देनेकी चीज है, अपने दिमागमें रखनेकी चीज नहीं है। हमें तो अपना कर्म पूरा करना है। कर्मको पूरा करना या कर्मफलको प्राप्त करना भी आपका काम नहीं है। आपका काम है अपने समयको कर्मसे भरते जाना। आपका कोई सेकेण्ड कोई मिनट, कोई घण्टा कर्मसे खाली न हो। यह पूरा कैसे होगा? बिलकुल चिन्ता मत करो। यदि आपका कर्म ठीक-ठीक है तो वह पूरा होगा। आप करेंगे, आपका बेटा करेगा, आपका पोता करेगा, आपका परिवार करेगा, समाज करेगा, सारी सृष्टि करेगी, यदि आपका कर्म आवश्यक है तो! अंशुमान् गंगा नहीं ला सके, दिलीप गंगा नहीं ला सके, भगीरथ गंगा लाये। गंगा लानेका काम था। यदि वह काम आवश्यक है तो कभी-न-कभी पूरा होगा। समाजकी माँग है, परिवारकी माँग है, राष्ट्रकी माँग है, ईश्वरकी सेवा है, वह

कभी-न-कभी होकर रहेगी। आप अपना हिस्सा पूरा करते चलिए। आपकी जिम्मेवारीपर—फलासक्ति नहीं—और कर्मासक्ति भी नहीं—कालक्षेप कर रहे हैं। कालको तो हम ढकेल रहे हैं। जा तू बीतता जा—बीतता जा। हम लगे हुए हैं—तेरी ओर देखनेका हमें कोई अवकाश नहीं है।

सर्वेषु कालेषु—मामनुस्मर—तस्माद् क्योंकि मैं सब समय हूँ, सब जगह हूँ, सब हूँ, मैं ही स्थूल हूँ, मैं ही सूक्ष्म हूँ, मैं ही जीव हूँ—मैं ही ईश्वर हूँ—मैं ही सर्वव्यापी हूँ और मैं तुम्हारे शरीरमें ही रहता हूँ। इसलिए मेरा स्मरण करते चलो और जीवन युद्ध—युद्ध शब्दका अर्थ यहाँ—वर्णधर्मके अनुसार या आपद्-धर्मके अनुसार या मानव-धर्मके अनुसार जो अपना कर्त्तव्य है—उसीको युद्ध कहते हैं, उसे करते चलो। यह अर्जुनके लिए युद्ध स्वधर्म है। तुम अपने धर्मको देखो और अपने धर्ममें अडिग रहो। तुम अपने कर्त्तव्यका पालन करते जाओ। ये मन और बुद्धि बड़े जबर्दस्त हैं। काम वर्तमानमें तो रहनेका नाम ही नहीं लेता। बच्चेको एक खिलौना दे दो तो दूसरा चाहेगा। दूसरा दे दो तो तीसरा चाहेगा। आपका मन बालकवत् है। यह वर्तमानमें रहना नहीं चाहता। आज कलकी बात सोचेगा। फिर कल परसोंकी बात सोचेगा। यह तो पीछे जायेगा या आगे जायेगा।

भगवान् कहते हैं कि मन और बुद्धि मुझमें अर्पित कर दो। त्याग दूसरी वस्तु होती है। मायाका, मिथ्याका, दोषका, दुर्गुणका त्याग होता है। संसारका त्याग होता है। ईश्वरके प्रति समर्पण होता है। आप अपनी सड़ी चीज—गन्दी चीज ईश्वरको अर्पित मत कीजिए। वृन्दावनमें आप सुपारी खरीदने दुकानपर जाइये तो दुकानदार पूछ लेगा—देवताकी पूजा करनेके लिए चाहिए या खानेके लिए चाहिए? देवताकी पूजा करना हो तो सड़ी सुपारी बेच देगा। अपने खानेके लिए हो तो जरा ठीक-ठीक देगा। मोटर मँगनी देनी हो तो अपने घरमें सबसे पुरानी बिगड़ी हुई होती है प्रायः वही भेजी जाती है। त्याग दूसरी वस्तु है और समर्पण दूसरी वस्तु है। त्याग होता है बुराईका और ईश्वरके प्रति समर्पण होता है। असंगता होती है अन्यमात्रसे, दृश्यमात्रसे। यह अलग-अलग स्तर है। बुराईका त्याग करो। अच्छाईको अपने साथ मत जोड़ो, ईश्वरके लिए उसका उपयोग करो। आपके पास चावल है तो अपना करके ऐसा मत रखो कि रखा-रखा घरमें सड़ जाये। उसे जिनको भूख है, उन्हें खाने दो। आपके पास ऐसे कपड़े हैं जो आपके काम नहीं आरहे हैं और काम आनेके लिए भी बहुत ज्यादा हैं। थोड़ेमें काम चल सकता है। पर लोभ ही तो है यह! उसको सर्वात्मा परमेश्वरके प्रति समर्पित करो। यह समर्पण होता है। असंगता—देशमें, विदेशमें घूमो—रात हो, दिन हो, छोटी चीज हो, बड़ी चीज हो—उसपर आसक्त मत होओ, उससे चिपको मत। अपने स्वरूपमें असंगता आने दो। अपने स्वरूपमें असंगता, ईश्वरके प्रति समर्पण—बुराईका त्याग, इन सद्‌गुणोंको ग्रहण करो।

ये भगवान् बड़े लालची हैं। वृन्दावनके लोग कहते हैं कि और जगह तो भगवान्‌का हाथ ऊपर होता है और लोगोंको देते हैं—यह लो, यह लो, धन लो, भोग लो, शरीर लो, इज्जत लो। परन्तु ब्रजभूमिमें भगवान्‌का हाथ नीचे होता है। हमको दही दो, दूध दो, मक्खन दो, मिश्री दो, रोटी दो। ब्रजमें माँगनेवाले भगवान् रहते हैं और सारी सृष्टिमें देनेवाले भगवान् रहते हैं। ऐसा एक ब्रजवासियोंका लटका है। आपके सामने भगवान् खड़े हैं। उनको सर्वरूप मानों तो भी चले, विश्व भगवान्‌का रूप है।

आप लोग **विष्णुहस्त्रनाम**का पाठ करते होंगे। उसमें पहला नाम भगवान्का है—'विश्वम्'।

विश्वं विष्णुर्वषट्कारो भूतभव्यभवत्प्रभुः । 14

विश्वके रूपमें खड़े हैं भगवान् और आपसे अपेक्षा रखते हैं कि आप आपके मनको अपने शरीरको घेरकर रहते हैं—परिवार माने जो शरीरको घेरकर रहता है, परि माने चारों ओर और वार माने घेरनेवाला। आपको एक घेरेमें रखनेवाले जो लोग हैं उनको परिवार कहते हैं। वे परिवारण करते हैं। चारों ओरसे आपको घेर लेते हैं। आपका मन किस काममें लगता है? शरीरके काममें या तो जो शरीरके सम्बन्धी हैं, उनके काममें आपका मन एक घेरेमें रहता है। आप अपने मनको उन्मुख कर दीजिए। विश्वके रूपमें भगवान् आपके सामने खड़े हैं और आपसे अपेक्षा रखते हैं। अपेक्षा क्या रखते हैं? यह कि आपका मन विश्वकी ओर भी जाय। विश्वका सुख, विश्वका कल्याण, विश्वकी प्रसन्नता आपका मन देखे। आपकी बुद्धि क्या विचार करती है? अपना और अपने लोगोंका सुख। नहीं, आपकी बुद्धि सबके सुख और समृद्धिका विचार करे। सबकी सुख-समृद्धिके लिए काम करे। आपकी बुद्धि, आपका मन भगवान्के प्रति आसक्त हो। अब विश्वकी बात छोड़ दें।

गीताके बारहवें अध्यायमें जो भक्तिका वर्णन है उसके सम्बन्धमें तीन मत हैं। श्रीशंकराचार्य कहते हैं कि यह विश्व विराट् आत्माकी भक्ति है। शंकराचार्यने स्पष्ट किया है—भक्तिका क्या करोगे?

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी। 12.13

यह तो सम्पूर्ण विश्वरूप भगवान्की भक्ति है। श्रीरामानुजाचार्य कहते हैं—यह चतुर्भुज नारायणकी भक्ति है, श्रीचैतन्य महाप्रभु, श्रीवल्लभाचार्य, ये लोग कहते हैं कि ये दो हाथवाले मुरलीमनोहर, श्यामसुन्दरकी भक्ति है। विश्वरूपका भगवान्ने दर्शन दिया। ग्यारहवें अध्यायमें इसलिए कि यह विश्वरूपकी भक्ति है—यह शंकराचार्यका मत है। चतुर्भुजरूपसे ही श्रीकृष्ण रहते थे, इसलिए चतुर्भुजकी भक्ति है और **दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन**—यह अर्जुन बोलते हैं, इसलिए यह द्विभुज श्रीकृष्णकी भक्ति है। कुछ भी हो। आपके सामने भगवान् खड़े हैं और आपसे कुछ माँग रहे हैं। यह देखो करुणा है। यह देखो दयालुता, यह देखो सद्भाव।

आप हमको पाँच रुपया दे गये और बोले कि एक रुपयेकी हमको जरूरत है दे दीजिए और हमने कहा नहीं। वह पाँच रुपया जिसने दिया था वही आपसे एक रुपया माँग रहा है—और आप 'ना' बोल रहे हैं। उसका सौजन्य तो देखिए कि दिया पाँच और यह नहीं कहता है कि यह हमारा है। तुम इसमें-से हमको एक दो। वह कहता है—नहीं—नहीं तुम्हारा है, तुम अपनेमें-से हमको दो। यह देखो प्रभुका स्वभाव है। अर्पण करो—मन उसीका दिया हुआ है, बुद्धि उसीकी दी हुई है। खड़ा होकर सामने माँगता है। **सम्यर्पितमनोबुद्धिः**। यहाँ आठवें अध्यायमें तो है ही, बारहवें अध्यायमें भी है।

सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढ़निश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो भद्भक्तः स मे प्रियः॥ 12.14

एकबार माँगनेसे नहीं दिया। दो बार माँगते हैं। और दोनों एक साथ नहीं देते हो,तो अलग-अलग भी दे दो।

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय। 12.8

भगवान् तुम्हारे सामने हैं—जो मालिक हैं, जिनकी दी हुई चीज है वे तुमसे माँग रहे हैं कि अपना मन, अपनी बुद्धि हमको दो।

हमसे पाँच रुपया माँगिये—अभी निकालकर दे देते हैं। रोटी माँगिये—तैयार न हो तो तैयार करके खिला देते हैं। कपड़ा माँगिये—अभी देते हैं, बाजारसे मँगा देते हैं, बनाकर देते हैं। लेकिन वे रुपया, रोटी, कपड़ा या कोई वस्तु नहीं माँगते, वे भगवान् तो मन, बुद्धि माँगते हैं—वह कैसे दें? मन, बुद्धि न कपड़ा है, न नोट है, न वह भोजन ही है। हम अपना मन, बुद्धि भगवान्‌को कैसे अर्पित करेंगे? आप इसपर थोड़ा ख्याल करो। अगर आपके मनमें अर्पित करनेकी इच्छा होगी तब तो यह प्रश्न उठेगा! भगवान् तो माँगते हैं।

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।

मँगता तो आपके दरवाजेपर खड़ा है। गोपी! माखन दे दे। माखन सरीखा मन दे दे। मिश्री दे दे। रोटी दे दे। पर देनेकी इच्छा होगी तब तो आप सोचेंगे कि आखिर हम मन और बुद्धि कैसे दें? और यदि आपका देनेका मन नहीं होगा तो प्रश्न ही नहीं उठेगा कि मन, बुद्धिका समर्पण कैसे हो? पहले मनका रूप देखो। आपका मन प्यारसे भरा है। भगवान्‌ने प्यार दिया है। भागवतमें वर्णन आता है—भगवान्‌ने बाँसुरी बजायी। तो वंशीकी प्यारी-प्यारी ध्वनि गोपियोंके कानमें समा गयी और कानके रास्ते उनके हृदयमें पहुँच गयी। उनका हृदय उस अमृतमय ध्वनिसे भर गया। वह अमृतमय ध्वनि, वह राग, वह रागिनी, वह रस, वह संगीत उनके रोम-रोमसे छलका। आँखोंसे छलका, ओठोंसे छलका, त्वचासे छलका और अपना दिया हुआ ही अमृत फिर भगवान् श्रीकृष्णने—वही वंशी-नादका अमृत—पीया। यह स्वभाव है : देकर लेना।

आपके मनमें भगवान्‌ने प्यार दिया। सचमुच आपका मन प्यारका खजाना है। आपको मालूम पड़े कि न पड़े—मातासे प्रेम करते हैं—पितासे प्रेम करते हैं, मित्रसे प्रेम करते हैं, पत्नीसे प्रेम करते हैं, बच्चेसे प्रेम करते हैं, धनसे प्रेम करते हैं, अपने शरीरसे प्रेम करते हैं। इतना प्रेम करते हैं कि बुराईमें भी अच्छाई ढूँढ लेते हैं। आप देख लेना जिनका चेहरा अच्छा नहीं होता, वे जब शीशा देखते हैं तब कहते हैं—'हमारी नाक बहुत अच्छी है'—'हमारी आँखकी बनावट अच्छी है'—'हमारे ओठोंकी कट अच्छी है।' पूरा चेहरा अच्छा न हो तब भी उस चेहरेमें-से कहीं-न-कहींसे अच्छाई ढूँढ लेंगे। क्योंकि अपनेसे प्रेम होता है। प्रेमका स्वभाव ही यह है कि वह बुराईमें भी अच्छाई ढूँढ लें। तो आपका हृदय भगवान्‌ने प्यारसे भर दिया है। परन्तु आपके मापका जो यन्त्र है उसे गँदला-डबरा बना दिया है। जो अपने लोग हैं उनको नापनेके लिए आपके पास मशीन दूसरी है और जो बाहरके लोग हैं उनको नापनेके लिए आपकी मशीन दूसरी है। दूसरोंमें आपको बुराई ज्यादा दीखती है और अपनोंमें आपको अच्छाई बहुत ज्यादा दीखती है। यह जो आपके हृदयमें प्रेम भरा है, यही मनका स्वरूप है। आसक्ति मनका स्वरूप है। प्रेम मनका स्वरूप है। आप अपना प्यार भगवान्‌के प्रति अर्पित कीजिए। वह

आपका प्यार माँग रहे हैं। असलमें वे पत्नीके रूपमें आपका प्यार लेते हैं। पुत्रके रूपमें वे आपका प्यार लेते हैं। सब रूपमें वही आपका प्यार लेते हैं। यह बात भी गीतामें है।

न तु मां अभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते। 9.24

सबके रूपमें भगवान् हैं। परन्तु हम सबके रूपमें रहनेवाले भगवान्‌को नहीं देखते। हम तो बहुत छोटी चीजको देखकर अपना प्यार देते हैं। जब आपका प्रेम, आपका प्यार सर्वव्यापी हो जायेगा तब आप भी बहुत बड़े हो जायेंगे। जबतक आपका प्रेम छोटी जगह पर है, आप छोटे हैं। जब आपका प्रेम बड़ी जगहपर होगा तो आप स्वयं बड़े हो जायेंगे।

अच्छा, आपसे बुद्धि माँगते हैं भगवान्। बुद्धि तो हमने कुर्सीको दे रखी है। कुरसिका माने जो धरतीपर हो। कु माने धरती। जो धरतीकी रसिक हो—हर समय धरतीको छूती रहे। हमारे गाँवमें तो कुर्सी नहीं बोलती खुरसी बोलते हैं। उसका पाँव आगे निकला होता है जैसे गाय, बैल, घोड़ेका पाँव। पाँवमें खुर होता है। खुर वाले चतुष्पाद होते हैं।—जैसे चतुष्पादका खुर होता है। उस खुर-सा कुर्सीका पाँव होता है तो वैसे ही इसे खुर-सी बोलते हैं। आपकी बुद्धि किस काममें लगती है? हमको एक अच्छी-सी कुरसी मिल जाय। यह रसिक नहीं है—'कु'रसिका है। कु माने बुरी—जैसे आपकी पतिव्रता पत्नी हो और आपसे प्रेम करे तो उसकी तो सुरसिका बोलेंगे—रसिका बोलेंगे। आपकी प्रेयसी है, पत्नी है, आपसे प्रेम करती है। वह रसिक है। लेकिन वेश्या क्या है? वह कुरसिका है। शामको बैठे सुबह उलट गयी। सुबह बैठे शामको उलट गयी। कुर्सीकी क्या कीमत? आपकी बुद्धि क्या चाहती है? बदलनेवाली चीजें, गिरनेवाली चीजें, नष्ट होनेवाली चीजें—इनमें आपकी बुद्धि लगती है?

भगवान् कहते हैं—बाबा, बुद्धि हमको दे दो। जो अविनाशी वस्तु है—उसमें बुद्धि लगाओ। पार्टीमें बुद्धि मत लगाओ। मानवतामें बुद्धि लगाओ। राष्ट्रमें बुद्धि लगाओ। पार्टीमें सबसे बड़ी भ्रष्टता यह है कि अपनी पार्टीका बदमाश भी बहुत भला है। और दूसरेकी पार्टीका भला भी बहुत बदमाश है। यह जो अपराध होता है। यह दौर्जन्य है। तो हम दूसरेके किये हुए अच्छे कामको भी बुरा बताने लगते हैं और अपने किये हुए बुरे कामको भी अच्छा बताने लगते हैं। यह पार्टीका है पाप। भगवान् कहते हैं—तुम अपनी बुद्धिको किसी पार्टीके घेरेमें मत डालो। मुझे अर्पित करो। सब पार्टीमें भगवान् हैं।

मय्यर्पितमनो बुद्धिः। बुद्धि माने विचार। बुद्धि तो पात्र है और उसमें विचारका वायन है। **उपायन**—भेंट-भरी है। बुद्धि बर्तन है और उसमें विचारके हीरे रखे जाते हैं। आप अपने विचार किसके लिए करते हैं? ईश्वरके लिए आपके विचार हों। ईश्वरके लिए माने जो सबमें रहता है उसके सुखके लिए, उसकी भलाईके लिए उसके हितके लिए, आपके विचार हों। राष्ट्रकी प्रान्तकी सीमा बदल जाती है। पहले बंगाल प्रान्त था। 'बंगला देश भी उसके अन्तर्गत था। अब कट गया। अब आगे नहीं कटेगा, यह पता नहीं और बढ़ भी सकता है।' ऐसे ही राष्ट्रकी सीमा। बचपनमें हम वर्माको अपना देश जानते थे। आज जिसे पाकिस्तान कहते हैं उसे जवानीमें अपना देश जानते थे। तो ये राष्ट्रकी जो सीमाएँ होती हैं ये भी कल्पित होती हैं। समयपर बनती हैं,

समयपर बिगड़ जाती हैं। परन्तु मानवता—सम्पूर्ण विश्वमें जितने मनुष्य हैं—सबके हृदयमें जीवात्मा है—सब हमारे भाई हैं। जिसकी आँख आगेकी ओर हो और बगलमें कान हो, सामने नाक हो, मुँहमें दाँत हो, दो हाथ हों, दो पाँव हो कितनी समानता है—बराबर ही तो हैं हम लोग। कितनी समता है हम लोगोंमें। यह स्त्री अलग—यह पुरुष अलग—यह काला अलग—यह गोरा अलग—यह गरीब अलग—यह धनी अलग—यह ठीक है। परन्तु सिर, नाक, आँख, जीभ, हाथ सबके हैं। मन सबके है। सब प्यार चाहते हैं। सब सत्य चाहते हैं। साँस लेनेके लिए सबको हवा चाहिए।

ईश्वरकी पूर्णतामें अर्पित कर दो—अपने विचार; आप अपने विचारको क्यों काटते हो? अपने प्यारको क्यों काटते हो? **मय्यर्पितमनोबुद्धिः**का अर्थ है कि अपना प्यार और अपना विचार दोनों पूर्णताको दे दो। ईश्वर माने पूर्णता—जो सब जगह हो, सब समय हो, सब हो, सबमें हो—जैसे सबमें है, वैसे ही आपमें भी हो—उसका नाम ईश्वर होता है। ईश्वरके प्रति, पूर्णके प्रति अपने प्यार और अपने विचारको अर्पित कर दो। अब भगवान्‌का कहना है—देखो तुम हीरा, सोनासे प्रेम करोगे—सोना हो जाओगे, हीरा हो जाओगे। आप क्या पसन्द करते हैं? भगवान्‌से एक होना पसन्द करते हैं कि हीरेसे एक होना पसन्द करते हैं? माने जड़से प्रेम करोगे तो तुम स्वयं अपने प्रेमके साथ उस जड़में चले जाओगे और जड़के साथ तन्मय हो जाओगे और यदि चेतनके साथ प्रेम करोगे तो आपका प्रेम आपको अपनी जगहसे उठाकर चेतनमें डाल देगा।

आप चेतन रहना चाहते हैं—होशहवाशमें रहना चाहते हैं या बेहोश हीरा होना चाहते हैं? हीरा पराधीन है। उसको देखकर दूसरे लोग सुखी होते हैं। यह भी ठीक है। परन्तु हमको देखकर कोई सुखी हो रहा है, इसका सुख भी हीरेको नहीं मिलता है। आखिर यह सुख तो मिले कि हमको देखकर कोई सुखी हो रहा है। आप जड़से प्रेम करके जड़ हो जाओगे। भगवान् आपको जड़ताकी ओरसे विमुख करके चेतनताकी ओर उन्मुख करना चाहते हैं। अपने प्यारको, अपने विचारको भगवान्‌की ओर उन्मुख कर दो, आपको भगवत्प्राप्ति होगी। भगवान् मिलेंगे। मिलेंगे भगवान्—इसमें कोई शंका नहीं। क्योंकि जो सब है वह सबको मिल सकता है। उसमें ब्राह्मण क्षत्रियका भेद नहीं है। सबको मिल सकता है। सब जगह मिल सकता है। सब समय मिल सकता है। जो सब है, उसकी प्राप्तिके लिए, हम स्वर्गमें जायेंगे तब मिलेगा, यह कल्पना बिलकुल गलत है। वह स्वर्गमें नहीं मिलेगा, इस धरतीपर मिलेगा।

हमारे जीवनमें समाधिकाल आयेगा तब परमात्मा मिलेगा। विक्षेपमें भी वही मिलेगा। समाधिमें भी वही मिलेगा। स्वर्गमें भी वही मिलेगा। धरतीपर भी वही मिलेगा। जो यहीं मिलता है, उसको आप मरनेके बादके लिए क्यों टालते हैं? अभी प्राप्त कर लीजिये। **मय्यर्पित मामेव एस्यसि** क्यों? बोले भाई देखो यदि इन सात रूपोंमें आप परमेश्वरको जान जाओगे तो आपके मनमें संशय नहीं रहेगा। संशय माने सपना। आप स्वप्नमें डूब रहे हैं। बुद्धि ठीक-ठीक काम नहीं कर रही है। आधी नींद और आधा जागना। इससे शयनमें भी वही है। शीञ् स्वप्न धातु है और सम् उपसर्ग जोड़नेपर यह संशय बनता है। आप सपना देख रहे हैं। संशय, दुविधा—यह ठीक कि यह ठीक? वहाँ बुद्धि व्यवसायात्मिका निश्चयात्मिका बुद्धि होती ही नहीं।

आप अपने मन और बुद्धिको भगवान्‌में अर्पित कर दीजिये, सारे संशय मिट जायेंगे। संशयमें तो विनाश है। **संशयात्मा विनश्यति।**

नायं लोकोस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः।

आप संशय रखेंगे अपने मनमें तब इस लोकमें भी सुख नहीं है, परलोकमें भी सुख नहीं है। आपका लोक भी नहीं बनेगा, परलोक भी नहीं बनेगा। सुख भी नहीं बनेगा। इसलिए निःसन्देह—आप संशय छोड़ दीजिये। अविनाशी परमात्मा है। आपका स्वभाव, आत्मा परमात्मा है। कर्म परमात्मा है। नयी-नयी चीज बनानेवाला **कर्म, भूतभावोद्भवकरः।** नवीन-नवीन वस्तुओंका—कच्चे चावलको पका देनेवाला कर्म—माटीको चावल बना देनेवाला कर्म, धरतीमें-से कपास पैदा करके उससे कपड़ा बनानेवाला कर्म, जलती हुई खदानमें-से द्रव्य निकालकर उससे सोना बनानेवाला कर्म—

भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः।

अपने वीर्य, अपनी शक्ति, अपनी वीरताका आप उपयोग कीजिये। यह भी ईश्वरका रूप है। अधिभूत, अधिदैव, अधियज्ञ—सब ईश्वर है। मन नहीं लगता है। अरे बाबा! मन लगनेकी फिक्र मत करो। जो तुम्हारे अनुसार न चलता है उसको छोड़ दो। सुगम मार्ग है। बोले नहीं छोड़ सकते। नहीं छोड़ सकते तो अपने अनुरूप बनाना पड़ेगा—बनाना पड़ेगा तो अभ्यास करना पड़ेगा।

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्॥ 8.8
कविं पुराणमनुशासितार-
मणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूप-
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात्॥ 8.9

अभ्यास करो। बच्चा अपनी माँको कहाँ पहचानता है? लोगोंने बताया यह माँ है, यह माँ है। दुहराते-दुहराते—लोगोंने स्वयं दुहराया, बच्चेने दुहराया और माँको पहचान लिया कि यह मेरी माँ है। आप यह मत समझना कि बच्चा पेटमें-से आता है तो अपनी माँको पहचानकर आता है। माँको माँके रूपमें पहचानना भी एक अभ्यास है। इसका नाम नाक है। इसका नाम कान है। इसका नाम दाँत है। यह क्या है? दुहराया ही तो गया है। अंग्रेजीवाले दूसरा दुहराते हैं, फारसीवाले दूसरा दुहराते हैं। अरबी वाले दूसरा दुहराते हैं। नाम अलग-अलग हैं। हमको तो बहुत आग्रह है न! यह नाक है। क्यों यह आग्रह हो गया? सुनते-सुनते, मानते-मानते अभ्यास हो गया कि इसका नाम नाक है। यह ऐसा ही है। ईश्वरका नाम राम है, कृष्ण है—अभ्यास तो करो। अभ्यास माने दुहराना। आवृत्ति। हम पहले 'मुहूर्त चिन्तामणि' पढ़ते थे। तो हमारे बाबा उस ग्रन्थका श्लोक पढ़ते थे। मुझे पढ़ाते थे। वे बोलते फिर मैं बोलता। वे कहते बोला, फिर बोलो। एक सौ आठ बार बोलनेका एक नियम बना दिया। इतनी बार बोलोगे तो फिर भूलोगे नहीं। याद करो।

गौरीश्रवःकेतकपत्रभङ्गमाकृष्य हस्तेन ददन्मुखाग्रे।
विघ्नं मुहूर्ताकलितद्वितीयदन्तप्ररोहो हरतु द्विपास्यः॥ 1॥

गौरीके कानमें-से गणेशजीने सूँड़से केवड़ेका पत्र खींच लिया और खींचकर अपने मुँहमें लगा लिया वे पत्ते। थोड़ी देरके लिए दो दाँत-से लगने लगे। बोले बस-बस—ऐसी शोभावाले वह गणेश हमारा मङ्गल करें। बचपनमें 8-9 वर्षके थे और 108 बार श्लोक बोलना पड़ता था। इसका नाम हुआ अभ्यास। रोज-रोज उसकी दुहरौनी करते थे—दुहराते थे। अभ्यास माने दुहरौनी। जो आपका इष्ट है, उसको आप दुहराइये। इष्ट माने जिसको आप चाहते हैं।

दुनियामें जो चीज कहीं नहीं हो, यदि आप अभ्यास करेंगे, ध्यान करेंगे, तो जो चीज नहीं है वह भी बन सकती है, फिर जो है उसका यदि आप अभ्यास करेंगे तो कहना ही क्या है! अपने मनको यदि वह चंचल होता है, एक जगह नहीं रहता है तो बार-बार एक जगह लगानेका अभ्यास कीजिये। बार-बार दुहराइये। **योगयुक्तेन चेतसा**। रतनगढ़में एक सज्जनका एक लड़का है। आजकल कलकत्तामें रहता है। अब तो बड़ा आदमी हो गया। बच्चा था तो दूध नहीं पीता था। उसके बाप उसे धरतीपर लिटाकर मुँह दबाकर थोड़ा-थोड़ा, दूध डालते। छः महीने उनको ऐसा करना पड़ा। फिर तो वह दूधके बिना रह नहीं सकता था। दूधका अभ्यास हो गया। दूध न मिले तो रोता था। आपका मन यदि एक जगह रहना पसन्द नहीं करता तो आप बार-बार अपनी ओरसे-यह भगवान्‌का रूप है—यह भगवान्‌का रूप है—बार-बार दुहराइये। उसमें मन लगेगा। बिना अभ्यासके योग नहीं होता। अभ्यास-अभ्यास कहना अलग है और अभ्यास करना पड़ता है, सो अलग है। अभ्यास करो। मनको दूसरी जगह मत जाने दो। परमात्माकी प्राप्ति होगी—इसी जीवनमें; मरनेके बादके लिए—हम वादेका सौदा नहीं करते। ठोस माल—अभी लो परमेश्वर!

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

प्रवचन : 5

जैसे जीव शरीरके अन्दर रहता है, वैसे ईश्वरको भी किसी सीमाके अन्दर बाँध लेना, यह ईश्वरके स्वरूपके अनुरूप नहीं है। देश, कालके घेरेमें जीव रहता है। जीवका उद्धार करनेके लिए—उसको देश, कालके घेरेसे बचानेके लिए परमेश्वर कभी देश, कालके घेरेमें आता है। यह उसकी करुणा है। उसको अवतार कहते हैं—जैसे कोई कुएँमें गिरा हो तो बाहरका आदमी जानबूझकर उसको निकालनेके लिए कुएँमें उतरता है। कोई जेलखानेमें हो तो प्रेमसे उसको आश्वासन देनेके लिए बाहरके लोग भी जेलमें आते हैं। यह जीव बहुत ही सीमित क्षेत्रमें कैद हो गया है और उसमें इतना रम गया है, इतना रम गया है कि अपने घेरेसे बाहरकी वस्तुको वह पसन्द नहीं करता है। आओ परमेश्वरको इस शरीरमें भी देखें कहाँ है और बाहर भी देखें कि कहाँ है?

उपनिषद्‌में इस प्रकार वर्णन प्राप्त है—'वह बाहर भी है, वह भीतर भी है। वह अमूर्त है, अजन्मा है। वह दिव्य है, वह परमात्मा है। वह इसी शरीरमें है।'

निराकार परमात्मा सर्वत्र परिपूर्ण है तो निराकारको पकड़नेके लिए आप कहाँ जायेंगे? आप जानते हैं जिन समाजोंमें, जिन मजहबोंमें, ईश्वरको नितान्त निराकार मानते हैं, जैसे ईसाई, मुसलमान, आर्यसमाजी, ब्रह्मसमाजी, उनके यहाँ न तो भगवान्‌का दर्शन होता, न तो भगवान्‌का अवतार होता। वे भगवान्‌को नमस्कार करते हैं। वे भगवान्‌से प्रार्थना करते हैं और भगवान्‌की आज्ञा मानकर, विश्वास करके भगवान्‌की आज्ञापर—उसके अनुसार चलनेपर प्रयास करते हैं। जैसे मुसलमान नमस्कार-प्रधान है। ईसाई प्रार्थना-प्रधान है और आर्यसमाजमें नमस्कार भी है, प्रार्थना भी है और अपने चरित्रके द्वारा परमेश्वरको प्रसन्न करनेका प्रयास है। जिसमें जो गुण हो उसे स्वीकार करना चाहिए। सनातन धर्मका जो परमेश्वर है वह केवल निराकार नहीं है, साकार भी है। केवल निर्गुण नहीं है, सगुण भी है। यह वैदिक परमेश्वर है। यह जो सब दिखायी पड़ता है वह एक ही सब बना हुआ है। एक ही है यह और बना हुआ है सब। ईसाई, मुसलमान और आर्यसमाजी यह नहीं मानते कि ईश्वर सब हो गया है। वे ऐसा मानते हैं कि ईश्वरने सब बनाया। बना नहीं है, बनया है। आर्य-समाजी प्रकृति भी मानते हैं, जीव भी मानते हैं, कर्म भी मानते हैं और ईश्वर जीवको कर्मके अनुसार भिन्न-भिन्न शरीरोंमें देखता भी है। ईसाई, मुसलमानका ईश्वर बना देता है। पहलेसे वे प्रकृति, जीव, कर्म इनको नहीं मानते। यह ईश्वरने अपने आदेशसे 'कुन' 'कुन', कहकर बना दिया। वैदिक धर्मका कहना है कि बना नहीं दिया या किसी चीजसे बनाया नहीं बल्कि स्वयं बन गया। 'स एकधा भवति, द्विधा भवति—त्रिधा भवति—पञ्चधा भवति—सप्तधा भवति।' वही एक परमेश्वर सर्वरूपमें प्रकट हो जाता है। इसमें जगत्‌का उपादान भी वही, निमित्त भी वही। माटी भी वही—बनानेवाला भी वही। कुम्हार भी वही—माटी भी वही। जुलाहा भी वही सूत भी वही। सुनार भी वही—सोना भी वही। यह वैदिक सनातन धर्मका सिद्धान्त है।

इसलिए हम जहाँ चलते हैं, जहाँ देखते हैं, जो करते हैं वहाँ परमेश्वर विद्यमान है। देखनेके लिए सिर्फ आँख चाहिए। इसीसे सर्वरूपमें परमेश्वर—

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥ 9.18

बारह बातें इस श्लोकमें कही गयी हैं—ईश्वरके बारेमें। ईश्वरकी ये विशेषताएँ हैं। वह गति है—हम जहाँ पहुँचेंगे वहीं है। वह हमारा भरण-पोषण करनेवाला भर्ता है। वही हमारा स्वामी है। वही हमारा साक्षी है। वही हमारा निवास-स्थान है। उसीका आश्रय है। वही हमारा सुहृद् है। उसीसे हमारा जन्म हुआ है—प्रभवः। इसीमें हमको मरके समाना है—प्रलय। स्थानं—उसीमें हम रह रहे हैं। वही हमारा खजाना है निधानं और वही अव्ययबीज है।

हमारा हाथ कैसे हिलता है? हमारी आँख कैसे देखती है? हमारे पाँव कैसे चलते हैं? हमारे शरीरमें ये सब क्रियाएँ अन्तर्यामी परमेश्वरके होनेसे ही होती हैं। हमारी साँस चलती है, हमारा मन काम करता है, यदि ईश्वरकी उपस्थिति न हों तो सब निष्क्रिय हो जायगा, सत्ताशून्य हो जायगा, ज्ञान शून्य हो जायगा। एक परमेश्वरके बिना जीवका कोई अस्तित्व नहीं है। आकाश न हो तो घटाकाश कहाँसे होगा? वायु नहीं तो साँस कहाँसे होगी। साँस हम हैं तो हवा ईश्वर है। शीशेकी चमक हम हैं तो ईश्वर सूर्य है। ईश्वर हमसे बिलकुल दूर नहीं है। आओ ईश्वरको देखें। उसे कहाँ देख सकते हैं? पहले अपने घरमें देख लीजिए और फिर बाहर देखने जाइये। यह साधनकी रीति है। महात्मा लोग दृष्टान्त देते हैं। किसी सज्जनको पारस पत्थर प्राप्त करनेकी बहुत इच्छा थी। वह भटकते थे। नदीके किनारे पहाड़पर। अरे! कहीं पारस पत्थर मिले—पारस पत्थर मिले। उनको पहचान नहीं थी, भटकते थे। एक दिन कोई जानकर मिला। उसने उनको पारस पत्थरकी पहचान करा दी—देखो यह है। वर्षों तक बिचारे भटकते रहे—अब मिला। जब वे पारस पत्थर लेकर अपने घरमें आये तो देखा उनके घरमें जो सील थी और लोढ़ा—सील-बट्टा पारस पत्थरके थे। बोले यह तो घरमें पहलेसे मौजूद है और मैं उसको जंगलमें, नदीमें पहाड़में ढूँढता फिरा।

काहे रे वन खोजन जाई—गुरु नानकका वचन है। तुम ईश्वरको ढूँढनेके लिए जंगलमें क्यों जाते हो? आओ अपने भीतर ईश्वरको पहले पहचान लो। अगर अपने भीतर ईश्वरको पहचान लोगे तो सबके भीतर पहचान लोगे। अहंमें ईश्वरको नहीं पहचानोगे—तो इदंमें कहाँसे पहचानोगे? भावना करोगे—जब पकड़ छूट जायेगी तो ईश्वर भी छूट जायगा और ईश्वरको पहचान लोगे तो सब जगह पहचान लोगे। भीतर पहचाननेके लिए क्या? वह बताया है।

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्॥ 8.8

अभ्यास योगयुक्तेन—आपका चित्त कैसा होना चाहिए? अभ्यास योगयुक्त अभ्यास करना चाहिए। अभ्यासका बड़ा सामर्थ्य है। यह जो आपका शरीर है यह आतिवाहिक है। आतिवाहिक होता है वह देवता जो

सूक्ष्म शरीरकी देहान्त प्राप्तिमें सहायक हो [अति वह्+ण्वुल्] यह पहाड़को छेदकर निकल सकता है। यह आसमानमें उड़ सकता है। यह धरतीके नीचे जा सकता है। अतिक्रम्य वहति। कोई इसको रोकनेवाला नहीं है। परन्तु आप इस हड्डी-मांस-चामसे मैं करके—अधिभौतिक सुखोंमें लिप्त हो गये हैं। यह अभ्यास ही पड़ गया कि आपने अपने आपको हड्डी-मांसका शरीर मान लिया। यह अभ्यासका चमत्कार है। एक मुसलमान मन्दिर तोड़ना चाहता है? एक हिन्दू नमाजके समय बाजा बजाकर उसको विक्षिप्त क्यों करना चाहता है? 'मान मान बन्धनमें आयो'—ऐसा बाहरसे विरोधी भाव ठूँस दिये गये हैं। सोचते-सोचते ऐसा ही हो गया है—नहीं तो मन्दिरमें जब ईश्वर रह सकता है जो मस्जिदमें क्यों नहीं रह सकता?

हमारे साधु दाढ़ी बनावें तो उनकी ईश्वर मिले और सिक्ख, मुसलमानकी दाढ़ी हो तो उसको ईश्वर न मिले। यह तो कल्पना ही बिल्कुल गलत है। मैं-मैं-मैं-का जो अभ्यास है वह बहुत बुरी तरहसे हमारे दिमागमें है। इसका दुरुपयोग न कर सदुपयोग करना चाहिए। बिना अभ्यासके जो सुख मिलता है उसको तामस सुख बोलते हैं। **निद्रालस्यप्रमादोत्थम्**—नींदमें बड़ा आराम मिला—आलस्य आया! बड़ा आराम मिला। प्रमाद कर गये—बड़ा आराम। यह तो तमोगुण है। इन्द्रिय और विषयके संयोगसे जो सुख मिलता है वह राजस सुख है। भोगमें जो सुखी है वह रजोगुणी है और निद्रा-आलस्यमें जो सुखी है वह तमोगुणी है। जितना अधिक भोग भोगो उतना ही अधिक विक्षेप तुम्हारे जीवनमें आयेगा और जितना आलस्य करोगे, उतनी ही जड़ता जीवनमें आयेगी। सच्चा सुख प्राप्त करनेके लिए अभ्यासकी जरूरत होती है।

अभ्यासात् रमते यत्र—दुखान्तं च निगच्छति।

आप अपने अभ्याससे एक नया सुख पैदा करो। तुमने परम्परासे जो चला आरहा है, जो सीखा—बहुत बढ़िया और उसमें नया-नया आविष्कार भी करो। नहीं तो तुम्हारी बुद्धि सो जायेगी। बुद्धिमें जड़ता आजायेगी। जैसी चाय पीते आये हो वैसी ही पीओगे? अरे भाई इसमें ऐसा आविष्कार करो कि लोगोंको नया आकर्षण हो। कपड़ेकी ऐसी डिजाइन बनाओ कि लोग उसपर टूट पड़ें। नया-नया आविष्कार चाहिए। तो आविष्कारके लिए अभ्यास चाहिए। बिना अभ्यासके उसके एक-एक अणुकी—उस वस्तुके एक-एक कणकी जानकारी कैसे प्राप्त होगी? उसमें यह है, यह है—**अभ्यासात् रमते यत्र**। उसमें अपने मनको रमा दो। अभ्यास माने **तमास्थितो यत्नोऽभ्यासः।** आप जिसको अपना इष्ट समझते हैं, प्रिय समझते हैं, उसमें स्थित होनेके लिए, प्रयत्न कीजिए। बार-बार प्रयत्न कीजिए। इसका नाम होता है अभ्यास योग। पहलवान बननेके लिए कितना अभ्यास करना पड़ता है। दो-दो हजार दण्ड और बैठक करते हैं। बिना कुछ किये गामा थोड़े ही बना जाता है। सर्टिफिकेट मिलनेसे अच्छा वकील, अच्छा डॉक्टर नहीं हो जाता—उसके लिए अभ्यास करना पड़ता है। आप अपनेसे बड़े जानकारके पास, बड़े अनुभवीके पास रहकर अभ्यास कीजिए। मन डाँवाडोल न हो। **नान्यगामिना** आपका ज्ञान—चेतस् माने ज्ञान होता है संस्कृतमें—चिति संज्ञाने। आपकी आँख असंग है। आप कितनी चीज देखते हो और छोड़ते जाते हो। अबतक कितनी चीजें खायी हैं। कोई याद करके बता सकता है कि बचपनसे अबतक क्या-क्या खाया है? क्या-क्या देखा है? क्या-क्या छूया है? क्या-क्या पीया है? कहाँ-

कहाँ गये हैं। ज्ञान असंग होता है। अपने विषयको वह छोड़ता जाता है। रूप बदलता है, आँख नहीं बदलती। आँख ज्ञान है। ज्ञानमें असंगत रहती है, परन्तु जब उपादेय बुद्धिसे कि यह हमें सीखना है—तब वह संज्ञान हो जायेगा। संज्ञान होनेसे उसका नाम, उसका रूप आपके दिलमें बैठेगा।

यह जो आपका हृदय है यह संस्कार पकड़नेवाला यन्त्र है। संस्कृतमें हृद् शब्दका अर्थ होता है—**हरति संस्कारान् इति हृत्।** यह 'हृ' धातुसे जो हरिमें है, हरमें है—उसी धातुसे 'तुक्' प्रत्यय हो करके 'हृत्' शब्द बनता है। इसका अर्थ होता है—किसीको प्रेमसे देखो और उसे लाकर अपने मनमें बैठा लो। 'हृ+क्विप्, तुक्'=हरण करनेवाला। ग्रहण करनेवाला। ले जानेवाला। आकर्षक, मोहक। संस्कारको आहरण करनेके कारण—हृदयको हृदय कहते हैं। (हृ+कयन्, दुक् आगम=दिल, मन, अन्तःकरण। छाती, वक्षःस्थल। किसी वस्तुका सार या मर्म। गुप्त विज्ञान। हृद्+इ+अच्=परब्रह्म, आत्मा, बहुत ही प्रिय व्यक्ति) तो आपका चेतस है संज्ञानका पुञ्ज—इसको कैसा बनाओ—**नान्य-गामिना।** जिस विषयको ठीक-ठीक आप धारण करना चाहते हो वहाँसे इसे हटने मत दीजिए।

एक बात और है। आप अपने बेटेके बारेमें कितनी देरतक सोचते हो? सोच सकते हो? धनके बारेमें कितनी देरतक सोच सकते हो? लाखों रुपये गिननेमें एक गलती भी नहीं मिलती। कितना एकाग्र होता है आपका मन! आपके पास शक्ति कितनी है। अपने प्यारेकी याद करते जाओ—करते जाओ। अपने प्यारेसे बात करते जाओ—करते जाओ। अपने प्यारेसे बात करते जाओ—करते जाओ। जहाँ आपका मन चञ्चल होता है, इसका अर्थ है कि आपके लिए वह विषय रुचिकर नहीं है। आपका वह प्रिय नहीं है। प्रिय होता तो आपका मन वहाँसे हटना क्यों पसन्द करता? रास्तेमें खटखट हुई, देख लिया, फिर वहीं आगये, देख लिया फिर वहीं आ गये। ये योगदर्शनकी दो बातें हैं।

गीताकी भी दो बातें—**अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।** अभ्यास और वैराग्य। **नान्यगामिना चेतसा** यह हो गया वैराग्य। दूसरेसे-रागद्वेष नहीं है। रागद्वेषका लोप सुषुप्तिमें भी नहीं होता। मालूम नहीं पड़ता। लेकिन कल जिससे राग था, जागनेके बाद उसीसे राग रहता है। कल जिससे द्वेष था, जागनेके बाद उसीसे द्वेष होता है। मतलब क्या हुआ कि राग-द्वेषका बीज सुषुप्तिमें भी रहता है।

किसीकी हिंसा करनेका मन होता है। यह द्वेषकी क्रिया हुई—मार डालें किसीको मारनेका मन तो नहीं होता, लेकिन प्रतिहिंसाकी वृत्ति होती है। इन्होंने हमारा बिगाड़ा है तो हम भी इनका बिगाड़ दें। हमको इन्होंने जेलमें डाला तो हम भी इनको जेलमें डालें। यह प्रतिहिंसाकी वृत्ति होती है। आपने ईसाका वह वचन सुना होगा कि अगर तुम्हारे एक गालपर कोई थप्पड़ लगावे तो दूसरा गाल भी उसके सामने कर दो। यह है साधुकी मनोवृत्ति। यह संसारी लोगोंका नहीं है। हिंसा करना नितान्त निन्दित है और उससे कम निन्दित है प्रतिहिंसा। यदि चित्तमें अहिंसा तो तब तो कहना ही क्या! गांधीजीके आश्रममें किसीने घड़ीकी चोरी की—उन्होंने कहा कि बाबा इसको पकड़ो मत—मारो मत क्योंकि इसको इतनी जरूरत है कि चोरी करता है और हमें इसकी बिलकुल जरूरत नहीं है। हम तो इसको सोनेमें छोड़कर चले गये थे। हमारी जरूरत कम है, उसकी जरूरत

ज्यादा है। उसको घड़ी दे दो। यह है सत्पुरुषकी मनोवृत्ति बिना समताके सौजन्य स्थिर नहीं हो सकता। आपने गीता पढ़ी।

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥ 6.9

आपकी बुद्धिमें समता है कि नहीं, बिना सम हुए आपका चित्त एकाग्र नहीं होगा। कभी राग खींयेगा, कभी द्वेष खींचेगा। दो बात हुई एक तो अभ्यास बढ़ाया और दूसरे चित्तको दूसरी जगह राग-द्वेषके विषयमें जानेसे रोक दिया और तीसरे अनुचिन्तयम्—परमात्माका अनुचिन्तन करो। यह तीसरी बात है। योगदर्शनमें अभ्यास है, वैराग्य है—अनुचिन्तन नहीं है। अनुचिन्तन बहुत बाह्य स्तरपर होता है। स्थूल आलम्बनका चिन्तन, सूक्ष्म आलम्बनका चिन्तन, आनन्द आलम्बनका चिन्तन, ये सबसे सम्प्रज्ञात समाधिके स्थूल भाग हैं और अस्मिताका चिन्तन सूक्ष्मतम भागमें है। सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम और असंप्रज्ञात समाधिमें वह भी नहीं है। परन्तु यह गीता है। इसमें अनुचिन्तनकी बड़ी महिमा है। अनुचिन्तन क्या होता है? आओ आनन्द लें।

श्रीमद्भागवतका सप्ताह कभी करते हैं तो दशम स्कन्ध, एकादश स्कन्धका आनन्द लेते हैं। जो बाकी बचता है उसे घण्टे भरमें पूरा कर लेते हैं। पुस्तक पूरी करना धर्मके अन्तर्गत है। उसका रसास्वादन करना फलके अन्तर्गत है। धर्म है पुस्तक पूरी करना और धर्मका फल है उसका आनन्द लेना।

रसास्वादन करो। अनुचिन्तन क्या होता है? तुम्हारे कोई गुरु हैं कि नहीं? अर्थात् तुम्हारे आदरणीय, श्रद्धेय—जिनसे तुम सीखते हो—ऐसे महानुभाव हैं कि नहीं? अनुचिन्तनका अर्थ है—जैसा वे चिन्तन करते हैं। उसके अनुसार तुम चिन्तन करो। अनु माने अनुसार—जैसे बड़े भाईका छोटा भाई अनुज होता है। जैसे आगे चलनेवाले-के पीछे चलनेवाला अनुग होता है। वैसे चिन्तनके पीछे चलनेवाला अनुचिन्तन होता है।

प्रथम मुनिन हरि कीरति गाई।
तेहि मग चलत सुगम मोहि भाई॥

महत्माओंने जैसा चिन्तन किया है, उनके दिखाये हुए रास्तेसे परमात्माका चिन्तन करो। अनुचिन्तन—भक्त लोग एक बहुत बढ़िया बात कहते हैं। कहते हैं—परमेश्वरका चिन्तन करो—उसमें जीवको घूमनेके लिए आसमान बनाया है। साँस लेनेके लिए हवा बनायी। देखनेके लिए सूर्य-चन्द्रमा बनाया। जीवित रहनेके लिए, पीनेके लिए जल बनाया। बसनेके लिए धरती बनायी और देखनेके लिए आँख दी, सुननेके लिए कान दिया, बोलनेके लिए जीभ दी। प्रेम करनेके लिए दिया दिल। नया-नया काम करनेके लिए प्रतिभाशाली मस्तिष्क दिया। ईश्वरने चिन्तन करके कि तुम्हारे काम क्या-क्या चीज आयेगी—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धके लिए, ज़ीनेके लिए, प्यार करनेके लिए, विचार करनेके लिए। इतना उपकरण, इतना औजार, इतनी सामग्री दिया। जिस घरमें तुमको रखा, उसमें सब तरहकी मशीन लगा दी। संगीत सुन लो, सिनेमा देख लो। कानसे संगीत सुनते हैं। आँखसे सिनेमा देखते हैं। तुम कोमल कठोरका स्पर्श कर लो, जो भोजन चाहिए—कड़वा, खट्टा, मीठा, सब खानेके लिए तुम्हारे पास तैयार है। वह दूकानमें नहीं मिलता है,

वह रसोईघरमें नहीं बनता। तुम्हें ऐसा घर दिया है—रहनेके लिए जिसमें सम्पूर्ण सुविधाएँ उपलब्ध हैं। यह है उसकी कृपा, उसकी करुणा। उस घरमें नयी बात सोच सकते है। प्यार बरस सकते हैं। यदि उससे मिलना चाहें तो मिलनेके लिए वाहन भी दे दिया है। आप उसके घर जा सकते हैं—उसे अपने घर बुला सकते हैं। उसे सोच-विचारकर आपको सब दिया। आपके मनमें कभी कृतज्ञता उभरती है इस सबके लिए। आप ईश्वरके प्रति कृतघ्न न हों।

अनुचिन्तयन्—जैसे ईश्वरने आपका चिन्तन किया है, वैसे आप भी उसका अनुचिन्तन कीजिए; उसने आपको प्यार दिया है। आप उसको प्यार दीजिए। उसने आपको घर दिया है, आप भी उसे घर दीजिए। उसने आपको आँख दी है, आप उसको भी आँख दीजिए। उसके सामने ले जाकर डाल दीजिए अपने आपको। **अनुचिन्तयन्**—आप ईश्वरके शीलस्वभावका उसके स्वरूपका चिन्तन कीजिए। यह आपसे कितना प्रेम करता है। जब आप अपने ऊपर बरसनेवाले ईश्वरके प्रेमका चिन्तन करेंगे तो आपके हृदयमें अपने आप ईश्वरसे प्रेम हो जायेगा।

संस्कृत भाषामें एक 'प्रीति-सन्दर्भ' नामका ग्रन्थ है। एक बल्लभ सम्प्रदायका भी 'प्रीति-सन्दर्भ' है। बल्लभ सम्प्रदायवाला मैंने हस्तलिखित ही देखा था। अभी सम्भवतः प्रकाशमें नहीं आया और चैतन्य महाप्रभुके सम्प्रदायका तो प्रकाशित हो चुका है। प्रश्न यह उठाया कि प्रेम कैसे बढ़ता है? प्रीति बढ़नेका उपाय क्या है? प्रीतिका उद्दीपन क्या है? जैसे आलम्बन, उद्दीपन दो होता है। यमुनाका तट हो, बालुकामय पुलिन हो—वंशीधर हो, गौएँ चर रही हों, ग्वालबाल खेल रहे हों, यह सब उद्दीपन है। उसमें वंशीकी धुन सुनायी पड़ती है, यह भी उद्दीपन है। वहाँ श्रीकृष्णका शरीरकी गन्ध फैल गयी हो, यह भी उद्दीपन है। लेकिन वह जो श्रीकृष्णका श्रीविग्रह आपके सामने प्रकट होगा वह आलम्बन है। प्रेम एक रस है, इसका उद्दीपन क्या है? यदि आपके मनमें यह विश्वास जमेगा कि सामनेवाला—हमसे बहुत प्रेम करता है—'पानी देखकर पानी बढ़ता है' कहावत है। समुद्रमें सबसे अधिक वर्षा होती है। पानी देखकर पानी बरसता है। यदि आपके मनमें यह विश्वास हो गया कि सामनेवाला हमसे बहुत प्रेम करता है तो अनचाहे आप उससे प्रेम करने लगेंगे। इसीसे प्रेमका बाप विश्वास है।

पहले विश्वास होता है, फिर प्रेम होता है। यदि संशय हो जाय तो प्रेमकी नदी सूख जायेगी। प्रेमकी गंगा सूख जायेगी। संशयमें विश्वास नहीं बनता। पता नहीं कब धोखा दे जाय। सावधान रहेंगे। अपनेको पकड़कर रखेंगे कि कहीं हम इसकी कैदमें फँस न जायँ और संशय नहीं रहेगा, पूरा विश्वास हो जायेगा तो अपनेको मिला देनेमें कोई हिचकिचाहट नहीं होगी। आपके मनमें ईश्वरपर विश्वास है। उसकी कोई क्रिया बुरी नहीं लगेगी। प्रेममें चाँटा भी लगा देते हैं। प्रेममें डाँट भी देते हैं। प्रेममें कुछ छीन भी लेते हैं। पर प्रेमपर विश्वास होना चाहिए कि जो कुछ हो रहा है सो सब प्रेमसे हो रहा है।

अनुचिन्तयन्का अर्थ यह है कि ईश्वर हमसे कितना प्रेम कर रहा है। यह बात आप देखो, इसका आनन्द लो। फिर क्या होगा? आप प्रेमी नहीं रहेंगे। अलग होकर प्रेमी नहीं रहेंगे। आप उसके पास पहुँच

जायेंगे। प्रेम आपको प्रियतमसे अलग नहीं रहने देगा। प्रेमीके पास ले जाकर मिला देगा। प्रेम मिलाता है। लौकिक प्रेममें तीन दल होते हैं ऐसा मानते हैं। त्रिदल प्रेम होता है। त्रिदल माने प्रेमी अलग होता है, प्रेम अलग होता है; प्रियतम अलग होता है और जो ईश्वरसे प्रेम होता है उसमें प्रेमी, प्रेम और प्रियतम, ये तीन दल नहीं होते। प्रेमी प्रियतम हो जाता है। प्रियतम प्रेमी हो जाता है। प्रेम ही प्रेमी है। प्रेम ही प्रियतम है। इससे आपको परम पुरुषकी प्राप्ति होगी। परम पुरुष माने पुरुषोत्तम। वह दिव्य है। **दिव्योः अमूर्तः पुरुषः।** परमेश्वरका प्रेम देखिये, आपपर कितना प्रेम है—आपके ध्यानमें यह बात आती है? आप उसे अपने गोदसे उतारकर फेंक देते हैं। परन्तु वह आपको अपनी गोदमें रखता है। ईश्वरने कभी आपको अपनी गोदसे उतारा नहीं।

चन्द्रसूर्ययोः—वह हमें अपनी आँखोंसे ओझल नहीं करता है। वह साँस-साँसमें हमको साँस—प्राण देता है वह हमारे चिन्तनमें चेतन बनकर रहता है। हमारे प्यार-प्यारमें आनन्द बनकर रहता है। हमारे अस्तित्वमें उसकी सत्ता विकसित होती है। परमेश्वरका आप चिन्तन कीजिए, आप परमेश्वरके पास पहुँच जायेंगे। **श्रद्धामयोऽयं पुरुषः**—गीतामें आपने पढ़ा होगा। आपकी श्रद्धा परमेश्वर पर है, आपको अभी परमेश्वर मिलेगा। वेदान्ती लोग इसको दूसरी तरहसे बोलते हैं।

एक बहुत गुप्त बात है। आप क्या हैं? आप वह नहीं हैं जो कुरसीपर बैठे हुए हैं। आप वह नहीं है जो कपड़े पहने हुए है। आप वह नहीं है जो आपका स्त्री-पुरुषका शरीर है। आप कौन हैं? आपका मन क्या है? जो आपका मन है, वही आप हैं।

यच्चित्तस्तन्मयो मर्त्यः।

यदि आपका मन राम है तो आप राम हैं। यदि आपका मन कृष्ण है तो आप कृष्ण हैं। यदि आपका मन राधा है तो आप राधा हैं। यदि आपका मन सीता है तो आप सीता हैं। यदि आपके मनमें चोर है, व्यभिचारी है तो आप चोर हैं, व्यभिचारी हैं। यह एक गुप्त बात मानते हैं—वेदान्ती लोग। आओ आप दिव्य पुरुषके पास चलो। कैसा है वह?

कविं पुराणमनुशासितार
मणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूप-
मादित्यर्णं तमसः परस्तात्॥ 8.9

अर्जुनको देखते-देखते श्रीकृष्ण छन्द ही भूल गये। आपके ध्यानमें यह बात आयी या नहीं? **पुराणमनुशासितारं**—ऐसे बोलनेपर छन्दमें एक मात्रा कम होती है। **पुराणम् अनुशासितारम्** ऐसे बोलेंगे। अलग—तब तो छन्द पूरा होगा। गानेवाले इसे पूरा कर सकते हैं। इसीसे मालूम पड़ता है कि श्रीकृष्ण भी संगीतके टोनमें, लयमें, बोल रहे हैं। साहित्य-शास्त्रका जैसा नियम है, उस नियमके अनुसार नहीं है। व्याकरणमें तो दोष नहीं है। परन्तु काव्यमें दोष है। यह दोष कहाँसे आया? जैसे संगीत बोलनेवाले

आ...आ...करके पदको पूरा कर देते हैं। भजन, पद चाहे कैसा भी हो वे अपने आलापसे उसको पूरा करते हैं। **कविं पुराणम् अनुशासितारं**—यह पुराणम् संगीतके आलापसे पूरा होगा। इसका अर्थ है श्रीकृष्ण गा रहे हैं।

बाँसुरी बजायी वृन्दावनमें, शंख बजाया कुरुक्षेत्रमें, परन्तु यह गीत, यह संगीत, यह गीता शंखध्वनि नहीं है। यह वंशी-ध्वनि नहीं है। यह तो चिदानन्दमयी ध्वनि है। शंखध्वनिमें वीर रस होता है। बाँसुरीमें शृंगार होता है और इसमें आनन्द और ज्ञान दोनोंका मेल है। **कविं पुराणम् अनुशासितारं**—परमेश्वर कैसा है? बोले कवि है। वैसे कविकी परिभाषा ही बना रखी है। **कवयः क्रान्तदर्शिनः** कविको आँखके सामनेका नहीं सूझता है। क्रान्त माने अतिक्रान्त। जो आँखोंसे ओझल है—उसका वर्णन करेंगे। उनके मनमें ऐसा प्यार भरा है—जैसे देखकर आये हों। किसीके दिलमें तुम घुसे, वहाँ प्यार देखकर आये। प्यारका वर्णन करते हैं—सौजन्य, दौर्जन्यका वर्णन करते हैं। रावणका वर्णन करते हैं तो मालूम होता है, रावणसे एक हो गये—रामका वर्णन करते हैं तो मालूम पड़ता है, रामसे एक हो गये। रामकी बात कवि बोलता है। रावणकी बात कवि बोलता है। दोनोंकी बात तो आँखोंसे ओझल है। न रामकी सुनकर आये न रावणकी। रावणके दिलमें बैठे तो रावणकी बोले और रावणको अपने दिलमें बैठा लिया तो रावण हो गये और रामको अपने दिलमें बैठा लिया तो रावण हो गये और रामको अपने दिलमें बैठाया—राम हो गये। इसको बोलते हैं कवि। यह सातवें आसमानकी—सातवें पातालकी बात ले आवें। दूसरे दिलकी बात ले आवें। **कवयः क्रान्तदर्शिनः।** कवि किसको कहते हैं कि जो क्रान्तदर्शी हो।

'जहाँ न जाय रवि, तहाँ जाय कवि।'

कविकी गति वहाँ है। तो परमेश्वरको कवि कहा। 'ईशावास्य उपनिषद्'में भी परमेश्वरको कवि कहा है।

कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्य-
तोऽर्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः।

परमेश्वर कवि है। परन्तु कविका स्वाभाविक अर्थ है—वस्तुके यथार्थ स्वरूपका वर्णन करनेमें निपुण। स्वभावोक्ति अलंकार है वह सबसे उत्तम अलंकार है। अतिशयोक्ति, वक्रोक्ति, उपमा, अनन्वय, ये अलंकार अलंकार नहीं हैं। रूपक, उत्प्रेक्षा अलंकार नहीं है। अलंकार है स्वभावोक्ति। **स्वभावोक्ति रसो चारु यथावत् वस्तुवर्णनम्।** वस्तुका यथार्थ वर्णन होना चाहिए। उसमें नमक-मिर्च लगाकर वर्णन नहीं करना चाहिए। कवि वह है जो वस्तुका यथार्थ वर्णन करें। **कं सुखं वाति**—जो सुखका स्रोत, सुखका झरना, सुखकी गंगा बहा दे दुनियामें। जिसकी वाणीसे सुख ही सुख बरसे। रमणीय पदविन्यास जिसमें हो। रमणीय वाक्य, उसको काव्य बोलते हैं। अर्थवत् हो, रमणीय हो। तो परमेश्वर कैसा है? वेदमें वर्णन है—परमेश्वर अकेला था एकान्तमें था, बोला—हमारा समय कैसे कटे? उसने काव्य-रचना प्रारम्भ की। वह तो परमेश्वरका काव्य था तो अर्थवाला था। आजकलके कवि बोलते हैं तो वह केवल शब्द ही रह जाता है न!

यह पेड़ क्या है, यह फूल क्या है, यह फल क्या है? आपकी बत्तीसी देखनेका मन होता है, आपकी

प्यार भरी आँखें देखनेका मन होता है। आपकी चमक देखनेका मन होता है। यह क्या है? यह ईश्वरकी कविता है। एक छोटी-सी लड़की लेकर कोई सज्जन गुरुनानकके पास गये। गुरुनानक उस समय लिख रहे थे। उन्होंने लिखना बन्द कर दिया और उस लड़कीकी ओर देखने लगे। पिताने पूछा कि गुरु साहब आप क्या देखते हैं? उन्होंने कहा—कारीगरकी रचना देख रहा हूँ। कितना बढ़िया होगा कारीगर, जिसने बराबर-बराबर कान बनाये हैं, छोटे बड़े नहीं! आँख कितनी बराबर, नाकके छेद कितने बराबर। हाथ एक लम्बा एक छोटा हो तो कैसा लगे! वह क्या कारीगर है! उस शिल्पीकी यह रचना देखो! ईश्वर गाता है। काव्य करता है। **पश्य देवस्य काव्यम्**—यह परमेश्वरकी कविता है। यह अमरकृति है परमेश्वरकी। कभी मरती नहीं और कभी बुड्ढी भी नहीं होती। वैसे भाष्यकार लोग कवि शब्दका अर्थ करते हैं सर्वज्ञ। कालिदासकी प्रसिद्धि है जिसे किसीने देखा नहीं, उसका वर्णन करके सामने रख दिया। जब हम ध्यानमें एकाग्र होते हैं तो अनदेखी चीज भी दीखने लगती है।

आओ, आप जिसकी शरण लेना चाहते हैं, जिसका ध्यान करना चाहते हैं—वह कैसा है? वह अज्ञानी नहीं है, अल्पज्ञ भी नहीं है, वह सर्वज्ञ है। तुम्हारे दिलकी सब बात जानता है। जो तुम जानते हो वह भी जानता है और जो तुम नहीं जानते वह भी जानता है। जो तुम भूल चुके हो उसको भी जानता है और आगे तुम जानोगे उसको भी जानता है। वह कवि है। सर्वज्ञ है। अज्ञानीकी शरण नहीं लेना—अज्ञानीका चिन्तन नहीं करना। उस सर्वज्ञका चिन्तन करना, जो सब कुछ जानता है।

पुराणम्—माने **पुरातिनवम् एव इति पुराणम्** पुराण शब्दका यह नैरुक्त अर्थ है। पुराने जमानेमें भी वह नया था। अब भी वह नया है, आगे भी नया रहेगा। नित्य नूतन है, चिर सुकुमार है। चिर सुन्दर है। अनादि है। ऐसा सर्वज्ञ है। **अनुशासिता-सर्वज्ञ** भी हो और बुड्ढा भी हो और उसका घरमें हुकुम न चलता हो तो! बेटे, नाती, पोते न मानते हों। बहू-बेटी न मानती हों, उसकी प्रजा उसकी बात न मानती हों तो—वह सर्वज्ञ, पुराना, अनुभवी ही नहीं है अनुशासिता भी है। वह अनुशासन करता है। सूर्य और चन्द्रमा उसकी आज्ञाके अनुसार चलते हैं। आग जलती है, हवा बहती है, तारे छिटकते हैं। ऋतुमें वर्षा होती है, ठण्डकमें ठण्ड पड़ती है। यह उसका अनुशासन है। मौत भी उसकी आज्ञाकी पालन करती है।

पकड़ लें उसे-नहीं, **अणोरणीयांसम्** वह अणुसे भी अणु है। यदि परमेश्वर अणु होता तो अबतक वैज्ञानिक लोग तोड़ डालते उसको। उसमें-से फिर एटम-बम निकलता। ये तो अणुको तोड़कर रख देते हैं। वह परमाणु है? नहीं परमाणु भी नहीं है। परमाणुमें अलगाव होता है। **अणीयांसं**—अणुसे भी अत्यन्त अणु है—वह किसी यन्त्रके द्वारा पकड़ा नहीं जा सकता। बहुत सूक्ष्म है। उसे कोई जेलमें-कैदमें नहीं डाल सकता।

कुछ हमारे काम भी तो आना चाहिए। वह कवि है, ठीक है। पुराण है, सो ठीक। अनुशासिता है यह भी ठीक। किन्तु उसका अनुशासिता होना हमारे किस कामका? बोले—**सर्वस्य धातारम्**। गाय आपको दूध पिलाती है। बच्चेको जैसे दूध पिलाती है वैसे सबको वही दूध पिलाता है। गेहूँमें-से जो दूध निकलता है, वह

क्या आपने उसमें डाला है? लेबोरेटरीमें निर्मित है? अंगूरमें-से जो रस निकलता है, आममें-से जो रस निकलता है। वह किसका डाला हुआ है?—**सर्वस्य धातारम्।**

सबको वही दूध पिलाता है, सबको वही धारण करता है। धारण—अपनी-अपनी मर्यादामें सबको रखता है। समुद्र, धरतीको डुबोता नहीं है। वायु चट्टानको उड़ाता नहीं है। सूर्य और चन्द्रमासे जितनी दूरीपर समुद्रको रख दिया है, उतनी दूरीपर समुद्र रहता है। अगर थोड़ा पास हो जाये तो चन्द्रमा जिस दिन पूर्ण होगा, उस दिन समुद्र इतना उछले कि शहरके शहर डूब जायें। सूर्यको जितनी दूरीपर बैठा दिया है, अगर सूर्य उससे थोड़ा पास हो जाये तो धरती जल जाये। सबका पालन-पोषण करनेवाला वही है।

सर्वस्य धातारं—अब अपनी बुद्धिमें उसका एक रूप बैठावें—अचिन्त्यरूपा आपकी चिन्तन शक्ति वहाँ पहुँच नहीं सकती। **आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्।** आओ इसका अनुचिन्तन करें। हमने आपके मनोरंजनके लिए यह बात नहीं सुनायी। ईश्वरका अनुचिन्तन—आप अपने मनको जगाकर कीजिए—सुलाकर मत कीजिए। मनको सुलाकर चिन्तन नहीं होता। मनको जगाकर चिन्तन होता है। अपने मनको क्रियाशील रखकर, उसकी वृत्तियोंको जगाकर ईश्वरके बारेमें ऐसा अनुचिन्तन कीजिए। जैसे हवाई जहाज आपको अभीष्ट स्थलपर पहुँचाता है, वैसे आपकी वृत्ति परमेश्वरके पास आपको पहुँचा देगी।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

●

प्रवचन : 6

गीताके आठवें अध्यायमें परमात्माके अनुचिन्तन और अनुस्मरण दोनोंकी महिमा और दोनोंका फल बताया गया है। अनुचिन्तन और अनुस्मरण, चिन्तनमें जो चिन्तन करता है, उसका बल काम करता है और स्मरणमें जो सुनी-देखी, अनुभव की हुई वस्तु होती है, उस वस्तुका स्फुरण, काम करता है। कर्त्ताकी प्रधानतासे होता है चिन्तन और अनुभूत वस्तुकी प्रधानतासे होता है स्मरण। चिन्तन हमें जोर लगाकर करना चाहिए। जब अनुभव हो जायेगा तो स्मरण अपने आप होने लगेगा। आपको अपने प्रिय, अप्रिय दोनोंका स्मरण बिना बल लगाये एकाएक हो जाता है? माँकी याद आती है, बापकी याद आती है, अपने मित्रकी, पुत्रकी याद आती है। यह स्मरण जो बार-बार सुना हुआ है, बार-बार देखा हुआ है, जिस दुःखका, सुखका अनुभव हुआ है, उसका स्मरण अपने हृदयमें उतरता है। स्मरण अवतार है। चिन्तन उतार है। चिन्तन हमारी ओरसे उस वस्तुका किया जाता है जिसका हम चिन्तन करना चाहते हैं। **परं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्।** पहले दिया चिन्तन और बादमें दिया अनुस्मरण।

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्॥ 8.9
प्रयाणकाले मनसाचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥ 8.10
यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये॥ 8.11
सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्॥ 8.12
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यं प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्॥ 8.13
अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः॥ 8.14

पहले बात कही गयी अनुचिन्तनकी और बादमें अनुस्मरणकी। 'स्मरति' यह क्रम बना। परमेश्वरका निरूपण करते हुए—जो उनके गुण बताये हैं—वे कवि हैं, हमारे हृदयको जानते हैं—सर्वज्ञ हैं। कवि माने क्रान्तदर्शी हैं। हमारे हृदयके अन्तःस्थलमें, गम्भीर अन्तःस्थलमें जो बातें छिपी हैं, जिनको हम अभी नहीं जानते

हैं, उनको भी वे जानते हैं। सबकी आदि होती है और परमेश्वर अनादि होता है, ईश्वर कब पैदा हुआ? ईश्वर किसने बनाया? यह आप जान सकते हैं क्या? कल्पनाकी बात छोड़ दीजिये। क्या अपनी आदि जान सकते हैं? आप कब बने? आपको किसने बनाया? अपनी उत्पत्ति कोई जान सकता है? उत्पत्ति जाननेके लिए उत्पत्तिसे पहले होना आवश्यक है। आप अपनी उत्पत्ति भी नहीं जान सकते क्योंकि यदि उत्पत्ति जानते हैं तो उत्पत्तिसे पहले आप हैं। आब आप ईश्वरके बारेमें सोचते हैं। आप अपनी आदि तो जान नहीं सकते? एक बाबू कहते हैं—'हमारे सनातनधर्मी लोग जिस बातको नहीं जान पाते हैं, उसको अनादि कह देते हैं।' ऐसा नहीं है। एक दर्शनका नियम है कि उसमें अनादि क्या होता है? अनुभवके क्षेत्रमें अपनी उत्पत्ति और अपनी मृत्यु दोनों कोई देख नहीं सकता। अनुभव नहीं कर सकता। इसलिए अपना आत्मा अनादि है और अनन्त है। इसलिए नहीं कि हम जान नहीं पाते। जानते तो हैं कि हम हैं परन्तु अपनी उत्पत्ति और अपनी अन्त ये दोनों अनुभवके क्षेत्रमें आ नहीं सकते। इसलिए अनादि और अनन्त मानते हैं। जब हम अनादि, अनन्त हैं तो ईश्वरके बारेमें तो कहना ही क्या है? किसने सृष्टिकी आदि देखी, किसने अन्त देखा, किसने बनानेवालेको देखा? आप अपने आपको देखेंगे तो सब देखा हुआ हो जायेगा। शास्ता है—उसकी आज्ञा चलती है। सूर्यपर, चन्द्रमापर, अग्निपर सबपर उसकी आज्ञा चलती है। एक तो वह सर्वज्ञ है, दूसरे सर्वशक्ति है, चाहे जो कर सकता है। सृष्टि बना सकता है, बिगाड़ सकता है, बदल सकता है और तीसरे परम दयालु है।

सर्वस्य धातारम्—सबको पुष्टि देता है। तीन बातपर आप ध्यान दें। सब जानता है, सब कर सकता है और उसका हृदय दयासे, करुणासे भरपूर है। शरण लेने योग्य वही है। जिसके हृदयमें दया न हो उसकी शरण क्या लेना! करना, चाहना हो पर जानता ही न हो कि इसके दिलमें क्या है? मूर्खकी शरण नहीं ली जाती। असमर्थकी शरण नहीं ली जाती और क्रूरकी शरण नहीं ली जाती। परमात्मा सर्वत्र है, सर्वशक्ति है, परम दयालु हैं। इसलिए शरण लेने योग्य हैं। इसका ध्यान कैसे करें?

आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्। आपके जीवनमें अन्धकार है। कहीं-न-कहीं अन्धकार है—जैसे आपकी आँख जब ऊपरको देखती है तो अन्धकार दिखायी देता है? नीलिमा है और जब हवाई जहाजमें बहुत ऊँचाईपर चलते हैं, तो नीचे भी नीलिमा दीखती है। यह जो क्षितिज है, वह केवल ऊपर ही नहीं है, केवल दायें-बायें नहीं है, यह नीचे भी है। माने हमारा जीवन अन्धकारके बीचमें जहाँतक हमारी आँख देख सकती है, चश्मा, खुर्दबीन, दूरबीनके सहारे, उतने प्रकाशमें ही हमारा जीवन चल रहा है। सृष्टिका आदि अन्त कौन देख रहा है? एक ऐसा प्रकाश है कि जिसके सामने कहीं अन्धकार नहीं होता। न आदिमें, न अन्तमें। न दाहिने, न बायें। न ऊपर, न नीचे। न भीतर, न बाहर—ऐसा प्रकाश है। एक ऐसा प्रकाश है, जिसके दाहिने, बायें, ऊपर, नीचे, भीतर, बाहर, कहीं भी अन्धकार नहीं है। ऐसा प्रकाश है, ऐसा चेतन है, ऐसा ज्ञान है और वह सारे अन्धकारोंसे परे है।

जाग्रत् अवस्थामें बाहर अन्धकार है और आँख बन्द करो तो भीतर भी है। स्वप्नमें जाग्रत्की स्मृति नहीं होती। वह भी अन्धकारमें डूब जाती है और सुषुप्तिमें जाग्रत् और स्वप्न दोनों ही अन्धकारमें चले जाते हैं। कुछ

नहीं मालूम पड़ता। आपने सुषुप्तिका—जहाँ वेदके मन्त्र नहीं होते। **तत्र वेदा अवेदा भवन्ति।** वहाँ माँ-बापकी याद नहीं रहती। वहाँ पति-पुत्र नहीं होते। आप एक ऐसी अवस्थामें रोज जाते हैं जहाँ सब छूट जाता है। भगवान्‌ने आपको कैसी असंगताका दर्शन करा दिया। सब छोड़कर आप सो जाते हैं और आरामका अनुभव करते हैं कि सबको भूलकर सो जानेपर आराम मिलता है। हे भगवान्। गोदमें बच्चेको लेकर सोते हैं। उसके जागते हुए, खेलते हुएका आनन्द लेते रहते हैं। थोड़ी देरमें जब बच्चा और स्वयं सो जाते हैं, वह बच्चा भूल जाता है, तब नींदका आनन्द मिलता है। तकियेके नीचे हीरा, मोती रखनेका सुख होता है और जब उसको भूलकर सो जाते हैं तब आराम मिलता है। बगलमें पति-पत्नी, जब एक दूसरेको भूलकर सो जाते हैं तब आराम मिलता है। हमें रोज त्यागका सुख दिखाता है भगवान्। संसारकी विस्मृतिका सुख दिखाता है।

अब रह गया अज्ञान। 'तमसः परस्तात्'। यह वेदका मन्त्र है। श्रीकृष्ण तो वेदके अनुसार ही बोलते हैं। **वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः।** सारे वेद भगवान्‌का वर्णन करते हैं। वेदके सामने भगवान् हार जाते हैं। वेदकी यह महिमा है। रासलीलाका प्रारम्भ है—श्रीकृष्ण कहते हैं गोपियोंसे कि लौट जाओ। धर्मरूपसे बोलते हैं। गोपियाँ कहती हैं—तुम धर्मकी बात कहते हो—हम ज्ञानकी बात करती हैं। तुम पूर्वमीमांसा हो, हम उत्तर मीमांसा हैं। तुम मनुस्मृति हो, धर्मशास्त्र हो, हम उपनिषद् हैं। गोपियोंने स्पष्ट कह दिया—तुम्हारी बात गलत, हमारी सही। तुम्हारे पास आकर कोई लौटता है? है कहीं वेदमें यह बात कि परमात्माकी प्राप्ति हो जाय और फिर लौट जाय? **मामुपेत्य पुनर्जन्म।** श्रुति कहती है, सूत्र कहता है, गीता कहती है कि परमात्माके पास पहुँचनेके बाद फिर लौटना नहीं होता। श्रीकृष्णकी बात बड़ी कि गोपीकी बात बड़ी? गोपीने कहा—'तुम्हारी बात बड़ी नहीं—हमारी बात बड़ी।' और श्रीकृष्ण गोपियोंसे वाद-विवादमें, शास्त्रार्थमें हार गये। यह है वेदकी महिमा। जब अर्जुनसे भी बातचीत करते हैं तब बीच-बीचमें वेदके मन्त्र बोलते हैं। बहुतसे हैं—

यश्चैनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्।

यह भी वेदका मन्त्र है।

वेद बड़ा है। क्योंकि युक्तियाँ केवल लोकको देखती हैं—लौकिक कल्याण। धर्मशास्त्र लोक, परलोक दोनोंको देखते हैं। उपनिषदें परमार्थ-सत्यको देखती हैं। वे न केवल लोकमें फँसती हैं, न केवल परलोकमें फँसती हैं, न दोनोंमें फँसती हैं। वे केवल परमार्थको देखती हैं। गोपीको न लोककी चिन्ता है, न परलोककी चिन्ता है, न दोनोंको चिन्ता है, वे तो परमार्थस्वरूप श्रीकृष्णसे प्रेम करती हैं। यह उपनिषद् है। इसका नाम श्रुति है। गोपी माने श्रुति—गोपी माने वेदकी ऋचा। मालूम पड़ता है कि एक मन्त्रका पति इन्द्र है। एक ऋचाका पति अग्नि है। एक ऋचाका पति वायु है, उसका प्रतिपादन करती हैं। परन्तु वे अन्तरंगसे न अग्निका, न वायुका, न सूर्यका प्रतिपादन करती हैं बल्कि वे अन्तरंगसे सब ब्रह्मका प्रतिपादन करती हैं। परमात्माका करती हैं। इसलिए बाहरसे देखनेमें उनके देवता अलग-अलग हैं और भीतरसे सबके देवता एक हैं। यह रास है। **आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्।** यह श्रुतिका वचन है। श्रीकृष्ण इसको प्रामाणिक मानते हैं।

शिवपुराणमें एक कथा है—पितामह भीष्म पिण्डदान कर रहे थे अपने पिताके लिए। हाथ निकला। कथाका अर्थ समझिये। भीष्मके पिताका, शान्तनुका हाथ निकला, नदीमें-से—पिण्ड लेनेके लिए। ब्राह्मणने कहा कि हाथपर पिण्ड दे दीजिए आप! भीष्मने कहा—नहीं महाराज, आप बताइये शास्त्रमें पिण्डदानकी विधि क्या है? हाथपर देनेकी है या वेदीपर? ब्राह्मणने कहा, शास्त्रमें तो विधान है कुशा जिसपर बिछ रही हो, ऐसी वेदीपर पिण्डदान करनेका, जो उक्त पितरके लिए निर्धारित हो। बोले—तब भले हाथ निकला रहे, हम तो वेदीपर पिण्डदान करेंगे। क्यों? बोले—हमारे सामने तो पिताजीका हाथ निकला। दुनियामें ऐसे लोग पिण्डदान करेंगे, जिनके सामने हाथ नहीं निकलेगा तो कहेंगे हाथ नहीं निकलेगा तो हम पिण्डदान ही नहीं करेंगे। परम्परा ही बिगड़ जायेगी। अत: हम तो शास्त्रीय रीतिको ही करेंगे। अनुशासनका भंग नहीं होना चाहिए। अनुशासन जीवनकी एक खास वस्तु है। यह श्रुतिका अनुशासन है।

सबसे घना अन्धकार हमारे जीवनमें तब होता है, जब हम सो जाते हैं, गाढ़ निद्रामें। उससे घना अन्धकार जीवनमें और कहीं नहीं है। नरकमें भी नहीं है। सातवें आसमानमें भी नहीं है। पातालमें भी नहीं है। सुषुप्तिमें भी जो चमकता रहता है। आपने सुषुप्तिका अन्धकार देखा है—वहाँ आपकी जाग्रत्‌की वस्तुएँ नहीं है, न आपका स्वप्न है। कुछ मालूम नहीं पड़ता। जब कुछ मालूम नहीं पड़ता है तो कुछ देखते भी नहीं हैं। **तमसः परस्तात्**—परमात्मा वहाँ है। अर्थात् वह सुषुप्तिमें भी है। स्वप्नमें भी है, जाग्रत्‌में भी है। इसका यही मतलब हुआ। क्योंकि जो गाढ़ अन्धकारमें आपका साथ नहीं छोड़ता वह सपनेमें, जहाँ आपका मन टिमटिमाता है, वहाँ आपका साथ क्यों छोड़ देगा? जाग्रत्‌की याद स्वप्नमें नहीं—जाग्रत्, स्वप्नकी याद सुषुप्तिमें नहीं। परन्तु स्वप्नमें सुषुप्तिकी याद है और जाग्रत्‌में स्वप्न, सुषुप्ति दोनोंकी याद है। यह अन्धकारमें पड़े हुए गाढ़ सुषुप्तिमें भी आपके साथ, आपकी आत्माके रूपमें **धियो यो नः प्रचोदयात्, तस्य भासा सर्वमिदं विभाति**—उसके प्रकाशसे सुषुप्ति मालूम पड़ती है, वह परमात्मा है। इतना निकट है और इतना अपना है कि जाग्रत्‌में भी आपके पदार्थ और सम्बन्धी छूट जाते हैं। स्वप्नमें तो छूट ही जाते हैं। परन्तु सुषुप्तिमें भी जहाँ सब छूट जाता है वहाँ भी परमेश्वर नहीं छूटता है। वह इतना अन्तरङ्ग है। इसीसे परमेश्वर युक्तिसे नहीं जाना जाता। जो युक्ति होती है, तर्क होते हैं, हेतु होते हैं वे तो लोकको देखकर होते हैं। दुनियादारीमें-से तर्क निकलते हैं। वहाँ तर्ककी पहुँच नहीं होती है।

जिसके अनुभवमें अन्त है वह—**आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्।** आओ, इस अन्धेरेको पार करो। अन्धकारको पार करो—देखो परमात्माको। जब आप सुषुप्तिमें जो प्रकाश है उसको पहचान जाओगे तो उसे प्राप्त कर लोगे। क्योंकि सुषुप्तिमें देश-काल भी नहीं होता। लम्बाई-चौड़ाई भी नहीं होती और उमर भी नहीं होती, वजन भी नहीं होता, वजन नहीं होता इसलिए द्रव्य नहीं है। और लम्बाई-चौड़ाई नहीं होती इसलिए देश नहीं है और उमर नहीं होती इसलिए काल नहीं है। सुषुप्तिमें जो प्रकाश है, उसमें न द्रव्य है, न देश है, न काल है—न अन्धकार है। ऐसी वह रोशनी है। आप एक बार उसको देखो, अनुभव करो और फिर मृत्यु भी आपको उस परमात्मासे अलग नहीं कर सकती। कहते हैं कि दुनियामें जितनी भी चीजें हैं, उनमें मृत्यु सबसे ठोस है।

पर मृत्युसे भी ठोस है परमात्मा। आत्मा—यह आपको कभी छोड़ नहीं सकती। यदि आप उसे जान लो या उसका भाव कर लो या उसके अनुचिन्तनका अभ्यास कर लो।

प्रयाणकाले मनसाचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥ 8.10

आप जीवनमें एक बार परम पुरुषकी प्राप्ति जरूर करो। फिर, मौत भी परमेश्वरसे अलग नहीं कर सकती। सुषुप्ति भी परमेश्वरसे अलग नहीं कर सकती। मृत्युके रूपमें परमात्मा ही है।

देख मौत का रूप धरे मैं नहीं डरूँगा तुमसे नाथ।
भले बने हो लम्बकनाथ॥

परमात्मा भूत बनकर आये। भूतमें परमात्माका दर्शन, मृत्युमें परमात्माका दर्शन, दु:खमें परमात्माका दर्शन, शोकमें परमात्माका दर्शन, मोहमें परमात्माका दर्शन, वह कभी आपकी आँखसे ओझल होगा ही नहीं।

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।

अन्तमें अर्जुनका प्रश्न था—

प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभि:। 8.2

भगवान् कहते हैं देखो—अचल मन हो, हृदयमें भक्ति हो, योगका बल हो तो आप अपने प्राणको ऊर्ध्वगतिमें ले जा सकते हैं। उसके लिए प्राणायामकी आवश्यकता नहीं पड़ती। मन और प्राण तो एक ही हैं। यदि आपका मन परमेश्वरकी ओर चले तो आपके प्राण तो अपने आप ही परमेश्वरकी ओर चलेंगे। मन भावात्मक है और प्राण क्रियात्मक हैं। और वीर्य प्रत्यात्मक हैं। ये तीनों एक ही चीज हैं—वीर्य, प्राण और मन। अत्यन्त सूक्ष्म मन है, उससे स्थूल प्राण हैं और प्राणसे स्थूल वीर्य है।

यह सुननेमें आता है कि काशीमें मरनेसे मुक्ति मिलती है, तो वह काशी बाहरकी है। यह बात भाव, भक्तिकी दृष्टिसे बिलकुल ठीक है। एक स्थान तो ऐसा होना ही चाहिए। एकादशी एक काल है वैसे ही काशी एक स्थान है। तुलसी, चरणामृत ये द्रव्य हैं। इनमें परमेश्वरका आह्वान नहीं करना पड़ता। काशीमें आवाहनके बिना ही परमेश्वर रहता है। एकादशीमें आह्वानके बिना ही परमेश्वर रहता है और तुलसीमें, गंगाजलमें, चरणामृतमें आह्वानके बिना ही परमेश्वर रहता है। जैसे उनकी महिमा है, वैसे अपने शरीरमें वाराणसी **भ्रुवोर्मध्ये**—दोनों भौहोंके बीचमें काशी है। चौरासी कोसकी काशी है। पच्चीस कोसकी वाराणसी है और तीन कोसकी अन्तर्वेदी है। उसके परे अविमुक्त क्षेत्र है। जहाँ बिना मुक्तिके कोई रहता ही नहीं। यह आध्यात्मिक काशी होती है। भौंहोंके बीचमें। अपने प्राणोंको वहाँ ले जाते हैं और फिर काशीमें मुक्ति होती है। परमपुरुष परमात्माकी प्राप्ति होती है। यह है अभ्यासकी बात, भावकी बात।

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागा:।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये॥ 8.11

भगवान् यह भी वेदमन्त्र ही उद्धृत कर देते हैं। वेदवेत्ता उसे बोलते हैं और संन्यासी लोग रागद्वेष

छोड़कर 'वीतरागः' वीतराग होकर जिसमें प्रवेश करते हैं, और—**यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति**। वेदविद् गृहस्थ हैं, और 'यतयो वीतरागाः' 'संन्यासी' हैं और **यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति**—यह ब्रह्मचारी, गृहस्थके लिए वेदके पाठकी विधि है, अग्निहोत्र यज्ञयागकी विधि है। गृहस्थ पति-पत्नी दोनों साथ बैठकर यज्ञादि करते हैं। पत्नीके मर जानेके बाद अग्निहोत्र नहीं होता। उस समय अन्तःकरण शुद्धिके लिए जप करते हैं। **जपेनैव तु संसिद्धिः**—विधुर पुरुषको जप करना चाहिए। गृहस्थ और वानप्रस्थ वेद मन्त्रका पाठ करते हैं, अग्निहोत्र करते हैं—पत्नीके साथ। ब्रह्मचारी लोग ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं और संन्यासी लोग रागद्वेषसे विनिर्मुक्त होकर परमात्मामें प्रवेश करते हैं। वह पद क्या है? बहुत संक्षेपमें आपको सुनाते हैं। संग्रहेण-माने संक्षेपसे।

भागवतमें एक ऐसा प्रसंग है—बलरामजीको श्रीकृष्णसे कुछ पूछना था। एक ऐसा प्रसंग आया कि ये हमारे बछड़े, बछड़े नहीं हैं—ऋषि हैं। ग्वाले, ग्वाले नहीं हैं—देवता हैं। अब बलरामजीने अपनी दिव्यदृष्टिसे देखा—सचमुच नहीं हैं। अरे! ये हमारे ग्वाल-बाल क्या हो गये? हमारे गायोंके बछड़े क्या हो गये? ये तो सब ऋषि हैं। ये तो सब देवता हैं। यह हुआ क्या? उनको ठीक-ठीक पता नहीं चला। वे ब्रह्माकी मायाको तोड़ सकते थे—प्राकृत मायाको तोड़ सकते हैं। शिवकी मायाको तोड़ सकते हैं परन्तु श्रीकृष्णकी मायाका भेदन बलराम नहीं कर सकते। उन्होंने पूछा—कन्हैया भैया! यह क्या हुआ? हमारे ग्वाले कहाँ गये? हमारे बछड़े कहाँ गये? पर पूछनेके बाद उन्होंने कहा—बस, जरा-सा बोल दो—थोड़ेमें बता दो। संक्षेपमें बोलो। क्यों? बलरामजी, श्रीकृष्णको अधिक बोलना पड़े, यह कष्ट भी नहीं देना चाहते। इशारा कर दो कि ये कौन हैं? 'निगमेन'—शब्दका प्रयोग है। मैं समझ जाऊँ—इतना इशारा कर दो। व्याख्यान देनेकी जरूरत नहीं। कोई और सुन लेगा। तुमको बोलनेकी तकलीफ न उठानी पड़े और दूसरेको पता न चले और इशारेमें मैं समझ जाऊँ—ये देवता कहाँसे आगये! ऋषि कहाँसे आगये! भागवतमें यह प्रसंग है।

यहाँ बोलते हैं—**संग्रहेण प्रवक्ष्ये**। बहुत सारी बातोंका सार-सार संग्रह करके—प्रवक्ष्ये प्रवचन करूँगा। संक्षेपमें मृत्युकी विधि बताते हैं। हमारे जन्मके समय भी विधि होती है। एक बार मैं काशीमें पण्डितराज राजेश्वर शास्त्रीके घर गया। उनका तीसरा ब्याह हुआ था। बड़ा मंगल-गान हो रहा था। मैंने पूछा आज क्या है? बोले गर्भाधान-संस्कार है। पति-पत्नीके सहवाससे आज पेटमें बच्चा आयेगा। उसके बाद पुंसवन-संस्कार आयेगा। बेटा होगा। सीमन्तोन्नयन-संस्कार होगा। पत्नी निश्चिन्त रहेगी। फिर जातकर्म-पैदा होनेके समय आयेगा। मरनेके बाद भी अन्त्येष्टि कर्म होता है। ये सब संस्कार डाला जाता है। धर्म अपने आप नहीं आता। अधर्म अपने आप आता है। अज्ञान अपने आप आता है। स्वच्छन्द आचरण अपने आप आता है। उसको नियमित करनेके लिए—स्वभावको सुनिश्चित बनानेके लिए, संस्कारकी आवश्यकता होती है। मृत्युका भी संस्कार करो। अन्त्येष्टि कर्म होता है।

पहले मरनेकी भी धार्मिक विधि होती थी। आजकल कोई माने चाहे न माने। धर्मकी रीतिसे मरना। स्वामी विशुद्धानन्दजी काशीमें रहते थे। दशाश्वमेध घाटके पास अभी उनका विशुद्धानन्द मठ है और स्वामी

दयानन्दके समयमें थे। जब उन्हें शरीरका त्याग करना था, तो बैठ गये सबके सामने। अपनी गुफा बन्द नहीं की, कहा—तीन दिनतक हमको कोई बुलावे नहीं। कुशासन बिछाकर बैठे थे। न कुछ खाया, न पीया, न शौच न लघुशंका। आँख खुली और शरीर त्याग दिया। जो लोग ऐसा नहीं कर सकते, उनके लिए पहले अक्षयवटपर जाकर प्रयाग राजमें जमुनाजीके तटपर अक्षयवटके निकट संस्कार करना पड़ता था। उसकी पूजा होती, पाठ होता, संकल्प होता। दो-तीन दिन उपवास करना पड़ता तब उसके बाद—मरनेको धर्म बना दिया हमारे शास्त्रोंमें—हमारे ऋषियोंने। मृत्युको धर्म बना दिया।

युद्ध भूमिमें मरना भी धर्म है। धर्मके अनुसार शरीरका त्याग करना भी धर्म है। तब मोक्षको भी सब जगह ले आओ।

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्॥ 11
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्॥ 12

इस प्रसंगमें एक बात याद आगयी। ऐसा बोलते हैं—हमको याद नहीं है—देखा भी नहीं था मैंने। मैं ७ वर्षका था तब मेरे पिताकी मृत्यु हुई थी। उनको जीवित ही उठाकर गंगाजीके तटपर ले गये थे, पालकीमें। सैकड़ों शिष्य उनके साथ गये थे। मरते समय किसीके मल निकल आता है। किसीके मूत्र निकल आता है। किसीका मुँह खुल जाता है। किसीकी आँख उलट जाती है। हमारे पिताजी जब मरने लगे तो उनका सिर फट गया और उसमें-से एक मांस-पिण्ड निकलकर गंगाजीमें गिर पड़ा। सैकड़ों लोगोंने देखा था। आप यदि अपने नीचेके द्वारोंको स्वच्छन्द कर देते हैं—कोई रोक-टोक नहीं तब वे इतने ढीले पड़ जायेंगे कि आपके प्राण वहाँसे निकलनेका प्रयास करेंगे। यदि आपको परमात्माकी प्राप्ति हो गयी है तो प्राण कहींसे भी निकलें, कोई परवाह नहीं। यदि आपको परमात्माकी प्राप्ति हो गयी है तो प्राण निकलकर कहीं जाते ही नहीं वह तो यहीं हवामें मिल जाते हैं।

अज्ञानरहित वासनाशून्य प्राणीका जब शरीर छूटता है जब वासना ही नहीं है तो सूक्ष्म शरीरको—प्राणको निकाल करके कोई कहाँ ले जाये?

नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्—आपके जीवनमें, शरीरमें, इस नगरमें नौ दरवाजे हैं। कोई खुला मिलेगा, तो उसमें-से सूक्ष्म शरीर निकलकर संसारमें जायेगा। **सर्वद्वाराणि संयम्य**—इसका नाम है साधन—अभ्यास, संयम। आपके जीवनमें संयम होना चाहिए। आप समझते हैं कि वहाँ नहीं जाना चाहिए और पाँव उठकर चले गये। आप समझते हैं कि यह काम नहीं करना चाहिए और आपने वही काम कर दिया। आप समझते हैं कि 'यह नहीं बोलना चाहिए,' और वही बात बोल दी। आप समझते हैं—कि यह नहीं लेना चाहिए और वही चीज ले ली। यह आपकी जीभ, आपका हाथ, आपका पाँव संवृत नहीं है। आप उसको ढककर नहीं रखते हैं। संयममें नहीं रखते हैं। एक स्थानमें आप अपने मनको बाँधिये और बार-बार उसको टच कीजिये, आप उसमें

तन्मय हो जायेंगे। इसीका नाम समाधि हुआ। आपका मन एक घेरेमें रहे, बाहर न जाय। अपने मनको आपने एक देशमें बाँध लिया—यह धारणा हो गयी और क्रमसे एकके बाद दो, दोके बाद तीन, तीनके बाद चार—कालमें हर सेकेण्डमें आपका मन एक वस्तुको छूये और उसी वस्तुमें तन्मय हो जाये—इसको बोलते हैं संयम।

सर्वद्वाराणि संयम्य।

मनो हृदि निरुध्य च—जैसे घोड़ेकी बागडोर आप अपने हाथमें रखते हैं—किसी बादशाहको हाथीपर बैठाया गया तो उसने कहा कि इसकी लगाम हमारे हाथमें दे दो। तो बताया गया कि हाथीके लगाम नहीं होती। तुरन्त कूद पड़ा वह बादशाह। जिस जानवरके लगाम नहीं है, उसके ऊपर मैं कैसे चढ़ूँगा। आपका यह जो घोड़ा है, वह संयमित होना चाहिए। यहाँ कलकत्तामें एक जयदयाल कसेरा थे, वे शरीरको घोड़िया बोलते थे—घोड़िया खोलिया भी बोलते थे। यह जो घोड़िया है जिसपर आप चढ़े हुए हैं—इसकी बागडोर, इसकी लगाम आपके हाथमें है कि नहीं? चाहे जब जिस द्वारको खोलें और चाहे जब जिस द्वारको बन्द कर दें। आपके नियन्त्रणमें यह घोड़ा होना चाहिए। दाहिने मोड़ो, बायें मोड़ो। सामने ले चलो, पीछे हटा लो। **इन्द्रियाणि हयानाहुः** इन्द्रियोंको घोड़ा बोलते हैं, जिसपर आप चढ़े।

इन्द्रियोंको खुला छोड़ दिया, जो मौजमें आयी बोल दिया। यह पागलपन ही तो है। असलमें किसीको किसी बातका अभिमान होता है। हम पण्डितोंमें देखते हैं। व्याकरणको अच्छा जाननेवाला पण्डित जो चाहे सो बोल देगा और कहो कि तुमने गलत बोला तो वह तुरन्त व्याकरणके सूत्र लगाकर सिद्ध कर देगा कि मैं ठीक बोला था। अभिमानी पुरुष अपनी इन्द्रियोंपर लगाम नहीं लगा पाते। एक विषयका तो अभिमान कर लेते हैं और बाकी विषयमें गिर जाते हैं। अतः सभी विषयोंपर नियन्त्रण चाहिए—**सर्वद्वाराणि संयम्य।** यह जो मनीराम हैं, इनको हृदयमें रख लो। आप चित्त शब्द पढ़ते हैं। इसका अर्थ है चुननेवाला। यह चुन लेता है—यह दुश्मन है, इसे अलग रखो। यह चुन लेता है 'यह दोस्त है'—इसको अलग रखो। **चिनोति-चिनुते इति चित्त।** जो संस्कारका चयन करता है। आप बोलते हैं तो वही बोलते हैं जो आपने चुनकर हृदयमें दोस्त या दुश्मन रखा है।

मैं बच्चा था हमारे चाचाका घर पासमें था, चुपके-से जाता उनके घरमें खा लेता—अच्छा लगता भोजन। खाकर जब आता अपने घर तो मेरी माँ कहती कि भोजन कर लो। मैं बहाना बनाता कि अभी नहीं खाऊँगा या मैं यह खाऊँगा—यह नहीं खाऊँगा, यह नहीं खाऊँगा। एक दिन मुझे कै हो गयी, तो वहाँसे जो खाकर आया था माँने कहा यह कहाँसे आया? अभी तो कह रहा था नहीं खायेंगे, नहीं खायेंगे।

यह जो हम लोग उगलते हैं—हाथसे उगलते हैं, जीभसे उगलते हैं—बोलते हैं—पाँवसे उगलते हैं अपने संकेतोंसे उगलते हैं—वही उगलते हैं जो चुन-चुनकर भीतर रखा हुआ है। कोई अपनेको छिपा नहीं सकता। क्रोध आता है तो आँखमें लाली आती ही है। काम आता है तो शरीरमें उत्तेजना होती ही है। चटोरापन आता है तो जीभपर पानी आता ही है। आप उसको रोक नहीं सकते। मनको हृदयमें रोक लो और अपने प्राणको भावसे, युक्तिसे, योगसे ऊर्ध्वगतिमें ले जाओ, योगधारणामें स्थित हो जाओ।

ॐयह निवृत्तिका मन्त्र है। इसीसे धर्मशास्त्रमें तो ऐसा वर्णन आता है कि—अकेले प्रणवका जप उन्हीं लोगोंको करना चाहिए जो संसार छोड़कर समाधिमें जाना चाहते हैं या अपनी समाधिमें स्थित होना चाहते हैं। केवल निवृत्ति प्रधान लोगोंको ही प्रणवका जप करना चाहिए। एक एकाक्षर ब्रह्म है। इसमें विस्तार नहीं है, संक्षेप है। प्रवृत्ति नहीं है, निवृत्ति है। इसमें बहिर्मुखता नहीं है। अन्तर्मुखता है।

ॐ इत्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्। उच्चारण करो अकार, उकार, मकार और अर्धमात्राके क्रमसे। इसमें निवृत्ति कला है। इसमें विद्या कला है। इसमें जाग्रत् है, स्वप्न है, सुषुप्ति है। अर्धमात्रा है। इसमें तुरीय है, इसमें विद्या है, इसमें निवृत्ति है—**व्याहरन् मामनुस्मरन्।** प्रणवका करो उच्चारण और मेरा करो स्मरण। उच्चारण अर्थशून्य नहीं होना चाहिए। अर्थशून्य उच्चारणमें लय हो जाता है। जब हम भजन करने बैठते हैं तो उसमें दो बातें है—वृत्तिलीन हो जाती है। मालूम पड़ता है, हमें समाधि लग गयी थी। पर नहीं, वह तो सुषुप्ति होती है। वृत्ति कहीं चली जाती है। विक्षेप हो जाता है। कोई रागद्वेष जाग जाता है। कोई वहीं मजा आने लगता है। नहीं, इनसे अलग-वृत्ति लय भी न हो, विक्षेप भी न हो—रागद्वेष भी न आये और रसास्वादन भी न हो—अपनी वृत्तिको परमेश्वरमें जाने दो। यह परमेश्वरकी ओर चित्तवृत्ति जानेमें विघ्न आते हैं। माला हाथसे छूटकर गिर गयी। मन सो गया। मन कहीं चला गया। पता ही नहीं लगा, ऐसा मजा आगया कि परमेश्वर भूल गया। स्वयं भोक्ता बन गये।

व्रजमें यह बात प्रसिद्ध है कि एक सज्जन कहते थे कि हमें राधारानीका दर्शन होना चाहिए। प्रेमकी वे मूर्ति हैं रसकी मूर्ति हैं। उस सौन्दर्यका नाम राधा है जो श्रीकृष्णको आकृष्ट कर लेता है। भगवान्‌को—परब्रह्म परमात्माको भी आकृष्ट कर लेता है। जिसके प्रेमको देखकर स्वयं श्रीकृष्ण भी आनन्दमें मग्न हो जाते हैं। जिनकी सत्ताके सामने श्रीकृष्णको भी अपने सत्ताका भान नहीं होता है।

एक महात्माने यह निश्चय किया कि मैं तो राधारानीका दर्शन करूँगा। बड़ी भारी तपस्या की, आराधना की, प्रेम किया। आकाशवाणी हुई—देखो तुम दर्शनका आग्रह मत करो, भजन करो, प्रेम करो—दर्शनका आग्रह मत करो। एक-दो-तीन बार आकाशवाणी हुई—दर्शनका आग्रह मत करो—प्रेम करो, भजन करो। नहीं माना वह। नहीं माना तो एक हाथ उसके सामने आया—स्वर्णवर्ण—दिव्य—उसको देखते ही भक्तके मनमें काम वृत्ति जाग्रत् हो गयी। हाथको देखते ही काम-वृत्तिका जागरण हो गया। सावधान! हाथका लोप हो गया।

जब हम भजनमें अपने सुखस्वादपर दृष्टि रखने लगते हैं, हम भोक्ता बन जाते हैं, जहाँ भोक्ता और भोग्य दोनों भूल जाना चाहिए, वहाँ हम भोक्ता बनकर आजाते हैं। **ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।** परमात्माकी अनुस्मृति हो। माने शब्दका जो अर्थ है, उसका ज्ञान हो। केवल शब्दमें जो अक्षर है—जनरञ्जन—उन अक्षरोंकी याद नहीं, उसमें जो ताल है, स्वर है, रागिनी है वह नहीं—उसमें जो अपना मजा है सो नहीं जो अपनी लीनता है सो नहीं—**मामनुस्मरन्**—परमात्माका स्मरण करो और उस स्मरणमें, जाग्रत्‌में—छूट गया शरीर।

सुमन माल जिमि कण्ठते गिरत जान न जान।

हाथीके गलेसे फूलकी माला गिर गयी। शरीर गिर गया और बिलकुल जाग्रत् अवस्थामें बैठे हैं। इस तरह जो शरीरका त्याग करता हुआ जाता है, उसको परमगतिकी प्राप्ति होती है। परन्तु यह परमगति कैसे प्राप्त हो? इसके लिए जीवन भर, यह नहीं कि उसी दिन—जब मरने लगेंगे तब बैठ जायँगे, जब मरने लगेंगे तब छोड़ देंगे। इसके लिए अभ्यास चाहिए। यह नहीं कि माँने बेटीसे कहा कि बेटी रोटी बना लो तो बोली माँ अभीसे कौन बनावे जब बनानी होगी बना लेंगे। तो उस दिन तो बाबा रोटी टेढ़ी हो जावेगी, आटा ही ठीक नहीं गूँथेगा। उसके लिए भी अभ्यास चाहिए। यह नहीं कि जब इन्जेक्शन लगाना होगा तब लगा लेंगे। पहले तकियेमें लगाकर सीखते हैं। अभ्यास तो चाहिए न उसके लिए। यह नहीं वकील बनेंगे और जाकर जजके सामने बोलना शुरू कर देंगे। लड़खड़ा जायेंगे। पाँव काँपने लगेंगे। बोलती बन्द हो जायेगी। उसके लिए अभ्यास चाहिए। जीवनमें अभ्यास चाहिए।

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

मृत्युके समय भी भगवान् सुलभ हो जाते हैं। परन्तु कब सुलभ होते हैं, जब हम जीवनकालमें उनका स्मरण करते हैं।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

प्रवचन : 7

अम्ब=माँ। गीता माँ है। 'अम्बा' शब्दका अर्थ होता है वर्णात्मक अ, आ, इ, ई—क, ख, ग अक्षरों-वर्णों, शब्दोंसे ही जिसकी मूर्ति बनी हो उसको बोलते हैं अम्बा। इसीका सम्बोधन होता है—'अम्ब!' गीता क्या है? वर्णात्मक है। इसका अनुसन्धान क्या है? एक-एक अक्षरका अनुसन्धान, गौरसे—गम्भीरतासे।

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥ 8.14

भगवान् कहते हैं—'मैं उस योगीके लिए सुलभ हूँ। किस योगीके लिए? जो **अनन्यचेताः** नित्य, सतत मेरा स्मरण करता है। वह कोई भी हो स्त्री हो, पुरुष हो, ब्राह्मण हो, क्षत्रिय हो। स्वदेशी हो, परदेशी हो। इसमें कोई भेद नहीं है। हमारे भगवान् शंकराचार्य और उनके शिष्य सुरेश्वराचार्य दोनों इस बातका निर्णय देते हैं कि शरीरसे काम करना हो तब शारीरिक अधिकार-पर विचार करना चाहिए और जब मनसे काम करना हो—जैसे भगवान्का स्मरण। उसमें शारीरिक अधिकारपर दृष्टि नहीं डालनी चाहिए और यदि वेदान्तका विचार करना हो तब तो शान्त, दान्त, उपरत, तितिक्षु, अन्तःकरणकी शुद्धि ही वहाँ अधिकार है। शारीरिक अधिकार—अधिकार नहीं होता। वहाँ जन्मभूमिका, जातिका, वर्णका, आश्रमका कोई विचार नहीं, जिसमें शान्ति आदि सद्गुण हैं—वह इसका अधिकारी है।'

अनन्यचित्तका अर्थ क्या? चित्त है परन्तु उसमें अन्य नहीं। चेतस् माने ज्ञान तो है परन्तु इसमें परमेश्वरके सिवाय दूसरा कोई ज्ञेय नहीं है। ज्ञान है और परमात्मारूप ज्ञेय है। इस-संसारमें ज्ञान और ज्ञेय दोनों अलग-अलग होते हैं। जब जड़ अलग होता है तब वह ज्ञानका ज्ञेय होकर अलग हो जाता है। ज्ञेयसे अलग होता है ज्ञान। जब परमात्मा अलग नहीं होता, ज्ञान और ज्ञेयका भेद नहीं होता। यह एक दर्शन-शास्त्रका रहस्य है। इसीसे गीतामें—

ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्व विष्ठितम्। 13.17

जो ज्ञान है वही ज्ञेय है। जो ज्ञेय है वही ज्ञान है। जैसे यह माला हमारे ज्ञानका विषय हो रही है और इस मालासे हमारा ज्ञान अलग है। वैसे जब हमें परमात्माका ज्ञान होता है तो परमात्मा और परमात्माका ज्ञान ये दोनों अलग-अलग नहीं होते। ज्ञेयाभिन्न ज्ञान होता है। ज्ञानाभिन्न ज्ञेय होता है। यह है अनन्यकी बात। यह है अलौकिक बात।

कोई-कोई भगवान्का स्मरण करते हैं। करते हैं भगवान्का स्मरण और उनसे चाहते हैं अन्य-अन्य वस्तुएँ। जैसे कोई धनके लिए, कोई पुत्रके लिए, कोई मुकदमेमें जीतके लिए, कोई स्वास्थ्यके लिए, कोई यशके लिए, कोई संकट दूर करनेके लिए। उद्देश्य अलग होता है और स्मरणकी वृत्ति अलग होती है और भगवान्का आश्रय लेते हैं। यह तीनों चीज, तीन जगह हो जाती है। जो दूसरी वस्तुकी प्राप्तिके लिए भगवान्का स्मरण करते हैं उनको बहुत छोटा, निम्न कोटिका अधिकारी माना जाता है। हैं तो वे भी अधिकारी ही। क्योंकि

पुलिससे माँगना, सेठसे माँगना, राजासे माँगना, पड़ोसीसे माँगना भी तो होता है। वे दूसरोंसे न माँगकर भगवान्‌से माँगते हैं। इसलिए दूसरोंसे माँगनेवाले भिखारियोंसे तो वे बहुत श्रेष्ठ हैं। परन्तु उसमें एक व्रत होना चाहिए कि भगवान्‌के सिवाय दूसरे किसीसे माँगेंगे नहीं।

वृन्दावनमें एक सज्जन आये। यमुनाजीमें खड़े हो गये। बोले हमको तो भगवान् अपने हाथसे खिलावेंगे तब खायेंगे। नहीं तो भूखे रहेंगे। एक दिन, दो दिन तीन दिन बीत गये। उन्होंने देखा जमुनामें जलेबी बह रही है। उन्होंने सोचा भगवान् अपने हाथसे थोड़े ही खिलावेंगे। यह हमारे लिए ही तो जलेबी बहा रहे हैं। उठाकर खा गये। खा लिया तो उनका जो संकल्प था कि भगवान् अपने हाथसे खिलायें, वह छूट गया। अनन्यका अर्थ होता है कि यदि आप कोई दूसरी वस्तु भी चाहते हैं तो फिर उसमें यह व्रत दृढ़तासे निभावें कि भगवान्‌के सिवाय दूसरेसे नहीं माँगेंगे।

जिन जाचक जाचकता जरि जाई।

भवान्‌से जब माँगोगे तो दूसरेसे माँगना तो पहले ही छूट गया और भगवान्‌पर दृष्टि जायेगी तो माँगनेकी वृत्ति अपने आप शिथिल हो जायेगी। वह तो परिपूर्ण है। अब दूसरी बात होती है कि हम करते हैं अपनी ओरसे भगवान्‌का स्मरण और उसके बलपर चढ़ते हैं भगवान्‌पर। यह मध्यम अधिकारी हुआ। हम इतना जप करेंगे, इतना व्रत करेंगे। इतनी पूजा करेंगे, इतना ध्यान करेंगे। इतना दान करेंगे और इसके बलपर हमको भगवान् मिल जायेंगे। यह अपने बलपर, अपने साधनके बलपर भगवान्‌को प्राप्त करनेकी जो वृत्ति है, इसमें भगवान्‌पर दृष्टि होनेमें थोड़ी सी बाधा है। क्योंकि अपने ऊपर दृष्टि है। जबतक अपने ऊपर दृष्टि रहती है, तबतक भगवान् सुलभ नहीं होते। बल्कि सुलभ भी दुर्लभ हो जाता है।

आपके ध्यानमें यह बात होगी। रासलीला हो रही थी। भगवान् गोपियोंके साथ नृत्य कर रहे थे। एक भगवान् और सहस्र-सहस्र गोपियाँ। जैसे एक कूटस्थ चैतन्य केन्द्र हो और परिधि बनाकर कोटि-कोटि वृत्तियाँ उसीकी ओर देख रही हों, चमक रही हों, नाच रही हों। नृत्य कर रही गोपियोंके मनमें एक बाधाका उदय हुआ। विघ्न आया। वे सोचने लगीं कि हम इतनी सुन्दर हैं, इतनी मधुर हैं, इतनी प्रेमवती हैं कि श्रीकृष्ण हमारे ऊपर मुग्ध हैं। जब अपनी विशेषतापर उनका ध्यान गया तो श्रीकृष्णका दर्शन बन्द हो गया। यह रासलीलामें आपने पढ़ा होगा, सुना होगा—

तासां तत् सौभगमदं वीक्ष्य मानं च केशवः।
प्रशमाय प्रसादाय तत्रैवान्तरधीयत॥—श्रीमद्भा० 10.29.48

जब हम अपने बलपर भगवान्‌को प्राप्त करना चाहते हैं तो वहाँ अपना आपा दीखने लगता है। कृष्णने कहा—अच्छा, गोपियों! अब तुम शीशेमें अपना सौन्दर्य निहारो। अपने माधुर्यका स्वयं आस्वादन करो। मैं तो अन्तर्धान होता हूँ। दूसरेको देखना तो निम्न कोटि है और अपनेको देखना मध्यम कोटि है। अब एक तीसरी बात यह है कि हम भगवान्‌से भगवान्‌को ही चाहें। भगवान्‌से ही भगवान्‌को चाहें। 'हमारा बल तो कुछ नहीं है—हम तो हार गये, थक गये'—अनन्यता हुई। एक तो हम भगवान्‌से संसारका विषय नहीं माँगते। दूसरे अपने

बलकी ओर, अपने साधनकी ओर नहीं देखते। संस्कृत भाषामें एक 'प्रपन्नपारिजात' नामका ग्रन्थ है। उसमें ये तीन विभाग स्पष्ट किये हैं। महाविश्वास अपने चित्तमें होना चाहिए और उपाय भी भगवान्, उपेय भी भगवान्। भगवान् मिलते हैं और भगवान्के मिलनेका उपाय भी भगवान् ही हैं।

आज खूब गरमी पड़ रही है। गरमी सूर्यमें-से आ रही है एक बात। सूर्यको परमेश्वरने बनाया है, यह बात बिलकुल पक्की है। पञ्चभूतोंका रस निकला और उससे सूर्य बना, ऐसा वेदमें लिखा है।

आजान देवता है। जन्मसे ही देवता है सूर्य और पंचभूतोंके रससे भगवान्ने बनाया है। सहज स्वभावसे यह प्रकाशकी वर्षा करता है। जीवनदान करता है। इसमें सब है। पृथिवीमें फूलमें जो गन्ध आती है वह सूर्यसे आती है। जलमें जो स्वाद आता है वह सूर्यसे आता है, अग्निमें जो तेज आता है वह सूर्यसे आता है। पुष्टिका देवता है। अब यह जो सूर्यकी शक्ति है वह सूर्य देवताकी अपनी शक्ति नहीं है, परमेश्वरकी शक्ति है वह सूर्य देवताकी अपनी शक्ति नहीं है, परमेश्वरकी शक्ति है। आज परमेश्वर आपको प्रकाश दे रहा है। आज परमेश्वर बादल करके सूर्यको ढक रहा है। आज उसकी रोशनीमें तेजी है, आज मन्दी है।

अनन्यचेतनाका अर्थ क्या हुआ? यह कि भगवान्की हाँ-में-हाँ मिलाइये। ये जो बड़े लोग होते हैं, उनकी हाँमें हाँ न मिलाओ तो पसन्द नहीं करते। वे चाहे कुछ भी बोल रहे हों, एक बार उनके सामने हाँ करनी पड़ती है। एक सज्जन हैं, सम्पन्न हैं, वे कोई बात करते हैं तो करते हैं—नहीं-नहीं, स्वामीजी आपने बहुत बढ़िया बात कही। लेकिन उनके मुँहसे 'नहीं' पहले जरूर निकलता है। उसके बाद कहते हैं स्वामीजी आपने बहुत बढ़िया बात कही। ईश्वरकी हाँ-में-हाँ मिलाओ। अनन्यचेतनाका अर्थ है—जो ईश्वरका ज्ञान है, वही हमारा ज्ञान है। ईश्वरके ज्ञानमें आज गरमी है तो हमारे लिए भी गरमी है। उसके ज्ञानमें सर्दी है तो हमारे ज्ञानमें भी सर्दी है। वह मृत्युका रूप धारण करता है तो मृत्यु ठीक है। वह जीवनका रूप धारण करता है तो जीवन है। 'जीवनं सर्वभूतेषु' वही है। सबमें जीवन वही है, और मृत्यु भी वही है। **अमृतं चैव मृत्युश्च**—जैसा है—भगवान्की हाँ-में-हाँ मिलाओ। ॐ माने हाँ—संस्कृत भाषामें ॐका अर्थ हाँ होता है। 'गामानय' मालिकने कहा—गाय ले आओ तो सेवकने कहा ॐ। तो ईश्वरकी हाँ-में-हाँ मिलाओ यह अनन्य-चेता हुआ।

अब एक बातपर आपका ध्यान खींचते हैं। 'यो मां स्मरति'में 'नित्यशः' और 'सततं' दो हैं। एक बार फिर 'नित्ययुक्तस्य योगिनः'में नित्य है। अब दर्शनशास्त्रकी एक बात सुनाता हूँ। जो आदेश या विधान अशक्यानुष्ठान होता है वह अप्रमाण होता है। अर्थात् जिसको कोई कर ही न सके, ऐसा काम अगर करनेको कहा जाय तो उस कामको अप्रामाणिक मानना चाहिए। वह आदेश ही प्रमाण नहीं होता। जैसे कोई आज्ञा दे कि तुम अपने कन्धेपर बैठ जाओ। यह अशक्यानुष्ठान हो गया है! ऐसा कोई कर नहीं सकता है।

जो कर्ता है वह कर्म नहीं हो सकता। यह व्याकरणशास्त्रका नियम है। अब 'नित्यशः सततं माम् स्मरति।' सततं माने लगातार। जैसे कपड़ा बनाते हैं तो सूत एक-से-एक जुड़े होते हैं, उसको सातत्य बोलते हैं, सतत बोलते हैं—सतत माने ताना-बाना। कोई कपड़ा बनाते हैं तो उसमें एक ताना होता है, एक बाना होता है—लम्बा सूत और आड़ा सूत, उसको ताना-बाना बोलते हैं—और दोनों एकमें मिलकर कपड़ा बनाते हैं।

'सततं'का—अर्थ है कि जैसे एक सूतसे दूसरा सूत मिला हुआ होता है ऐसे ही हमारा मन भगवान्से निरन्तर मिला हुआ होवे—सततं। देखो इसमें थोड़ी अशक्यानुष्ठानकी आशंका है। भले आप निरन्तर-निरन्तर चिल्लाओ—निरन्तर होना शक्य नहीं है। आपको नींद आती है तो स्मरति कैसे होगा? नींदमें स्मरण नहीं होता। अनुभव तो होता है। जैसे तत्त्वज्ञानी लोग जब परमेश्वरको पहचान लेते हैं, तो निद्रामें भी उनका अनुभव खण्डित नहीं होता है। अनुभव तो खण्डित नहीं होता परन्तु स्मृति तो वृत्ति है, वह कैसे खण्डित नहीं होगी? इसलिए नित्यशःका अर्थ है प्रतिदिन। थोड़ी देरके लिए बैठ जाइये या काम करते रहिये परन्तु आपका नियम हो भगवान्-स्मरणका और पाँच मिनट, दस मिनट, आध घण्टे नित्यशः, प्रतिदिन एक नियमके अनुसार, लगातार थोड़ा-सा समय आपके जीवनमें ऐसा हो कि परमेश्वरका स्मरण करें। बीचमें दूसरी कोई वस्तु नहीं आवे।

एक सज्जन थे। वे 8 बजेसे 10 बजे तक लगातार भजन करते थे। किसीसे मिलते नहीं थे। चाहे घीका घड़ा ढरक जाय वह किसीसे मिलते नहीं थे। बादमें लोग उनके पास आते भी नहीं थे। कोई छेड़-छाड़ भी नहीं करता था। दो घण्टा चुपचाप बैठते थे। एक दिन कोई फकीर आया। हम मिलेंगे उनसे! तो उनके आदमीने बताया कि अभी भजनमें हैं तो उसने कहा वे भजनमें नहीं हैं। वह तो चमारकी दूकानमें जूता पसन्द कर रहे हैं और लौट गया। जब उठे तो नौकर बोला, महाराज, एक फकीर आया था वह ऐसे कह गया। वे बोले—कहाँ है फकीर? बुलाओ। सचमुच भजन करते-करते उनका मन चमारकी दुकानमें चला गया और वे जूता पसन्द करने लगे। मेरा मन तो ऐसा ही हो गया था। आप जरा अपने मनको देखिये। आपका मन कहाँ जाता है? 'सततं'—तार टूटने न पावे। आप पूरी शक्तिसे एक बार भगवान्से हाथ मिलाइये।

हमारे गाँवमें तो ऐसे सज्जन थे जिन्होंने एक बार सम्राट् पंचम जॉर्जसे हाथ मिलाया था। सन् 16 में जब दिल्ली दरबार हुआ था, तब वे आये थे। इस बातकी यादसे वे जिन्दगीभर मस्त रहे—बोलते हमारे सरीखा और कौन? उड़िया बाबाजी कहते थे कि एक बार पूर्णताके साथ भगवान्का स्मरण करो, मस्ती आजायेगी। हाथ मिला लो, उनके गले लग लो, उनका हाथ अपने सिरपर रखवा लो, उनके पाँव छू लो, उनसे दो-दो बात कर लो। एक बार संसारकी ओरसे अपना मन हट जायेगा। **स्मरति—नित्यशः स्मरति यावत् स्मरति तावत् सततं स्मरति।**

सततम् शब्दका अर्थ संस्कृत भाषामें मजेदार है। जैसे वीणा बजाते हों तो सितारकी आवाज अलग होती है और वीणाकी स्वर-लहरी अलग होती है। जैसे वीणाकी स्वर-लहरी अखण्ड और आनन्ददायिनी होती है, ऐसे अपनी स्मृति अखण्ड और आनन्ददायिनी हो। आप धन पाकर सन्तुष्ट होते हैं। आप अच्छा भोजन करके तृप्त होते हैं। आप स्त्री-पुरुष मिलकर रम जाते हैं—तो स्त्री-पुरुषके मिलनमें मन जैसा रमता है, धनकी प्राप्तिमें जैसी सन्तुष्टि है, भोजनमें जैसी तृप्ति है, उन तीनोंका आनन्द लेकर और भगवान्से मिलनेकी लालसाको तीव्र कर दीजिए।

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥ 8.14

जब आप स्मरणमें रस लेंगे। गोपियोंकी स्थितिका वर्णन आता है—'तन्मनस्का'।

मन भगवान्‌में, चेष्टा भगवान्‌में, वाणी भगवान्‌में—आत्मा भगवान्‌में, शरीर भी भगवान्‌में, भगवान्‌के गुणका गायन करती हुई वह अपने आपको भूल गयी और घरको भूल गयी। माने देह, गेहविस्मृतिपूर्वक भगवत्-स्मरणमें तन्मयता। इसको श्रीकृष्णने स्वीकार किया। गोपियाँ ऐसी हैं।

गीता और भागवत—गीतामें अठारह अध्याय और भागवतमें अठारह हजार श्लोक हैं। श्रीचैतन्य महाप्रभुने कहा कि गीताकी व्याख्या करनेकी आवश्यकता नहीं है। क्योंकि गीताकी व्याख्या तो भागवत है। उपनिषद्‌की व्याख्या करनेकी आवश्यकता नहीं है—क्योंकि उपनिषद्‌की व्याख्या तो भागवत है। जब व्यासजीने स्वयं टीकाकर दी तो अलगसे टीका करनेकी आवश्यकता कहाँ? ऐसे ही चैतन्य महाप्रभुने श्रीमद्भागवतकी महिमा बतायी। श्रीबल्लभाचार्यका तो कहना है कि जो वेद, उपनिषद्‌में स्पष्ट नहीं हुआ, जो गीतामें स्पष्ट नहीं हुआ, जो ब्रह्मसूत्रमें स्पष्ट नहीं हुआ उसको प्रकट करनेके लिए श्रीमद्भागवतका आविर्भाव हुआ है। यह तो चतुर्थ प्रस्थान है।

यो मां स्मरति नित्यशः तस्याहं सुलभः पार्थ।

गीतामें महात्माके लिए तो दुर्लभ शब्दका प्रयोग है, **स महात्मा सुदुर्लभः**—सुदुर्लभ है। महात्मा श्रद्धालुके लिए सुलभ है और तार्किकके लिए दुर्लभ है। यह सुलभ भी है, दुर्लभ भी है। क्योंकि महात्माकी रहनीको तर्कसे नहीं समझा जा सकता। जिन मान्यताओंमें संसारी लोग फँसे होते हैं, संस्कार बन्धन महात्माके जीवनमें देखनेको नहीं मिलते। संसारी लोग अपनी सीमाके बाहर किसीको देखना ही पसन्द नहीं करते। इसलिए वे महात्माको पहचान नहीं सकते। जो श्रद्धालु होगा उसके लिए तो महात्मा सुलभ है और जो कुतार्किक होगा उसके लिए दुर्लभ है।

एक बात आपको सुनाते हैं। क्या इस समय सृष्टिमें ऐसा कोई है ही नहीं, जिसको भगवान्‌का अनुभव हो, दर्शन हुआ हो? ऐसा आप मानते हैं? अगर ऐसा आप मानते हैं तो एक शाप लीजिये। डरिये मत। फिर आपको न भगवान्‌का अनुभव हो सकता है, न भगवान्‌का दर्शन हो सकता है। जब दुनियामें किसीको भी भगवान्‌का अनुभव और दर्शन नहीं है तो आप अपने लिए कैसे आशा करते हैं? आप क्या सारी सृष्टिसे कुछ विलक्षण हैं? आप भगवान्‌से ही दूर हो जाते हैं। भगवान्‌के अनुभवसे ही दूर हो जाते हैं—यदि आप ऐसे मान बैठते हैं कि संसारमें कोई भगवत्तत्त्वका अनुभवी या भगवान्‌का दर्शन करनेवाला नहीं है। पहले हुआ करता था, अब कालने भगवान्‌को दबा दिया है! भगवान्‌के सिरपर काल चढ़ बैठा। नहीं यह मान्यता गलत है। श्रद्धालुके लिए सुलभ है। और कुतार्किककें लिए दुर्लभ है, भगवान् बोलते हैं—**वासुदेवः सर्वम्**। सब परमात्मा है। वासुद्देव तो सब है। महात्मा दुर्लभ है। अच्छा आओ हम भगवान्‌को ही सुलभ बनावें। भगवान् दुर्लभ नहीं हैं, सुलभ है।

तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः।

देखो, हृदयसे भगवान्‌के साथ मिल जाओ। नित्य युक्त होकर अपने जो कर्तव्य कर्म हैं, उनका पालन

करते रहो। **योगिनः**—नित्य युक्त होना और योग होना। व्यवहारमें योगी होओ, अपने कर्त्तव्यका अपने साधनका ठीक-ठीक अनुष्ठान करो और भीतरसे भगवान्‌से मिले रहो। भगवान् कहते हैं मैं उसके लिए सुलभ हूँ। अनन्य—आपको क्या सुनावें—पुस्तकोंमें तो ऐसा पढ़ा है। महाभारत पढ़े बिना गीताके अर्थज्ञानमें थोड़ी-सी बाधा पड़ती है क्योंकि गीताके सिद्धान्तका, व्यावहारिक पक्ष जो है वह पूरे महाभारतमें है और महाभारतका प्रतिपाद्य वीररस नहीं है—शान्त रस है। बड़े-बड़े विद्वानोंने अनुसन्धान किया है—महाभारतका। जुआ खेलनेमें क्या दुःख है, युद्ध करनेमें क्या दुःख है। राजा होनेमें क्या दुःख है। यह तो दुःखका प्रतिपादन है और शान्तरस महाभारतका प्रतिपाद्य है। बड़े-बड़े ग्रन्थ हैं इसपर। एक 'लक्षा-भरण' नामकी टीका है महाभारतपर। लाख श्लोकोंका 'आभूषण' वह अर्जुन मिश्र नामके व्यक्तिने जगन्नाथपुरीमें लिखी है। **योगक्षेमं वहाम्यहम्।** पर उनको शंका हुई और स्वयं भगवान् उनके घरमें टोकरीमें चावल, दाल, सब्जी, घी, दही आपने सिरपर लेकर उनके घरमें आये। वहामि—यह तो पुस्तकोंमें पढ़ी हुई बात है। 'ददामि' नहीं 'वहामि' है।

एकनाथजीको कोई सेवक नहीं मिलता था। पानी भरनेवाला नहीं था। भजनमें बाधा पड़ती थी तो श्रीखंडिया बनकर भगवान् इनके घरमें आये।

योगक्षेमं वहाम्यहम्। अब इससे बढ़कर सुलभता क्या होगी? कि कहीं अपने भक्तके बदलेमें किसी मालिकका पाँव दबाने आये। कहीं अपने भक्तके घरमें पानी ही भरनेके लिए आते हैं। किसीके घरमें भोजन पहुँचानेके लिए आते हैं।

मैंने देखा है—ऐसे अनेक अवसर आये हैं जब हमारे पास पैसा नहीं है कि हम रेलगाड़ीसे यात्रा करें और उस समय कोई एकाएक अनजान आदमी हाथमें नोटोंका बण्डल लेकर आया उस आदमीको देते समय तो हम नहीं समझ पाते हैं कि ये भगवान् हैं, परन्तु बादमें मालूम पड़ता है कि या तो यह भगवान्‌का दूत होगा, उनका भेजा हुआ आया है या भगवान् आये होंगे। कहीं हम भूखे होते हैं—एक बार नहीं अनेक बार ऐसा अवसर मेरे जीवनमें आया है कि हमारे पास खानेको नहीं है, हम दिनभरके भूखे हैं, थके-माँदे हैं और रातको ११-१२ बजे हमारे सामने खानेकी वस्तु रख देता है। आप भगवान्‌की करुणापर—उनकी कृपापर विश्वास कीजिए। आपके रूखे मनको स्मृति भी वही देते हैं। आप उनकी ओर देखिये तो सही।

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः।

सुलभका अर्थ इसी जीवनमें सुलभ है। ईसाई और मुसलमान ऐसा मानते हैं कि इस जीवनमें तो ईश्वरका दर्शन कभी होगा ही नहीं। जब आप मरेंगे तब भी ईश्वरको देख नहीं पायेंगे। उनके जो पैगम्बर हैं, उनके जो पुत्र हैं, उनकी सिफारिशके अनुसार आप स्वर्गके राज्यमें चले जायेंगे। परन्तु ईश्वरका दर्शन आप नहीं कर पायेंगे। आर्यसमाजी, ब्रह्मसमाजी ईश्वरका दर्शन मानते हैं। यह तो जिस ईश्वरमें साकार होनेका सामर्थ्य है वह वैदिक ईश्वर है। जो सम्पूर्ण विश्वके रूपमें साकार हुआ है, वह वैदिक ईश्वर है। जो सम्पूर्ण विश्वके रूपमें साकार माने शकल-सूरतवाला। जो सम्पूर्ण विश्व—**सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः**—भगवान् सर्व है क्योंकि वह कार्यमें

उपादानके समान घड़ेमें मिट्टीके समान व्यापक है। वह केवल निमित्त कारण नहीं है जैसा कि आर्यसमाजी, ईसाई, मुसलमान मानते हैं। उपादान कारण भी वही है। **येन सर्वमिदं ततम्। त्वया ततं विश्वमनन्तरूपम्। मया ततमिदं सर्वम्। येन सर्वमिदं ततम्; त्वया ततमिदं सर्वम् और मया ततमिदं सर्वम्**—देखो तीनों हैं वह। सबमें भरपूर हैं, तुम सबमें भरपूर हो, मैं सबमें भरपूर हूँ। यह गीता है। जो सबका रूप ग्रहण कर सकता है, वह उपनिषद्‌का ईश्वर इसी जीवनमें प्राप्त होता है। जो यहाँ है वही वहाँ है—जो वहाँ है—वही यहाँ है। बाहर-भीतर सभी परमेश्वर है।

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः॥ 8.15
आब्रह्म भुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥ 8.16

बारम्बार जन्मना और मरना क्या है। यह बात आप छोड़ दीजिये कि एक एक शरीर छूटता है, दूसरा शरीर मिलता है। वह भी पुनर्जन्म है। परन्तु यह जो हमारा मन किसीको काटने दौड़ता है तो साँप हो जाता है, किसीसे मीठा बोलता है तो कोयल हो जाता है। हमारे मनके रूप बदलते रहते हैं। किसीके प्रति जब उदार हो जाता है तब विष्णु हो जाता है। किसीके प्रति जब कठोर होता है तब प्रलयंकर हो जाता है। यह हमारा मन दिनभरमें सैकड़ों जो रूप बदलता है यह क्या है? यह मनका जन्मपर जन्म, जन्मपर जन्म—शकल-सूरत बदल जाना, उसीका नाम तो जन्म है न! दूसरे आकारकी प्राप्ति ही तो जन्म है—सूक्ष्म शरीर, दूसरे आकार।

भयस्थान-सहस्राणि शोकस्थान-शतानि च।

सैकड़ों बार आप डरते हैं और सैकड़ों बार आप शोकसे ग्रस्त हो जाते हैं। चिन्तासे मुँह लटकता है। घोड़ेकी तरह दौड़ते हैं। हाथीकी तरह मन्द गतिसे चलते हैं। कभी भोग्य हो जाते हैं, कभी भोक्ता हो जाते हैं। कहीं जीवनमें स्थिरता तो है नहीं। जब परमेश्वरकी प्राप्ति होती है—**मामुपेत्य**—तो यह पुनर्जन्म है बारम्बार बारम्बार बदलना। एक स्त्री है, जब अपने पतिसे प्रेम करती है तो प्रार्थना करती है कि जन्म-जन्म हमारे यही पति हों। कई व्रत ऐसे आते हैं जैसे वटसावित्री व्रत करती हैं तब कहती हैं कि हे भगवान्! जन्म-जन्म हमारे यही पति हों। यहाँ मन प्रसन्न है। और जब मन नाराज होता है तब कहती हैं—हे भगवान्! कहाँ फँस गयी—अब कभी हमारा जन्म हो तो ऐसे पति न मिलें। यह बात स्त्रीके लिए ही नहीं है, पुरुषके लिए भी है। पुरुषके मनमें भी ऐसा आता है।

आपका जन्मपर जन्म, मृत्युपर मृत्यु—एक बार ईश्वरसे मिल जाइये। स्त्रीमें भी परमात्मा है पुरुषमें भी परमात्मा है। बालकमें भी परमात्मा है। बालिकामें भी परमात्मा है। जो वृद्ध लोग जवानोंका तिरस्कार करने लगे हैं—हम बुजुर्ग हैं, हमारी दाढ़ी सफेद है, हमारा इतना अनुभव है, तुम अभी लड़के क्या जानते हो? यह बात अच्छी नहीं है, उनका आदर करना चाहिए। वे भी बुद्धि लेकर आते हैं। वे नये युगको समझते हैं। नन्दबाबाने तो श्रीकृष्णका इतना आदर किया, कि श्रीकृष्णने कहा कि कुलपरम्परासे आयी हुई इन्द्रकी पूजा छोड़ दो और

पर्वतकी पूजा करो। वनकी पूजा और पर्वतमें रहनेवाले पहाड़ी, जंगली लोगोंको खिलाओ। गायोंकी पूजा करो। नन्दबाबाने श्रीकृष्णकी बात मान ली और अपनी पुश्तैनी बात छोड़ दी। यह है क्रान्ति—जवानोंका आदर। यह सृष्टि जन्म-मरणके चक्करमें पड़ी है। आप भगवान्के पास पहुँच जाइये।

भगवान्के लिए गोपियोंने कहा **नवंप्रियः नित्यं** उनको तो नया-नया प्यारा लगता है। **नित्यं नवंप्रियः।** हमको प्रतिदिन नयी-नयी चीज अच्छी लगती है। आप भोग लगाते हैं—नयी-नयी चीजका भोग लगाइये और नया-नया फूल चढ़ाइये। नयी-नयी भाषामें—डायलॉग रटकर मत बोलिये—आपके मनमें जो नया-नया भाव उठे वह भगवान्के साथ जोड़िये। क्योंकि वह जो पुनर्जन्म है यह दुःखालय है। अशाश्वत है। यह भी नहीं रहेगा। अशाश्वतका अर्थ है, आज तो है, आगे नहीं रहेगा और इसको पकड़ रखनेमें बड़ा दुःख है, बदलनेमें भी दुःख है। इसके त्यागमें भी दुःख है, ग्रहणमें भी दुःख है। भगवान्की जब प्राप्ति हो जाती है तब यह दुःखालय—दुःखालयका वर्णन विस्तारसे करनेकी जरूरत नहीं है क्योंकि आप गौरसे देखेंगे तब मालूम पड़ेगा कि आपका हृदय—दुःख माने क्या? दुःख माने आपका जो हृदयाकाश है उसमें बादल छा गये, उसमें तूफान आगया, उसमें आग लग गयी। जब क्रोध आता है तो आपके दिलके भीतर क्रोधकी आग लगती है तब आप जलने लगते हैं। जब लोभकी बाढ़ आती है तब आप उसमें डूबने लगते हैं। जब कामकी आँधी चलती है तो आप उसमें उड़ जाते हैं—आपका हृदय दुःखालय हो रहा है। क्योंकि आप आगे नहीं बढ़ रहे हैं। परमेश्वरकी ओर नहीं जा रहे हैं—परमेश्वरकी ओर नहीं बढ़ रहे है। महात्माका यह लक्षण है कि वह पकड़ लेते हैं भगवान्को, भगवान्के पास होते हैं और ये जन्म-मरणके अशाश्वत चक्करसे छूट जाते हैं। उनका अन्तःकरण शुद्ध है।

महात्मा कौन है? जिनको संसिद्धि मिल गयी है। संसिद्धि क्या है? आराधनामें, साधनामें तत्पर हैं। वह उनके लिए स्वाभाविक हो गयी है। साध, राध, सिद्धि—एक ही अर्थमें इन शब्दोंका प्रयोग होता है। संसिद्धौ—आराधना—राधा—आराधिका—राधिका—साधना—सिद्धि। आपके हृदयमें साधना आगयी। आप महात्मा हो गये। अब आपके लिए दुःखमय पुनर्जन्मका कोई डर नहीं है। आप भगवान्के पास पहुँचते हैं। बच्चा जब अपने माँ-बापसे दूर होता है, डरता है, कोई हमारी चीज छीन न ले। हमको कोई तकलीफ न दे। जब माता-पिताकी गोदमें आ जाता है, तब उसके लिए कोई भय नहीं रहता।

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥ 8.16

यह आने-जानेका चक्कर कहाँ तक है? ब्रह्मलोकपर्यन्त। काकभुशुण्डिने तो ऐसा वर्णन किया है कि मैंने अपनी आँखसे देखा है कि पहले एक चींटी थी अब वह पुण्यकर्मके उत्कर्षसे ब्रह्मा हो गयी है और देखा एकको जो ब्रह्मा थे, पुण्य समाप्त होते ही चींटी हो गये। यह योगवासिष्ठमें भुशुण्डिने अपने अनुभवका वर्णन किया। हमने ऐसा युग देखा है जिसमें बिना यज्ञोपवीतके ब्राह्मण हुआ करते थे और ऐसा युग देखा है जिसमें यज्ञोपवीतधारी शूद्र हुआ करते थे। यह सृष्टि बदलती है। हम जैसा चाहते हैं, वैसी ही नहीं रहती। आप इस

परिवर्तनको स्वीकार करते हैंकि नहीं! आप परिवर्तनको स्वीकार करेंगे ता सुखी रहेंगे। यदि परिवर्तनसे लड़ेंगे तो दुःख ही मिलेगा।

यहाँ अधिकांश नंगे सिर बैठे हैं। किसीके सिरपर टोपी है। आप अपने सिरपर पगड़ी बाँधते होंगे या बँधी हुई लगाते होंगे। पिता भी टोपी लगाते होंगे या पगड़ी रखते होंगे। बगलबन्दी पहननेवाले आपने देखे होंगे। आपके ही पिता, पितामह बगलबन्दी, शेरवानी पहननेवाले होंगे। आप स्वयं परिवर्तनके पक्षपाती हैं। आपके पिता, पितामह कैसे बाल रखते थे, आप कैसे बाल रखते हैं? वे कैसे कपड़े पहनते थे। आप कैसे कपड़े पहनते हैं? आपके घरमें पहले जो चौका था उसमें ब्राह्मण या घरके लोगोंके सिवाय कोई दूसरा जाता नहीं होगा। नौकर परोसता नहीं था। आप परिवर्तन स्वयं कर रहे हैं। पहलेको लेकर रोवें तो आप दुःखी हो जायेंगे।

ब्रह्माजी भी बदलते हैं—ब्रह्मा कभी लाल होते हैं, कभी काले होते हैं। कभी सफेद होते हैं, कभी चार मुँहके होते हैं, कभी सोलह मुँहके होते हैं, कभी बत्तीस मुँहके होते हैं—कभी चौंसठ मुँहके ब्रह्मा होते हैं। एक साथ करोड़ ब्रह्माण्डमें करोड़ ब्रह्मा होते हैं। श्रीकृष्ण-कथामें आता है—ब्रह्मा अपने गणोंके साथ श्यामसुन्दरके पास गये तो वहाँ चन्द्रानना सखीने पूछा—'तुम कौन हो?' ब्रह्मा हैं। अरे बाबा ऐसे मत बोलो, साफ-साफ बताओ, किस ब्रह्माण्डके ब्रह्मा हो? तुम्हारे जैसे ब्रह्मा यहाँ सैकड़ों रोज आकर धूल चाटते रहते हैं। क्या होते हो तुम? गर्गसंहिताके प्रारम्भमें ही यह कथा है। ब्रह्मा और ब्रह्माण्ड सब बदलता रहता है। विष्णु भी कभी सफेद होते हैं। यह आपको मालूम है—**शुक्लाम्बरधरं विष्णुं**—पीताम्बर नहीं है, शुक्लाम्बर है। आपके ध्यानमें है, शशिवर्णं—कृष्णवर्णं नहीं है, शुक्लाम्बर है। चन्द्रमाका रंग है। यह परिवर्तन सारी सृष्टिमें होता रहता है। पुनरावर्तन होता है। एकके बाद दूसरा, दूसरेके बाद पहला। परन्तु भगवान् मिल जायँ तो—**मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते।**

यह परिवर्तनका चक्कर ही छूट जाता है। ब्रह्माके भी दिन-रात होते हैं। **सहस्रयुगपर्यन्तं**। उसका एक माप है। चौवालीस लाख वर्षसे कुछ अधिक चतुर्युगी होती है—सहस्र चतुर्युगीका ब्रह्माका एक दिन होता है। उतनी ही बड़ी रात होती है। उसके हिसाबसे उनका महीना होता है। फिर उनका वर्ष होता है। फिर सौ वर्ष उनकी आयु होती है। **सहस्रयुगपर्यन्तं**। यह बताते हैं कि ब्रह्मा भी अनित्य हैं—उनमें भी पुनरावृत्ति है। यह सृष्टि ब्रह्माके साथ मरती है, ब्रह्माके साथ पैदा होती है। परन्तु एक परमेश्वर वह अव्यक्त है, उसीसे यह सब आता है—उसीमें यह जाकर मिलता है।

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके॥ 8.18

वह अव्यक्त, परमात्मा प्राप्त हो जाय तो यह हुई परमगतिकी प्राप्ति।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

●

प्रवचन : 8

अम्ब त्वां अनुसन्दधामि भगवद्‌गीते भवद्वेषिणीम्।

ब्रह्माजीकी भी एक आयु होती है। उनकी कुरसी भी एक दिन उलट जाती है। कालका चक्र बड़ा प्रबल है। इसमें रहकर कोई अजर, अमर, अविनाशी नहीं हो सकता। भगवान् श्रीकृष्ण करुणाकी मूर्ति हैं, वात्सल्य और स्नेहके स्वरूप हैं। वे इस जीवात्माको काल-चक्रसे ऊपर उठाना चाहते हैं। कालके चक्करमें मत पड़ें। प्राचीन ग्रन्थोंमें सात दिनोंका कोई वर्णन नहीं आया है। बहुत प्राचीन ग्रन्थोंमें—हजार दो हजार वर्षोंके अन्दर ही यह सात दिनकी कल्पना हुई है। परन्तु अर्गण पहलेसे ही हैं। एक दिन, दो दिन, तीन दिन, चार दिन फिर एक महीना, छः महीना, एक वर्ष—कालकी गणना ऐसे की गयी है। ब्रह्माजीकी भी एक आयु होती है। जैसे हमारी एक चतुर्युगी होती है, आप जानते हैं—चार लाख बत्तीस हजार वर्षका कलियुग होता है। इसका दुगुना द्वापर होता है। कलियुगका तिगुना त्रेता और चौगुना सत्ययुग होता है। यह कालचक्रका हिसाब है।

ब्रह्माका एक दिन—आप चौदह घण्टेका मान लें। इकहत्तर चतुर्युगी उसमें होती है। चौदह घण्टेका ब्रह्माका एक दिन और एकहत्तर मिनिटका एक घण्टा। एक चतुर्युगी-मिनट—एक मिनटमें हम लोगोंका चौवालीस लाख वर्षसे ज्यादा। यह तो उनका एक मिनट है। इकहत्तर मिनटका एक घण्टा मानें तो उसमें इकहत्तर बार यह चतुर्युगी, और सन्ध्या सहित एक सहस्र चतुर्युगी—इस हिसाबसे उनका महीना। महीनेके हिसाबसे संवत्सर। संवत्सरके हिसाबसे वर्ष, और सौ वर्ष ब्रह्माकी आयु है। तो इस प्रकार वह भी कालके चक्रमें हैं।

पुराणोंमें ऐसा वर्णन मिलता है, ब्रह्माजीका विष्णुके एक क्षणमें सौ वर्ष होता है। विष्णुके क्षणके हिसाबसे उनका दिन उनका महीना, उनका वर्ष। ब्रह्माण्डका जब क्षय होता है तब विष्णु, विष्णुके रूपमें नहीं रहते। वे निराकार परमेश्वरमें मिल जाते हैं। पर ऐसा जो विष्णुका सौ वर्ष है वह शंकरजीका एक क्षण मात्र है। संहारके देवता तो वे ही हैं। फिर उनका दिन, उनका महीना, उनका वर्ष। शंकरका सौ वर्ष, निराकार परमेश्वरका एक संकल्प है और वह निराकार ईश्वरका जो संकल्प है, वह निर्गुण, निराकार, परब्रह्म परमात्माकी कल्पना मात्र है। वास्तविक नहीं है।

अविनाशी परमात्माको समझानेके लिए यह प्रक्रिया स्वीकार की गयी। एक बार सुन लेंगे तो आपके संस्कारमें यह बात रहेगी। जो परमात्माकी प्राप्ति है यह चतुर्युगी या सहस्र चतुर्युगी या ब्रह्माकी आयु, विष्णुकी आयु, शिवकी आयु, निराकारका संकल्प इसका नाम परमात्माकी प्राप्ति नहीं है। परमात्माकी प्राप्ति, जहाँ काल है ही नहीं, कालकी कलना जहाँ नहीं है, संकल्प जहाँ नहीं है—उस परमात्माकी प्राप्ति होती है। यहाँ ब्रह्माकी आयुका जो वर्णन आया, यह वैराग्यके लिए है। यदि आप अविनाशी वस्तुको प्राप्त करना चाहते हैं तो यह ब्रह्माजीके मिनट, दिन और उनकी आयुमें जो रहनेवाली चीज है, उसको मत चाहिए।

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके॥ 18
भूतग्रामः स एवायं भूत्वा-भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे॥ 19

बस, यह दिन-रातका चक्कर—चाक घूम रहा है। पहियेका चाक घूम रहा है—चक्र है। रात हुई तो सब अव्यक्तमें लीन हो गया। दिन हुआ ब्रह्माका तो सब निकल आया।

इसका एक अर्थ और है। आपके सोनेमें जो चीज नहीं मालूम पड़ती है या नहीं रहती है, वह आपका मन है और आपके जागनेसे जो चीज रहती है वह भी आपका मन है। वस्तुका स्पर्श मत कीजिये, आपकी जाति, आपका मजहब, आपकी भाषा—जिसमें अभिनिविष्ट होकर आप दूसरोंका सिर काटनेके लिए तैयार हो जाते हैं। आप जब सोते हैं तब क्या आपकी भाषा रहती है? कौन-सी भाषा रहती है? माँके पेटमें थे तब आपकी कौन-सी भाषा थी? आपकी कौन-सी जाति है? कौन-सा मजहब रहता है? आपका क्या नाम रहता है? आपके कौन-से रिश्तेदार रहते हैं? जब आप सोते हैं तो आपके मनकी सारी कल्पना आपके साथ सो जाती है और जब जागते हैं तब सारी कल्पनाएँ उठकर आजाती हैं। सोनेतक ही जिन चीजोंका भान रहता है। उनको आप इतना कीमती क्यों समझते हैं? उनके लिए आपके जीवनमें काम आये, क्रोध आये, लोभ आये, मोह आये—यह वैराग्यके लिए है। इसीसे भूतग्राम बोलते हैं।

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे॥ 8.19

मेरे प्यारे भाई; पार्थ माने होता है—प्यारे भाई! पृथा-कुन्ती है—श्रीकृष्णकी बूआके लड़के। 'पार्थ' शब्दसे जब सम्बोधित करते हैं—पुकारते हैं तब पार्थ-माने हमारे फुफेरे भाई। हमारे सम्बन्धी हो। 'भक्तोऽसि मे', 'सखा चेति'—केवल सम्बन्धी ही नहीं हो—मेरे भक्त भी हो। 'इष्टोऽसि मे दृढमिति'—तुम मेरे इष्ट हो, मैं तुम्हारा सेवक हूँ। यह हमारा भगवान्। दुनियामें किसी मजहबका ईश्वर अपने भक्तको अपना इष्ट नहीं कह सकता। आप लोगोंने 'कुरान' आदि ग्रन्थ भी पढ़े होंगे—कोई भी भगवान् अपने भक्तको अपना इष्ट कहे, ऐसा नहीं है।

अर्जुन, मैं तुम्हारा पुजारी हूँ, तुम्हारा सेवक हूँ, यह बोलनेकी शैली है। अन्धेको अन्धा कहकर नहीं पुकारना चाहिए। भगतजी बोलो, सूरदास बोलो, प्रज्ञाचक्षु बोलो। जो लोग सचके नामपर कड़वा बोलते हैं, वे बोलनेमें कहाँ धर्म अधर्म होता है, इसको नहीं समझते। व्याकरणके ग्रन्थोंमें लिखा है—कानेको काना कहकर नहीं पुकारना चाहिए, और यहाँ तो भगवान् अपने भक्तको इष्ट कहकर पुकारते हैं। **इष्टोऽसि मे** मेरे तुम इष्ट हो, प्यारे हो। दो ही चीजमें तो व्यवहार है। आप दूसरेको नुकसान पहुँचाना चाहते हैं क्या? आपको अभी व्यवहार नहीं आता। आप वाणीसे कटु बोलते हैं क्या? तब भी आपको व्यवहार नहीं आता। आप दुनियामें मित्र नहीं शत्रु बनाना चाहते हैं।

मेरे प्यारे भाई! यह भूतग्राम है। बहुत मजेदार बात हुई न! भूतोंके बारेमें आपने सुना ही होगा। यह भूतोंका गाँव है। भूतोंका गाँव माने जहाँ गाँव न हो वहाँ गाँव मालूम पड़े। जहाँ आदमी न हों वहाँ आदमी मालूम पड़े। यह वेदान्तकी बात हो गयी। एक सज्जन जाकर श्मशानमें बैठे। उन्होंने देखा कि वहाँ तो ब्याह है किसीके घरमें। लड़कीका घर है, लड़केकी बारात आरही है। बाजे बज रहे हैं, मङ्गल-गान हो रहा है। खानपान हो रहा है। उनके मनमें आया कि मैं भी शामिल हो जाऊँ। जब उठकर वह बारातीकी ओरसे शामिल होने लगा तो वहाँ कुछ नहीं। न लड़की, न बारात। इसको बोलते हैं भूतग्राम। यह परमात्माके स्वरूपमें—जो भूतोंका गाँव दीख रहा है, यह अपने अत्यन्ताभावके अधिष्ठानमें दीख रहा है। यह वेदान्तकी भाषा है। जो चीज जहाँ न हो वहाँ यदि वह दिखायी पड़े तो उसको क्या बोलेंगे? दिखायी पड़ती है इसलिए झूठ नहीं कह सकते और वहाँ है नहीं, इसलिए सच नहीं कह सकते। उसका नाम होगा अनिवर्चनीय मिथ्या—जैसे आकाशमें नीला रङ्ग नहीं है, दिखायी पड़ता है।

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।

पैदा होता है और लीन होता है। रातके समय लीन हो जाता है और दिनके समय दिखायी पड़ने लगता है, है क्या? बोले ठीक है—इसीको बोलते हैं—अव्यक्त।

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥ 2.28

क्यों रोते हो? रोना-धोना किसलिए? न जाने कहाँसे एक चीज टपक पड़ी थी। एक जादूगर था। उसने कहा चल और एक चीज पटसे गिर पड़ी। थोड़ी देरमें फिर उसका दीखना बन्द हो गया। **अदर्शनादापतितः पुनश्चादर्शनंगतः**। जिसको तुम नहीं देख रहे थे वह तुम्हारे सामने आया था और फिर जैसे आया था, वैसे ही उड़ गया। अव्यक्तसे आया, व्यक्त हुआ—और फिर अव्यक्तमें चला गया। यह भूतग्रामकी दशा है। अब बताते हैं कि एक तो यह आने-जानेवाली चीज है और दूसरे जहाँसे आती है वह चीज।

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति॥ 8.20

इस अव्यक्तसे—कार्य, उसको कहते हैं जो दीखता है, पैदा होता है, मरता है। उसका नाम हुआ कार्य।

और जिसमें होता है उसका नाम होता है कारण। जिस औजारसे हम उसको देखते हैं उसका नाम होता है 'करण'। जैसे रूप हम देखते हैं, उसका करण तेजस् तत्त्व है और उसको देखनेका करण नेत्र है। इसको असाधारण करण बोलते हैं। माने बिना आँखके रूप नहीं देखा जा सकता और मनको साधारण करण बोलते हैं। साधारण करण माने कानसे सुनोगे तब भी मन रहेगा। माने बिना आँखके रूप नहीं देखा जा सकता और मनको साधारण करण बोलते हैं। साधारण करण माने कानसे सुनोगे तब भी मन रहेगा। आँखसे देखोगे तब भी मन रहेगा। सब इन्द्रियोंमें साधारण करणके रूपमें मन रहता है। एक-एक विषयको प्रकाशित करनेवाली इन्द्रियाँ असाधारण करण होती हैं। जिस चीजको आप देख रहे हैं वह कार्य है और जिस उपादानसे—मसालेसे वह बनता है वह कारण है। अव्यक्तमें यह व्यक्त पैदा होता है और अव्यक्तमें लीन होता है। व्यक्त कहाँ होता है? जिसमें व्यक्त नहीं है, उसको अव्यक्त बोलते हैं। व्यक्त कहाँ नहीं रहता—जहाँ व्यक्त नहीं है। अव्यक्त हुआ आदि और अन्त तथा व्यक्त हुआ मध्य। इस अव्यक्तको प्रधान बोलते हैं—प्रकृति बोलते हैं, माया बोलते हैं—**तस्माद् अव्यक्तात् परः भावः अव्यक्तः** इस अव्यक्तसे परे एक दूसरा अव्यक्त है। माने यह अव्यक्त तो है प्रकृतिप्रधान और इससे परे है परमात्मा।

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।

यह सनातन है, अविनाशी है, जो इस कार्य-कारण, करण सबसे परे है वह सनातन अव्यक्त है। भगवान् श्रीकृष्णने जनकका नाम तो लिया है तीसरे अध्यायमें। विरक्त महात्माओंका नाम भी श्रीकृष्णने लिया है। परन्तु वे गीताका आचार्य किसी विरक्त महात्माका नहीं मानते। अद्भुत है, मान लो सोलह हजार पत्नी हों और इतने बड़े-बड़े महल हों और लाखों बेटे हों, और इतनी धन-सम्पदा हो, तो विरक्त महात्माको आचार्यके नामसे कैसे बोलेंगे। कैसे वर्णन करेंगे?

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥ 4.1

इक्ष्वाकु, मनु, सूर्य इनका नाम लिया और सबका आद्याचार्य अपनेको बताया। मैं ही आत्मा; परमात्मा हूँ। मैंने बुद्धिको यह ज्ञान दिया, मैंने मनको यह ज्ञान दिया। मैंने इन्द्रियोंको यह ज्ञान दिया। इन्द्रियाँ इक्ष्वाकु हैं और मनु मन है। और विवस्वान्—सूर्य—**धियो यो नः प्रचोदयात्।** सूर्य देवता हैं और सबको ज्ञान देनेवाले कौन हैं? स्वयं परमेश्वर श्रीकृष्ण। बोलनेका ढंग है—इस विद्याका गुरु कौन है? इक्ष्वाकु। उनका गुरु कौन है? मनु। मनुका गुरु कौन है? सूर्य। वह कर्मयोगी है। सूर्यका गुरु कौन है? छाती ठोंककर बोले—सबका गुरु मैं हूँ। ये गुरुघण्टाल सबके। यह ग्वारिया कहीं संकोच नहीं करता है? एक महात्मासे किसीने पूछा कि तुम अपनेको ब्रह्म क्यों कहते हो? उसने कहा कि तुम अपनेको मनुष्य क्यों कहते हो? बोले—हमको मालूम पड़ता है कि हम मनुष्य हैं-इसलिए हम अपनेको मनुष्य कहते हैं। बोले-हमको भी मालूम पड़ता है कि हम ब्रह्म हैं—इसलिए हम कहते हैं। जो मालूम पड़ता है वह बोलते हैं। इसमें तुमको क्या आपत्ति है? सूर्यमें जितनी विशेषताएँ मालूम पड़ती हैं, वे हमारी ही दी हुई हैं। मनुमें जितनी विशेषताएँ

मालूम पड़ती हैं—वे हमारी ही दी हुई हैं। यह गुरु-परम्परा है। श्रीकृष्णने अपने चेलोंका नाम बताया और आदर्श बता दिया जनकको।

उपनिषद्में ऐसा वर्णन है कि यह विद्या पहले राजर्षियोंके हाथमें थी। ब्राह्मणोंके, विरक्तोंके हाथमें नहीं थी। जो राजा लोग होते थे, उनको इस विद्याका ज्ञान था। जब अश्वपतिके पास महात्मा लोग गये और प्रार्थना की कि हमको आप अपनी विद्या बताइये तो उन्होंने कहा कि पहले-पहल क्षत्रियोंके—राजाओंके हाथसे निकलकर यह विद्या आपके—ब्राह्मणोंके हाथमें जा रही है।

श्रीकृष्णकी यह विद्या है। परमेश्वर कौन है? वह प्रकृतिसे परे है। उसकी पहचान बताओ। **यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्।** एक बात बताइये कि उसके भीतर भी सारे प्राणी हैं—मिट्टी है, पानी है, आग है, हवा है, आकाश है, सारे भूत उसके भीतर हैं। **भू भवन्ति इति भूतानि।** जो पैदा होते हैं उसका नाम होता है भूत। भवन्—भव्य—यह पहले पैदा हुआ। अब यह हो रहा है—आगे यह पैदा होगा। यह सत्ताका जितना भी विस्तार होता है, उस परमात्माके भीतर ही रहता है, बाहर नहीं जाता। एक बात तो यह हुई कि हम लोग तो ईश्वरको अपना बनाकर रखते हैं। अच्छा है; अगर आप अपना बना लें। यह हमारा शरीर हमारे चामकी थैली है। इसमें हड्डी, मांस और सब मसाला भरा है। इसी थैलीमें परमेश्वरको हमने रख लिया है। परमेश्वर कहाँ हैं? हमारे भीतर है।

भगवान् श्रीकृष्ण यहाँ परमेश्वरकी पहचान बताते हैं—**यस्यान्तःस्थानि भूतानि।** परमेश्वर तुम्हारे भीतर सीमित नहीं हैं, बल्कि तुम सब लोग परमेश्वरमें हो, जैसे तुम्हारे मनके पेटमें स्वर्गकी धरती, पानी, हवा, आग, आसमान, देश-विदेश, जाति, विजाति ये सबके सब स्वप्नकालमें तुम्हारे अन्दर होते हैं। वैसे यह परमेश्वर अपने मनके भीतर सबको देख रहा है। **यस्यान्तः स्थानि भूतानि।** हमारे पेटमें परमेश्वर है, यह हो गया प्रेम और परमेश्वरके पेटमें हम हैं यह हो गयी शरणागति। अपने बच्चेके प्रति शरणागति नहीं होती। अपने पिताके प्रति शरणागति होती है। जिसके पेटमें हम समा जायें उसकी शरण होती है। जो हमारे पेटमें समाया हुआ है, उसकी क्या शरण है? **यस्यान्तःस्थानि भूतानि।** यह सम्पूर्ण भूतभव्यसृष्टि जिसके भीतर है, जो इसका आश्रय है, यह सृष्टि अलग हुई और ईश्वर अलग हुआ? बोले—'नहीं।' यही तो विचित्र है। यह दुनियाके सब मजहबोंसे अलग है। यह न जैन-मजहबमें है, न बौद्ध-मजहबमें हैं। न यहूदीमें है। यह हमारे वैदिक सनातन धर्मकी विशेषता है। **येन सर्वमिदं ततम्।** 'ईश्वर कैसा?' एक तो बताया सब उसके पेटमें, और दूसरी बात बतायी कि जैसे कपड़ेमें ताना-बाना दोनों सूत ही होता है, वैसे इस सृष्टिका ताना-बाना दोनों वही है।

अहमदाबादके साबरमती आश्रममें गाँधीजीका एक चित्र रखा है। पहले हमारे गाँवमें स्त्रियोंकी साड़ियाँ आती थीं उनमें भी देखते थे। साड़ीमें मोर बने हुए रहते थे। सूतको ऐसे ढङ्गसे बैठा देते हैं कि रङ्ग नहीं डालना पड़ता। सूत ही मोर मालूम पड़ता है। कपड़ेसे अलग मोर नामकी कोई चीज नहीं है। वह गाँधीजीका चित्र भी एक कपड़ा है। उसमें डण्डा भी है, एक पाँव आगे है, एक पाँव पीछे। गाँधीजी यात्रा

कर रहे हैं, परन्तु उसमें सूतोंके सिवाय कुछ नहीं है। आप लोग वस्त्रको जानते हैं, बनाते हैं, बेचते हैं, खरीदते हैं, पहनते हैं। यह क्या है? वे गाँधीजी हैं कि सूत है? जबतक आपकी व्यक्तित्वपर दृष्टि है और जब सूतको देखोगे तो आपकी दृष्टि उपादानपर चली गयी। यह जो दृष्टि दिखायी पड़ती है—यह चित्र है। गोस्वामीजीने क्या बढ़िया वर्णन किया—

शून्य भीत्तिपर चित्र रंग नहीं तनु बिनु लिखा चितेरे।

शून्यकी भीतपर यह चित्र बना हुआ है। कोई रङ्ग लगाया नहीं और लिखनेवालेके हाथ नहीं और कलम नहीं—तूलिका भी नहीं। रङ्ग भी नहीं, भीत भी नहीं और यह तस्वीर बन गयी। यह बात हमारे शैवाचार्योंने हजारों वर्ष पहले कही है।

यह जो जगत्‌की तस्वीर है कहाँ बनी? बोले—परमात्मापर बनी। वही आड़ा सूत है। वही लम्बा सूत है। सूतका विन्यास—उसको इस ढङ्गसे जमाया गया कि यह दुनिया दीख रही है। यह दुनिया कोई अलग चीज नहीं है। परमेश्वर ही है। उसका नाम है परम पुरुष। ब्रह्माजीकी आयुका वर्णन क्यों हुआ? आप यह जो चीज बनती-बिगड़ती रहती है जो मरता-जीता रहता है, उसको मत देखिये, देखिये उसको जिससे यह बना है। आप कभी जेवर खरीदें तो सिर्फ यही न देखें कि यह कितना सुन्दर है, इसकी शकल-सूरत कितनी अच्छी है, इसकी डिजाइन बहुत सुन्दर है, सिर्फ यह न देखें। यह देख लें कि यह चाँदी है या सोना है, पीतल है। यदि आप उसके धातुको नहीं देखेंगे तो ठीक-ठीक उसका मूल्यांकन नहीं हो सकेगा। इस जगत्-चित्रका मूल्यांकन करनेके लिए आपको इसकी मूल धातु देखनी पड़ेगी। सिर्फ आकृति, शकल, सूरत नहीं।

कनखलमें एक हरिवंशपुराण है, उसपर सोनेसे बने हुए चित्र हैं, अबसे पचास वर्ष पहले लाखों रुपये उसकी कीमत मानी जाती थी। तालेमें बन्द रखते हैं, पहरा लगता है। कोई देखना चाहे तो दिखा देते हैं। उसकी कीमत सोना और कला, दोनोंकी दृष्टिसे मानते हैं। **येन सर्वमिदं ततम्।** इस कपड़ेमें सूत क्या है? खादी, रेशम, रेयोन, क्या है? जिस सूतसे यह दुनियाका कपड़ा बुना गया, वह सूत क्या है? कौन-सा रेशा है? कौन-सी कपास है? बनावटी रेशम है असली? बनावटी रेशममें और मैसूरके असली रेशममें फर्क होता है कि नहीं! आपकी नजर वहाँ जाये कि यह है क्या? **येन सर्वमिदं ततम्।**

भगवान्‌ने खुद ही कह दिया—**यस्यान्तःस्थानि भूतानि।** यह भगवान्‌की एक पहचान—नवें अध्यायमें आयेगी। **मत्स्थानि-सर्वभूतानि** सारे भूत मुझमें स्थित हैं। और फिर बोले **न च मत्स्थानि भूतानि।** हमारे एक बुजुर्ग हैं—अब तो उनकी शताब्दी पूरी हो गयी—उन्होंने गीतापर टीका लिखी है। 'संस्कार भाष्य'—उसका नाम है। आप लोगोंकी दृष्टिमें शायद न आया हो। क्योंकि उन्होंने बड़ा गुप्त और श्रेष्ठ जीवन विद्याकी सेवामें व्यतीत किया। अद्भुत है। उसको विद्वान् समझ सकता है कि क्या उसमें आश्चर्य है। उन्होंने उपनिषदोंके मन्त्रोंसे नहीं—संहिताओंके मन्त्रोंसे, वेदोंके मन्त्रोंसे ब्रह्मसूत्रकी संगति लगायी है।

विद्वानेव विजानाति विद्वज्जनपरिश्रमः।

विद्वान् ही विद्वान्‌के परिश्रमको समझ सकता है। उन्होंने गीतापर जो टीका लिखी है, उसमें लिखा है कि

यह श्रीकृष्णकी जुबानका तो कुछ ठिकाना ही नहीं! ये महाराज बचपनमें तो ग्वालियोंमें रहे। सो अण्ट-सण्ट बोलनेका इनको अभ्यास हो गया। आदत पड़ गयी। एक बार बोलते हैं—**मत्स्थानि सर्वभूतानि** और एक बार बोलते हैं—**न च मत्स्थानि भूतानि**। देखो न, परस्पर विरोध! बोले मुझमें सब कुछ है और मुझमें कुछ नहीं है। आपको दिखा रहे हैं कि मुझमें है सब कुछ। अर्जुनको दिखा भी दिया ग्यारहवें अध्यायमें और वेदान्तीको दिखा रहे हैं—**न च मत्स्थानि भूतानि**। अज्ञानीकी दृष्टिसे जो कुछ है सो सब मुझमें है और तत्वज्ञकी दृष्टिसे मुझमें कुछ नहीं है। यह दृष्टिभेद है। अज्ञानीकी दृष्टि है—**यस्यान्तःस्थानि भूतानि** और तत्त्वज्ञकी **दृष्टि है येन सर्वमिदं ततम्, मया ततमिदं सर्वम्।**

नवें अध्यायमें येन नहीं कहते हैं। जिससे यह सारी सृष्टि बनी सो नहीं, बोले मुझसे यह सारी सृष्टि बनी है। मैं कपड़ेमें सूतकी तरह हूँ। **येन सर्वमिदं ततम्।** बोले भाई; वह मिलना चाहिए। आपको बताया आप ब्रह्माको मत चाहिए। आप ब्रह्माकी बनायी हुई सृष्टिको मत चाहिए। आप अनाशवान् वस्तुके लिए प्रयत्न कीजिए। जिसकी बाँसुरी बिना बजाये बजती रहती हैं। एक बाँसुरी वह होती है जो फूँकनेसे बजती है, और एक बाँसुरी वह है जो बिना बजाये बजती रहती है। आनन्दकी धारा, अमृतकी धारा! बाँसुरी बाजोंमें सबसे बढ़िया मानी जाती है। क्यों? आप जानते हैं, कोई बाजा लकड़ी मारनेपर बजता है। कोई हाथ मारनेपर बजता है। कोई रगड़नेपर बजता है। कोई टिनमिन अँगुलीमें रिंग पहनकर करते हैं—से बजता है। बाँसुरी यह अपने प्राणोंसे बजती है। बाँसुरी सुशिरवाद्य है। इसका मतलब होता है, उसमें सिर्फ छिद्र होता है। आप अपने प्राणसे, अपनी साँससे उसमें-से ध्वनि, संगीत निकालते हैं। वह प्राणवासी है। परन्तु एक ऐसी बाँसुरी है—जंगलमें जो बाँस लगे होते हैं, उसमें हवा चलती है तो आवाज निकलती है और एक ऐसी बाँसुरी है जो बिना हवा चले ही बजती रहती है—वह है अमृतयमी स्वरलहरी कृष्णकी। वह है संगीत-लहरी श्रीकृष्णकी। वह बाँसुरी बजती है मिले कैसे, जिसमें सहज संगीत-माधुरी है, सहज सुखस्पर्श है। गीतामें लिखा है—**सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शं अत्यन्तं सुखमश्नुते।** ब्रह्मका भी स्पर्श होता है। ब्रह्मकी भी स्वरलहरी होती है, वह स्वरलहरी सुनायी पड़े, उसके स्पर्शका अनुभव हो, उसके सौन्दर्यका दर्शन हो, उसके माधुर्यका आस्वादन हो, उसके सौरभका आस्वादन हो। दिव्य सुगन्ध बह रही है, परन्तु न गुलाब है न चमेली। स्वाद आरहा है परन्तु मुँहमें न रसगुल्ला है, न सन्देश। सौन्दर्य दीख रहा है पर कितनी सुन्दरता है, पता नहीं चलता। कौन है? क्या स्पर्श हो रहा है? न गुलाबकी पंखुड़ी है, न कमलकी। उसकी स्वरलहरी सुनायी पड़ रही है। कैसे देखें उसको, कैसे मिले वह? आपके मनमें कश्मीर देखनेकी इच्छा होती है? स्विटजरलैण्ड जानेकी इच्छा होती है? सुनते हैं बहुत सुन्दर है।

एक महात्मा थे वृन्दावनमें। उनके शिष्यने कहा—आप चलिये कश्मीर देखकर आप मुग्ध हो जायेंगे। उन्होंने कहा—हमको आँख बन्द करनेपर जो सुन्दरता दिखायी पड़ती है—वह सौन्दर्य, वह माधुर्य, कहीं धरतीपर हो सकता है? उस सुन्दरको देखनेसे आँख बन्द करनेपर भीतर दिखायी पड़ता है—उस सुन्दरको देखनेकी इच्छा होती है? उसके मधुररसका आस्वादन करनेकी कभी इच्छा होती है? स्वर्गका वर्णन जब पण्डित लोग करते हैं—वह नन्दनवन, वह अप्सरा, वह अमृतका पीना और वह हमेशाकी

जवानी, वह भोग! बस, मनमें इच्छा हो जाती है कि हम मरके वहाँ पहुँच जायें। मरना पड़े तो मरें लेकिन वहाँ पहुँच जायें। स्वर्गका वर्णन करके पण्डित लोग आपके मनमें लालच पैदा कर देते हैं। वह तो ऐसा होटल है महाराज कि पैसा पहले जमा करो—जब खतम हो जाये तो न निकले तो (अर्धचन्द्र देकर बोलते हैं) गरदनिया देकर निकाल दिये जायँ।

अतः, चाहे तो हम उस परम पुरुषको चाहें। जो कालातीत पुरुष है। देशातीत पुरुष है और **सर्वमिदं ततम्**—यह द्रव्यातीत पुरुष है। लोग तो ईश्वरको भी खरीदना ही चाहते हैं।

एक सज्जनने बम्बईमें किसी महात्मासे पूछा—'महाराज, कितना रुपया खर्च करें तो हमको ईश्वर मिल जाय?' बोले भाई! रुपयेसे ईश्वर नहीं मिलता। क्या चाहिए उसके लिए? तो उन्होंने कहा—'ईश्वरकी कृपा हो, महात्माकी कृपा हो तो ईश्वरका दर्शन हो जाय।'

अच्छा, ऐसा है—तो आप मेरे ऊपर कृपा कीजिए—ईश्वर मिल जाय। बोले—हमने तो जिन्दगीभरमें और कुछ कमाया नहीं है—हमारे पास मकान नहीं है, धन नहीं है, परिवार नहीं है। जिन्दगीभरमें कुछ कमाया है तो मात्र ईश्वरकी ही कमायी है। हमारी कमायी, हमारा सर्वस्व 'ईश्वर' लेना चाहते हो तो तुमने अपनी जिन्दगीमें जो कुछ कमाया है वह हमें दे दो। हम अपनी कमाई तुम्हें देते हैं। बोले बाबा, यह बात मत कहो। यह तो मुँहसे निकालो ही नहीं।

पुरुषः परः पार्थ—वह मिलता है—कैसे मिलता है? **भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया**—अनन्यगामी, जैसे पतिव्रता स्त्री अपने पातिव्रत द्वारा अपने पतिको वशमें कर लेती है।

भक्तिके लिए यही दृष्टान्त भागवतमें दिया है। **वशीकुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पति यथा।** जैसे सती स्त्री अपने सज्जन पतिको, अपने प्रेमके वशमें कर लेती है, वैसे भगवान्‌का भक्त अपनी अनन्य भक्तिके द्वारा भगवान्‌को अपने वशमें कर लेता है। यह भागवतके नवम स्कन्धका वर्णन है। गीतामें अनन्य भक्तिका बहुत वर्णन है। सगुण, साकारका दर्शन भी अनन्य भक्तिसे ही होता है। आप देखो—ग्यारहवें अध्यायमें अन्तमें—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥ 11.54

गुणातीत परमात्माकी प्राप्ति कैसे होती हैं?

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥ 14.26

तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति कैसे होती है?

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।

यह जो परमेश्वरके सिवाय—जबतक और-औरकी इच्छा है तबतक परमेश्वर और और देता है। एक महात्मा यह दृष्टान्त देते थे। एक पुरुष कहीं परदेश गये। राजा थे। वहाँसे उन्होंने अपनी रानियोंको चिट्ठी लिखी

कि तुम लोगोंको जो चाहिए सो लिख भेजो। हम यहाँसे लेते जायेंगे। किसीने कुछ मँगाया—किसीने कुछ। एक रानीने जो चिट्ठी लिखी उसपर और कुछ नहीं लिखा केवल 'एक' लिख दिया। राजाने सबकी चीज मँगा ली, पैकिङ्ग करा ली। सबके घरमें भिजवा दिया। उसके पास गये कि तुमने लिखा क्या था, समझमें नहीं आया। तो तुम्हारी माँग पूरी करनेके लिए मैं वहाँसे कुछ लेकर नहीं आया। क्योंकि कुछ समझमें ही नहीं आया कि क्या मँगाया था। स्त्रीने कहा—वह मुझे मिल गया। मुझे दूसरी कोई चीज नहीं चाहिए। मुझे जो 'एक' चाहिए था वह 'एक' मेरे घरमें आगया।

अनन्याका अर्थ क्या है? उद्देश्य एक, भाव एक, स्थिति एक और वस्तु एक। अनन्यताका चार स्तर होता है। जैसे आप किसीकी सेवा करते हैं—उसके लिए झाड़ू भी लगा देते हैं। कपड़े भी धो देते हैं। रोटी भी बना देते हैं। पंखा भी झल देते हैं। पाँव भी दबा देते हैं। मतलब यह कि काम तो आप बहुत करते हैं परन्तु किसके लिए करते हैं? एकके लिए करते हैं। काम तो आपके बहुत-से हैं परन्तु **अनेन सर्वात्मा भगवान् प्रीयताम्, तृप्यताम्।** इससे सर्वात्मा भगवान् प्रसन्न हों। एककी प्रसन्नताके लिए आप सब काम करते हैं। इसमें भी अनन्यता है, क्योंकि उसीके लिए करते हैं। इसमें अन्य नहीं है। जिसमें अन्य नहीं होता उसका नाम अनन्या। उसके लिए काम कीजिए। एक सज्जन खूब कमाई करते थे। पर जो कमाई उनके घरमें आती थी वह अपने निर्वाहमात्रके लिए जो आवश्यक होती उतना ही रखते थे, बाकी गरीबोंकी सेवामें लगा देते थे। गरीब उनके भगवान् थे। अन्नसे, वस्त्रसे, औषधसे सेवा करते थे। काम अनेक और उद्देश्य—एक, इससे भगवान् प्रसन्न होते हैं। इसको बोलते हैं धर्मभाव अनेक और भावका विषय एक। आप गोस्वामीजीको देखिये क्या बोलते हैं—

मोहि-तोहि नाते अनेक—मानिए जो भावे।

आपको जो पसन्द हो सो मानिये। आप मानिये हमारी पसन्द नहीं। तुम्हारी पसन्दका—

ज्यों-त्यों तुलसी कृपालु चरण सरण पावै।
तात मात गुरु सखा तू सब विधि हितु मेरो॥

तुम्हीं मेरे पिता हो, तुम्हीं मेरी माता हो, तुम्हीं मेरे सखा हो, तुम्हीं मेरे गुरु हो। इसमें क्या हुआ? मातामें, पितामें, भाईमें, गुरुमें भाव अनेक हैं परन्तु एक साथ ही हैं। अनेकके साथ नहीं है। भक्तिभाव बोलते हैं इसको आपके मनमें निन्यानबे वृत्ति हो—सौ वृत्ति हो, परन्तु जो एक सौ एक है उसमें एकके लिए हो। सौ काम हों एकके लिए हो। उसको अनन्य सेवा—अनन्य धर्म बोलेंगे। आपके मनमें सौ भाव हों परन्तु एकके लिए हो। चारों ओरसे घूमकर आइये। बाजारमें जाते हैं। उपनिषद्में ऐसे है—**स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धो दिशं-दिशं पतित्वान्यत्रायतनमलब्ध्वा बन्धनमेवोपश्रयत एवमेव खलु सोम्य तन्मनो दिशं दिशं पतित्वा-न्यत्रायतनमलब्ध्वा प्राणमेवोपश्रयते प्राणबन्धनꣳहि सोम्य मन इति।** —छा० 6.8.2

एक चिड़िया रस्सीमें बँधी है इधर उड़ती है, उधर उड़ती है, फड़फड़ाती है, चिल्लाती है परन्तु अन्तमें जहाँ बँधी है वहीं आकर बैठती है। वहीं मिलता है उसको विश्राम। ऐसे ही जो मनुष्यका मन है—यह

छटपटाता है—यहाँ जाता है—वहाँ जाता है—फिर कहाँ आकर सोता है? एक पतिव्रता पत्नी है, वह भले ही बाजारमें सौदा खरीदनेके लिए जाय, भले मायके जाय, बहनके घर जाय, लेकिन सोनेका स्थान उसका कहाँ है? अपने पतिके पास। अपने पतिकी गोदमें। वह दूसरेके साथ नहीं सोती। इसी प्रकार हमारी स्थिति है। चाहे जितना घूम आवें हम दुनियामें, हमारी सोनेकी जगह ईश्वर है। निद्राके समय आप कहाँ होते हैं—**सति सम्पद्यन्ते**—ईश्वरमें आकर सो जाते हैं। सेवा एकके उद्देश्यसे। सम्बन्ध सारे-के-सारे एकसे—ईश्वरसे। स्थिति ईश्वरमें और ज्ञान ईश्वरका ही। सब स्थितिमें ईश्वर है। सब भावोंमें ईश्वर है। सब कर्मोंमें ईश्वर है। सब वस्तुओंमें ईश्वर है। ईश्वर ही है—दूसरा कोई नहीं है।

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्यालभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्॥ 8.22

अब यदि कालके चक्रमें पड़ोगे तो! चक्कर काटते रहोगे या तो बड़ी देर लगेगी वहाँ पहुँचनेमें। इसलिए न देरवाला मार्ग अपनाओ और न चक्कर काटनेवाला। दोनोंसे वैराग्य करनेके लिए है यह आठवाँ अध्याय। शुक्ल या उत्तरायणमार्गसे जानेका वर्णन करनेके लिए नहीं है। बल्कि दोनोंसे वैराग्य करके अभी-अभी परमात्माकी प्राप्ति करनेके लिए है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

प्रवचन : 9

हमारे शास्त्र, पुराण, उपनिषद्, गीता सब ऐसे भगवान्‌का प्रतिपादन करते हैं जो न हमसे दूर है, न जिसके मिलनेमें देर है, और न हमसे दूसरा है। यह संसारके सब ईश्वरवादी मजहबोंसे अलग है। ईश्वरसे मिलनेमें देर नहीं, ईश्वर हमसे दूर नहीं—ईश्वर दूसरा नहीं।

यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्।

हम सब जिसके भीतर हैं, माने उसका इतना बड़ा पेट है कि उसके पेटमें हम समाये हुए हैं, उसका इतना बड़ा दिल है कि हम उसके दिलमें हैं—ऐसा ईश्वर और **येन सर्वमिदं ततम्**—यह जो कुछ है, सबमें वह—कपड़ेमें सूतकी तरह व्याप्त है, भरपूर है। यही मूर्तिपूजाका मौलिक तत्त्व यहाँ है। जिनका ईश्वर निराकार होता है, नितान्त निराकार, उसमें साकार होनेका सामर्थ्य ही नहीं है। वे लोग मूर्तिको प्रतीक मानकर उसकी पूजा करते हैं। यह प्रतीकवाली भाषा निराकारवादियोंसे आयी है और हम लोग ईश्वरको नितान्त निराकार नहीं मानते। जितने आकार हैं, सब ईश्वरके ही आकार हैं, ईश्वर ही सब आकारोंके रूपमें प्रकट हैं। किसी भी आकारमें हम ईश्वरकी पूजा कर सकते हैं। जितनी मूर्तियाँ हैं सबकी सब ईश्वरकी मूर्तियाँ हैं—**यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।** प्रेरक भी वही है—भीतर अन्तर्यामी—'यतः प्रवृत्तिर्भूतानां' और 'येन सर्वमिदं ततम्'। सबके रूपमें भी वही है। आप मिट्टीकी मूर्ति बनाकर पूजा कीजिए।

ॐ भूरसि, भूमिरसि—प्रचलित पूजा आप लोग करवाते हैं। नींव डालना होता है तो भूमिकी पूजा होती है—भूमिके रूपमें परमेश्वरकी ही आराधना है।

जलके रूपमें भगवान्‌की आराधना। अग्निके रूपमें भगवान्‌की आराधना, वायुके रूपमें भगवान्‌की आराधना। सूर्य, चन्द्रमाके रूपमें, अपने प्राणोंके रूपमें, अपनी साँसके रूपमें भगवान्‌की आराधाना। आकाशके रूपमें भगवान्‌की आराधना। पेड़-पौधेके रूपमें—**अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां**—पीपलके रूपमें आराधना। हंस आदि पक्षियोंके रूपमें भगवान्‌की आराधना। गाय आदि पशुओंके रूपमें भगवान्‌की आराधना। मछली, कछुवा, वाराह, नृसिंह, वामन, परशुरामके रूपमें ईश्वरकी आराधना। यह जो ऐसा मानते हैं कि ईश्वर साकार हो ही नहीं सकता, उनके सिद्धान्तसे यह वेदशास्त्रका सिद्धान्त विलक्षण है। सबके रूपमें वही है।

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।

अपने कर्मके द्वारा उसकी आराधना करो। माताके रूपमें, पिताके रूपमें परमेश्वर है। माता, पिता परमेश्वरका प्रतीक नहीं, परमेश्वर रूप है। शिवलिंग जगत्‌के कारणका प्रतीक नहीं स्वयं जगत् कारण परमेश्वर ही है।

शालिग्राम प्रतीक नहीं है। यह प्रतीक पूजा नहीं है। यह साक्षात् परमेश्वरकी पूजा है। माताकी पूजा, पिताकी पूजा, गुरुकी पूजा, ब्राह्मणकी पूजा, विद्वान्-की पूजा, बल्लभाचार्य तो अपने पुत्रोंकी पूजा करते थे। ये साक्षात् भगवान् हैं। परमहंस रामकृष्ण अपनी पत्नीकी पूजा करते थे। ये साक्षात् परमेश्वर हैं। हमारे एक वर्षकी कुमारी, दो वर्षकी कुमारी, तीन वर्षकी कुमारी, पाँच वर्षका बटुक, आठ वर्षका बटुक, इनकी पूजा होती है।

यह बात मैं बराबर कहता हूँ। इसलिए कहता हूँ कि आप दूसरे मजहबके जो दर्शन हैं, सिद्धान्त हैं, मत हैं, उनसे प्रभावित होकर आप भारतीय धर्मको, वैदिक धर्मको, संस्कृतिको वैसी न समझ लें। क्योंकि दूसरी भाषाके माध्यमसे और दूसरी संस्कृतिके विद्वानोंके विचारसे आप प्रभावित होकर जब ईश्वरके बारेमें सोचते हैं—हमारा ईश्वर जैसा है, हमारे वैदिक सिद्धान्तके हिसाबसे ईश्वरकी जैसी मान्यता है, उसको समझना बहुत कठिन हो जाता है। यहाँ भी नितान्त निराकारवादी ईसाई मुस्लिम संस्कृतिके प्रभावके पश्चात् ही हुए हैं। पहलेके नहीं हैं।

ईसाई, मुसलमान संस्कृतिके पहले तो जैन-संस्कृति है। उसमें मूर्तिपूजा है। बौद्ध-संस्कृतिमें मूर्तिपूजा है। पर वह मूर्तिपूजा पवित्र जीवकी पूजा है। हमारी पूजा परमेश्वरकी पूजा है। बौद्ध और जैन संस्कृतिमें ईश्वरको नहीं मानते। उनके ईश्वर नहीं है। उनके यहाँ जीवात्मा ही पवित्र होकर वीतराग, तीर्थङ्कर होता है।

अब देखो अवतार! एक भक्त रो रहा है। व्याकुल हो रहा है। आपके दर्शनके बिना हमारी आँखें नहीं मानती हैं। हमारा दिल फट रहा है। एक-एक क्षण भारी हो रहा है। हे प्रभो! मुझे दर्शन दो, दर्शन दो। भगवान्को कहींसे आना नहीं पड़ता। वे वैकुण्ठसे चलकर नहीं आते। वह पद्धति दूसरी है। वे निराकारसे साकार नहीं होते। वे तो सर्वरूपमें सर्वत्र हैं ही। वहीं अपने ऊपर जो परदा पड़ा है उसको हटा देते हैं। परदा भगवान्पर नहीं है। परदा जीवकी बुद्धिपर है। हमारी समझपर परदा है। यह हमारा ईश्वर है। ईश्वर बनाना नहीं है—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।

ध्यान-पूजा करके निर्मित नहीं करना है। वह है, **सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः**। अर्जुनकी जब आँख खुल गयी तब उसने देखा कि सब परमेश्वर है। **अमृतं चैव मृत्युश्च**—मूर्तिपूजाको समझनेके लिए, अवतारको समझनेके लिए—क्या सूर, तुलसीकी ओर एक बार ध्यान देना होगा। भगवान् साकार उनके सामने प्रकट हुए। मीराके भगवान् प्रतीकात्मक नहीं थे। गुरु चेलेकी पूजा करता है, यह बात मालूम नहीं होगी। जब दीक्षा होती है—जो विधि-पूर्वक दीक्षा होती है उसमें दीक्षा देनेके बाद जब गुरु कहता है कि जो मेरी आत्मा है, वही तुम्हारी आत्मा है। हमारे अन्दर जो परमेश्वर है, वही तुम्हारे अन्दर है। तुम भावनासे गुरुके भीतर परमेश्वर देखते हो और मैं अनुभवसे शिष्य, तुम्हारे भीतर परमेश्वरको देखता हूँ। गुरु कहता है तुम भावना करते हो, विश्वास करते हो कि गुरुमें परमेश्वर होता है और मैं अनुभवसे देख रहा हूँ कि तुम स्वयं परमेश्वर हो। चन्दन लगाते हैं, फूल चढ़ाते हैं, सिरपर हाथ रखते हैं। कहनेका अभिप्राय यह है कि **येन सर्वमिदं ततम्**। इस भगवान्को आप ज्ञानकी दृष्टिसे देख सकते हैं। अनन्य भक्तिकी दृष्टिसे देख सकते हैं।

हमारे जो प्राचीन ग्रन्थ हैं उनको समझनेके लिए शास्त्र-चक्षुकी आवश्यकता होती है। शास्त्रोंकी आँखसे हम उसको देख सकते हैं, अपने मनसे नहीं। पुस्तक पढ़ी और अपने मनसे कल्पना कर ली। आजकलके जो विचारोंके, आचारोंके और विद्वानोंके उपदेशके संस्कार हैं, वे हमारे मनमें भरे हुए हैं। उन संस्कारोंके प्रभावमें आकर हम अपनी ओरसे शास्त्रोंको देखना चाहते हैं। हम लोग जिस बोलीमें बातचीत करते हैं, दो हजार, पाँच हजार, दस हजार वर्ष पहले, उस बोलीमें बातचीत नहीं की जाती थी। तबकी बोली कुछ अलग होती थी।

मीमांसा-शास्त्रके अनुसार इस वाक्यका अर्थ कैसे करना चाहिए यह सीखना पड़ता है। व्याकरणके लिए काव्य, कोश, मीमांसा चाहिए। उसको समझना पड़ता है। कहाँ अभिधावृत्ति होती है, कहाँ व्यञ्जनावृत्ति होती है, कहाँ लक्षणावृत्ति होती है, इसे समझना पड़ता है। कोई बोलता है—अभी दो मिनटमें यह काम पूरा होता है, उसमें बीस मिनट लगता है। इस वृत्तिको नहीं समझनेके कारण कई बार काफी परेशानी खड़ी हो जाती है। मैं पूछता हूँ कि क्यों भाई! तुमने तो दो मिनट कहा था तो बोलते हैं—महाराज, लक्षणावृत्तिसे कहा था। अर्थात् दो मिनट सहित और भी कुछ मिनट। जैसे आप बोलते हैं दो ग्रास खालो। तो क्या खानेवालेको आप दो ग्रास ही खिलाना चाहते हैं। खिलाना तो चाहते हैं पेटभर पर—बोलते हैं, दो कौर। इस तरह पुरानी जो भाषा है उसको समझनेकी एक प्रक्रिया होती है। हमारे वेद, शास्त्रमें जो भाषा है, उसको थोड़े दिनोंके बाद तो समझना बहुत मुश्किल हो जायेगा। पहले आपके मकान बने होंगे—तो पुराने लोगोंने वास्तु-पूजा की होगी। मकानको देवता मानकर एक वास्तुका अधिष्ठात्री देवता होता है, उसकी पूजा होती है। अब नहीं करते होंगे। मकानमें एक देवता है जो मकानको टूटनेसे, फूटनेसे, चोरसे रक्षा करनेका काम करता है—वास्तु देवता। उसकी प्रतिष्ठा होती है। एक ग्राम देवता हुआ करते थे। सारे गाँवकी रक्षा करनेवाले होते थे। उनके लिए गाँवके बाहर बलि भी चढ़ाते थे। वह भूल गये होंगे आप लोग। ऐसे जितने भी विभाग होते हैं उसके एक-एक देवता होते हैं।

हमारे बचपनमें तो ऐसा विश्वास था। एक पेड़ था, उसके पास जाकर कहते थे—हे वृक्षके देवता! हम तुम्हें भोजनके लिए निमन्त्रित करते हैं। आज हमारे घरमें आना और जब हम भोजन करने बैठें तो हमारे अन्दर बैठकर भोजन करना। वे भोजन करते तो अत्यधिक भोजन कर लेते। आजकल लोग इस बातको मानेंगे ही नहीं। हम अन्धविश्वासकी बात आपको सुना रहे हैं। हमको जयदयाल डालमियाने बताया कि उनको एक मन्त्र बचपनमें किसीने बताया था तो उससे वे बिच्छूका विष उतारा करते थे। अब भी होते हैं बिच्छूका विष उतारनेवाले। जब १७ व १८ वर्षके हुए तो उनके मनमें आया कि जिसको बिच्छू डंक मारता है—उसको विश्वास हो जाता होगा कि इन्होंने झाड़ दिया और बिच्छूका विष उतर गया। हमने एक बार मन्त्र नहीं पढ़ा और ऐसे ही बिच्छूका विष उतारनेकी कोशिश की तो नहीं उतरा। एकके नहीं उतरा, दोके नहीं उतरता है, मन्त्रसे उतरता है। फिर जब मन्त्रका प्रयोग किया तो मन्त्रसे भी नहीं उतरता है। क्या हो गया? यह हो गया कि अविश्वास करनेसे जो मन्त्रकी शक्ति हे, उसका लोप हो गया। वह मन्त्रका देवता चला गया।

यह हम अन्धविश्वासकी बात आपको सुनाते हैं। हम स्वयं किसीको जब चमक पड़ती थी तो मन्त्र पढ़कर-एक लकड़ी होती थी—चिरी हुई, वह अपने आप चलकर सट जाया करती थी। मन्त्रका देवता काम करता था। जब हम बड़े हुए तो हमारा विश्वास उठ गया। विश्वास उठ गया तो वह लकड़ीका चलना बन्द हो गया। यह आपको इसलिए सुनाते हैं कि आपके घरमें कभी शहद गिरती हो या कभी फूल बरसते हों या कभी कोई चीज आ जाती हो तो वह परमेश्वर नहीं आते। महात्मा नहीं आता—कोई भूत, प्रेत, छोटे मोटे देवता, निम्न कोटिकी शक्तियाँ आती हैं। यह मैं इसलिए सुना रहा हूँ कि जैसे यह फूल है तो हमारी आँख देखती है और हमारी आँख है तो फूल दिखता है। हमारी आँख अध्यात्म है और फूल अधिभूत है। परन्तु इसके बीचमें कोई

देवता है, जिसका ज्ञान हमको नहीं है। अधिदेवताका ज्ञान नहीं होता। अध्यात्ममें-से अधिभूत सारा-का-सारा निकलता है। यह अध्यात्म-वादियोंका दृष्टिकोण है। अधिभूतमें-से अध्यात्म निकलता है—यह वैज्ञानिक लोगोंका दृष्टिकोण है। वेदान्तियोंका दृष्टिकोण इस सम्बन्धमें है कि मनमें-से सृष्टि निकलती है और सृष्टिसे मन बनता है। ये दोनों परस्पर सम्बन्धित हैं। किससे कौन बना है यह अनिर्वचनीय है। मनसे विश्व बना है या विश्वसे मन बना है—पहले पञ्चभूत बने कि पहले मन बना? अपनी ओरसे देखेंगे तो पहले मन बना। संसारकी ओरसे देखेंगे तो संसारसे पहले—पञ्चभूतसे पहले मन बना। यह अनिर्वचनीय होता है।

आपको संस्कार रहे केवल इसलिए सुनाते हैं। इनके बीचमें एक दैवत पक्ष है—अधिदेवता। उसको आजकलके लोग नहीं जानते। प्राचीन शास्त्रोंकी भाषामें में जो वर्णन इनका है, उसमें देवताओंका वर्णन मिलता है। इन्द्र देवता है, अग्नि देवता है, वायु देवता है—सबमें परमेश्वर होनेपर भी, देवताओंका एक विभाग है। आप सरकारको तो जानते हैं न! कितने मिनिस्टर होते हैं उसमें। सबका नाम सरकार है। एक मिनिस्टरका नाम सरकार नहीं होता। सब मिनिस्टरोंका नाम सरकार होता है। परन्तु किसीके जिम्मे कोई विभाग होता है, किसीके जिम्मे कोई विभाग होता है। सबका नाम परमेश्वर होनेपर भी अपने-अपने विभागके देवता होते हैं।

यह रूप सफेद दीखता है। दो फूल हैं। एक सफेद दीखता है, एक लाल दीखता है। क्यों? हमारी आँख एक ही है—एकको लाल, एकको सफेद क्यों देख रही है? इसमें सूर्यकी जो किरणें हैं वे इस ढंगसे दोनोंपर पड़ती हैं—इसके कारण एक फूल सफेद और एक लाल मालूम पड़ता है। हम आँख और फूलको तो जानते हैं, पर सूर्यको भूल जाते हैं। ऐसे ही हमारे कानमें भी देवता हैं—नाकमें भी होते हैं, जीभमें भी होते हैं, हाथमें भी होते हैं, पाँवमें भी होते हैं और बहुत सोच-विचारकर अनुभव करके उनका निश्चय किया हुआ है। इसलिए पितरोंकी पूजासे वंश बढ़ता है, देवताओंकी पूजासे इन्द्रियोंकी शक्ति बढ़ती है। ऋषियोंकी पूजासे ज्ञान बढ़ता है। परमेश्वरकी पूजासे समत्व, शान्तिकी प्राप्ति होती है। जब आप इस देवता पक्षको ठीक-ठीक समझ लेंगे तो गीतामें जो अगली बात कही गयी है उसको समझनेमें आपको मदद मिलेगी।

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ॥ 23॥
अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः॥ 24॥
धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते॥ 25॥
शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः॥ 26॥
नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन॥ 27॥

यहाँ है देवताका वर्णन। दो तरहकी गति होती है। जबतक कर्म है तबतक वासना है। वासनासे कर्म होता है। कर्मसे वासना होती है और कर्म वासना दोनों मिलकर भोग बनाते हैं। हमारी वासनाके अनुसार जहाँ भोग मिलता है, वहाँ जाना पड़ता है। सिनेमा देखने सिनेमा हॉलमें जाते हैं। भोजन करनेके लिए होटलमें आते हैं। क्यों? दो जगह क्यों जाते हैं? सिनेमा देखनेकी वासना है, आप उसका पैसा देते हैं, वहाँ जाकर देखते हैं। भोजनकी वासना है तो भोजनका पैसा देते हैं, होटलमें जाकर भोजन करते हैं। वासनाके कारण ही तो दो जगह जाते हैं न! शरीरका उतना महत्त्व नहीं है, जितना महत्त्व मनका होता है। अभी आने-जानेकी वासना है—तो एक शुक्लमार्ग है, एक कृष्णमार्ग है। अग्नि देवता है, ज्योति देवता है, अहर् देवता है। इनका राज्य होता है। आप जानते हैं यह जो बिजली जलती है, यह बिना रङ्गकी रोशनी नहीं होती और अग्निमें भी—जिस लकड़ीमें, जिस कोयलेमें आप आग जलाते हैं उसका धूँआ मिश्रित रहता है। वह शुद्ध रोशनी नहीं रहती है। सूर्यकी रोशनीमें कोई रङ्ग नहीं होता। रोशनी है, रङ्ग नहीं। वह सूर्यकी रोशनी। अग्निका क्षेत्र एक है। उसमें कुछ मलिनता है। उसके पश्चात् ज्योतिका—भौगोलिक क्षेत्र है—आकाशमें एक क्षेत्र है, दिशामें एक क्षेत्र है। फिर शुक्ल देवताका क्षेत्र है। जैसे कोई अग्निमें जला, ज्योतिसे एक हुआ। दिनके देवताके पास गया पर दिन तो बारह घण्टेका होता है। फिर पन्द्रह दिनवाले देवताके क्षेत्रमें गया। फिर उत्तरायणवाले क्षेत्रके देवतामें गया। एकसे दूसरा अत्यन्त निर्मल उज्ज्वल होता है और धीरे-धीरे वह ब्रह्मलोकमें पहुँचता है। ब्रह्मलोकमें जानेपर भी **आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन**। यदि संसारकी वासना नहीं होगी तो लौटना नहीं पड़ेगा। ब्रह्मलोकसे वासना होनेपर लौट भी सकते हैं और निर्वासन होनेपर ब्रह्माके साथ मुक्त भी हो सकते हैं। जब ब्रह्माकी मुक्ति होगी तब आपकी भी मुक्ति हो जावेगी। अब यह गतिका बाध है।

श्रीमद्भागवतमें इसका वर्णन है। एक व्यक्ति है, वह जीवनभर ध्यान करता रहा। मरनेके समय उसने सिद्धासन किया और एड़ी लगायी अपनी सिवनीमें और अपने प्राणोंको ऊपर खींचा और खींचते-खींचते, धीरे-धीरे, मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहद, विशुद्ध-आज्ञा, सहस्रारके क्रमसे ऊपर उठा और सिरके बाहर निकल गया और फिर वह अग्नि, ज्योति, अहर् आदि क्रमसे ब्रह्मलोकमें गया। सैर सपाटा करते हुए, मुक्त होनेकी रुचि थी। पर जब वह ब्रह्मलोकमें गया तो देखने लगा—वहाँ जरा नहीं, बुढ़ापा नहीं, वहाँ मृत्यु नहीं है। वहाँ वियोग नहीं हैं। वहाँ इन्द्रियोंमें असमर्थता नहीं है, सब देखा उसने। देखते-देखते एक खिड़कीके पास गया। भागवतमें यह वर्णन है। वह क्या देख रहा है? बोले—मर्त्यलोक। जरा दूरबीन लाओ—देखें यहाँसे मर्त्यलोक कैसा दीखता है? उसने देखा मर्त्यलोकमें संसारके लोग बड़े दुःखी। वह तो दुःखको ही सुख माने हुए हैं। अज्ञानको ही ज्ञान मानते हैं। जन्मने-मरनेको ही बहुत बड़ी चीज-मानते। वहाँसे दीखने लगा। उसके मनमें बड़ी पीड़ा हुई। वह दुःखी हो गया। दूसरे स्कन्धके दूसरे अध्यायमें यह प्रसङ्ग है।

यच्चित्ततोऽदः कृपयानिदंविदां दुरन्तदुःखप्रभवानुदर्शनात्। श्रीमद्भा॰ 2.2.27

वहाँसे देखा लोग दुःखी हो रहे हैं। लोग मर रहे हैं, लोग छटपटा रहे हैं। वहाँ से देखा—उसने कहा हमको ब्रह्मलोक नहीं चाहिए। हम मुक्त नहीं होना चाहते हैं। तब क्या चाहते हो? हम धरतीमें जाकर सबका

दुःख दूर करना चाहते हैं। वह ब्रह्मलोकसे कूद पड़ा। परन्तु जब धरतीपर आया तो न तो उसके शरीरका व्यक्तित्व था और न तो मनका व्यक्तित्व था। क्योंकि वहाँसे उसने देखी थी सारी धरती। वह आकर धरतीसे एक हो गया। सारी धरती-धरतीमें जितने पशु हैं, पक्षी हैं, वृक्ष हैं—सब मैं हूँ, इस अनुभवमें डूब गया। वहाँसे उठा तो मैं अन्न हूँ—इस अनुभवमें डूब गया। वहाँसे उठा तो मैं तेज हूँ—इस अनुभवमें डूब गया। वहाँसे उठा तो मैं वायु हूँ—इस अनुभवमें डूब गया। उसके बाद—मैं आकाश हूँ—इस अनुभवमें डूब गया। मुक्त होनेके स्थानको प्राप्त करनेके बाद भी वहाँसे दयालु पुरुष आना ही चाहते हैं। भागवतमें ही एक कथा है।

प्रसंगवश कह देता हूँ—रन्तिदेवकी। उनके पास राज्य था। चक्रवर्ती सम्राट थे। उनके पास धन था। उनकी प्रजाका पालन-पोषण होता था। उनके खजानेमें बहुत धन था। परन्तु वे कहते थे कि खजानेमें जो हैं, वह तो प्रजासे कर वसूल करके आया है। तो वह तो प्रजाके हितके लिए है। दुष्टोंको जुर्माना करके आया है वह भी लोक हितके लिए है, दुष्टोंका शिष्ट बनानेके लिए है। वह तो मेरा है नहीं। मैं तो अपने हाथसे परिश्रम करके—अपनी कमाई करके खाऊँगा। यह था उनका संकल्प। अड़तालीस दिन तक भोजन नहीं मिला। जब आदमी कोई नियम लेता है, व्रत लेता है तब उसको कष्ट सहनेकी भी शक्ति होनी चाहिए। आपने एकादशी की, किसीने मिठाई सामने लाकर रख दिया। हलवा पूरी रख दिया—बोले भाई-एकादशी तो अगले पक्षमें फिर आजायेगी। आज हलवा पूरी खा लें। जो त्यागके लिए तत्पर नहीं, वह किसी व्रतका, नियमका, संकल्पका पालन नहीं कर सकता। व्रतके पालनके लिए तो कष्ट उठाना ही पड़ता है। कष्ट उठाया। बना-बनाया भोजन अतिथिको दे दिया। जो बचा-खुचा था वह भी दे दिया। जो पानी बचा था वह भी एक कसाईको दे दिया। पुलकस-कसाई और भगवान्‌से प्रार्थना की—ब्रह्मा, विष्णु, महेश उसके सामने आये। बोला हमको ब्रह्मा, विष्णु, महेश नहीं चाहिए।

न कामयेऽहं गतिमीश्वरात्परामष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा।
आर्तिं प्रपद्येऽखिलदेहभाजामन्तःस्थितो येन भवन्त्यदुःखाः॥

—श्रीमद्भा 9.21.12

मुझे परा गति नहीं चाहिए—अष्टसिद्धि नहीं चाहिए। हमको मोक्ष नहीं चाहिए—हम चाहते हैं कि हम सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदयमें निवास करें। भगवान्‌ने कहा—हम पहलेसे मौजूद हैं—तुम क्या करोगे? बोले—महाराज आप रहते तो हैं, मगर टुकर-टुकर देखते रहते हैं। आप ऐसा कीजिए—मैं आपको भी दुःख देना नहीं चाहता। आप देखते रहिये और प्राणियोंका सुख भी नहीं लेना चाहता। उनके पास जो सुख है उससे वे सुखी रहें और आप देखते रहिये। तब संसारमें जितने प्राणी हैं, उनका सबका दुःख मैं अकेले भोगता रहूँ। सबके हृदयमें रहकर मैं सबका दुःख ले लूँ और संसारके सब जीव अदुःख हो जायँ। यह होता है महात्माओंका चित्त। इसके लिए वे मोक्षका भी तिरस्कार करते हैं।

दूसरी गति होती है—उसको काली गति बोलते हैं—

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।

धूँएँका देवता उठाकर ले जाता है, वह रातके देवताको दे देता है, फिर वह कृष्ण पक्षके देवताको देता है। वह देवता दक्षिणायनको देता है और चन्द्रमामें थोड़ा-सा अन्धकार रहता है। इसलिए अन्धकारके सम्बन्धसे चान्द्रमस् ज्योति माने मनोज्योतिको हम प्राप्त होते हैं। बुद्धिका पर्यवसान होता है सूर्यमें और मनका पर्यवसान होता है चन्द्रमामें। मनके देवता चन्द्रमा हैं और बुद्धिके देवता सूर्य हैं। **धियो यो नः प्रचोदयात्।** बुद्धिके देवतामें प्रकाशरूप सूर्य और मनके देवता हैं अह्लादरूप चन्द्र। मनके देवता चन्द्रमा कैसे हैं? अन्नसे मन बनता है, परन्तु अन्न बनता है—चन्द्रमाकी रश्मियोंसे जो अमृत बरसता है उससे। अन्नको अन्न बनानेवाला है चन्द्रमा। वही अन्न खानेसे हमारा मन बनता है। इसलिए मनका देवता चन्द्रमा है, मनका प्रेरक चन्द्रमा है। प्यार-आह्लाद उसका स्वरूप है। चन्द्रमाकी ज्योति प्राप्त होनेपर वासनाएँ रहती हैं और फिर वासनाओंके कारण संसारमें लौट आना पड़ता है। **शुक्लकृष्णे गती ह्येते।** एक काली गति है और एक शुक्ल—श्वेतगति है। यह हमेशासे होती आयी है। एक मुक्तिका मार्ग है, और एक पुनर्जन्मका। अब इस गतिके बारेमें करना क्या है? एक ऐसा रास्ता बना रहा हूँ जिससे आप कभी गये नहीं। आप गये भी तो याद नहीं। ऐसी हालतमें मेरे वर्णनपर विश्वास करना पड़ेगा। यह मार्ग जाने-आनेके लिए नहीं है। आप नक्शा ले लें और मोटर चलाते हुए इसपर चले जायें ऐसा नहीं है। यह समझनेके लिए है। इसका उपयोग इसी जीवनमें है।

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन। ८.२७

इस रास्तेको सिर्फ समझ लीजिये। 'सृती' माने मार्ग—जिसपर हम सरकते हैं। जैसे सड़क है। लोग पूछते हैं—यह सड़क कहाँ जाती है? बोले सड़क तो कहीं जाती नहीं, पड़ी हुई है। सड़क जाती है, माने क्या? आपने विचार किया होगा? यह है **जहत्लक्षणा**। वेदान्तमें इसका यह नाम है। **जहत्लक्षणा** माने आप सड़कको छोड़कर सड़कसे सम्बन्ध रखनेवाले, उसपर जाने-आनेवाले, चलनेवालोंपर ध्यान दीजिये कि वे सड़कसे कहाँ जाते हैं, कहाँसे आते हैं? बिहारमें तो 'सरक' ही बोलते हैं। जिसपर सब लोग सरकते हैं—आगेको। सरकते हैं—संस्कृत शब्द हो गया—'**सृती सरनी-सरक। नैते सृति पार्थ।**'

वासनावान् पुरुषका जाना-आना होता है। निर्वासन ब्रह्मलोकमें जाकर ब्रह्माके साथ मुक्त होता है। अब आप बतावें, आप यहाँ मुक्त हो सकते हैं या नहीं? जब परमेश्वर यहीं है, तब आप जाते-आते रहें, मुक्तिके लिए इसकी जरूरत नहीं। आप कहीं जाकर मुक्त हों इसकी भी जरूरत नहीं। यह पक्का समझिये, यदि आप जानेका संकल्प करेंगे तो जाना पड़ेगा। वासना होगी, जाना पड़ेगा। निर्वासन होंगे—यहीं, तत्त्वका इसी जीवनमें साक्षात्कार होगा।

आप इस जन्म-मृत्युके संसारमें रहिये। इस वेद-निर्मित मार्गको समझिये। शास्त्र-दृष्टिसे देखिये। आप इनके द्रष्टा हैं, द्रष्टा ब्रह्म होता है। आप साक्षात् परमात्मा हैं। भागवतमें इसको बहुत स्पष्ट करके बताया है। गीताकी व्याख्या है यह भागवतमें—

आदावन्ते जनानां सद् बहिरन्तः परावरम्।
ज्ञानं ज्ञेयं वचो वाच्यं तमोज्योतिस्त्वयं स्वयम्॥ श्रीमद्भागवत 7.15.57

वेदकी दृष्टिसे ये दो मार्ग हैं। इन्हें यहीं रहते-रहते शास्त्र-दृष्टिसे जान लीजिये। फिर आप संसारमें मोहित नहीं होंगे। ऐसा करेंगे तो जाने-आनेवाले मार्गमें भटकना नहीं पड़ेगा? बड़ी लम्बी यात्रा नहीं करनी होगी। यात्रा करनेपर जो चीज मिलती है, वह यहीं मौजूद है। यह जो जन है, संसार है—इसके आदिमें, अन्तमें जो सत् है, अकारके आरोपसे विनिर्मुक्त—जो बाहर-भीतर है, जो कारण, कार्य है, ज्ञान, ज्ञेय, वचन, वाच्य, प्रकाश है, अन्धकार है वह कौन है? **अयं स्वयं**—यह ज्ञानी, तत्त्वज्ञ पुरुष, वह स्वयं ही सब है। उसके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है।

श्रीकृष्ण भगवान्ने आठवें अध्यायका उपसंहार किया। कहते हैं इसका अभिप्राय परलोकमें जाना-आना नहीं है। परलोकमें जाने-आनेका मार्ग बताना नहीं है। जिस कारणसे जाना-आना पड़ता है, उस कारणसे विरक्त होकर आप इन दोनोंको जानिये और अपने आपको जान लीजिये। इसलिए—

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव
दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्॥ 8.28

वेदके स्वाध्यायसे जो फल होता है, वेदका स्वाध्याय पूर्ण होनेपर जिस फलकी प्राप्ति होती है। वेदमें जो करनेको कहा गया है—**यज्ञेषु**—वह यज्ञ करनेपर जो फल प्राप्त होता हे, वेदमें तपस्याका भी वर्णन है। तपस्यासे क्या नहीं मिलता? सब कुछ मिलता है। जो तपस्यासे मिलता है, जो दान करनेसे मिलता है—**इदं विदित्वा तत्सर्वं अत्येति**। यदि आप इस दोनों मार्गके रहस्यको समझ जायँ तो आप दोनोंका अतिक्रमण कर जाते हैं। आपको बार-बार आना-जाना नहीं पड़ेगा। जाकर मुक्त नहीं होना पड़ेगा। **तमेव विद्वान् अमृत इव भवति। इह अमृत भवति**। इसी जीवनमें आप अमृतत्वको प्राप्त कर लेंगे।

किसीको जेलमें बन्द कर दिया—इसीमें घूमो। यह एक गति है। इसमें बार-बार आओ-जाओ। एकको बोल दिया, इस देशसे निकलकर जब दूसरे देशमें चले जाओगे, यहाँसे भाग जाओगे—हवाई जहाजपर चढ़कर, चुपचाप या सूचना देकर, किसी दूसरे देशमें, तुब तुम्हें इससे छुटकारा मिलेगा—स्वतन्त्रता मिलेगी। इस जेलमें तुम स्वतन्त्र हो यह दूसरी बात और इस जेलसे निकलनेके बाद तुमको स्वतन्त्रता मिलेगी वह दूसरी बात। नहीं बाबा, न इस जेलमें रहकर घूमना है और न जेलमें बाहर जाकर स्वतन्त्र होना है। **इदं विदित्वा तत्सर्वं अत्येति**। इस रहस्यको आप जान लो।

यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्।

जिनके भीतर ये सारे प्राणी हैं, और जो **मया ततमिदं सर्वम्** अद्भुत है यहीं-यहीं—अभी इसी रूपमें—अपने आत्माका, अपना स्वरूप क्या है, इसे जान लो—आप आदि स्थानको प्राप्त करोगे। आदि स्थान क्या होता है? आपने सुना होगा कि किसीने पूछा सृष्टि पहले पहल कहाँ हुई? तो कानपुरके पास एक स्थान है विठूर। वहाँ ले जाकर एकने बताया—यह सृष्टिका आदि स्थान है। किसीने कहा—यहाँ नहीं है। कहाँ है? बोले

ऊपरकी ओर है। वैकुण्ठसे सृष्टि प्रारम्भ हुई। ब्रह्मलोकसे शुरू हुई। गोलोकसे हुई। वह बात भी सच्ची है। पर गोलोक क्या है? वैकुण्ठलोक क्या है? ब्रह्मलोक क्या है? उसको भी जानना पड़ता है। वह अपने आप किताब पढ़कर नहीं मालूम पड़ता। उसका अनुभव होता है।

आदि स्थानका अनुभव होता है। आप अपने जाग्रत्‌की आदि जानते हैं? आप प्रतिदिन जागते हैं सोकर। आपके जागनेकी आदि कहाँ है? जहाँ सोते हैं वहीं जागनेकी आदि है। और जहाँ जागना होता है वहीं सोना है। दोनों एक ही स्थानपर है। जहाँ सृष्टि है वहीं सोना है। दोनों एक ही स्थानपर है। जहाँ सृष्टि है वहीं प्रलय है। जहाँ प्रलय है, वहीं सृष्टि है। आप अपने मनका आदि देखो—कहाँ है?

स्वप्नान्तं जागृतान्तं चोभौ येनानुपश्यन्ती।

जब आपका स्वप्न टूटता है तो आप उस टूटते हुए स्वप्नको देखते हैं। जब आपके जाग्रत्‌का अन्त होता है, नींद आने लगती है, तब आप जाग्रत्‌के अन्तको देखते हैं। सृष्टि, प्रलय कहाँ है? जहाँ जाग्रत्‌की आदि है, वहाँ सृष्टिकी आदि है। जहाँ जाग्रत्‌का अन्त है, वहाँ सृष्टिका अन्त है। माने सृष्टिका आदि, अन्त आपमें ही है।

योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्।

भूगोल आपको कब मालूम पड़ता है? पूरब, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण कब मालूम पड़ता हैं? रात-दित, पहले-पीछे, कब मालूम पड़ता है? यह माँ-बाप है और यह बेटा-बेटी है, यह कब मालूम पड़ता है? कहाँसे मालूम पड़ता है? किसको मालूम पड़ता है? वह देशका आदि है, वह कालका आदि है। वह द्रव्यका आदि है और जब महावाक्य उसको बताता है कि तुम जब कालके आदि हो, तो तुम्हारी उम्र कहाँसे आरम्भ होगी? जब देशके आदि हो तो तुम छोटे-बड़े कैसे? जब तुम वस्तुके आदि हो तो वस्तुके अत्यन्ताभावके भी आदि हो। तुममें यह वस्तु कहाँसे आयी? साक्षात परब्रंह्म परमात्मा होनेका अर्थ यह नहीं होता कि आप समाधि लगाकर बन्द कमरेंमें बैठ जायँ। हिमालयमें भाग जायँ। वैकुण्ठमें उड़ जायँ। मुक्त होनेका अर्थ इस धरतीको छोड़कर ऊपर उड़ना नहीं। कहीं कोनेमें भागना नहीं। कहीं भीतर घुसकर छिपना नहीं। मुक्त होनेका अर्थ है—

सर्वथा वर्तमाननोऽपि स योगी मयि वर्तते।

यह श्लोक आपने गीतामें पढ़ा होगा। सर्वथाका दो बार प्रयोग आया है। **सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते**—हँसते, खेलते काम करते, युद्ध भूमिमें तीर चलाते हुए, खेती करते हुए, व्यापार करते हुए, समाजकी सेवा करते हुए। लोककल्याण करते हुए आत्मकल्याण कीजिये। चाहे जैसे हो—गीताके वेदान्तका वैलक्षण्य देखिये। वेदमें यह बात बतायी गयी—यदि आप यज्ञ-याग आदि करेंगे, स्वर्ग-कामनासे नहीं, पशु-कामनासे नहीं, धन-कामनासे नहीं, निष्काम होकर तो तुम्हारा अन्तःकरण शुद्ध होगा। परमात्माकी प्राप्ति होगी। गीताने एक अपूर्व बात कही; केवल यज्ञयाग नहीं, आप लौकिक कर्म भी करो परन्तु लौकिक कर्म आप शुद्ध भावसे करो। शास्त्रोक्त रीतिसे करो। इससे भी आपका अन्तःकरण शुद्ध होगा। तत्त्वज्ञान होगा।

जहाँ उपनिषदोंने इस बातपर जोर दिया कि तत्त्वज्ञान होनेके पश्चात् आपको निवृत्ति-परायण संन्यासी होकर रहना चाहिए। वहाँ गीताने कहा कि तत्त्वज्ञान होनेके बाद आप युद्ध भी कर सकते हैं। आप चाहें तो

दत्तात्रेयकी तरह रहें। चाहें तो शुकदेवकी तरह रहें। चाहें तो वसिष्ठकी तरह रहें। जनककी तरह रहें। कृष्णकी तरह रहें। अश्वपतिकी तरह रहें। जनककी तरह रहें। कृष्णकी तरह रहें। रामकी तरह रहें। तत्त्वज्ञान होनेके पश्चात् संन्यासी होकर रहना ही आवश्यक नहीं है। आप किसी स्थितिमें रह सकते हैं। अन्तःकरणकी शुद्धिके लिए यज्ञ-यागादि कर्म ही आवश्यक नहीं हैं। आप अपने लौकिक कर्म करते हुए भी अन्तःकरणको शुद्ध कर सकते हैं।

प्रत्येक ग्रन्थमें एक अपूर्वता होती है, माने जो पहले ग्रन्थोंमें बात नहीं कही गयी, उसे जाहिर करनेके लिए प्रत्येक ग्रन्थ होता है। उपक्रम, उपसंहारकी एकता, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद और उपपत्ति इन छः बातोंसे ग्रन्थके तात्पर्यका निर्णय होता है। जो बात प्राचीन ग्रन्थोंमें ही स्पष्ट कह दी गयी है, उसको दुहरानेके लिए गीता-निर्माण करनेकी कोई प्रयोजनीयता नहीं थी। एक ऐसी बात कहें, जो है तो पुराने ग्रन्थोंमें, वेदोंमें भी है, उपनिषदोंमें भी है, शास्त्रोंमें है परन्तु आज साफ-साफ मालूम नहीं पड़ती है। उसको साफ-साफ मालूम करनेके लिए गीता बोली गयी और गीताकी ये दो विशेषताएँ आप देख लें। यह अरण्यमें, वनमें, पहाड़में, गंगा किनारे बैठकर या एक त्यागी, विरक्त जिज्ञासुके लिए नहीं बोली गयी। युद्धभूमिमें, अपने स्वधर्म-पालन करनेके लिए उद्यत किन्तु उसमें प्रतिबन्ध आजानेके कारण, जब अर्जुन युद्धसे विमुख हुआ, तो 'अपने कर्तव्यपालनके द्वारा अन्तःकरण शुद्ध करे'—यह उपदेश करनेके लिए और यह तत्त्वज्ञान होनेपर फिर युद्धभूमिमें—'करो युद्ध'—**मामनुस्मर युद्ध्य च।**

अर्जुनने अन्तमें कहा—**करिष्ये वचनं तव।** आपकी आज्ञा स्वीकार है।

यत्र योगेश्वरः कृष्ण यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥ 18.78

यह देखो गीताका फल क्या है? यह नहीं है कि त्याग है, समाधि है, हिमालय है, वैकुण्ठ है, गोलोक है। इसका फल है—तत्र श्री—लक्ष्मी, विजय, अचल सम्पत्ति, अडिग नीति। यह गीताकी अपूर्वता है।

आप लोगोंने जो इतना प्रेम दिया—इतने प्रेमसे सुना, आपका प्रेम, आपकी जिज्ञासा हमारे हृदयमें बैठकर बोलती है। आपका बोलना है, आपका सुनना है—हमको आपने इसका निमित्त बनाया। इसके लिए हम आपके बहुत-बहुत कृतज्ञ हैं—आभारी हैं—आपने हमको इस उत्तम कर्मका आश्रय बनाया और यह प्रवचन सम्पन्न हुआ।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

•

गीता-दर्शन

(6)

गीता अध्याय - 9

स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

संकलनकर्त्री

श्रीमती सरला बसन्तकुमार बिरला

शुभाशीर्वाद

विरला-परिवारका मानवताकी सेवामें विशेष योग रहा है। इसके द्वारा भारत वर्षके सर्वतोमुखी विकासमें प्रशंसनीय सहायता प्राप्त हुई है। ईश्वर-भक्ति, धर्म, दरिद्रनारायणकी उन्नति, विद्या, उद्योग, राष्ट्रीय स्वतन्त्रता एवं आध्यात्मिक प्रचार-प्रसारमें इसकी सेवा अनुपम है।

श्रीघनश्यामदास बिरलाके पुत्र एवं पुत्रवधू श्रीमती सरला बसन्तकुमार बिरला अनेक वर्षों से कलकत्तामें एवं अन्यत्र भी गीता, उपनिषद् आदिपर प्रवचनका आयोजन करते रहे हैं। उनमें देश-विदेशके अध्यात्मप्रेमी एवं विद्वान्, व्यापारी विविध प्रकारके सम्मान्य वर्ग लाभ उठाता रहा है। उनका रिकार्ड कर लिया जाता है। उनसे तीन खण्डोंका संकलन एवं संपादन श्रीमती सतीशबाला महेन्द्रलाल जेठीने बड़े प्रेम एवं लगनसे किया है।

अब चतुर्थ एवं पञ्चम खण्ड प्रकाशित हो रहे हैं। इनका संकलन श्रीमती सरला बिरलाने बड़े मनोयोगसे किया है। उसी प्रकार छठाँ भाग उन्हींके परिश्रमसे तैयार हुआ है। आपको ज्ञात होगा कि एक घण्टेका प्रवचन संग्रह करनेमें छः-सात घण्टे लग जाते हैं। प्रतिदिन प्रातःकाल प्रवचन सुनना, दिनभर आतिथ्य-सत्कार एवं घरकी देखभाल करना सायंकाल पुनः प्रवचनका आयोजन एवं श्रवण करना तथा साथ ही साथ रातमें छः-सात घण्टे प्रवचन लिखना अत्यन्त परिश्रमसाध्य कठिन कार्य है। यह बिना सच्ची लगन एवं प्रेमके नहीं हो सकता। जब हम प्रातःकाल प्रवचन करनेके लिए विरला पार्क पहुँचते तो पहले दिनका किया हुआ प्रवचन लिखित रूपमें हमारे हाथोंमें आजाता। उनके परिश्रम, लगन, शीलस्वभाव एवं गरीबोंकी सेवा की जो नैसर्गिक रुचि है उसकी जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है।

हम हृदयसे आशीर्वाद देते हैं कि वे दीर्घकालतक सपरिवार स्वस्थ प्रसन्न रहकर मानवताकी विशिष्ट सेवा करती रहें।

शेष भगवत्कृपा।

दीपावली
का.कृ.चतुर्दशी
सं. 2037
7-11-80

अखण्डानन्द सरस्वती

गीता अध्याय - 9

प्रवचन : 1

श्रीभगवानुवाच

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥ 1॥
राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्॥ 2॥

अब पहले एक बात देखें। यह जो तत्त्वज्ञानकी—ज्ञानकी, विज्ञानकी चर्चा की जाती है—श्रवण-उपदेश होता है वह अरण्य-भूमिमें होता है। अरण्यभूमि अर्थात् पर्वतोंकी तलहटी, गंगातट। यह गीताका उपदेश रणभूमिमें हो रहा है। यह तत्त्वज्ञान अरण्य-भूमिमें-से उठाकर रणभूमिमें लाया गया है। अर्थात् जीवन-संघर्षमें जो काम आये वही उत्तम ज्ञान। 'प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते'—नगाड़े बज रहे हैं। घोड़े हिनहिना रहे हैं। हाथी चिग्घाड़ रहे हैं। वहाँ यह ज्ञान प्रकट हो रहा है। आपके जीवनमें कितना भी कोलाहल हो और कितना भी संघर्ष हो, यह ज्ञान वहाँ काममें आनेके लिए है। न गंगातट है, न हिमालय है और न कोई नैमिषारण्य है।

दूसरी बातपर ध्यान दें। यह कि हमेशा वक्ता श्रेष्ठ होता है और श्रोताको नीचे बैठना पड़ता है। परन्तु गीताका श्रोता रथी है और वक्ता सारथि है। सारथि तो ड्राइवरकी तरह है और रथी मालिककी तरह। जीवात्मा यदि रथी है तो बुद्धि सारथि है। 'बुद्धिं तु सारथिं विद्धि।' यहाँ तो जो शिष्य है वह बड़ा है और जो गुरु है वह छोटा है। बुद्धि जीवात्माके अधीन होती है। श्रीकृष्ण अर्जुनके अधीन सारथि हैं—सारथि माने सहायक। 'अग्नेर्वायुः सारथिः।' अग्निका सारथि वायु है। यहाँ छोटा-बड़ेको उपदेश कर रहा है। इसका अर्थ है—'बालादपि सुभाषितम्।' यदि बच्चा भी कोई अच्छी बात कहे—नौकर भी अच्छा उपदेश करे तो उसे श्रवण करना चाहिए।

तीसरी बातपर आप ध्यान दें कि हमारे पूर्वमीमांसकोंने यज्ञशालामें धर्मकी प्रतिष्ठा कर दी। वेदके, शास्त्रके आदेशमें प्राप्त जो कर्मकाण्ड है, जिससे स्वर्ग-मोक्षरूप फलकी प्राप्ति होती है, वह था धर्म। गीता हमारे जीवनके प्रत्येक कार्यमें धर्मकी प्राण-प्रतिष्ठा करती है। व्यापारमें गीताको लीजिये। अपने सेवाकार्यमें गीताको लीजिये। व्यवहारमें गीताको लीजिये। यह धर्मको जन-जनमें, मन-मनमें, घर-घरमें प्रतिष्ठित करनेके लिए है। पूर्व मीमांसाके आधारपर विद्वज्जन धर्मका निरूपण करते हैं। पूर्वमीमांसामें सत्त्व-रज-तमके आधारपर धर्मका निरूपण नहीं है। वहाँ अधिकारी-भेदसे धर्म निरूपित है। यहाँ सत्त्व, रज और तमके विभागसे धर्मका निरूपण होता है। यहाँ कोई संन्यासी ज्ञानका वक्ता नहीं है और न कोई संन्यासी, ब्रह्मचारी श्रोता है—दोनों ही

गृहस्थ हैं। श्रीकृष्ण भी गृहस्थ हैं अर्जुन भी गृहस्थ है और यज्ञशालाके धर्मका फल है वह स्वर्गमें जानेपर मिलता है तथा जो विधिपूर्वक लौकिक दृष्टिसे किया जाता है जैसे पुत्रेष्टि, उसका फल इस लोकमें भी मिलता है। परन्तु गीताका जो फल है वह दृश्य फल ही है। माने इसी समय अन्त:करण शुद्ध होता है। अन्त:करणकी शुद्धि है दृश्य फल। हमारा वेदान्त मरनेके बाद स्वर्ग पानेके लिए नहीं है। वह तो इसी जीवनमें हमको राग-द्वेषसे जीवन्मुक्त करनेके लिए है। अब नवें अध्यायपर विचार करें।

नवें अध्यायका प्रारम्भ ही यह कहता है कि आठवें अध्यायमें जो बात कही गयी है उससे यह विलक्षण है। 'इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे'—'तु'का प्रयोग अर्थात् अबतक जो बात कही सो कही—पर यह तो मैं तुम्हें गुह्यतम बात कह रहा हूँ। कोई धर्मका रहस्य बताना हो तो उसे गुह्य कहते हैं और उपासनाका रहस्य बताना हो तो गुह्यतर बोलते हैं और तत्त्वज्ञानका रहस्य बताना हो तो उसको गुह्यतम कहते हैं। 15 वें अध्यायके अन्तमें—

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत॥ 15.20

वह गुह्यतम शास्त्र क्या है? यह नहीं बताया कि इसके मिलनेसे तुम्हें स्वर्ग मिलेगा या बैकुण्ठ मिलेगा अथवा मरनेके बाद मुक्ति होगी। 'एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्'—इसको यदि तुम समझ लो तो बुद्धिमान हो जाओगे और 'कृतकृत्यश्च भारत'—करनेके बादका फलादेश नहीं है—इसी जीवनमें कृतकृत्य हो जाओगे। 'कृतकृत्यता'—अर्थात् सारे कर्तव्य तुम्हारे पूरे हो गये और सारे ज्ञान तुमको प्राप्त हो गये। 'इदं तु'—आठवें अध्यायमें जो बात कही गयी—दक्षिणायन-उत्तरायण-देवयान-पितृयानका उपदेश। साधना करनेके बाद—मरणोत्तर गति कैसी होती है? और 'इदं तु'—यह तो उससे विलक्षण है। विलक्षण अर्थात् जो लक्षण आठवें अध्यायका है वह लक्षण नवें अध्यायका नहीं है। इसके लक्षण ही दूसरे हैं। गाँवमें जैसे कहते हैं—भाई इनके लक्षण दूसरे हैं। इसी तरह इस नवें अध्यायके लक्षण ही कुछ दूसरे हैं। 'गुह्यतमं प्रवक्ष्यामि'। गीतामें गुह्य शब्दका प्रयोग है, गुह्यतर शब्दका भी प्रयोग है। गुह्यतम शब्दका भी प्रयोग है और सर्व गुह्यतम शब्दका भी प्रयोग है।

अब यहाँ गुह्यतम अर्थात् गोपनीय—छिपाने योग्य। आप इसे जाहिर करके मत रहिये। जैसे आप किसीसे प्रेमका व्यवहार बाहरसे करते हैं और भीतरसे असंग हैं। तब अपनी उदासीनताको प्रकट मत कीजिये। यह मत कहिये कि मैं तुमसे प्रेमका व्यवहार तो करता हूँ, परन्तु मैं असंग हूँ। अपनी असंगताको गुप्त रखकर प्रेमका व्यवहार कीजिये। भीतरसे असंग रहकर भी बाहरसे व्यवहारमें किसी प्रकारकी त्रुटि न हो। असंग व्यवहारकी यह गुप्त बात हो गयी। आप धन कमाइये, पूरी लगनसे कमाइये—परन्तु कहीं थोड़ी घटी-बढ़ी, हानि-लाभ हो तो उसमें दु:खी मत हो जाइये। आगे बढ़िये, परन्तु यह बात गुप्त रखिये। यदि आप अपने कर्मचारियोंमें कहने लगेंगे कि हम तो हानि-लाभमें समान हैं तो आपका काम ठीक नहीं चलेगा। भीतरसे असंग रहिये और बाहरसे अपना व्यवहार बिलकुल ठीक-ठीक कीजिये। एवं गुह्यतम बात बता रहे हैं, आप व्यापारमें ऐसी आसक्ति रखेंगे कि हमको तो लाभ ही लाभ हो तो जब कभी हानि होगी तो दु:खी हो जायेंगे और मनमें हानि और लाभका समान मानकर काम करते रहेंगे तो कभी हानि होगी, कभी लाभ होगा। गुप्त

रखनेकी बात यह है कि अपनी जो समता है उसे बाजारमें फेंकते हुए मत रहिये। आपके हृदयमें एक गुप्त धन रहना चाहिए। वही गुप्त धन भगवान् अर्जुनको दे रहे हैं।

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्यामि।

प्राय: अन्य स्थानोंमें 'वक्ष्यामि' शब्द काममें आया है, यहाँ 'प्र' उपसर्ग लगा है अर्थात् प्रकृष्ट। वचनमें प्रकृष्टता है और एक विशेष अधिकारीके लिए कहा गया है। 'ते तुभ्यं'—किसको कह रहे हैं? अपने प्यारे अर्जुनको कह रहे हैं—'ते' माने अत्यन्त प्रिय विशिष्ट व्यक्तिको सुना रहे हैं। यह बात सबसे कहने लायक नहीं है। जो अपना प्रिय हो उसको बतानी चाहिए। 'प्रवक्ष्यामि'—वह विशेषता अर्जुनमें क्या है? वह हमारे जीवनमें भी आनी चाहिए। वह है 'अनसूयवे'।

वेदमें एक मन्त्र है, उसका अर्थ है—'हे ब्राह्मण! मेरी रक्षा करना; क्योंकि मैं तुम्हारी निधि हूँ। असूयकाय—जो गुणमें दोष निकालनेवाला है और जो ऋजु नहीं है नम्र नहीं है—सरल नहीं है उसको यह मत बताना।' विद्यामें बल कब आयेगा जब वह दोषदर्शीको न बतायी जाय। हम कभी कुछ लिखाते होते हैं और लिखनेवाला बीचमें टोक दे तो उसका उत्तर सोचनेके लिए बुद्धि वहाँ चली जाती है। जो विचारकी धारा बहती है वह विच्छिन्न हो जाती है। हम कहते हैं—भाई, बोलनेमें जो गलती हो वह बादमें पूछ लेना कि यह हमको ठीक नहीं मालूम पड़ा, पर बीचमें मत रोकना। 'गुणेषु दोषाविष्करणे असूया।' कोई अच्छा काम कर रहा हो और उसके अच्छे कामकी प्रशंसा तो न करे और उसमें दोष-दोष जो आये उसको बताता जावे। वह हो गया कर्णका सारथि शल्य। जब कर्ण बाण उठाता तो शल्य कह देता कि इस बाणसे क्या होगा? बस, उत्साह टूट गया। तुम जिस वंशमें पैदा हुए हो उस वंशमें किसीको निशाना लगाना भी आता है? मर गया विचारा। उत्साह वीररसका स्थायी भाव है। मनुष्य वीरताका काम कर ही तब सकता है जब उसके मनमें उत्साह बना रहे और उत्साह टूट जावे तो उसकी वीरता भाग जाती है। अधिकारी ऐसा होना चाहिए जो हमारी बातके गुणको समझे, उसमें जो गुण पक्ष है उसको पूरी तरहसे ग्रहण करे—केवल दोष पक्षको ग्रहण करनेवाला न हो।

अनसूयवे—असूयुः—असूया जिसमें होती है उसको असूय: कहते हैं—और अनसूयवे असूयारहिताय। जो दोषपर दृष्टि न दे। वचनके जो गुण हैं उनको अच्छी तरह देखे। समीक्षा करनेका—तुलनात्मक विवेचन करनेका ढंग ही यह है। दो पक्षोंकी तुलना करनी हो तो पहले दोनोंमें समानता क्या है, यह समझना चाहिए। फिर दोनोंमें विशेषता क्या है, दोनोंमें जो अलग-अलग विशेषताएँ हैं उन्हें समझना चाहिए। आप राजनीतिक दलोंकी तुलना करें तो दोनोंमें विशेषता क्या है, दोनोंमें जो अलग-अलग विशेषताएँ हैं उन्हें समझना चाहिए। आप राजनीतिक दलोंकी तुलना करें तो दोनोंमें राष्ट्रहित समान है या नहीं, यह देखना चाहिए। वे किस प्रक्रियासे राष्ट्रहित करना चाहते हैं—इसकी तुलना करनी चाहिए। समानता समझिये, विशेषता समझिये, विरोध समझिये। कौन-सी विशेषता अच्छी है? समानता तो दोनोंकी अच्छी है। विरोध किसका गलत है, किसका सही है—इसपर विचार कर लीजिये। अनसूयु होना चाहिए। केवल दोषदर्शी नहीं होना चाहिए। गुणदर्शी होना चाहिए। दोष तो कहीं भी निकाला जा सकता है।

ईश्वरने सृष्टिमें दुःख क्यों बनाया? ब्रह्माने हाथीको लम्बा बना दिया और सूँड़ भी इतनी बड़ी दे दी और शेरका मुँह बड़ा कर दिया। दोष तो सबमें हैं। रामने बालीको क्यों मार दिया और कृष्णने कुब्जाका संग क्यों किया? ब्रह्मामें भी दोष निकलता है, विष्णुमें भी निकलता है। परन्तु दोष देखनेसे काम नहीं बनता है, उसमें जो गुण है उसका तिरस्कार नहीं करना चाहिए।

आंजकल हमारे जो राजनैतिक दल हैं, वे अपने पूर्ववर्ती पुरुषोंके गुणोंके प्रति कृतघ्न हो गये हैं। केवल उनके दोष देखने लगे हैं। इसको असूया कहते हैं। उसमें यह गलती है और यह अच्छाई है, ऐसा नहीं कहते। श्रोता तो वह है जो बातका ठीक-ठीक अभिप्राय समझे। अर्जुन सरल है। उसके नाममें ही सरलता है। ऋजु है, ऋजुत्वात् अर्जुनः। और वह—श्रीकृष्णके वचनमें दोष नहीं देखता। बल्कि कहता है—'मोहोऽयं विगतो मम, नष्टो मोहः, करिष्ये वचनं तव' आज्ञाकारी होनेके लिए तैयार हूँ। इसलिए वह सलाह देनेका अधिकारी है।

सलाह किसको देनी चाहिए? गुप्त बात किसको बतानी चाहिए? जो बातके महत्त्वको सरलतासे समझे। क्या बात बताओगे?

ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्।

'ज्ञानं विज्ञानसहितं'—देखो पहले सुना चुके हैं—

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानं इदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते।। 7.2

सातवें अध्यायमें तुमने सविज्ञान ज्ञानका वर्णन कर दिया। 'ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानं'—अब 'ज्ञानं विज्ञानसहितं' क्या रहा? असलमें सातवें अध्यायका जो ज्ञान-विज्ञान है वह भक्तके रूपका वर्णन है। भक्तका विज्ञान है।

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ।। 7.16

भजन करनेवाले कितने प्रकारके होते हैं? आर्त होते हैं—संसारके दुःखसे मुक्ति चाहते हैं। वे संसारके दुःखसे अभिभूत हैं। जिज्ञासु हैं—परमात्माके स्वरूपको जानना चाहते हैं। अर्थार्थी—परमात्माको प्राप्त करना चाहते हैं। जो परमात्माका अनुभवकर चुके हैं, वे हैं ज्ञानी। इस प्रकार सातवें अध्यायमें भक्तका विज्ञान है। आठवें अध्यायमें साधनाका विज्ञान है। कैसे-कैसे ध्यान करना चाहिए और ध्यान करके कैसे उत्तरायण, दक्षिणायन गतिको प्राप्त करना चाहिए। नवें अध्यायमें जो विज्ञान है, ज्ञान-विज्ञान वह—भगवान्‌का क्या स्वरूप है, यह बताता है। तो भक्तका विज्ञान है सातवें अध्यायमें और भक्तिका विज्ञान है आठवें अध्यायमें तथा भजनीयका विज्ञान है नवें अध्यायमें। भगवान्‌का स्वरूप क्या है?

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः।।

यह भगवान्‌के स्वरूपका वर्णन है। अठारहवें अध्यायमें ब्राह्मणके स्वभावका जहाँ वर्णन किया गया है वहाँ भी ज्ञान विज्ञानका उल्लेख हुआ है।

ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्। 18.42

ब्राह्मणको केवल शास्त्रका ज्ञान नहीं होना चाहिए। कर्मकाण्डका विज्ञान भी होना चाहिए। अर्थात् शास्त्रमें पढ़ लिया कि होम कैसे किया जाता है, विवाह, यज्ञोपवीत आदि कैसे होते हैं, परन्तु करना नहीं आया। जैसे कानूनका ज्ञान होता है और एक वकीलके साथ रहकर उसका विज्ञान प्राप्त किया जाता है। आयुर्वेदका ज्ञान होता है और एक वैद्यके साथ रहकर उसका प्रायोगिक ज्ञान प्राप्त किया जाता है। इसी प्रकार आत्मा-परमात्मा-सम्बन्धी ज्ञान है और दूसरा उसका अनुभव। यह केवल शास्त्रीय ज्ञान नहीं है, परोक्ष ज्ञान नहीं है। अपरोक्ष अनुभवयुक्त ज्ञान है। इसलिए बताया है कि 'ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानम्।' यह ज्ञान विज्ञान-सहित है। अब इस ज्ञानका फल बताते हैं, क्योंकि फलश्रुतिके बिना श्रोतामें रुचि नहीं जगती है। किसी भी वस्तुको यदि हम जानें तो जाननेसे क्या होगा, यह बात भी मालूम पड़नी चाहिए। बोले—यज्ज्ञात्वा—ज्यों आप इसको जानोगे तो यह असमाप्त क्रिया है। ज्ञात्वा—जैसे उपविश्य भुंक्ते—बैठकर खाता है। बैठना और खाना दोनों एक साथ है। ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्—जानोगे और अशुभसे मुक्त हो जाओगे। अशुभ क्या है? जब मृत्युकी चर्चा करने लगते हैं तो कहते हैं—भाई अमंगल है—इसका नाम मत लो। अशुभ है—अत: मृत्युसे छूटकर हम अमृतत्व प्राप्त कर लें। अपनेको अमृत रूपमें जान लें, यह अशुभ कर्मका फल होनेसे भी अशुभ है और दु:खको कोई पसन्द नहीं करता। वह किसीका भी प्रिय नहीं है। अप्रिय होनेसे भी अशुभ है। घरमें-से निकले कहीं जानेके लिए और जो नापसन्द है वही आकर सामने खड़ा हो गया—अशुभ हो गया। रास्ता काट दिया—अशुभ हो गया। अशुभ क्या है? अशुभ है दु:ख। जिसको देखकर मनमें दु:ख होता है, उसका नाम है। मृत्यु अशुभ है, दु:ख होना अशुभ है और अज्ञान, बेहोशी, नासमझी—ये सब अशुभ हैं, मृत्यु अशुभ है, दु:ख अशुभ है, अज्ञान अशुभ है।

अशुभात्-यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्।

मृत्युका डर निकल जावे और दु:ख जीवनमें न आये और अपने जीवनमें जो नासमझी है वह मिट जावे तब हम अशुभसे मुक्त हुए। यह जो ज्ञान हम गीतामें देने जा रहे हैं वह कैसा है? वह अशुभसे मुक्त करनेवाला है। इसमें 'ज्ञात्वा मोक्ष्यसे'का अर्थ है—

कर्मनिरपेक्षम्, उपासनानिरपेक्षम्, योगनिरपेक्षम् ज्ञात्वैव मोक्ष्यसे।

वैसे हम लोगोंका जो जीवन है, उसमें दो चीजें हैं। आँखसे देखते हैं और पाँवसे चलते हैं। आँख हुई ज्ञान और चलना हुआ कर्म। मनुष्यका जीवन कर्म-ज्ञानका मिश्रण है। आप अपनेको देखकर पहचानो—जब आप पसन्द करते हैं कि हम अंगूर खायेंगे तब आप अंगूर खाते हैं अपने मनमें, बाहर उसे देखते हैं। देखके चलते हैं। चलते जाते हैं और देखते जाते हैं। कर्म ज्ञानकी सहायता करता है, ज्ञान कर्मकी सहायता करता है, यह है व्यावहारिक जीवन। लेकिन यदि अपने आत्माका ज्ञान प्राप्त करना हो तो कहाँ चलकर जाओगे? आत्मा आत्माके पास चलके जायेगा? इसलिए ज्ञान ज्ञानमें अन्तर होता है। आत्माका ज्ञान धर्मोपासना-सापेक्ष नहीं होता और संसारका जो ज्ञान है उसमें कर्म और उपासना दोनों चाहिए। समुचित ज्ञान कहते हैं उसको। व्यावहारिक ज्ञानमें दोनोंका समुच्चय है।

यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्।

यह ऐसा ज्ञान है—आत्मज्ञान है कि ब्रह्मज्ञान है—यह ठीक-ठीक हृदयंगम कर लो तो न तुम्हें मृत्युका भय रहेगा, न दुःख रहेगा और न नासमझी ही रहेगी। इन तीनोंसे वह मुक्त कर देगा। कोई-कोई पण्डित हैं वे—'मोक्ष्यसेऽशुभात्'में कहते हैं 'अ' क्यों डालते हो? 'मोक्ष्यसेऽशुभात्-मोक्ष्यसे शुभात्।' यह जो शुभ-अशुभका चक्कर है—जिसकी दुंविधामें अपने काम लटके रहते हैं—वह दुविधा ही छूट जावेगी—शुभ और अशुभ दोनों छूट जायेंगे। गीताको यह अभीष्ट है।

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।

शुभ और अशुभ फल देनेवाले जो कर्मबन्धन हैं उनसे तुम मुक्त हो जाओगे। शुभ कर्मबन्धनका फल होगा शुभ और अशुभ कर्म-बन्धनका फल होगा अशुभ। सभी भगवान्को अर्पित कर दो—भगवान्के प्रति कर्म करो—अपने लिए काम करोगे तो तुम्हारे सामने शुभ-अशुभ आयेंगे और भगवान्के लिए काम करोगे तो तुम्हारे सामने शुभ-अशुभ आयेंगे ही नहीं। इसीसे गीतामें शुभाशुभपरित्यागी—कौन होता है? भक्त होता है—भगवान्का भक्त होता है। हमने सर्वस्व अपना दे दिया, किसीको अर्पित कर दिया। अब बोले भाई, जो ऋण है वह कौन चुकायेगा? नहीं-नहीं हमने धन तो दे दिया, ऋण अपना थोड़े ही दिया है। नहीं भाई, यदि किसी भलेमानुसको दिया है और उसने तुम्हारा सब कुछ ले लिया है, तो तुम्हारे ऋणकी जिम्मेवारी भी उसको लेनी चाहिए। यदि तुम उनको अपना सर्व शुभ समर्पित कर दो—अशुभ समर्पित करनेमें संकोच होता है, तभी भगवान् तुम्हें जैसे शुभ फलसे मुक्त करेंगे वैसे अशुभ फलसे भी मुक्त करेंगे और अपनेमें मिला लेंगे। इसलिए 'मोक्ष्यसे शुभात्।' अब इस विद्याकी प्रशंसा निज मुखसे श्रीकृष्णने की है—

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्॥ 9.2

यह विद्याओंका राजा है, विद्यानां राजा राजविद्या अथवा राज्ञः विद्या राजविद्या। दोनों तरफसे समास बनता है। यह विद्याओंका राजा है, माने जो विद्या तुम सीखते हो वह विद्या तुमको दुःखसे छुड़ाती है कि नहीं—आपकी विद्या बहुत बड़ी है। एक बाबूजी थे। वे नावपर कहीं यात्रा कर रहे थे। बातचीत किये बिना मन नहीं मानता था। जिसको बोलनेका अभ्यास हो जाता है वह बिना बोले रह नहीं सकता। उन्होंने नाविकसे पूछा—'तुम कुछ विज्ञानकी बात समझते हो?' उसने कहा, 'नहीं।'

बाबू—ज्योतिष समझते हो?

उसने कहा—नहीं।

'कुछ नक्षत्र-विद्या जानते हो?' उसने कहा, 'नहीं।'

जो पूछें सो कह दे 'ना'। थोड़ी देर बाद नाव भँवरमें फँस गयी। नाविकने पूछा, 'बाबूजी, आप तैरना जानते हैं?'

बोले कि 'नहीं।' तो वह बोला, 'आप अपनी सब विद्या लेकर डूबिये और मैं—मल्लाहकी तो लँगोटी

भींगती है—अब तैर जाऊँगा।' आप जिस विद्याको जानते हैं वह आपको दुःखसे छुड़ानेमें समर्थ है कि नहीं? आपके सामने कोई समस्या आवे तो उसको सुलझानेमें समर्थ है कि नहीं? आपको दुःखसे छुड़ानेमें समर्थ है कि नहीं? आपको मृत्यु-भयसे छुड़ानेमें समर्थ है कि नहीं? तो विद्याओंका राजा यह है—'विद्यानां राजा'—यह राजा है। यह आपको सारे दुःखोंसे छुड़ा देगी।

यह विद्या जो हम बता रहे हैं, यह राजाओंकी विद्या है। राजाओंकी विद्या कैसे है?

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तावानहमव्ययम्।

× × ×

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।।

यह विद्या राजर्षियोंको ज्ञात है।

एक प्रसंग आता है—

अश्वपतिके पास विद्वान् समागत हुए तो राजा अश्वपतिने कहा, यह विद्या अबतक राजवंशमें ही रही है, ब्राह्मणोंको यह विद्या मालूम नहीं थी। आज पहले-पहल हम ब्राह्मणोंको यह विद्या देते हैं। इसका नाम राजविद्या है। राजर्षि विद्या है। राजा भी हो, ऋषि भी हो। राजा अलग होता है, ऋषि अलग होता है और यह विद्या ऐसी है कि जो राजाको ऋषि बना दे। याने अपना राज-काज करता रहे और असंग व्यवहार करे। यह राजविद्या है। राजवंशमें भी यह विद्या तो रही है; परन्तु राजाओंने इसको गुप्त रखा है और गुह्योंका राजा। जितने भी गोपनीय पदार्थ हैं वे सबको नहीं दिखाये जाते।

यह गोपनीय विद्या इसलिए है कि अन्तरमें इसमें आत्मस्थिति होती है और व्यवहारका ठीक-ठीक पालन होता है। अपनी जो अन्तःस्थिति है उसको गुप्त रखनेकी बात है। अब प्रश्न यह आया कि गोपनीय जो बात होती है उसमें कहीं-कहीं गन्दगी भी होती है। कोई गन्दी बात होती है तो कहते हैं—भाई इसको गुप्त रखो। जैसे तान्त्रिक अपनी साधना करते हैं तो उसको गुह्य मानते हैं। गोपनीय मानते हैं। उसमें क्या-क्या होता है, वह एक अलग बात हो जाती है। सचमुच गुप्त रखनेकी चीज है। अगर बाहर प्रकट हो गयी तो....तो क्या आप भी गीतामें कुछ ऐसा बतानेवाले हैं? तुरन्त 'राजगुह्य'के बाद क्या है? 'पवित्र' कोई गन्दी बात इसमें नहीं है। पावन करना, पवित्र करना इसका काम है। 'पवित्रं-पुनाति'—जो हमारे हृदयको, जीवनको पवित्र कर दे, ऐसी विद्या है।

यदि इन्द्र तुम्हें वज्र भी मार रहा हो तो इन्द्रका वज्र व्यर्थ जायगा, वह तुम्हारे ऊपर नहीं लगेगा। इतनी पवित्र है। जीवनकी सारी अपवित्रता दूर हो जायेगी। अच्छा, यह विद्या क्या है?

पवित्रमिदमुत्तमम्।

उत्तमका अर्थ है, पवित्र तो हो पर उत्तम न हो, ऐसा भी हो सकता है। जैसे आपको पवित्र भी जल दे दे लेकिन उसमें गँदलापन दिखेगा तो थोड़ी हिचक हो जायगी। गंगाजल तो पड़ा पवित्र है, लेकिन बरसातके दिनोंमें जब मैला होकर बहता है तो कई हमेशा स्नान करनेवाले भी स्नान करनेमें हिचकते हैं। पवित्र भी है और उत्तम भी है। 'उदिति गंगा'—उत् याने ऊपर—जो सर्वोपरि है उसका नाम होता है उत् और उत्, ऊपर,

उत्तम—जो सबसे ऊपर हो, सर्वोपरि—निरतिशय होवे, जिससे बड़ा और कोई न हो—निरुत्तर हो—इससे बड़ी विद्या और कोई नहीं है।

यह विद्या उत्तम है, इसका कोई प्रमाण भी है? हम कैसे विश्वास कर लें? उत्तरमें कहा जा सकता है कि परलोक है—किसने प्रत्यक्ष रूपसे परलोकको देखा है? कोई लौटकर आया है, बता रहा है कि हम स्वर्ग होकर आये हैं—यह देखकर आये हैं? विद्या ऐसी होनी चाहिए कि हम यहीं अपने जीवनमें उसका अवगम, अधिगम कर सकें। अदृष्ट विद्या नहीं है। जहाँ पूर्वमीमांसा धर्म, श्रौतस्मार्त-धर्म, मनुस्मृतिका धर्म, वेदोक्त धर्म अदृष्टविषयक हैं, वहाँ गीता दृष्टविषयक अर्थात् इसी जीवनमें—'प्रत्यक्षावगमंधर्म्यं'—हाथ कंगनको आरसी क्या? इसका फल अभी देख लो। आप इसका फल आँखोंसे देख सकते हैं, कानोंसे सुन सकते हैं, जीभसे चख सकते हैं, त्वचासे छू सकते हैं। प्रत्यक्षं अर्थात् 'अक्षं-अक्षं प्रति'—प्रत्येक इन्द्रियमें। आपके हाथमें काम करनेकी शक्ति रहेगी। आपकी वाणीमें बोलनेकी शक्ति आ जायगी। क्योंकि इसमें सारी दुविधा मिट जाती है।

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।

सब भगवान् ही है।

मत्स्थानि सर्वभूतानि—न च मत्स्थानि भूतानि—

यह सर्वकी भगवत्ताका जो प्रतिपादन है, यह आपके चित्तमें जितनी द्विधा है, जितना द्वैत है (द्वैत शब्द अंग्रेजीमें 'डाउट'(Doubt) हो जाता है)। आपके मनमें जितना संशय है वह निर्मूल करनेके लिए यह विद्या है। 'प्रत्यक्षावगमं'—जो वस्तु प्रत्यक्ष होती है वह धर्मसे दूर हो जाती है। केवल लौकिक भोग, लौकिक सुख, लौकिक वस्तुका जब दर्शन करेंगे तो उसमें धर्मपर परदा पड़ जायगा। हमको यह धन, स्त्री, पुत्र चाहिए—यह जो धर्मपर परदा पड़ जाता है, वह असलमें गलत है। ('गलत' शब्द संस्कृतका ही है। जैसे 'गलितं'—गलत—जो अपने स्थानसे च्युत हो गया—गलके गिर गया उसको गलत बोलते हैं—स्थानभ्रष्ट हो गया। कोई भी चीज अपनी जगहसे हट जाय, हाथ अपनी जगहसे हट जायँ, पाँव अपनी जगहसे हट जायँ तो गलत हुआ।) अब आओ जो विद्या हम बता रहे हैं कि सबमें परमात्मा है—सब परमात्मा है। परमात्माके सिवाय और कुछ नहीं है—**न च मत्स्थानि भूतानि।**

यह विद्या जो हम बताने जा रहे हैं, इसमें आप सर्वथा संशयमुक्त होकर, निर्द्वन्द्व होकर—अपने कर्तव्यका पालन करेंगे। दाहिने जायें कि बायें, यह शंका आपके मनमें कभी नहीं आयेगी। प्रश्न उठा, कहीं धर्म छूट जाय तो? उत्तर होगा, नहीं धर्म बना रहेगा—'धर्म्यं'—धर्म होता है हमारे हृदयमें। धन बाहर होता है और काम रहता तो भीतर है, लेकिन कामना बाहरकी वस्तुकी होती है। याने अर्थ जहाँ स्वयं बाह्य है, वहाँ कामना बाह्य—अर्थ और काम दोनोंको नियन्त्रित करती है। स्पष्ट रूपसे उपनिषद्में यह बात आयी है। अर्थात् तुम्हारी बुद्धि बनी रहेगी—

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्॥ 2.66

तुम्हारी बुद्धिका नियन्त्रण तुम्हारे मनपर, शरीरपर बना रहेगा। अनियन्त्रित नहीं होगा। 'धर्म्यम्—धरति इति धर्मः, धारणात् गृह्यते इति धर्मः।' जिसको हम धारण करें, उसका नाम धर्म। 'धर्मो रक्षति रक्षितः'—यदि तुम धर्मकी रक्षा करोगे तो धर्म तुम्हारी रक्षा करेगा। यदि तुम अपने धर्मकी रक्षा नहीं करोगे तो वह भी तुमसे निरपेक्ष हो जायगा और तुम्हारी सर्वथा उपेक्षा कर देगा। श्रोता यह सुनकर प्रश्न करता है कि भगवन्! ऐसे दुष्कर धर्मका पालन करना तो बहुत कठिन होगा। धर्म भी हो, फल प्रत्यक्ष भी हो, उत्तम भी हो—तो बहुत कठिन होगा करना, उत्तर मिला, नहीं—'कर्तुं सुसुखम्।' सुखमें पहलेसे 'सु' तो है ही, एक 'सु' और जोड़ दिया—करनेमें अत्यन्त सुगम है। ऐसी विद्या हम बतायेंगे।

पहले जितनी विद्याएँ बतायी गयी हैं, उनसे यह नवें अध्यायकी विद्या विलक्षण है। यह पूर्वार्धका उपसंहार है। इसमें जो अन्तिम श्लोक है—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥ 9.34

इस श्लोकको मध्यवर्ती श्लोक मानते हैं। गीतामें बीचो-बीचका श्लोक नवें अध्यायमें है। करनेमें आसान है, सुगम है, अनायास है। शंका होगी, करनेमें आसान है तो फल थोड़ा होगा। बोले, नहीं—'अव्ययः'। इसका फल अविनाशी है। 'न व्ययति'—कभी वह घिसता नहीं है, कम नहीं होता है। ऐसी विद्या—आओ श्रद्धाके साथ—इसका अर्थ है, पहले श्रोताके मनमें अपने उपदेशके प्रति श्रद्धा उत्पन्न करके और वह प्रेमसे इसको सुने और समझे और तदनुसार आचरण करे। इसके लिए पहले विद्याकी प्रशंसा—इसको सुनकर पहले श्रोताके मनमें इच्छा जगेगी कि हम इस विद्याको प्राप्त करें और कोई इसपर श्रद्धा नहीं करेगा तो क्या होगा?

अश्रद्धधानाःपुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि॥ 9.3

श्रद्धा करो, वेद कहता है—बेटा, जब बतावें कि यह जो शकल हमने बनायी है—पञ्चकोण—इसका नाम 'अ' है,यह सुनकर यदि तुम पहले ही शंका करोगे कि इस आकृतिका नाम, इस शकलका नाम 'अ' कैसे? तो कुछ पढ़ सकोगे? इस आकृतिका, इस शकलका नाम—पहले मास्टरकी बात मानकर इसी शकलको जब देखो तब 'अ' बोलो। कहाँसे 'अ' आया? 'अ' तो भीतरसे बोला जाता है? कागजपर कहाँसे 'अ' आया? जवाब मिला, नहीं भाई, हमारे गुरुजीने बताया है कि इस शकलको देखो तो 'अ' कहना होता है। जो श्रद्धालु नहीं होगा वह तो एक अक्षर भी नहीं सीख सकेगा। तुम्हारा नाम अ,ब,स कुछ है? कैसे? बताओ? समझाओ हमको—मेरा नाम कैसे? अच्छा तुम्हारी माता यह है, नहीं, हमको दिखाओ—यह हमारी माँ कैसे? हमारे पिता है, यह कैसे मालूम हुआ कि ये हमारे पिता हैं? श्रद्धासे मालूम पड़ता है—श्रद्धस्व......

जो श्रद्धा नहीं करेगा उसके हविष्यको देवता लोग ग्रहण नहीं करते हैं।

•

प्रवचन : 2

गीता क्या है? गीता वाङ्मयी माँ है। सरस्वती माँ है। अम्बा है। अम्बाका अर्थ है वर्णमयी माँ, वाङ्मयी माँ। बालक जैसे अपनी माँका दूध पीता है वैसे ही 'दुग्धं गीतामृतं महत्'—इस महागीतामृतका पान करें!

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्॥
अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि॥
मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥
यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय॥ 9.2-6

राजविद्या विद्याओंकी राजा है जो राजवंशमें गुप्त रही है। सर्वश्रेष्ठ गोपनीय है। सर्वश्रेष्ठ इस राजविद्याको राजाओंने अपने हृदयमें गुप्त रखकर-छिपाकर राजकाज चलाया है और सारा व्यवहार करते हुए भी मृत्युसे निर्भय होकर राज्यका संचालन किया। यदि मृत्युसे अभय नहीं हो तो युद्धमें, संघर्षमें कैसे उतरेगा? सूझ-बूझ न हो, समझदारी न हो, अज्ञान न मिटे तो राजकाज कैसे चलेगा?

दुःखसे वचनेकी विद्या अगर न मालूम हो तो मनुष्यका जीवन चल ही नहीं सकता। यह विद्या अशुभसे अर्थात् मृत्युसे, दुःखसे और अज्ञानसे मुक्त करनेवाली है। आप इसी जीवनमें इसे धारण करें।

आठवें अध्यायकी विद्या ऊर्ध्व नाड़ी द्वारा परलोकमें जानेकी विद्या है और नवें अध्यायकी विद्या है इसी जीवनमें मृत्युके भयसे, दुःखसे तथा अज्ञानसे मुक्त रहकर व्यवहार करनेकी। इतनी सुगम और प्रत्यक्ष है यह विद्या। प्रत्यक्षावगर्मका अर्थ है—इसी जीवनमें प्रत्यक्ष देख लो। परमात्मासे प्रत्यक्ष मिला देनेवाली ऐसी यह विद्या है। यह विद्या धर्मके अनुकूल है। धर्म कभी इससे दूर नहीं होता। वह जीवनमें बना रहता है और परिपालनमें सुगम हो जाता है। इस विद्याका फल अव्यय, अविनाशी है। संसारमें इतने बुद्धिमान लोग हैं फिर इस महान् गुणवाली विद्याको प्राप्त क्यों नहीं करते—ग्रहण क्यों नहीं करते?

इस विद्याको प्राप्त न होनेमें एक ही कारण है—अश्रद्धा! श्रीमद्भागवतमें एक दृष्टान्त दिया है—एक मनुष्यको जलकी आवश्यकता थी और वह एक निर्मल सरोवरके पास खड़ा था किन्तु वहाँ जलपर काई छायी हुई थी। उसने सोचा, भला यहाँ जल कहाँ मिलेगा? फिर वह मरुस्थलकी ओर दौड़ा। जहाँ मृगमरीचिकाका साम्राज्य था। चारों ओर झूठा जल चमक रहा था। जैसे मूर्ख मनुष्य जलके फेनसे, काईसे, सेवारसे आच्छादित जलको देख उससे विमुग्ध हो जाये वैसे ही जीवनमें परमात्मा अपने हृदयमें ही तो है—'कस्तूरी कुण्डलि बसे, मृग ढूढ़ै वन माहि' जैसी स्थिति है। अपने ही भीतर परमात्माको छोड़ हम बाहर भटकते हैं।

भगवती श्रुति कहती है, वेद भगवान् कहते हैं कि यह मनुष्य शरीर जब प्राप्त होता है तो इसमें आत्मा, परमात्मा सर्वथा प्रकट रूपमें रहता है। यह पुरुष शरीर अद्भुत है परन्तु श्रद्धा चाहिए। श्रद्धाके बिना व्यवहार नहीं चलता। यह माँ है, यह मानोगे नहीं, श्रद्धा नहीं करोगे, तो व्यवहार नहीं चलेगा। श्रद्धा नहीं करोगे कि यह मेरा पिता है तो कैसे निश्चय होगा कि यह मेरा पिता है। लेबोरेटरीमें निश्चय होगा कि यह तुम्हारा पिता है? डाक्टर, वैद्यपर विश्वास नहीं करोगे तो औषध कैसे खाओगे? बिना श्रद्धाके तो साधारण व्यवहार भी नहीं चल सकता।

पचास वर्ष पुरानी बात है। हमारे गुरुजी तमकुहीके राजाके यहाँ गये थे। जब उनके यहाँ भोजन करना हुआ तो पहले डाक्टरने भोजनकी परीक्षा की। पर डाक्टरपर भी पूरा विश्वास नहीं था। उसको भोजन करनेके लिए साथ बैठाया गया। जिस भोजनकी परीक्षा की गयी थी, वही भोजन राजा साहब करते और डाक्टरको भी खाना पड़ता। अब बताओ, इतने अश्रद्धालु, इतने अविश्वासी पुरुषका काम-काज कैसे होगा? पत्नीपर विश्वास होना चाहिए, पतिपर विश्वास होना चाहिए नहीं तो घर नरक हो जायेगा।

हमारे विद्वान् वेदान्ती मधुसूदनजी कहते हैं—'श्रद्धा मुनियोंका सम्बल है।' उपनिषद्का कहना है कि श्रद्धाकी पूँजी लेकर अपने हृदयमें परमात्माका, सत्यका निरीक्षण करो। एक बार पिलानीके शिक्षाशास्त्री आये, बोले—महाराज, हम लोग अनुसन्धान करते हैं—क्या-क्या सावधानी रखनी चाहिए? मैंने कहा—तितिक्षा, श्रद्धा, मनमें शान्ति हो तब न अनुसन्धान करोगे! अपनी इन्द्रियोंपर काबू हो, तब अनुसन्धान होगा। श्रद्धा हो तब हमें सफलता मिलेगी, तब अनुसन्धान होगा। उसमें जो तकलीफ आये, दुःख आये, कठिनाई आये उसको सह लो। तितिक्षा—दूसरी ओरसे मन हटाकर उसीमें लगाओ। उपरति—सफलताकी श्रद्धा, मनकी एकाग्रता। वेदान्तमें ब्रह्मज्ञानके लिए जो-जो सामग्री चाहिए वह सब अनुसन्धानके लिए आवश्यक है। विवेक चाहिए, अनन्य वैराग्य चाहिए—यही अनुसन्धानकी सामग्री है। इसके बिना आप किसी भी विषयका ठीक-ठीक अनुसन्धान नहीं कर सकते।

महाभारतमें एक कथा है—देवताके प्रसन्न होनेपर उत्तंक ऋषिने आग्रह किया कि हमें अमृतका घड़ा चाहिए। देवता पहले तो माने नहीं फिर किसी तरहसे मनाया। लेकिन देवताओंने विचार किया कि इनको अमृत नहीं मिलना चाहिए। अतः अत्यन्त गन्दा रूप धारणकर गन्दे पात्रमें अमृत लेकर आये और बोले, 'महामुनि, लो अमृत ग्रहण करो।' उन्होंने बिगड़कर कहा,'दूर रहो! तुम इतने गन्दे हो और यह पात्र इतना गन्दा है कि इसमें

अमृत भला कहाँ हो सकता है? अमृत तो था ही, लेकिन उनकी ऐसी श्रद्धा नहीं हुई और देवता अमृत लेकर चले गये।

तो, जो गढ़ा जाय उसका नाम घड़ा होता है......'घटयते स घट:।'

शरीर भी तो घट है— हाथ, पाँव, आँख, कान, मुख, नासिका, दिल, दिमाग दिखनेमें बड़ा सुन्दर है पर इनसे जो चीज निकलती है वह गन्दी निकलती है। गन्दगीका खजाना है यह शरीर। इसमें अमृत भरकर रखा है। अत: घड़ेको मत देखो। इसमें जो अमृत भरा हुआ है उसको देखो।

पुरुषके शरीरको ब्रह्माजीने बनाया है। ब्रह्माजीने पहले दैत्योंको बनाया। ये आसुरी प्रकृतिके होते हैं, दूसरोंको दु:ख देने वाले। बोले, भाई इनको ब्रह्मज्ञान कैसे होगा? तब देवताओंको बनाया जिनको रुचि भोगमें होती है। अत: भुक्ति-प्रधान देवता हैं और क्रोध-प्रधान दैत्य और यह मनुष्य जीवन लोभकी प्रधानतासे पैदा हुआ है। इसमें संग्रहकी प्रवृत्ति बहुत बड़ी है। इसीसे दैत्योंके लिए दया, देवताओंके लिए दम और मनुष्योंके लिए दानका उपदेश है। क्रोधके विरुद्ध दया, भोगके विरुद्ध संयम और लोभके विरुद्ध दान।

उपदेश सदा अधिकारीके अनुरूप होता है। पुरुषमें जो लोभ है, यदि इसके प्रति त्यागकी, वैराग्यकी भावनाका उदय हो जाय और परमेश्वरके प्रति श्रद्धा जग जाय तो उसका कल्याण हो जाय। यदि मनुष्यके मनमें श्रद्धा नहीं है तो उसे महात्मा कभी नहीं मिल सकता। परमात्माकी प्राप्ति अनुभवसे होती है और महात्मा श्रद्धासे मिलता है। महात्मापन अन्तरंग है, हृदयमें रहता है। वह इन्द्रियोंसे प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, इसलिए श्रद्धा करनी पड़ती है। जिसके हृदयमें श्रद्धा आती है वह महात्मा हो जाता है।

यह मनुष्य शरीर श्रद्धाके द्वारा परमात्माको प्राप्त करनेका माध्यम है और यदि श्रद्धा नहीं आयी तो परमात्मा नहीं मिल सकता—'अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि।'कालयवनने पीछा किया तो भगवान् कहाँ मिले? जरासन्धने पीछा किया तो वे कहाँ मिले? क्योंकि उनके मनमें श्रद्धा नहीं थी कि ये भगवान् हैं। लेकिन जिनके मनमें श्रद्धा थी उन्होंने भगवान्‌को पकड़ लिया, बाँध लिया।

आओ हम भगवान्‌को पहचानें। गीताके नवें अध्यायमें जो भगवान्‌की पहचान है वह अद्भुत है। आप लोग अनके मजहबोंकी बातें पढ़ते होंगे, किन्तु सनातन धर्मको छोड़कर अन्य सभी मजहबोंमें ईश्वरको हमारे व्यक्तिगत जीवनसे, व्यावहारिक जीवनसे दूर कर दिया गया है। हम तो साकार हैं और साकार जगत्‌में विहरते हैं। हमारा सारा व्यवहार साकार जगत्‌में चलता है। यदि ईश्वर, सर्वथा निराकार ही हो और रहे तो हमारे जीवनके साथ इसका क्या सम्बन्ध हो सकता है? आत्मा भी तो निराकार है। जीव भी निराकार है और निराकार होकर भी इस शरीरमें रहता है। तो निराकार परमात्मा क्या इस जगतमें नहीं रह सकता? जबतक हम अपनेको साकार मानते हैं, शक्ल-सूरतवाला समझते हैं हमारा परमात्मा भी तबतक शक्ल-सूरतवाला होगा।

बौद्धधर्मावलम्बी गौतमबुद्धको भगवान् मानते हैं, परन्तु वे पहले जीव थे। उनके चौरासी जन्म हुए— बकरा, हाथी, पण्डित हुए। इसके पश्चात् उन्हें बुद्धत्व प्राप्त हुआ। जीवका उत्कृष्ट रूप उनके यहाँ भगवान्‌के रूपमें प्रकट होता है। महावीर भगवान् हैं, परन्तु वे भी पहले जीव थे और साधन करते-करते उन्हें भगवान्‌की

पदवी प्राप्त हुई। परन्तु यह सम्पूर्ण जगत् भगवान्का रूप है भगवत्-स्वरूप है, यह बात किसी मजहबमें नहीं है। दुनियाको बनानेवाला ईश्वर है, जैन धर्म यह भी नहीं मानता। उसके मतानुसार जगत्की सृष्टि कर्मने की है। बौद्ध धर्मके अनुसार वासना-द्वारा सृष्टि हुई है। आर्यसमाज, मुस्लिम और ईसाई आदि धर्मोंमें ईश्वरको जगत्का सृष्टिकर्ता तो मानते हैं; किन्तु स्वयं ईश्वर जगत् बन गया या जगत्के रूपमें ईश्वर ही प्रकट हैं, ऐसा मत केवल हमारा वैदिक, श्रौत मत है।

इस विशेषताको जब आप समझ लेंगे तो आपके ध्यानमें आयेगा कि हम एक पत्थरमें भी ईश्वर-बुद्धि कर सकते हैं। पत्थरमें तत्त्वके रूपमें जो असली पदार्थ है—उपादान है वह चेतना ब्रह्म है। इसीलिए हम पीपलके रूपमें, गायके रूपमें, धरतीके रूपमें, गङ्गाजलके रूपमें, समुद्रजलके रूपमें, अग्नि-वायु-आकाशके रूपमें भगवान्की पूजा करते हैं। चिदम्बरम्में जाकर देखिये। वहाँ एक माला लटकायी हुई है। उसके भीतर जो गोल-गोल छिद्र है आकाश, उसका नाम है चिदम्बरम्। वह परमात्माका स्वरूप है। स्फटिकलिंग वहाँ परमेश्वर नहीं है। वहाँ जो मालाके भीतर अवकाश— छिद्र है उसे चिदम्बरम्—परमेश्वर मानते हैं।

ईश्वरको ढूढ़नेके लिए हमें स्वर्गमें, बैकुण्ठमें या सातवें आसमानमें नहीं जाना है। समाधिकी गुफाओंमें प्रवेश करके परमेश्वरका दर्शन नहीं करना है। उसको बाहर आनेमें कोई डर तो है नहीं। वह तो निर्भय है। जो ईश्वरको जानता है वह भी अजय हो जाता है। इसीसे ईश्वरकी पहचान बतायी गयी—'मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना......।'

संस्कृत भाषाकी एक विशेषता है—'इदं सर्व जगत्। मया ततं मया आततं'—ततं और आततं दोनों निकलता है। आततंका प्रयोग वेदमें मिलता है—'तद्विष्णो परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः दिवीव चक्षुरात यं।' जैसे आकाशमें सूर्यकी रोशनी फैली हुई है, जैसे आकाशमें हमारी आँखकी रोशनी फैली हुई है, इसी प्रकार सम्पूर्ण जगत्में ईश्वर परिव्याप्त हो रहा है। जैसे कपड़ा सूतके सिवा और कुछ नहीं है। चाहे उसे ताना कहो अथवा बाना, चाहे बुनाई करते समय उसमें हाथी बनालो अथवा घोड़ा, डण्डा बना लो या बाँसुरी, कृष्ण बना लो अथवा राम, पर है वह सूत ही—'मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।' मया—मेरे द्वारा। 'इदं सर्वं जगत्'—जगत्का लक्षण है। लक्षण माने जगत्को पहचानो। जगत् क्या है? 'गच्छति इति जगत्।' जो बदलता है उसका नाम जगत् है।

ऐसे परिवर्तनशील जगत्में हमें ईश्वरको पहचानना है—'मुझको क्या तू ढूँढ़े बन्दे मैं तो तेरे पास।' क्या आप ईश्वरके बारेमें ऐसा ख्याल रखते हैं कि वह ऊपर कहीं सातवें आसमानमें होगा, वैकुण्ठमें होगा या हिमालयमें रहता होगा—'काहे रे वन खोजन जाई।' परमेश्वरको ढूढ़नेके लिए जंगलमें मत जाओ। यह आपका जो हृदय है, आपका जो शरीर है, यही परमात्माकी उपासनाका, निवासका स्थल है। 'मया ततमिदं सर्वम्'—जो प्रत्यक्ष है, परोक्ष और अपरोक्ष है—सर्वं इदम्।' इदम्का अर्थ है यह—आपके मनमें एक स्वर्गकी कल्पना आयी कि यह स्वर्ग है। वैकुण्ठकी कल्पना आयी कि यह वैकुण्ठ है, यह साकार है, यह निराकार है, यह घट है आदि।

घट पटादि प्रत्यक्ष है और इदं है, स्वर्गादि परोक्ष हैं और इदं हैं। वैसे ही काम क्रोधादि अपरोक्ष होकर इदं हैं। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति भी अपरोक्ष है और इदं हैं। यह इदं क्या है? मया आततं—यह जो कुछ तुम हो—इदं इदं मालूम पड़ता है यह सब मेरा विस्तार है—तनु विस्तारे तन्वतेति। यह सब मेरा विस्तार है। इसमें तुम्हारा कोई शत्रु है न मित्र। इसमें न कोई जन्म है न मृत्यु। यह सब परमात्माका स्वरूप है। पापीको परमात्मा ही नरक रूपमें दीखता है और पुण्यात्माको वही स्वर्ग रूपमें दीखता है। परमात्मा ही भक्तको वैकुण्ठके रूपमें परिलक्षित होता है और जिसका मन राग-द्वेषसे भरा हुआ है उसे शत्रु-मित्रके रूपमें दिखायी पड़ता है। उसी एक परमात्माका यह सारा विस्तार है। उसको पहचानो—'जित देखो तित श्याममयी है।'

अपने हृदयसे पाप-पुण्य, स्वर्ग-नर्क, शत्रु-मित्रको एक क्षणके लिए हटाकर देखो। अब श्रद्धाकी इसमें आवश्यकता कहाँ है? बोले, है! माँ प्रत्यक्ष दीखे तब भी उसमें श्रद्धा करनी पड़ती है। उड़िया बाबाने एक बात बतायी—एक वेश्या है और उसको एक बेटा है। यदि उसका बेटा श्रद्धापूर्वक अपनी माँकी भक्ति करे तो जैसे और पतिव्रताके पुत्रोंको मातृ-भक्तिका फल मिलता है, वैसे उस वेश्या-पुत्रको प्राप्त होगा या नहीं? निश्चय ही मिलेगा, क्योंकि वह अपनी माँकी भक्ति करता है। मातृभक्ति करना पृथक् वस्तु हैऔर वैश्या होना पृथक् वस्तु है।

'मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव।' श्रद्धा अपने हृदयका धन है। लेकिन यदि हमको पेड़ दीख पड़ता है तो कैसे श्रद्धा करें? बोले—हाँ, श्रद्धा करो—'अव्यक्तमूर्तिना। न व्यक्ता मूर्तिर्यस्य तेन मया—अव्यक्तमूर्तिना मया'— पेड़के रूपमें मैं ही हूँ, पर मैं दीखता नहीं, मेरी मूर्ति व्यक्त नहीं है। यदि कहा जाय कि हम लेबोरेटरीमें परीक्षण करेंगे कि इस पेड़में परमात्मा है कि नहीं, तो—

'न व्यज्यते तेनातिप्रयोगेन......।'

हमारा जो स्वरूप है वह इन्द्रियगम्य होकर नहीं मालूम पड़ता; वह श्रद्धा, भक्तिसे मालूम पड़ता है। स्वर्गपर श्रद्धा करोगे तो वह मरनेके बाद मिलेगा और यदि प्रत्यक्षपर श्रद्धा करोगे तो उसका इसी जीवनमें अनुभव हो जायेगा—'अव्यक्त-मूर्तिना-मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः। न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्। मत्स्थानि सर्वभूतानि—कैसी अद्भुत बात कही है। अलङ्कारकी दृष्टिसे विरोधाभास है और पहेलिका अलङ्कार भी है। 'मत्स्थानि सर्वभूतानि, न च मत्स्थानि सर्वभूतानि।'यह विरोधाभास हो गया एक बार कहते हैं कि यह सम्पूर्ण प्राणि-पदार्थ मुझमें हैं और एक बार कहते हैं कि यह सम्पूर्ण मुझमें नहीं हैं। परमात्माको प्रकट करनेके लिए परस्पर विरुद्ध धर्मका निरूपण करना पड़ता है जब वही सब है तो साकार भी है, निराकार भी है। सगुण भी है और निर्गुण भी है। आदि शङ्कराचार्यका कथन है—

सत्यं ज्ञानमनन्तं नित्यं निराकाशं परमाकाशं
मायाकल्पितं नानाकारमनाकारं भुवनाकारम्।

तुलसीदासजी कहते हैं—'निर्गुण सगुण नहीं कुछ भेदा'। भीतर होना—बाहर होना, पास भी होना—दूर भी होना, हिलना भी और न हिलना—परमात्मामें ये सभी बातें विरोधी होकर भी ठीक-ठीक बैठ जाती हैं।

ज्ञान-अज्ञान, राग-वैराग्य, धर्म-अधर्म, सुख-दुःख सब परमात्माके स्वरूपमें ही है जिसने पहचान लिया उसके लिए संसारमें कोई दुविधा नहीं रहती। अगर ऐसा नहीं है तो वह हिचकेगा—यहाँ पाँव रखें कि न रखें। किन्तु जिसको ज्ञान हो गया कि सब परमात्मा है, वह निर्द्वन्द्व होकर व्यवहार करता है। श्रुतिमें ऐसे प्राणीको जीवनमुक्त कहते हैं। उसे कहीं भी पाँव रखनेमें दुविधा नहीं है। जैसे चिड़िया कहीं भी पाँव रखे वह आकाशमें होता है।

इसी प्रकार जो ब्रह्मको पहचान लेता है उसके आगे ब्रह्म है, पीछे ब्रह्म है, बायें ब्रह्म है, दाहिने ब्रह्म है उसके लिए सम्पूर्ण विश्व ब्रह्म हो जाता है। हिचक-हिचककर चलनेके लिए परमात्माका ज्ञान नहीं है। कहा भी है—'जाके मनमें अटक है सोई अटक रहा।' ब्रह्म वेद ब्रह्मविद् भवति।' तो यह सम्पूर्ण विश्व-सृष्टि परमात्माका स्वरूप है, उसमें अटको मत, लटको मत। इसमें कोई खटका मत रखो—'निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो......।'

हिचककर पाँव रखनेपर फिसलनेका डर रहता है। परमात्माको देखो और चलते जाओ। अपने हृदयमें परमात्मापर विश्वास हो, श्रद्धा हो और उसका अनुभव हो—'मत्स्थानि सर्वभूतानि'। भूत कहनेका एक अभिप्राय होता है। पञ्चभूत—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश और एक भूतका अर्थ होता है भौतिक, जिन पञ्चभूतोंसे यह दुनिया बनी है—वह सब।

एक और भूतकी बात आपको सुनाते हैं। कोई तान्त्रिक श्मशानमें मुर्देपर बैठकर कोई सिद्धि कर रहा था। उसने देखा कि कोई बारात आ रही है। बाजे-गाजे बज रहे हैं, बड़ा कोलाहल है। उसने सोचा कि मैं तो एकान्तमें साधना कर रहा था, यह क्या है? उसने अपनी साधना बन्द कर दी। परिणाम यह हुआ कि बारात, गाजे-बाजे और हो-हल्ला आया भी, समाप्त भी हो गया। इसी प्रकार एक और घटना याद आती है—हमारे एक मित्र नर्मदाके पानीमें मचान बनाकर हनुमानजीकी साधना कर रहे थे। उनको लगा कि नर्मदाका पानी बढ़ रहा है और मचान डूब रहा है और दो अजनबी प्राणी उन्हें पकड़नेके लिए चले आ रहे हैं। मारे डरके वे नर्मदाके पानीमें कूद पड़े। देखा तो वहाँ केवल घुटने भर पानी था और वहाँ उनके अतिरिक्त कोई प्राणी नहीं था। यह सब क्या है? इसीको भूत कहते हैं—वह जो न हो और मालूम पड़े। यह भूतकी माया है।

'मत्स्थानि सर्वभूतानि'का अर्थ है—जो यह महाश्मशान भगवान् शङ्करका दीखता है, यह सब परमात्माके अन्दर है। दूसरी बात जो कही—'न च मत्स्थानि भूतानि'—मुझमें कोई भूत नहीं।

आकाशमें हम देखते हैं—नीलिमा दिखायी देती है। यह नीलिमा दिखायी देती है। यह नीलिमा अपनेमें कुछ भी नहीं है। यह तो दृष्टिकी असमर्थता है। हम जहाँतक स्पष्ट देख पाते हैं, उसके बाद नीलिमा दिखायी देती है। हमारी दृष्टि छोटी है। हम पूरे आकाशको नहीं देख पाते। इसका अर्थ है—अल्प दृष्टिसे नीलिमा है किन्तु पूर्ण दृष्टिसे नीलिमा नहीं है। भगवान्‌की दृष्टि पूर्ण है। इसीसे जब भगवान्‌से एक हो जाते हैं तब यह पंच प्रपंच नहीं दीखता और जब अल्पसे एक रहते हैं—देहाभिमान रहता है तबतक प्रपंच दीखता है। देहाभिमान छूटनेपर परमात्मासे एक हो जाते हैं तब प्रपंच नहीं दीखता।

मत्स्थानि सर्वभूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्। 9.5
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः। 9.4

सब मुझमें है, परन्तु मैं उनमें हूँ, ऐसी बात नहीं है। इसको आधार-आधेय भाव बोलते हैं। परमात्मा किसीको आधार बनाकर उसमें नहीं रहता, सबका आधार परमात्मा है। श्रीरामानुजाचार्यजी आधार-आधेयकी बात कहते हैं। श्रीमध्वाचार्यजी स्वतन्त्र अस्वतन्त्रकी बात कहते हैं—सबकी सत्ता मेरे अधीन है किन्तु मेरी सत्ता किसीके अधीन नहीं है। आकाशमें घड़ा रहता है किन्तु आकाशको अपने अन्दर रखकर नहीं ढोता। जल अथवा मिट्टीकी तरह आकाश घड़ेमें नहीं बँधता। आकाशमें घड़ा बँधता है। जैसे घड़ेके भीतर आकाश है वैसे ही घड़ेके बाहर आकाश है। जहाँ घड़ेकी दीवार है वहाँ भी वैसा ही है। घड़ेके टूटनेसे आकाशका कुछ बनता बिगड़ता नहीं। आकाश आधार है और घड़ा आधेय है। परन्तु घड़ेमें आधेय रूपमें रखी जानेवाली वस्तुकी तरह आकाश नहीं रखा जा सकता। 'मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः'- भगवान्‌में सब हैं किन्तु भगवान् किसीके अन्दर रहते हैं अर्थात् भगवान्‌से भी कोई बड़ा है, ऐसा नहीं है। भगवान् किसीमें रखे नहीं जाते। भगवान्‌में हृदय बनता है। हृदय जिन तत्त्वोंसे बनता है वह परमात्मा है। किन्तु हृदयमें परमात्मा आबद्ध हो गया, सो बात नहीं है। हृदय बनता है, बिगड़ता है। बुद्धि बनती है, बिगड़ती है। बुद्धि पापी, पुण्यात्मा होती है, दुःख-सुखका अनुभव करती है। बुद्धि जन्म-जन्मान्तरमें आती-जाती है किन्तु वह जिस उपादानसे निर्मित है वह चेतन है, परमात्मा है।

यह जड़वादका सिद्धान्त नहीं है—यह चेतनात् आत्मा है। 'मत्स्थानि सर्वभूतानि..... यही ऐश्वर्य योग है। भगवान् कृष्ण अजुर्नसे बोलते हैं—मया ततमिदं सर्वं जगत् इति पश्य'—देखो सम्पूर्ण जगत्के रूपमें मैं फैला हूँ। 'मत्स्थानि सर्वभूतानि'—सारे प्राणी मुझमें हैं। 'न चाहं तेष्ववस्थितिः'—उनमें जो परिवर्तन है—उनके साथ मेरा परिवर्तन, विनाश नहीं है—मेरे अन्दर कुछ भी नहीं है।

अर्जुन कहते हैं—महाराज, तुम्हीं हो, ठीक है। तुम बोलते हो—मैं ही हूँ, परन्तु हमको यह गड़बड़झाला दीख रहा है। भगवान् बोले— 'मम ऐश्वर्यं योगं पश्य ?' यही ईश्वरता है। यह ईश्वरीय योग है, जो नहीं है उसे यह दिखा देते हैं। यह भगवान्‌की माया है। जैसे जादू या इन्द्रजाल होता है। यह वस्तुमें परिवर्तन करके भी होता है और आँख बाँधकर भी होता है। जादू दिखाते समय वस्तुमें हेर-फेर हो जाता है और नेत्रका दृष्टिकोण बदल जाता है। जादूगरकी शक्ति वस्तुके दर्शनमें अवरोध पैदा करती है। मुट्ठीमें बँधा रुपया जेबमें पाया जाता है, इसीको माया कहते हैं। जो बात दुनियामें सामान्यरूपसे नहीं होती माया उसे करके दिखा देती है। श्रीकृष्ण कहते हैं—'पश्य मे योगमैश्वरम्' यह देखो, जादूका खेल, मुझमें सब कुछ है , मुझमें नहीं है, मैं किसीमें नहीं हूँ—'भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः।'

ऐसे ही परमात्मा सबको धारण करता है, सबको परिपुष्ट करता है। वह किसी देश-विदेशमें नहीं है। कहते हैं—'ममात्मा भूतभावनः ?' यह सब मेरा सङ्कल्प है, मेरा मन है। जैसे सङ्कल्पकी वस्तु मुझसे अलग नहीं होती। यदि हम अपने मनमें देखें कि हाथी है तो जबतक हाथी देखना चाहें, हाथी रहेगा और-और देखनेकी

इच्छा मिट गयी तो हाथी नहीं रहा—उसी प्रकार भगवान् द्वारा सङ्कल्पित वस्तु भगवान्से बाहर नहीं है, उनके हृदयमें है। अतः सङ्कल्पित वस्तु भी भगवान्से भिन्न नहीं है।

यहाँ यह ध्यान देनेकी बात है कि सङ्कल्पित वस्तु सावधिक होती है; किन्तु भगवान् निरवधिक हैं। अतः निरवधिकमें जो सावधिक वस्तु होती है उसका विस्तार होता है। उसमें एक गज-दो गज जैसा देश नहीं होता, एक किलो-दो ---किलो जैसा वजन नहीं होता। उसमें स्थान अथवा समय भी नहीं होता। सङ्कल्प ही उसका देश, वजन, स्थान, समय आदि है। परमात्माके अनन्त अनादि स्वरूपमें वह सङ्कल्पमात्र है—'भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः।'मेरा आत्मा, मेरा मन, यह सब मेरे सङ्कल्पसे सृष्टि उत्पन्न होता है।

यह जो मेरा सङ्कल्प है वही प्राणियोंको दीखता है। मेरा सङ्कल्प ही प्राणियोंका पालन एवं संहार करता है। यह मुझमें है भी और नहीं भी है। गीताके नवें अध्यायमें भगवान्की विशेषताका वर्णन है। भक्तका स्वरूप, भक्तिका स्वरूप और भजनीय—जिनकी हम भक्ति करते हैं उनका स्वरूप। और ये भगवान् तो सब समय हैं। समय ही भगवान्का सङ्कल्प है। सृष्टि भी भगवान्का सङ्कल्प है। अब भजनीय भी हमारा कहाँ? ऐसा भजनीय आपको किसी दूसरे मजहबमें नहीं मिलेगा।

'त्वं स्त्री त्वं पुमानसि'—स्त्री भी तुम हो, पुरुष भी तुम हो 'त्वं कुमार उत वा कुमारी'-कुमार भी तुम हो, कुमारी भी तुम्ही हो। 'जातो भवसि विश्वतोमुखः' सम्पूर्ण विश्वके रूपमें परमेश्वर है। 'त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि'—बड़े बाबा बनकर लकड़ी टेकते हुए तुम्हीं हो। इसका मतलब हुआ, हर कदममें परमात्मा है। हर चीजमें, हर प्राणीमें, हर भावमें परमात्मा है। हम परमात्मामें ही डूब उतरा रहे हैं, सोच समझ रहे हैं—बैठ-उठ रहे हैं। इसमें यदि आप राग-द्वेष करते हैं तो परमात्मासे हमें कोई पक्षपात या क्रूरता करनेके लिए कहीं भी स्थान नहीं है; क्योंकि परमात्माका सब स्वरूप है। यह हमारे हृदयमें राग-द्वेषको सर्वथा उखाड़कर फेंक देनेवाली विद्या है।

●

प्रवचन : 3

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय॥
सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्॥
प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्॥
न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु॥
मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥
अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥
मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः॥
महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥ 9.6-13

'यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्'—भगवान् श्रीकृष्ण यह बात सुनाते हैं कि ये सारा प्राणिवर्ग और पदार्थ सब मुझमें कैसे स्थित है और कैसे नहीं स्थित है। दृष्टान्त एक है और इसके द्वारा प्रतिपाद्य दो पदार्थ हैं। 'भवन्ति इति भूतानि' जो भी पैदा होता है उसका नाम भूत। जो पैदा होता है वह पैदा होनेसे पहले नहीं रहता है और जो पैदा होता है वह मर जाता है, बादमें नहीं रहता है। प्रत्येक उत्पन्न होनेवाले पदार्थके साथ पहले और पीछे न होना लगा रहता है। जैसे माँ-बाप पहले होते हैं। और बच्चे बादमें पैदा होते हैं। परन्तु माँ-बाप बादमें रहें यह नियम नहीं रहता है। परन्तु ईश्वर पहले भी रहता है और बादमें भी रहता है। यह उसका नियम है। ईश्वर अनादि और अनन्त है।

एक बातपर आप विचार करो कि जिसका अन्त ही न हो और जिसकी आदि भी न हो ऐसा पदार्थ अनुभवका विषय कैसे हो सकता है? इसके लिए बड़ा स्पष्ट दृष्टान्त है। हमारे जीवनमें अनेक पदार्थोंका आदि होता है और अनेक पदार्थोंका अन्त भी होता है। कितने आते हैं, कितने जाते हैं, कितने मिलते हैं, कितने बिछुड़ते हैं, किन्तु हमारा आत्मा एक ही रहता है। पैदा होनेके पहले मरनेके पहले, मिलनेके पहले, बिछुड़नेके पहले यह-यह जितना है वह तो आता जाता रहता है; परन्तु आत्मा आदि-अन्तका विषय नहीं है। मैं कब हुआ

यह कोई नहीं जान सकता और मैं कब नहीं रहूँगा, किसीके अनुभवके क्षेत्रमें नहीं है। जब हम पहलेके हों तब जन्मका अनुभव कर सकते हैं कि जन्म हुआ और यदि बादमें भी रहें तो मृत्युका अनुभव कर सकते हैं। इसलिए अपने जन्मका और अपनी मृत्युका अनुभव कभी किसीको नहीं हो सकता। यह अनुभवके क्षेत्रसे अतीत पदार्थ है। ऐसा कोई न हुआ, न होगा जो अपनी मौतको स्वयं देख सके। यदि देखता है तो वह हैऔर या तो मरा नहीं और यदि अपना जन्म देखता है तो जन्मसे पहले रहकर जन्म देखता है—उसका जन्म ही नहीं हुआ। इसलिए जन्म और मृत्यु ये दोनों अनुभवके क्षेत्रमें नहीं हैं।

हमारा आध्यात्मिक ज्ञान-विज्ञान बताता है कि आत्माका जन्म और मरण नहीं होता और जिसका जन्म-मरण होता है वे भूत हैं। माने मिट्टी है, पानी है, आग है, इनके बने हुए पदार्थ हैं, भौतिक मिट्टी कल नहीं थी या पानी कल नहीं था यह भी प्रत्यक्षका विषय नहीं है। यह अनुमानका विषय है। केवल हम अनुमान लगाते हैं कि प्रत्येक वस्तु बदलती है तो बदलनेवाली वस्तुका कभी जन्म हुआ होगा और कभी मृत्यु हुई होगी। और धर्म, अधर्म, पुनर्जन्म, नरक, स्वर्ग ये अनुभवी जो महापुरुष हैं उनके वाक्यसे इनका ज्ञान होता है। परन्तु ज्ञान होता है परोक्ष-तत्काल और यह आत्मा जो है उसका अपरोक्ष ज्ञान होता है। जो जाग्रत्‌को जाननेवाला है, सुषुप्तिको जाननेवाला है—यह साक्षात् है, अभी है।

ज्ञानकी चार प्रक्रिया होती है एक तो वस्तुओंका प्रत्यक्ष ज्ञान जैसे स्त्री है, पुरुष है आदि दूसरा परोक्ष ज्ञान जैसे नरक है, स्वर्ग है, पुनर्जन्म है। और तीसरा अपरोक्ष ज्ञान होता है जैसे जाग्रत् है, स्वप्न है, सुषुप्ति है, काम है, क्रोध है, लोभ है, मोह है। ये स्वर्गके समान परोक्ष भी नहीं होते और घट-पटादिके समान प्रत्यक्ष भी नहीं होते। ये जितनी देर मालूम पड़ते हैं, उतनी देर होते हैं। और जितनी देर होते हैं, उतनी देर मालूम पड़ते हैं। परन्तु आत्मा जो है इसका स्वरूप न घड़ा, कपड़ा, मेज, कुर्सीके समान प्रत्यक्ष है न स्वर्ग-नरकके समान परोक्ष है और न आने-जानेवाले काम-क्रोधादिके समान अपरोक्ष है—यह तो साक्षात् अपरोक्ष है क्योंकि कभी किसीका 'मैं' नहीं हो सकता।

आत्मा अविनाशी है। जिसके अभावका कभी अनुभव न हो उसीको अविनाशी बोलते हैं। यह बहुत उपयोगी ज्ञान है। मरनेके डरसे हम इतना घबड़ाते हैं। यह हमारे जीवनमें भय समाया हुआ है। मृत्युके भयसे मुक्त करनेवाला यह ज्ञान है। आप इसको बहुत आसानीसे, अनायास समझ सकते हैं कि मुझे अपने मरनेका अनुभव कभी होगा ही नहीं। आजतक कभी हुआ नहीं है।

यदि कभी भी यह अनुभव हुआ होता कि मैं मर गया तो आज हम कैसे होते? अत: उसकी हम केवल कल्पना करते हैं, इस शरीरको मैं मानकर। आप सोना हैं कि आभूषण? आभूषण हैं टूटेंगे, फूटेंगे। और यदि सोना है तो कभी वह पिघला हुआ द्रव हो जाता है, कभी वह चूरा हो जाता है, कभी वह सिल्ली हो जाता है, कभी वह आभूषण बन जाता है। शकल-सूरत बनती; बिगड़ती है किन्तु जो तत्त्व है 'अनारोपिताकार'। तत्त्व किसको कहते हैं? जिसमें शकल-सूरतकी कल्पना न की गयी हो-कल्पना माने सचमुचमें जानना होता है। शकल सूरत न गढ़ी हो जिसमें और चीज हो, उसको बोलते हैं 'तत्त्व'। आप वह तत्त्व है जिसमें शकल-सूरत बहुत-सी गढ़ी गयी

है, गढ़ी जा रही है और गढ़ी और गढ़ी जायेगी। आपका बचपन उसमें गढ़ा गया, जवानी उसमें गढ़ी गयी—बुढ़ापा उसमें गढ़ा जाता है—शरीरका छूटना, आना उसमें गढ़ा जाता है और आप बिलकुल अविनाशी रहते हैं।

पहली बात ध्यानमें रखनेकी है कि आप अपने कर्तव्यके पालनमें मृत्युका भय न रखें। आप मौतसे डर-डरके कोई काम न करें। आप अविनाशी हैं और अविनश्वर दृष्टिसे काम करें। यह इसका इलाज है। हनुमानप्रसादजी पोद्दारने गाँधीजीको एक चिट्ठी लिखी है कि हमारे मित्रको स्वप्न आया है कि 'आपकी मृत्यु निकट है। आप भगवान्‌का भजन कीजिये।' इसके उत्तरमें महात्मा गाँधीने लिखा है—आपने भगवान्‌का भजन करनेके लिए लिखा है वह तो ठीक है। राम-राम तो हमारी खुराक है। उसके बिना तो हम जी ही नहीं सकते हैं। मृत्युसे डरकर हम भगवान्‌का नाम लें यह बात हमको नहीं जँची। तात्पर्य यह कि आप अपने जीवनमें यह सोचकर मत डरिये कि हमारी मौत होनेवाली है—'पलटू तुम मरते नहीं साधू करो विचार।'

आकाशमें वायु है और वह जाता-आता है। आकाशसे बाहर वायुकी गति नहीं है। और आकाशसे बाहर क्या है? यदि हम हैं सो तो ठीक है, हमारे सिवाय और कुछ आकाशसे बाहर है तो केवल कल्पना है, उसका अनुभव नहीं हो सकता। आकाशके भी दो रूप हैं। एक वायुकी कारणता जिसमें वायु उत्पन्न होता है और एक केवल शुद्ध अवकाशात्मक। जो शुद्ध अवकाशात्मक है वह तो सद्वस्तुके अभिन्न है और जो कारणरूप आकाश है उसमें माया मिली हुई है। क्योंकि वायुके घूमनेसे ही उसको सिद्धि होती है। हमारे पूर्व मीमांसकोंने आकाशको प्रत्यक्ष माना है। कहते हैं कि चिड़िया जहाँ उड़ रही है वह प्रत्यक्ष दीख रहा है। इसलिए आकाश भी प्रत्यक्ष है। परन्तु चिड़ियाका उड़ना एक औपाधिक पदार्थ है, उसके द्वारा आधारका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। वेदान्तियोंने उसका खण्डन किया।

अब आपको यह बात सुनाते हैं कि आकाशमें वायु झूला झूलता है—दाहिने-बायें, ऊपर, नीचे तिर्यक् गति है। वायुकी गति टेढ़ी है। वह लहराता हुआ चलता है। कभी चलता है, कभी नहीं भी चलता। परन्तु आकाश ज्यों-का-त्यों है। आकाश निराकार है, उसमें गति नहीं है। चलना-फिरना आकाशमें नहीं है। आकाशकी गोदमें वायु है। 'मत्स्थानि सर्वभूतानि'—आकाश निराकार है, निर्विकार है, सम है, जरा उसके साथ चेतन जोड़ दो तो और मजा आजायेगा। वह आकाश नहीं चिदाकाश है। चेतन आकाश है। जड़ आकाश है, उसमें स्थितिसे गति उत्पन्न होती है, वायु उत्पन्न होता है। परन्तु जो चिदाकाश रूप परब्रह्म परमात्मा है वह चेतन कभी उत्पन्न हो नहीं सकता। और उत्पत्तिका कारण भी उसमें नहीं हो सकता। अद्भुत लीला है। उसीमें यह वायु झूला झूल रहा है—लहरा रहा है! कभी-कभी नहीं भी लहराता है। आधार होना आकाशका लक्षण है और गतिशील होना वायुका लक्षण है। ऊष्म गरम होना यह अग्निका लक्षण है—तेजस्विता उसका लक्षण है—रूपको प्रकाशित करता है। और द्रव होना, शीतस्पर्श होना यह जलका लक्षण है। ठोस धरती है, गला हुआ पानी है, गरमी अग्नि है और गति वायु है—और इन सबका आधार आकाश। ये सब आकाशमें इतना उपद्रव करते हैं—वायु तो दौड़-धूप रहा है और आग जल रही है, पानी बह रहा है, धरती परिक्रमा कर रही है। परन्तु आकाश ज्यों-का-त्यों। इसका अर्थ हुआ कि चार भूतोंसे बने हुए जितने भी पदार्थ हैं वे सब आकाशमें रह रहे हैं।

यह तो हो गया 'सर्वभूतानि'। अब दूसरी बात देखो। क्या आकाश जितना बड़ा है, उतनी बड़ी वायु है, उतनी बड़ी अग्नि है, उतना बड़ा जल है? उतनी बड़ी पृथिवी है? नहीं—इनका आयतन छोटा है। आकाशका आयतन बड़ा है। जिसका स्थान अधिक हो बोलेंगे अधिष्ठान। वायुकी अपेक्षा अधिक स्थान है। आकाशका। अग्निकी अपेक्षा भी, जलकी अपेक्षा भी, पृथिवीकी अपेक्षा भी बल्कि यहाँतक कि जब एक चीज हिलती-डोलती है तो आकाशसे उसका सम्बन्ध होना कठिन है। आकाश ज्यों-का-त्यों एक चीज चल रही है। चलनेका भाव भी चलनेका अभाव भी दोनों आकाशमें है। वेदान्तियोंकी बात आगयी यहाँ—क्या आ गयी?

वेदान्तमें बिलकुल न होनेका नाम मिथ्या नहीं है। जो हमारी इन्द्रियोंको मालूम पड़े और तत्त्वदृष्टिसे अलग न हो उसको वेदान्ती लोग मिथ्या बोलते हैं। तत्त्वदृष्टिसे वह वस्तु कहीं उससे सिद्ध नहीं होती। उसका अभाव भी उसीमें है और हमारी इन्द्रियोंकी दृष्टिसे मालूम पड़ती है। उसको सत्य नहीं कह सकते क्योंकि तत्त्वमें नहीं और उसको असत्य दोनोंको मिलाकर मिथ्या शब्दका प्रयोग होता है। घोड़ा अलग है, गधा अलग है। परन्तु दोनोंका मिश्रण खच्चर है। सत्य अलग है, असत्य अलग है। परन्तु दोनों का जो मिथुनीभाव है, दोनोंका जो मिश्रण है—उसको मिथ्या बोलते हैं। यह है मिथ्याका अर्थ!

जबतक हम देहको मैं समझकर इन्हीं इन्द्रियोंके द्वारा संसारको देखते हैं तबतक वह सत्य है और जब इस देहमें-से अभिमान निकल जाता है और परमात्मासे हम एक हो जाते हैं तब यह सृष्टि असत्य दीखने लगती है। असत्य माने न होना नहीं-जैसे आप असत्य भाषण करते हैं—कोई-कोई होंगे ऐसे जो असत्य भाषण नहीं करते होंगे। एक दिन बच्चोंने आपसमें शर्त लगायी कि जो सबसे बड़ा झूठ बोले वह इस कुत्तेको ले जाय। वे एक-दूसरेसे बढ़-बढ़कर झूठ बोल रहे थे। इसी बीच उनके बाप आ गये और बोले कि हमने तो अपने जीवनमें कभी असत्य बोला ही नहीं और तुम लोग असत्य बोलनेकी होड़ लगा रहे हो? बच्चोंने हाथ जोड़ लिये कि बापजी इससे बड़ा कोई झूठ नहीं हो सकता—इसलिए आप इस कुत्तेको स्वयं ले जाओ!

असत्य भाषणका अर्थ यह नहीं है कि भाषण है ही नहीं। इसी प्रकार प्रपंचके मिथ्यात्वका जो वेदान्ती लोग वर्णन करते हैं—उसका अर्थ यह नहीं है कि हमारी आँखसे दुनिया नहीं दिखती है या हमारी जीभसे वाणी नहीं निकलती है या कानसे सुनयी नहीं पड़ता है। अरे, कोई जब तुम्हारा शरीर है तो सारी दुनिया भी है। अपनेको शरीर मानकर यदि कोई वेदान्ती प्रपञ्चको मिथ्या बोलता है तो वह बिलकुल झूठ है।

हमारी ऐन्द्रियक दृष्टि—वायु आकाशमें घूमता है, परन्तु आकाश तो निरंश है। जिसमें अंश ही नहीं है, उसके कितने अंशमें वायु होगा!अच्छा आकाशसे पूछो कि हे आकाश, आपमें वायुका वजन कितना है, उम्र कितनी है? तो आकाशकी दृष्टिसे न वायुका वजन है, न उसके रहनेकी जगह है और न उम्र है। इसलिए आकाशकी दृष्टिसे वायु नहीं है और यदि हम इन्द्रियोंकी दृष्टिसे देखें तो हमारे शरीरमें आकर जो गुदगुदाता है, उसका नाम वायु है—जो हमारी सांसके रूपमें बाहर-भीतर आया-जाया करता है, उसका नाम वायु है और जो तिनकेको उड़ाकर ले जाता है, जो गरमीको शान्त करता है उसका नाम वायु है। तो व्यावहारिक दृष्टिसे वायु सत्य है और परमार्थ दृष्टिसे वायु असत्य है और दोनोंके मिश्रणका नाम हो जाता है 'मिथ्या'।

'मत्स्थानि सर्वभूतानि' इसका उदाहरण है कि आकाशमें वायु है और आकाशकी दृष्टिसे आकाशमें वायु नहीं है। यह चिदाकाश है, चेतनाकाश है। तथा 'सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय।' वैसे ही ये जितने भूतप्राणी हैं वे सब मुझमें हैं और मुझमें नहीं है। इसीसे भावाभाव दोनों होता है।

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्॥ 9.7

यह कल्पकी आदि है। कल्प एक कालका नाम है। परन्तु असलमें वह संकल्पका ही कल्प है। भगवान्‌के संकल्पका नाम काल है। 'कल्प' के साथ 'सं' जुड़ गया सो 'संकल्प' हो गया। ईश्वर दृष्टिसे ईश्वरके संकल्पके सिवाय और कालका नाम पदार्थ नहीं है। वेदान्तकी दृष्टिसे आत्मामें जो अपनी ब्रह्मताका अज्ञान है, उस अज्ञानकी वृत्तिके सिवाय काल और कुछ नहीं। माने तत्-पदार्थकी दृष्टिसे तत्-पदवाच्यार्थका संकल्प है काल और त्वं-पदार्थकी दृष्टिसे इसमें जो ब्रह्मपनेका अज्ञान है, उस अज्ञानको एक वृत्ति है काल।

नैयायिक और जैन लोग कालको द्रव्य मानते हैं। मीमांसक भी कालको द्रव्य मानते हैं। सांख्यमें महत् तत्त्वकी एक वृत्ति है काल। भूत, भविष्य, वर्तमान—सब, यह जो सृष्टिकाल है उसको कल्पकी आदि बोलते हैं और जो संहारकाल है उसको कल्पका अन्त बोलते हैं। भगवान् बोलते हैं कि यह जो सृष्टिका प्रवाह मुझमें बह रहा है इनका आवागमन होता है। ये कभी बनते हैं, कभी बिगड़ते हैं—कभी इनकी सृष्टि होती है और कभी प्रलय होता है। इसमें एक रहस्य है। मनुष्यको आकाशके समान निर्लेप रहना चाहिए। दुनियाकी किसी चीजको सच्ची समझकर उसमें फँस नहीं जाना चाहिए। आकाश सुगन्धित वायुसे, दुर्गन्धित वायुसे, शान्त वायुसे, विक्षिप्त वायुसे कभी अपनेको जोड़ता नहीं है। ऐसे—जीवन मनुष्यका कैसे रहे कि सृष्टि होवे, प्रलय होवे, आवे, जाय, रहे, न रहे अपने स्वरूपको न छोड़े।

दूसरी बात यह बतायी कि जो ज्ञानी है उसके लिए तो यह विक्षेपका विषय नहीं है और जो अज्ञानी है उसके लिए यह विक्षेपका विषय है। यह बात कैसे बतायी—'सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृति यान्ति मामिकाम्'—कल्पक्षये—जब हम अपने संकल्पको शान्त कर देते हैं—तब ये सारे पदार्थ, सारे प्राणी मेरी प्रकृतिमें आकर लीन हो जाते हैं और जब कल्प संकल्पमें प्रारम्भ करता है तो फिर सृष्टि हो जाती है। अनेकसे एककी ओर सृष्टिका जाना प्रलय है और एकसे अनेककी ओर बिखरना सृष्टि है। संकल्पका विक्षेप सृष्टि है और संकल्पका संहार ही प्रलय है। जैसे बीज और वृक्ष होता है, जैसे प्रलय कालमें बीज शेष रहता है और सृष्टि कालमें वृक्ष जाता है। यदि केवल लय होनेसे परमात्माके साथ एक हो जाते हों तो अज्ञानकी भी मुक्ति हो जाये और यदि परमात्माके संकल्पसे ही सृष्टि बनती हो तो ज्ञानीका भी पुनर्जन्म होना चाहिए। प्रलय कालमें ज्ञानी भी बीजमें चले गये और सृष्टि कालमें निकल आये। और प्रलय कालमें अज्ञानी भी बीजमें चले गये।

बीजमें जानेसे और बीजमें निकलनेसे मुक्तिका कोई सम्बन्ध नहीं है। जीना-मरना अथवा सृष्टि और प्रलयका मुक्तिके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। ये सब भगवान्‌की प्रकृति है, आदत है। अपने शरीरको जैसे नट अनेक रूपमें कर लेता है वैसे यह भगवान्‌का क्रिया-कलाप है, लीला है। जैसे एक आदमी कभी सोना पसन्द

करता है, कभी अकेला ('कैवल्य माने अकेला')—हिन्दीमें अकेला शब्द केवल शब्दसे ही आया है। केवल व को पहले करके 'अ' बोल दो—अकेला हो गया) जब कभी मनुष्यको कुछ नहीं चाहिए—वह अपने पुत्रसे भी कह देता है—इस समय हमको विक्षिप्त उद्विग्न मत करो—शान्त रहने दो, सो ऐसा भगवान्‌का भी स्वभाव है। और कभी उसका मन होता है कि बच्चोंके साथ खेलें, पत्नीके साथ हँसी-खेल करे—अपने व्यापार क्षेत्रमें जाकर व्यापार करें-तो भगवान् थोड़ा मूडी है। यह उसका मूड ही है जो सृष्टि बनाता है और सृष्टि बिगाड़ता है-अपने आपको जरा-सा हिला देता है, सृष्टि बन जाती है। अपने आपको शान्त कर लेना है-प्रलय हो जाता है।

वाचस्पति मिश्रने लिखा है—ईश्वर सोया है—तो हमलोगोंकी साँस घड़घड़ाती है, वैसे उसकी साँस घड़घड़ायी और उसमें-से वेद निकले। जबतक वेद है तबतक ईश्वर जीवित है और ईश्वर चूँकि हमेशा जीवित है इसलिए वेद भी हमेशा जीवित है। केवल अपनी नाककी घड़घड़ाहट सुनकर ईश्वरकी आँख खुल गयी। नीदमें थे ही अपनी आँखोंका खेल देखकर मुसकान चेहरेपर खेल गयी सो स्त्री, पुरुष, बाल-बच्चे सब उसमें बन गये। फिर आँख बन्द कर ली और फिर सो गये। बोले, बस प्रलय! यह सब लीला कैवल्य ईश्वरका है। वह कभी अकेला सोना चाहता है तो प्रलय और कभी खेल देखना चाहता है तो सृष्टि, परन्तु यह उसकी प्रकृति है। प्रकृति माने प्रकृष्ट कृति उत्तम रचना। वेदमें तो ऐसे भी लिखा है कि एक दिन ईश्वरके मनमें आया कि कुछ गायें। जो वह कविता गाने लगा—उस काव्यका अर्थ सृष्टि बनता गया और संगीत उसमें रस भरता गया। 'पश्य देवस्य काव्यम्', इसका मतलब यह है कि किसी सामग्रीकी अपेक्षा ईश्वरको सृष्टि बनानेके लिए नहीं होती है—यह खेल है, उसकी एक लीला है, एक रंगमञ्च है और यह उसका अभिनय है। प्रलयके समय सब उसकी प्रकृतिमें मिल गये और सृष्टिके समय सब-के-सब निकल आये।

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्॥ 9.8

यह प्रकृति है, आदतकी लाचारी है, यह सहज स्वभाव है कि यह सारी सृष्टि पराधीन होकर प्रकट होती है। कभी भगवान् नयी-नयी सृष्टि दिखा देते हैं और कभी नयी-नयी सृष्टि समेट लेते हैं। यह उनका खेल है। कबड्डी खेलनेमें—खेलनेवाले मर जाते हैं और जाकर अलग बैठते हैं। वह सचमुच मरता नहीं है जिन्दा ही है। इसी प्रकार भगवान्‌की सृष्टिके खेलमें जो मरता है वह कभी मरता नहीं जिन्दा ही रहता है। यह भगवान्‌की लीला है—एक पार्ट मिलता है और एक पार्ट छूटता है—इतना ही है—यह अभिनय है, रंगमञ्च है। यही नियति कर दी गयी है। अब भगवान्‌ने अपना किसलिए बनाया क्यों बनाया? जो चीज हमारे कामकी नहीं हो उसको बोलनेकी तकलीफ भगवान् क्यों उठावेंगे? स्वयं तो जानते हैं परन्तु बोलेंगे क्यों? बोलेंगे इसलिए कि हमारे किसी कामकी वह बात होगी! इसीसे हमारे पूर्वमीमांसकोंने तो ऐसा माना है कि वेदके जिस मन्त्रसे हमारे लिए कोई मन्तव्य नहीं निकलता है वह निरर्थक है।

'आम्नायस्य'—वेद हमारे कर्तव्यका उपदेश करनेके लिए है—इसलिए वेदके जिस वचनसे हमारा कोई कर्तव्य नहीं निकलता वह निरर्थक है। ऐसा बोलते हैं कि ये हमारे कर्तव्यकी प्रशंसा करनेके लिए है। और है

हमारे लिए तो बोले—भगवान् अपना स्वरूप बताते हैं—'न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय'। आप सृष्टि बनाइये और सृष्टि बिगाड़िये। लेकिन सृष्टि बनानेके साथ आप मत बन जाइये। सृष्टि बिगाड़िये परन्तु आप बिगड़िये मत। आपकी भी तो सृष्टि है न! आप जो काम करते हैं, उस कामके साथ आप अपना बनना बिगड़ना मत जोड़िये। आप अलग रहिये। वहाँ हाथ डालिये जहाँसे आप खींच सकें। ये हमको किसीने बताया था। आजकलके व्यापारकी तो दूसरी गति है। हमको चालीस वर्ष पहले एक व्यापारीने बताया था कि हम महाराज व्यापार करते हैं तो सारी पूँजी नहीं लगाते हैं व्यापार न चले तो हम अपनेको तो बचा सके न! अब तो लोग बताते हैं कि व्यापारमें लोग अपना पैसा बहुत कम लगाते हैं, दूसरोंका ही लगाते हैं—चाहे आवे चाहे न आवे।

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु॥ 9.9

भगवान् कहते हैं— मैं सृष्टि बनाता हूँ और बिगाड़ता हूँ; लेकिन हमारा हाथ मैला नहीं होता।

'निबध्नन्ति धनञ्जय'—ऐसी एक असंगताका लेप चढ़ा लो। इसका मतलब दलबदलू नहीं है कि जो दल हारने लगे उसको बदल लो। भगवान्ने अपना बताया। 'न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय'। हे धनञ्जय—शब्दकी वैसे संज्ञा जो है वह अग्निके लिए है। धनञ्जय अग्निका नाम है। तुम अग्नि स्वरूप हो। ये पास-पड़ोसकी वस्तुएँ—जिनको तुमने अपने साथ जोड़ रखा है, इनके साथ रहो मत।

धनञ्जय शब्दकी एक संज्ञा तो है धनञ्जय अग्निकी और दूसरी संज्ञा है धनञ्जय प्राणकी। प्राणके दस विभाग होते हैं। प्राण, अपान, उदान आदि उनमें-से जो एक सूक्ष्म प्राण हैं—उसका नाम धनञ्जय है और वह मुर्देमें भी रहता है। यदि मुर्देमें वह प्राण नहीं रहे तो शरीरके जो अवयव हैं, वे चिपके न रहें आपसमें। वे भी बिखर जायेंगे। शरीरके अवयवोंको चिपका हुआ रहनेके लिए धनञ्जय होता है। इस प्राणके न रहनेसे भी रहता है, अपानके न रहनेसे भी रहता है—उदान-व्यान समानके न रहनेसे भी रहता है। सर्वव्यापी धनञ्जय वह व्यापक प्राण है। वह वायुसे एक होकर रहता है। तुम धनञ्जय हो। तुम यह समझते हो कि हम जो कर्म करेंगे वे मेरे साथ जुड़ जायेंगे। नहीं—ये कर्म तुम्हारे साथ जुड़ेंगे नहीं—तुम अपने स्वरूपको पहचानो।

उसने तो अपनी बात बता दी—मथुरामें पैदा हुआ उसको छोड़ दिया। गोकुलमें खेला, उसको छोड़ दिया और वृन्दावनमें नाटक किया था उसको भी छोड़ दिया और मथुरामें राज्यकी स्थापना की उग्रसेनके लिए, उसको भी छोड़ दिया। द्वारकामें इतनी लीला की, उसको भी समुद्रमें डुबा दिया। समुद्रमें डूब गयी द्वारिका!

तो; यहं श्रीकृष्णके लिए बनाना और बिगाड़ना बड़ी बात नहीं है। आप कोई भी काम कीजिये खेलकी तरह कीजिये—हम लोगोंने बचपनमें कितने हाथी, कितने घोड़े, कितनी स्त्री, कितने पुरुष गाँवमें मिट्टीसे बनाते थे और तोड़ते थे। एक सेठके घरमें देखा तो उनके लड़के मोमसे, आटेसे, खिलौना बनाते थे। एक खिलौना बनाते, उसको देखते फिर बिगाड़ देते। आप लोगोंने भी जरूर किया होगा; क्योंकि यह बचपन का स्वभाव है।

यह भगवान्की खास जिम्मेदारी नहीं है, वे वैसे ही बनाते-बिगाड़ते रहते है। 'न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय'—अपने ही बनाये हुए जालेमें फँस जाना यह बुद्धिमान् आदमीका काम नहीं है। स्वयं तो

अपने कर्म बनाया और फिर बोले किअब तो ऐसा फँस गये बाबा कि इसको छोड़ ही नहीं सकते। असलमें छोड़नेका जो सामर्थ्य है वह बना रहना चाहिए—त्यागका सामर्थ्य नहीं खोना चाहिए। 'उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु'—ये जो कर्म हैं वे मुझे नहीं बाँधते हैं। भगवान्ने अपने लिए बताया अग्निस्वरूप धनञ्जय तुम भी ऐसे ही बनो—तुमने धनका उपार्जन तो बहुत किया है। धनञ्जय—माने जो जीत-जीतकर धन लाया हो। यह संज्ञा होनेसे ही धनञ्जय शब्द बनता है। नहीं, जो धनञ्जय बन जावे—'धनानि जयति इति धनञ्जयः'। यह किसीके लिए भी शब्दका प्रयोग होगा, लेकिन जब धनञ्जय शब्दका प्रयोग होगा तो अर्जुनके लिए होगा। सबको धनञ्जय नहीं बोल सकते। यह संज्ञा शब्द है। इसको व्याकरणकी दृष्टिसे—यहाँ जो न पर बिन्दु है वह केवल संज्ञा अर्थमें ही होता है। चाहे अग्निकी संज्ञा है, चाहे प्राणकी संज्ञा है, चाहे कुन्तीपुत्रकी संज्ञा है—धनञ्जय—तुमने धन तो बहुत उपार्जन किया है लेकिन क्या—दिग्विजय तुम्हारे हाथ रही है? यह धन तुम्हारे साथ रहा है?

आओ, अपने किये हुए कर्मसे तुम स्वयं अपनेको बाँधो मत। जैसे वह तुम्हारा बनाया हुआ है वैसे ही तुम उसको छोड़ भी सकते हो। इसका दृष्टान्त—'उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु।' मैं उदासीन हूँ। खेल करनेमें दिलचस्पी भी है, खेलते भी हैं; पर ऐसा खेल नहीं खेलते हैं कि उसमें सचमुच मर जावें। 'उत् उर्ध्व आसीनवत्'—जैसे किसी नदीमें आयी बाढ़ और एक आदमी पहाड़की चोटीपर खड़ा, बैठा, लेटा देख रहा है कि नदीमें बाढ़ आ रही है। क्या हुआ? उदासीन होगा। 'उत् ऊर्ध्व आसीनः'। जो ऊपर बैठा है उसका नाम हो गया उदासीन। 'उदिति ब्रह्म नाम'। ब्रह्मका एक नाम है उत् क्योंकि उससे उत्, ऊर्ध्व कोई नहीं है। सबसे ऊर्ध्व होनेसे, ब्रह्मका एक नाम है उत्। वह ब्रह्ममें बैठ गया।

जैसे जीवनसे मुक्त पुरुष ब्रह्ममें बैठ करके और सबसे मुक्त रहता है, वैसे मैं स्वभावसे ही बैठा हुआ हूँ। लोकमें जैसा जीवन्मुक्त तुमने देखा है। एक अलीगढ़के पास महात्मा थे। उनका नाम था दूल्हा बाबा। लोग बड़ी श्रद्धा करते थे। एकके बेटेका ब्याह था। रातको उन्हें जेवर पहना दिया—लड़कीको जो देना है—चढ़ाना था सो आपको पहले पहना देते हैं—पवित्र करते हैं। वे पहनाकर चले गये। दूसरे कोई रातमें आये, वे उतार ले गये। अब उन्होंने आकर कहा—महाराज, हमारा जेवर? बोले भाई कोई पहना गया—कोई उतार ले गया। न हम पहनाने वालेको पहचानते हैं—न उतारनेवालेको पहचानते हैं। ऐसे जीवन्मुक्त महापुरुष—कोई आवे कोई जाय। यह उनकी मर्यादा होती है। 'आगच्छ, गच्छ, तिष्ठति'। आइये-आइये, जाइये-जाइये और रहिये-रहिये। ये तीनों बातें जीवन्मुक्तमें नहीं होती है—आया-आया—गया-गया—रहा-रहा।

जैसे जीवन्मुक्त पुरुष सृष्टिमें रहते हैं—किसीने प्रणाम किया किसीने गाली दी। किसीने चन्दन लगाया, किसीने धूल फेंक दी। किसीने गलेमें रस्सी डाल दी, किसीने माला डाल दी—ज्यों-के-त्यों। भगवान् कहते हैं—तुमने देखा है जीवन्मुक्त पुरुष सृष्टिमें? बोले हाँ महाराज, देखा तो है—बोले वैसे ही मैं रहता हूँ 'उदासीनवदासीनम्'—दृष्टान्त जो होता है वह देखे हुएका होता है। जिसको वक्ता भी देख चुका हो, श्रोता भी देख चुका हो, वैसा दृष्टान्त होता है। संसारका दिया दृष्टान्त और बताया कि मैं ऐसा हूँ। मतलब है कि अर्जुन तुम भी ऐसे ही बनो। ऐसा बननेके लिए वह कौन-सा भाव है जो धारण करना चाहिए।

उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु-'असक्तं तेषु कर्मसु'। कर्मके साथ चिपको मत। सटो मत। किसी कामके साथ मत सट जाओ कि वह काम छूटे तो तुम भी छूट जाओ। किसीके साथ इतना मत हटो कि वह तुम्हारा दुश्मन होकर रह जाय। सटना और हटना दोनोंमें ही असंग व्यवहार होना चाहिए। यह असंगता शरीरसे नहीं होती है। आसक्ति होती है मनमें—मन यदि आसक्त है तो आपको दुःख नहीं होगा। दुःखका अधिकरण-माने जहाँ दुःख होता है वह जगह अन्तःकरण है। सुख और दुःख दोनों मनमें होते हैं। आसक्ति जहाँ होती है, उसके मिलनेपर सुख होता है और जहाँ आसक्ति नहीं होती द्वेष होता है, उसके मिलनेपर दुःख होता है।

संसारमें आसक्ति न हो। सब करते चलो, करते चलो। और देखो बचपनसे अबतक पकड़कर रखा क्या है! बचपन कितना अच्छा था सब छूट गया। जवानी कितनी अच्छी थी, सब छूट गयी। हमारे माँ-बाप कितने अच्छे थे, उनकी याद आती है तो मनको बहुत अच्छा लगता है। लेकिन छूट गये। कहाँ हैं वह माँ, कहाँ हैं वह बाप! बहुत अच्छे थे। और कितने रिश्तेदार, नातेदार, सभी साथी, मित्र, कितने बढ़िया कपड़े और कितने बढ़िया मकान मिले और सब छूटते ही तो गये न! अनासक्तका अर्थ होता है अभिमान-शून्य। दुनियाकी किसी क्रियाको अपनी मत मानो। अभिमान मत करो। अभिमान-शून्य जो होता है उसको कर्म बाँध नहीं सकते।

भगवान्‌ने बताया 'न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय'। न मेरे मनमें अभिमान है और न मेरे मनमें आसक्ति है। मैं तो जीवन्मुक्त पुरुष संसारमें रहते हैं ठीक उससे मिलता-जुलता अपनी जगहपर बैठ गया। कभी स्थानभ्रष्ट नहीं होता। बतलानेका मतलब यह है कि मनुष्यको अपना जीवन इसी ढंगसे निरभिमान होकर व्यतीत करना चाहिए। पुण्यका बड़प्पन नहीं आयेगा और पापके कारण जो हीनता आती है वह भी नहीं आयेगी।

उसको यह पश्चाताप नहीं होता कि यह अच्छा काम मैंने क्यों नहीं किया। मुझसे यह गलती क्यों हुई? बोले जहाँ अभिमान धारण करके बैठा है, वहीं गलतीके लिए पश्चाताप होता है और यही अच्छाईके लिए अभिमान होता है। अच्छाईमें भी ठीक समयसे सम्पन्न न हो तो पश्चाताप होता है। अच्छाई भी दुःख देती है—बुराई तो करनेपर दुःख देती है और अच्छाई न करनेपर दुःख देती है। दुःखदायी दोनों ही हैं। इसलिए अच्छा—बुरा दोनों छोड़ो। आगे इस प्रसंगमें बतायेंगे—भगवान्‌को अर्पित कर दो। 'शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः'। अच्छाई, बुराई दोनों छोड़ोगे तो दोनोंके फलसे भी छूटोगे। और यह छोड़ना कैसे होगा? हाथसे होगा, पाँवसे होगा, जबानसे होगा—नहीं, अभिमान न रहनेपर होगा और अभिमान कैसे छूटेगा? जब परमात्मासे एक होकर बैठेंगे। परमात्मासे एक होकर रहो तो अभिमान काहेका? इस तरहसे आगे आपको सुनायेंगे कि संसारमें जो फँसे हुए लोग हैं वे कैसे फँसते हैं प्रकृतिके जालमें और महात्मा लोग कैसे प्रकृतिके जालसे मुक्त हो जाते हैं। बाहरसे महात्मा नहीं, भीतरसे महात्मा रहोगे तो तुम्हारे जीवनमें भय नहीं आयेगा। दुःख नहीं आयेगा। हमारे इसी जीवनके लिए ये वस्तुएँ हैं। यह गीता मरे हुएके लिए नहीं है। भूत,भविष्यके लिए नहीं है, हमारे इसी जीवनको परमानन्दमें मग्न करनेके लिए यह गीता है।

●

प्रवचन : 4

एक सिद्धान्त ऐसा है कि सब वस्तुओंके परमाणु अलग-अलग होते हैं: पृथिवीके परमाणु, जलके परमाणु। परन्तु सांख्य सिद्धान्त कहता है कि कारणावस्थामें सब एक ही होता है। अलग-अलग कण नहीं हैं, सब कणोंको नचानेवाली और कणोंके रूपमें रहनेवाली एक मूलशक्ति है, उस शक्तिका नाम प्रकृति है। वही सबका मूल है। जितने भी अलग-अलग बीज हैं, अलग-अलग जीवोंके शरीर हैं, वे सब एक ही तत्त्वके विलास हैं और उसका नाम है प्रकृति।

जड़वादी लोग मानते हैं कि प्रकृति ही सारा काम करती है, प्रकृतिसे ही यह वायु चलती है, प्रकृतिसे ही सूर्य-चन्द्रमा बनते हैं, ये सब प्रकृतिका काम है। मनुष्यकी प्रकृति अलग, पशुकी अलग और मूलमें सारी प्रकृतियाँ एक हो जाती हैं। नास्तिक लोग सारा काम प्रकृतिका स्वीकार करते हैं और विज्ञानशक्तिकी एकताको स्वीकार करते हैं और इसीसे सारी सृष्टि बनती है, ऐसा मानते हैं।

हमारा दर्शनशास्त्र है यह प्रकृतिकी एक साक्षी-दशा चेतन स्वीकार करता है, जिसके सामने यह प्रकृति कभी शान्त होती है और कभी विक्षिप्त होती है। इसकी दो मुद्रा हैं। जैसे समुद्र कभी शान्त हो गया और कभी लहराने लगा। ऐसे प्रकृति कभी शान्त हो जाती है, कभी विक्षिप्त हो जाती है। पर इस सबको जाननेवाला एक पुरुष रहता है। वह नियन्त्रण तो नहीं करता परन्तु देखता है। वह दर्शक है। गीता ऐसी प्रकृति स्वीकार नहीं करती जो स्वतन्त्र हो। गीतामें जो प्रकृति है, उसका एक मालिक है। उसकी देखभाल करनेवाला है। यह बात आगेवाले श्लोक बतावेंगे।

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥
अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥
मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः॥
महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥
सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढ़व्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते॥ 9.10-14

भगवान् बोलते हैं '**मयाध्यक्षेण प्रकृतिः**'—अध्यक्ष शब्दसे तो आप परिचित हैं। कई बार कई सभामें, सोसाइटीमें अध्यक्ष हुए होंगे अध्यक्ष शब्दमें जो अक्ष है वह तो है इन्द्रियोंका कोटर। इस शरीररूपी वृक्षमें कुछ छेद हैं, कोटर हैं। यह कान, यह नाक, यह मुँह, जो छिद्र हैं—शरीरमें उनको बोलते हैं अक्ष। इसीमें-से किसीके

रास्ते कर्म होता है और किसीके रास्ते ज्ञान होता है। कानसे शब्दका ज्ञान होता है, आँखसे रूपका ज्ञान होता। जिस चामको हम चिकना सपाट करते हैं इसमें भी छिद्र हैं। वे आँखसे नहीं दीखते, पर यन्त्रसे दीखते हैं। उसीमें से पसीना निकलता है और बाहरके वातावरणका प्रभाव भी उन्हींमें-से जाता है। यह नासिका भी एक अक्ष है। जीभ भी एक अक्ष है। जीभमें भी छेद-ही-छेद है। कोई खटाई ग्रहण करता है, कोई मिठाई ग्रहण करता है। कोई नमक ग्रहण करता है। यह छिद्रोंसे सबका ज्ञान नहीं होता। सब जिह्वाके छिद्र हैं और रस ग्रहण करते हैं।

अब आप देखो, इन्हीं अक्षोंसे अलग-अलग जो चीज देखी जाती है, उसको प्रत्यक्ष बोलते हैं—'अक्षं अक्षं प्रति प्रत्यक्षं'। आँखके लिए अलग प्रत्यक्ष है। कानके लिए अलग प्रत्यक्ष है। जैसे कठपुतलीका खेल होता है और नचानेवाला पीछे बैठता है—वैसे इन सब अक्षोंको, इन्द्रियोंको नचानेवाला जो इनके ऊपर बैठा हुआ है, सबको नचाता है। उसका नाम होता है अध्यक्ष। सबके ऊपर वही नजर रखता है। अगर वह चेतन न हो तो आँख देख नहीं सकेगी, कान सुन नहीं सकेंगे, जीभ स्वाद नहीं ले सकेगी। कोई ज्ञान नहीं होगा और कोई कर्म नहीं होगा।

अगर कोई नजर रखनेवाला न हो तो काम ठीक नहीं होता बल्कि काम करनेवालेसे देखभाल करनेवालेको निपुण होना चाहिए। महाराज रोटी बना रहा हो, गये घूमते हुए—तुम रोटी ठीक नहीं बेल रहे हो तो—कह देगा कि कैसे करें? लो तुरन्त बेलन हाथमें, लेकर बढ़िया रोटी बेल दो, तब तो तुम्हारी देखभाल चलेगी।

आजकल तो साहित्यमें कृतित्व बहुत चलता है। गतिके साथ तो 'प्र' जोड़कर प्रगति बना देते हैं लेकिन कृतिके साथ 'प्र' जोड़कर प्रकृति नहीं बनाते। वह शब्द ऐसा ही है। परमेश्वरकी सर्वोकृष्ट रचनाका नाम प्रकृति है और यह परमेश्वरकी प्रकृति है कि वह कभी बनाता है, कभी बिगाड़ता है। जैसे मनुष्य कभी एकान्तमें रहता है, कभी लोगोंमें रहता है। वैसे भगवान्‌का मन जब अकेले होनेका होता है तो अपने बनाये हुए जालेको, इन्द्रजालको समेट लेता है और जब खेलनेका मन होता है तब इस प्रकृतिके जालको फैला देता है और उससे खेलता है।

सांख्य दर्शनमें जैसे द्रष्टा और प्रकृति अलग-अलग है वैसे वेदान्त दर्शनमें द्रष्टा और प्रकृति अलग-अलग नहीं है। वे कहते हैं—'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञा दृष्टान्तानुपरोधात्' परमात्माका ही एक नाम प्रकृति है। जब जड़ताकी प्रधानतासे उसका नाम लेते हैं तो प्रकृति बोलते हैं और चेतनताकी प्रधानतासे उसका नाम लेते हैं तो ब्रह्म बोलते हैं। असलमें वस्तु एक ही है, जो अंगरूपसे कारणका चिन्तन करते हैं, उसके लिए वह प्रकृति है और जो स्वरूप रूपसे कारणका चिन्तन करते हैं उनके लिए वह ब्रह्म है। दृष्टिकोणका ही अन्तर है।

जैसे एक सोनासे तरह-तरहके ज़ेवर बनते हैं, एक मिट्टीसे तरह-तरहके बरतन बनते हैं, एक लोहेसे तरह-तरहके सामान बनते हैं। इसी तरहसे एक परमात्मासे यह सारी सृष्टि बनी हुई है। इसीसे यहाँ बताया कि 'सूयते सचराचरम्'—यह प्रकृति सचराचर जगत्‌की—जिसमें चलने-फिरनेवाले भी हैं और न चलने-फिरनेवाले भी हैं।

लेकिन इसी तत्त्वका वर्णन जब तेरहवें अध्याय में दिया तो कहते हैं कि—यहाँ जहाँ हम बैठे हैं यहाँसे

चराचरकी सृष्टि हुई है और ब्रह्ममें जब बैठते हैं और देखते हैं कि चराचर मैं ही हूँ। इसलिए केवल दृष्टिकोणका अन्तर है। ब्रह्म और प्रकृतिमें कोई तात्त्विक या मौलिक अन्तर नहीं है।

उपनिषद्का सिद्धान्त यह है कि भगवान्की मायाका ही एक नाम प्रकृति है। वह चेतन होनेपर भी जड़ दीखने लगता है। जड़ता है वह दिखायी पड़ती है और चेतन है परन्तु वह दिखायी नहीं पड़ता। इसलिए प्रकृति माने एक माया, एक जादूका खेल और यह वस्तुत: सब परमात्माका स्वरूप है। इसी मायाके अनेक रूप हैं।

भगवान्को नृत्य बहुत प्रिय है। संगीत भी प्रिय है। गाते तो स्वयं हैं ऐसा वेदमें वर्णन है। भगवान् बहुत बढ़िया गाते हैं। अपने अनेक नाम रख लेते हैं। यह स्त्री है, यह पुरुष है, यह बालक है, यह बालिका है, यह पशु है, यह पक्षी है—अपने ही अनेक नाम रख लेते हैं और बड़े प्रेमसे गाने लगते हैं। और जैसा-जैसा गाना गाते हैं—वैसा-वैसा बनता जाता है। यह विश्व क्या है? भगवान्का संगीत है। उनके संगीतमें वह शक्ति है, जो नाना रूप, नाना रंग-रूप, नाना आकृतिकी सृष्टि कर देता है। यह भगवान्का संगीत है और जहाँ संगीत बन्द किया, तन्मय हो गये—लीन हो गये—वहाँ सृष्टि गयी। ये नचा रहे हैं—अपनी अँगुलीको जैसे कोई नचावे। अपनी आँख नचानेका जो अभ्यास होता है जैसे वैसे ही भगवान् नचाते हैं इस सृष्टिको।

भगवान्की नर्तकीका नाम माया है। भगवान्की नर्तकीका नाम प्रकृति है। नचानेवाले भगवान् हैं—*'जग देखन तुम देखन हारे। विधि हरि संभु नचावन हारे।'* ये जो भक्तोंके भगवान् हैं ये तो नचाते भी हैं और नाचते भी है। लेकिन नाचते हैं मायाके साथ। 'रूप रासि नृप अजिर बिहारी। नाचत निज प्रतिबिम्ब निहारी।' अपने प्रतिबिम्बको देखकर नाचते हैं। स्वयं देखनेवाले हैं—स्वयं नाचनेवाले हैं। यह सब भगवान्की लीला हो रही है।

'हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते।' 'जगद् वर्तते, जगत् परिवर्तते' इसमें दो उपसर्ग हैं वि और परि तथा वर्तते। वर्तते तो है क्रियापद और वि और परि हैं उसके उपसर्ग, जो वर्ततेके अर्थको बदलते हैं। उपसर्ग धातुके साथ लगाया ही इसलिए जाता है कि क्रियापदके अर्थको बदल दे। देखो हार—'हृ' धातुसे घञ् प्रत्यय कर लाने, हर लानेके अर्थमें है—तो विहार, संहार, परिहार, उपहार, आहार ये सब एक-एक अक्षर अलग उपसर्गके जोड़े और आहार हो गया, उपहार हो गया, विहार हो गया, संहार हो गया, परिहार हो गया। एक ही धातु है उपसर्ग उसके अर्थको अलग-अलग कर देता है। तो यह जगत् बरत रहा है। अब बरत रहा है तो बदलो—'परिवर्तते' परिवर्तन हो रहा है। बचपन गया, जवानी आयी—जवानी जायगी बुढ़ापा आवेगा। जीवन जायेगा, मृत्यु आयेगी। यह सपनेकी तरह सारी सृष्टि बदलती रहती है। क्यों बदलती रहती है? यह सृष्टि नाच-नाचकर बदल-बदलकर, कभी इशारेसे अपनी ओर बुलाती है और कभी इशारेसे हटाती है। यही तो मृत्युकी मुद्रा है न!

नृत्यकी मुद्रा यही है, कभी आँखको टेढ़ी कर दी और कभी सीधी कर दी। प्रेमकी चालका नाम नृत्य है। यह जो माया नदी है, यह जो प्रकृति नदी है, यह परमेश्वरके सामने नाचती है और नचानेवाले सूत्रधार वही हैं। 'उमा दारु जोसित की नाई। सबहिं नचावत राम गोसाई'। जैसे कठपुतलीको—यह जड़को नचानेका वर्णन है—काकभुशुण्डिजीने कहा मर्कटके समान जीवोंको नचाते हैं। और शंकरजीने कहा कि नहीं-नहीं चेतन तो दूसरा कोई है ही नहीं—*'उमा दारु जोसितकी नाई। सबहिं नचावत राम गोसाई।'* काकभुशुण्डिजीके ज्ञानसे

शंकरजीका ज्ञान। थोड़ा ऊपर रहता है। अब आपको सुनायें—इस सारे चराचर जगत्‌में केवल परिवर्तन नहीं है—क्या है? विपरिवर्तन है। विपरिवर्तन माने विरुद्ध परिवर्तन। विरुद्धं परिवर्तते। जैसा परिवर्तन नहीं है वैसा मालूम पड़ता है। परमात्मा तो है ज्यों-का-त्यों। प्रकृति है ज्यों-की-त्यों। स्त्रियोंके जेवर जल्दी-जल्दी बदल जाते हैं तो सोना तो ज्यों-का-त्यों रहता है। उसकी कीमत बढ़ती जाती है। पर सोना ज्यों-का-त्यों रहता है। सोनेमें जेवर क्या है? परिवर्तन है। नहीं; तत्त्वका परिवर्तन नहीं है—नाम रूपका परिवर्तन है। सोना था, वह पहले कड़ेके रूपमें था। फिर उसको कंगन बना दिया। उसकी अंगूठी बनवा दी। उसका कुण्डल बना दिया। तो नाम तो बदल गये, उसकी शकल-सूरत बदल गयी। लेकिन सोना तो सोना ही रहा। सोनेके वजनमें कोई फरक पड़ गया क्या? वजन ज्यों-का-त्यों। असल वजनका फरक न माटीमें पड़ता है न पानीमें, न तेजमें, न वायुमें, न आकाशमें—तत्त्वके वजनमें कभी फर्क नहीं पड़ता। वह घटता, बढ़ता मालूम ही पड़ता है। मरता भी कुछ नहीं। आदमीके मरनेसे क्या माटी मर जाती है? माटी-माटीमें गयी। पानी-पानीमें गया। गरमी-गरमीमें गयी। आसमान-आसमानमें गया। हवा-हवामें गयी। मरना तो कुछ है ही नहीं।

मृत्यु न जड़की होती है न चेतनकी। एक माया ही है—मनुष्य शकल-सूरतको पकड़कर बैठ गया है। जेवर बनोगे तो टूट जाओगे और सोना रहोगे तो बने रहोगे। इतनी-सी वेदान्तकी बात है। तुम अपनेको जेवर मानते हो कि सोना? यदि स्वर्ण मानते हो तो टूटोगे नहीं—गल जाओगे तब भी सोना ही रहोगे। चूर-चूर हो जाओगे तब भी सोना ही रहोगे। और यदि तुम अपनेको नाम-रूप अँगूठी मानते हो तो टूट जाओगे। इस प्रकार जिसने आपको ब्रह्म मान लिया उसका टूटना बन्द हो गया। तो, 'विपरिवर्तते। विरुद्धं परिवर्तते। यत्र परिवर्तनं नास्ति तत्रैव परिवर्तनं प्रतीयते।' जहाँ परिवर्तन नहीं है, वहीं यह परिवर्तन मालूम पड़ता है।

भगवान्‌ने अपनी ओर नजर खींची। भगवान्‌का काम यही है कि अपनी ओर नजर खींचे। वैसे वेदान्ती लोग एक बहुत बढ़िया बात बोलते हैं। वे कहते हैं कि शब्दके द्वारा जिसका वर्णन किया जाता है—वह सच्चा हो कि झूठ हो, सचका भी वर्णन किया जा सकता है, पर जो वर्णन करने वाला है, वह सत्य ही होता है। जो बोलेगा तो है इसमें तो कोई शंका नहीं , लेकिन जो बोला जायेगा वह है कि नहीं, इसमें शंका हो सकती है। वचनसे वक्ताका आस्तित्व सिद्ध होता है।

श्री कृष्ण कहते हैं कि ये जो तुम हमको देख रहे हो, मैं मनुष्य नहीं हूँ। यह मनुष्यका आकार है।

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥ 9.11

यह मनुष्यका आकार है, मैं मनुष्य नहीं हूँ। मैंने तो मनुष्यका आकार ग्रहण किया है। अब जो लोग अपनेको आकार समझते हैं वे मायाके चक्करमें फँस जाते हैं। और जो अपनेको इस आकारमें भी निराकार अनुभव करते हैं, उनका न जन्म है, न मरण है। न जाना है, न आना है, न उसमें पाप है न पुण्य है, न स्वर्ग है न नरक है। यह तो जब शकल-सूरतवाले बनते हैं तब वे पापी होते हैं—पुण्यात्मा होते हैं, जिसने अपनेको शकल-सूरतके नाम रूपसे उठा लिया—हुलिया तो दो ही तरह की होती है एक तो नाम लिखा जाता है—अमुक नाम है, अमुकका

बेटा है—और एक ऐसी नाक है, ऐसा मुँह है, ऐसी आँख है—इन्हीं दोनोसे चोर पकड़ा जाता है। चोर पकड़नेके लिए उसका नाम पता चाहिए और शकल -सूरतकी हुलिया चाहिए। इस दुनियाँमें पकड़ा वही जायेगा जो अपना नामरूप रखके फँस जायेगा। और जो अपना नाम-रूप छोड़ देगा वह कभी पकड़ा नहीं जायेगा। उसके पकड़नेके लिए कोई रजिस्टर ही नहीं है। न यमराजके घरमें है, न कहीं बाहर है।

'अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।' पहलेके लोग मूढ शब्दका प्रयोग करते थे। क्योंकि परमात्माकी प्राप्ति मूढ़को नहीं होती—अमूढ़को होती है। 'गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्'—जिसके अन्दर मान नहीं है, मोह नहीं है, जिसमें मोह है उसीका नाम मूढ़ है। मूढ़ किसको कहते हैं? जिसका चित्त सत्यकी ओरसे विमुख हो गया है, विपरीत हो गया है। सत्यका तो अनुभव होता है। और असत्यके साथ मोह होता है। उसको हम छोड़ नहीं सकते। यह जो संसारमें मूढ़ हो गये हैं, अटक गये हैं— कोई आकारमें अटक गये हैं तो कोई विकारमें अटक गये। अपने-अपने संस्कारमें अटक गये—देखो मुसलमानका संस्कार इतना प्रबल हो गया कि वह मूर्ति तोड़ने लग गया। हिन्दूका संस्कार इतना प्रबल हो गया कि वह नमाजके समय वहाँ जाकर बाजा बजाने लगा। यह दोनो अपने-अपने संस्कारोमें मूढ़ हो गये। भी मूढ़ हैं ये भी मूढ़ हैं—काम, क्रोध, लोभ, मोह ये जो विकार हैं चित्तके; उनमें मूढ़ होकरके चोरी-बेइमानी करते हैं। पर स्त्रीकी ओर बुरी नजर करते हैं। ये विकारमें मूढ़ हैं। और कोई पहलवान है, जरा गोरी चमड़ी है, सुन्दर है, तो वह आकारमें, रेखाओंमें मूढ़ है। यह क्या है? नाकमें सुन्दरता काहे की है? एक रेखा! रेखाओंसे बने हुए आकार। रेखा काहेसे बनी है? बिन्दु-बिन्दुसे और बिन्दु क्या है? शून्य है। शून्यमें बिन्दु है और बिन्दुमें रेखा है और उन रेखाओंसे बनी चीजमें हम मूढ़ हो जाते हैं। उसको सच्ची समझ लिया। उसको सुखदायी समझ लिया—वह मूढ़ हो गया।

जो मूढ़ नहीं होता है सृष्टिमें उसको परमात्माकी प्राप्ति होती है। अब जब भगवान् मनुष्यका शरीर लेकर आये तो लोगोंने—जैसे हमारा शरीर वैसे ही उसका शरीर ऐसा समझा। अरे बाबा सोनामें और मिट्टीमें बहुत फर्क होता है। एक मिट्टीकी शकल है, हड्डी, मांस, चाम अपनेको मानते हैं और उनमें मूढ़ हो रहे हैं। और एक अपनेको परिपूर्ण ब्रह्म चेतन जानता है उसमें स्थित है। हड्डी, मांस, चाम, विष्ठा, मूत्रकी पुड़ियाको जानते हैं, मानते हैं, उसीमें मूढ़ होते हैं। परन्तु भगवान् अपनेको चैतन्य, साक्षात ब्रह्म रूपमें जानते हैं।

अर्जुनने उनको पहचाना—तुम्हीं ब्रह्म हो, साक्षात परब्रह्म परमात्मा तुम्हीं हो। ये मूढ़ लोग मेरा अपमान करते हैं। असलमें जिनकी सृष्टि परमाणुओंसे बनती है, प्रकृतिसे बनती है, शून्यसे बनती है, वे लोग श्रीकृष्णको अवतार न मानें तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। लेकिन जो लोग यह जानते हैं, अनुभव करते हैं कि आत्मचैतन्य ही सारी सृष्टिके रूपमें दीख रहा है, उनके लिये तो 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' है। वे श्रीकृष्ण श्रीविग्रहका तिरस्कार कैसे कर सकते हैं? उनकी तो चिद् दृष्टि है। वे चेतन हैं, वे आनन्द हैं। 'रसो वै सः।'

'अवजानन्ति मां मूढाः मानुषीं तनुमाश्रितम्।' क्यों अपमान करते हैं?

'परं भावम् अजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्।' असलमें जितने भूत हैं— पृथिवी, जल, वायु, आकाश, प्रकृतिपर्यन्त—इन सब भूतोंका महेश्वर, अध्यक्ष मैं हूँ। अध्यक्षका एक और मजेदार अर्थ होता है। 'अधि

अक्षिणी यस्य'। अधि माने जो बुद्धिहीन लोग हैं उनकी देखभाल करनेके लिए नियुक्त किया जाता है। जो बुद्धिमान होगे वे बिलकुल ठीक-ठीक काम करेगें। तो जिनको बेवकूफोंका सरदार बनाया जाता है— अधीश्वर है, अधीश, अध्यक्ष है। नहीं तो जो सर्वज्ञ है उसे मालिककी जरूरत नहीं पड़ती है। अज्ञको ही मालिककी जरूरत पड़ती है। जहाँ लोग नियन्त्रण शून्य होते है वहाँ नियन्त्रण करनेके लिए अध्यक्षकी जरूरत होती है। अनुशासनरहित हैं तो अनुशिष्ट करनेके लिए अध्यक्षकी आवश्यकता पड़ती है। 'परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्।' ये सम्पूर्ण तो भूतसृष्टि है, उसका मैं महेश्वर हूँ और मैं पर भाव हूँ। माने हूँ तो सबका आत्मा सबकी सत्ता परन्तु जो नाम-रूपमें फँसी हुई सत्ता है, नाम-रूपमें फँसा हुआ जो भाव है वह मैं नहीं हूँ।

इसका नतीजा क्या होता है? इसकी परिणति कहाँ है? जो चीज नहीं है उसको सच मान करके फँस गये। वह कभी सटेगी तो कभी हटेगी भी। कभी आयेगी कभी जायेगी। जो फल लगता है पेड़में वह गिरता है। जो आग जलती है वह कभी-न- कभी बुझ जाती है। जो पैदा होता है वह मरता है। यह नियम है जो भी जीयेगा वह मरेगा। लेकिन जीवन-मरणसे रहित जो तत्त्व है उसको जान लो तो न जीवन है, न मरण है। उस परमात्माको जानो। अब बोले-उसको तो नहीं जानते हैं, जानते हैं छोटी-छोटी चीजको ।

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः॥ 9.12
महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥ 9.13

अब यही भेद बताते हैं कि संसारमें क्या स्थिति हो रही है लोगोंकी—ईश्वरकी ओरसे नहीं—अपनी ओरसे विमुख हो रहे हैं। दुनियाँको जाना अपने आपको नहीं जाना। और देखो अपनी योग्यताको जाने बिना कोई काम करोगे तो उसमें विफलता मिलेगी। आप यह नहीं समझ सकते कि कितना वजन उठा सकते हैं। अपनी योग्यता पता नहीं है। और एक क्विटल उठानेको जाओगे— नहीं उठेगा तो विफलता मिलेगी कि नहीं। आशा थी कि हम इसको उठाकर ले जायेंगे। असलमें जिसे लड़कीका व्याह करना होता है तो लड़की भले ही काली हो, कुरूप हो, अनपढ़ हो, हम कोशिश यही करेगे कि जो सबसे सुन्दर लड़का हो, धनी हो , स्वस्थ हो, उसीके साथ विवाह हो। ऐसा नहीं होता है तो दुःख हो जाता है। हम सोचते हैं यह व्यापार करेंगे इसमें इतना लाभ हो जायेगा। नहीं होता तो दुःखी हो जाते हैं। तो अपनी योग्यता, अपनी शक्ति, अपनी अवस्था, अपनी परिस्थिति इनका सबका विचार करके तब काम करना होता है। ताड़के ऊपर तो फल लगा है और बौना हाथ उठाता है तो कहाँ तक हाथ उसका पहुँचेगा? ये जो लोग संसारमें ही मूढ हो गये—उनकी आशा तो होती है बड़ी-बड़ी और योग्यता और शक्ति होती है बहुत कम तो क्या होगा? उनकी आशा व्यर्थ हो जाती है।

आशावान जो है उसको थोड़ा-थोड़ा दुख जरूर रहेगा। यदि वह युवा है, उत्साही है, अपनी आशाको पूर्ण करता है तो बात दूसरी है। लेकिन अपने अन्दर जो अमृतकी धारा बह रही है उसकी ओर न देखकर

आशा दूसरी ओर देखती है। उनकी आशा व्यर्थ गयी। मोघाशा मोघकर्माण: संसार तुम्हारे हाथमें रहेगा ऐसी तो आशा मानते हैं। और संसारको पानेका करते हैं—प्रयत्न। उनका ज्ञान है झूठा और बेहोशी छायी हुई है। और फिर अपनी आशा पूरी करनेके लिये क्या करते हैं—राक्षसी प्रकृति-जो बेमतलब दूसरेको तकलीफ दें। आसुरी प्रकृति- मतलब पूरा करनेके लिए , स्वार्थ पूरा करनेके लिए जो दूसरेको कष्ट दे और जो बिना स्वार्थके भी दुसरेको कष्ट दे वह राक्षसी प्रकृति।

वह कौन है? बोले 'प्रकृतिं मोहिनीम्'—बेहोश हैं बिचारे। तमोगुणी हैं। उनको कुछ पता ही नहीं हैं कि हम दूसरेको तकलीफ दे रहे हैं या अपनेको आराम दे रहे हैं। वे तो तोड़फोड़में ही लगे रहते हैं। उनको न अपने हितका ज्ञान है न पराये हितका ज्ञान है। राष्ट्रका हित कहाँसे करेंगे? वे तो अपनी पार्टीका भी हित नहीं करते हैं। अपने व्यक्तिका भी हित नहीं करते हैं—अपनेको भी बदनाम कर देते हैं। 'मोघज्ञाना विचेतस:'। दूसरेको तकलीफ देनेवाले—जिनकी सेवा करनी चाहिए उनको ताप पहुँचानेवाले—भलेमानुषको कष्ट देनेवाले और स्वयं अपनेको भी कष्टमें डालनेवाले, वे न मानवताका हित करेंगे, न विश्वका हित करेंगे, न राष्ट्रका हित करेंगे—न अपने समाजका हित करेंगे। वे तो 'स्वयं नष्ट: परान् नाशयति'—स्वयं तो गये और दूसरोंको भी मारनेमें लगे हुए हैं।

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः।। 9.12

अब देखो यहाँपर प्रकृति शब्दका अर्थ स्पष्ट करते हैं। तामसी प्रकृति अलग होती है और दैवी प्रकृति होती है। किसीका स्वभाव दिव्य होता है और किसीका स्वभाव आसुर होता है। अपने स्वभावको वशमें रखना, इसको पौरुष बोलते हैं।

श्रीमद्भागवतमें एक प्रश्न है—शूरता क्या है? उद्धवजीने श्रीकृष्णसे पूछा—वीरकी वीरता क्या है? शूरकी शूरता क्या है? शौर्य क्या है? वीर्य क्या है? इसके उत्तरमें श्रीकृष्णने कहा—स्वभाव! जो अपनी आदतोंपर विजय प्राप्त कर लेता है वह वीर पुरुष है। अरे भाई, हमारी यह आदत पड़ गयी है। आदत पड़ गयी है तो डाली हुई तो हैं न! जैसे डाली वैसे छोड़ दो। एक दिन तुमने आदत डाल ली थी। हमने ऐसा भी देखा कि 2-3 दिन कोई काम लगातार करते हैं और उनसे पूछो कि ऐसा क्यों करते हो? तो कहते हैं—हमारी तो आदत पड़ गयी तो तीन दिनमें कोशिश करके छोड़ दो। असलमें ये जो संस्कार होते हैं, ये विकारकी जो आदतें हैं उनको रोकनेके लिए ही संस्कार किये जाते हैं। बाल उग जाते हैं शरीरमें तो उनका संस्कार करते हैं। उनको काटकर, बनाकर, तेल-फूलेल लगाकर अच्छी तरह चिकना-चुपड़ा करते हैं। इसका नाम संस्कार होता है।

यह संस्कार तीन तरहका होता है। जैसे तुम्हारे बाल रुखे हैं तो दोष है। उनको चिकना करके दोष दूर करो। आजकल हमने देखा है स्त्रियोंकी बात तो हम नहीं जानते—हम तो पुरुषोंकी जानते हैं। खेती करवा लाते हैं अपने सिर पर—बालोंकी खेती होती है। जैसे धान रोपते हैं, खेतमें ऐसे सिर पर बालोंको रोपा जाता है और यह देखनेमें बिलकुल क्यारी-की-क्यारी लगती है। अच्छा नहीं है बाल तो क्या बात है अपनेको संस्कृत रखो।

बिखरे हुए हैं तो ठीक कर लो। आपके जीवनमें, आपके मनमें कोई बिखराव है तो संस्कार करके उसको ठीक कर लेना चाहिए।

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥ 9.13
सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते॥ 9.14

जल्दी-जल्दी यह पार करलें—अब तत्वका निरूपण कम है। अब भगवान्‌की भक्तिका निरूपण है। उनकी उपासना कैसे करनी? क्योंकि तत्त्वमें जैसे कोई बाजारमें कपड़ा खरीदने जाये तो यह सूत कौन-सा है इसपर दृष्टि कम जाती है। डिजाइन देखते हैं। डिजाइन देखने वाला ठगा जाता है। उसका तो मौलिक तत्त्व देखना चाहिए । आपने तो यह तो देखा ही नहीं कि सोना है कि पीतल है कि ताँबा है। उसकी धातु नहीं पहचानी। मूल वस्तुकी धातुकी पहचान है उसका नाम तो होता है तत्त्वज्ञान और केवल उसकी शकल, सूरत, डिजाइन—देखा चाम बहुत सुन्दर है—पर भीतर क्या है?

सोनेका घड़ा है ठीक है पर उसके भीतर है क्या—अमृत है कि दूध है कि शराब है? यह तो देख लेना चाहिए? जो राक्षसी, आसुरी और मोहनी प्रकृतिके आश्रित है उनसे विलक्षण है।

महात्मानस्तु—'तु' शब्दका जो प्रयोग है वह पहले जो वर्ण किया गया है उससे भिन्न है—वह ऐसा है, वह ऐसा है और यह तो 'वह' से विलक्षण है। 'महात्मानस्तु।' महात्मा बोलते हैं जिसका मन महान हो। आत्मा माने मन—आत्मा माने शरीर नहीं और जिसका आत्मा महान हो। 'महान् आत्मा = तस्य वसुधैव कुटुम्बकम्'। जो किसी घेरेमें बँधे हुए नहीं हैं। इतनी महान् आत्मा है कि एक देशके सैनिकको नहीं, विश्वके सैनिकको अपना हाथ समझता है। एक परिछिन्न दृष्टिको नहीं—समग्र मानवताको अपनी दृष्टिसे देखता है। यह प्रान्तीयता आयी, जातीयता आयी, साम्प्रदायिकता आयी और असलमें वह राष्ट्रीयता भी अच्छी नहीं है जो मानवताके विरुद्ध होती है।

अखिल विश्वमें जो मानव सृष्टि है उस मानवताके विरुद्ध अपनी राष्ट्रीयता पड़ती है तो वह भी नमस्कार करने योग्य होती है। वह एक व्यामोह है। कहाँ घेरा बनाया? पाकिस्तान हिन्दुस्तानके बीचमें कोई नदी बह गयी? कोई समुद्रकी खायीं आ गयी? कोई पहाड़ आगया? मन ही तो है। जिन्होंने पहले कराची देखा है, लाहौर देखा है, ढाका देखा है, उनके भीतर वह संस्कार बना हुआ है कि यह हमारा देश है—सारा एशिया हमारा है। सम्पूर्ण विश्व विराट् हमारा है। उसको बोलते हैं महात्मा।

एक महात्माओंका आश्रम है—बड़ा विशाल। उसमें जो गुरुजी थे मर गये। उनके दो चेले थे। उनमें हुई लड़ाई। निर्णयमें ठीक मन्दिरके सामने—हनुमानजीका बड़ा भारी मन्दिर है—उसके सामने एक दीवार खिंच दी गयी। दीवारके इधर वो रहते हैं। दीवारके उधर वो रहते हैं। अब यह कोई महात्मा लक्षण थोड़े ही है कि हनुमानजीके सामने दीवार बनाके, उधरसे तुम पूजा करो, इधरसे हम पूजा करें।

'महात्मानस्तु मां पार्थ'—महात्मा माने समग्र विश्व जिसका आत्मा है। जैसे अपने शरीरमें ही कहीं नाखून है गड़नेवाला, तो कहीं आँख है प्यार करनेवाली, मुस्कान है प्यार करनेवाली, कहीं रसरक्त है तो कहीं मलमूत्र है। परन्तु है सब अपना आपा। वैसे ही समग्र विश्वसृष्टिमें जो अच्छा है—जो बुरा है सब अपना स्वरूप है। अपना दिल कभी नहीं बिगाड़ना चाहिए। 'महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिता:। भजन्त्यनन्यमनसो— पार्थ = परमेश्वर: अर्थ:प्रयोजनं यस्य।' जो परमेश्वरको चाहता है उसका नाम है पार्थ । जो पृथाका पुत्र है उसका नाम है।

हे परमेश्वर चाहनेवाले अर्जुन सुनो! महात्माओंकी बात तुमको सुनाता हूँ। पहली बात यह है कि अपने जीवनमें दैवी प्रकृतिको धारण करना है। दैवी प्रकृति है क्या? दैवी संपदा। मा शुच: संपदं दैवीं अभिजातोऽसि पाण्डव:। शोक मत करो। तुम्हारे जीवनमें दैवी सम्पति है। दैवी सम्पति क्या है? अभयं—साँचको आँच क्या? अगर तुम परमात्माके स्वरूप हो तो तुम्हें डर किसका है? तुम्हारा कौन क्या ले जा सकता है? जितना परमात्माने तुमको दिया है वह कोई छीन नहीं सकता है। अभय शब्दका अर्थ है—किसीको भयभीत करे नहीं और स्वयं भयभीत होवें नहीं। किसीको डरावे नहीं और स्वयं डरे नहीं। सब वस्तु—चिद्वस्तु अपना स्वरूप है। अन्त:करण शुद्ध रखे। 'अभयं सत्त्वसंशुद्धि:'। और ज्ञानके अनुसार—ज्ञानयोगमें अपनी स्थिति हो। दैवी सम्पतिका कई प्रकार है। यह महात्माओंके जीवनमें रहती है। और क्या करते हैं? 'भजन्त्यनन्यमनसो '— अनन्य मनसा होकर, अन्यमना नहीं। एक आदमीको रोटी खिलाते हैं— उधर देख रहे हैं। उनसे बात कर रहे है—देख रहे हैं कहीं—बात कर रहे हैं किसीसे, दो तरफ मन बैठ गया।

यह शिष्टाचार है कि जिससे बात करना है, उनकी ओर देखकर बात करें। जिसकी रोटी परसे—जरा प्यारसे, आँखसे देखकर, रोटी पटके नहीं। कहीं दाल, कहीं साग, कहीं चटनी। ऐसा नहीं ! 'अनन्यमनसा' माने मनको कई जगह नहीं करना। अनन्य भावसे परमात्माका भजन करना। अनन्य भावसे भजन होगा कैसे? कितनी चीजें दिख रही हैं। हमको यह पेड़ दिख रहा है, चिड़िया दिख रही है, स्त्री दिख रही है, पुरुष दिख रहे हैं तो मन अनन्य कैसे होगा? 'ज्ञात्वा भूतादिमव्यम्।' सम्पूर्ण प्राणियोंके आदिमें जो तत्त्व मैं हूँ, परमात्मा— वह कभी घिस नहीं गया है, अव्यय है,ज्यों-का-त्यों वह सबके अन्दर मैं हूँ। नजर तुम्हारी वह चाहिए जो बाहर देखकर रह न जाये। भीतर तक पहुँच जाये। सबके भीतर परमात्मा है। यह ज्ञान महात्माको है कि सबके आदिमें, और अन्तमें अविनाशी परमात्मा है।

इसलिए नाम, रूप चाहे कोई भी हो मैं परमात्माको ही देख रहा हूँ। यह हो गया अनन्यमनसा। ऐसा मन तो नहीं बनता है। आओ ऐसा मन बनावें।

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रता:।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते॥ 9.14
ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्॥ 9.15

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्॥ 9.16

मैं क्या हूँ ? 'अनन्यमना' कैसे हों? जब सबमें भगवान्‌को देखोगे तब अनन्यमना हो जाओगे। 'अनन्यमना' माने परमात्माके सिवाय और कहीं मन जावें नहीं। यह देखो श्याम, यह देखो श्याम। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'। सब परमात्माका स्वरूप। एक श्लोकमें भगवान्‌ने अपने बारह रूप बताये।

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥ 9.18

पृथिवी बनकर आपको ऊपर उठाये हुए हैं—पानी बनकर आपको तर करते हैं। गरमी बनकर आपके टेंपरेचरेको ठीक रखते हैं। कभी-कभी चढ़ उतर जाता है। वही साँस बनकर हमारे शरीरको जीवन देता है। यही हमारे शरीरमें अवकाश है। यही हमारे शरीरमें ज्योति हैं। जहाँ देखता हूँ वहाँ तुम्हीं तो हो। परमात्माका दर्शन कैसे होगा? 'सततं कीर्तयन्तो मां'—कीर्तन करो—'कीर्तन शब्दने'—यह कीर्तन शब्दका आजकल जो अर्थ प्रचलित है कि 'ढोलक बजाओ जोर-जोरसे गाओ' यह तो महाराज, खुदा जब बहुत दूर होता है—सातवें आसमानमें होता है, तो वहाँ तक तुम्हारी आवाज पहुँच जाय इसके लिए बड़े जोरसे चिल्लाते हैं। कीर्तन शब्दका अर्थ होता है 'कीर्तन शब्दने'। कीर्त धातुका अर्थ है सं शब्द अच्छे शब्दोंमें किसी वस्तुका वर्णन करना। 'संकीर्तनं भगवतो गुण कर्म नाम्ना'—भगवानके गुणका, चरित्रका, नामका संकीर्तन बड़े प्रेमस करो, मधुर स्वरसे । बाबा, वह इतना सुकुमार है भगवान कि उसके लिये कड़ी आवाजकी तो जरूरत ही नहीं है। ऐसा सुमधुर संगीत कि उसके कानमें गुदगुदी पैदा हो जाये, इतने मधुर स्वरमें बोलो। 'सततं'—हमेशा, आज बड़ी धूप निकली है, आज बड़ा अन्धेरा छाया हुआ—आज बड़ी गरमी पड़ रही है और दोनोंको मालूम है। यह नहीं कि किसी एकको मालूम है, दूसरेको बताना है। बतानेकी क्या जरूरत है? अरे कहो न देखो भगवानकी लीला—कल ठण्ड डाल रहे थे, आज गरमी डाल रहे हैं। उसमें भगवान्‌को जोड़ो। 'सततं कीर्तयन्तो मां।' कोई भी प्रसंग हो उसमें परमात्माका कीर्तन जोड़ लो।

हमारे चैतन्य महाप्रभुवाले सततं शब्दका अर्थ दूसरा करते हैं—लगातार नहीं—'सतत वीणादिकं वाद्यं' बाँसुरी लो, वीणा लो, सितार लो और उस पर भगवत्कीर्तन कर लो। 'सततं कीर्तयन्तो वीणादिकं वाद्यं यन्त्रं'—सततंका अर्थ है तार टूटने न पावे। देखो जब सूतसे वस्त्र बनाते समय एक सूत टूट जाता है तो मशीन बन्द हो जाती है। यदि परमात्माके साथ, अपने खजानेके साथ, अपने उत्सके साथ, अपने उद्गमके साथ, जो तुम्हारा सम्बन्ध है, वहाँसे जो रस्सी जुड़ी हुई है, यदि पावर हाउससे तुम्हारी बिजलीका सम्बन्ध नहीं रहेगा तो क्या होगा? बल्ब कैसे जलेगा। 'सततं कीर्तयन्तो मां'। तार जुड़ा हो। 'यतन्तश्च दृढ़व्रताः'।

●

प्रवचन : 5

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥ 9.13
सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढ़व्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते॥ 9.14

महात्माकी विशेषता क्या है? जो राक्षसी, आसुरी और मोहिनी प्रकृतिके आश्रित हैं वे तो भगवान्‌का भजन नहीं कर सकते परन्तु जो महात्मा हैं वे दैवी प्रकृतिका आश्रय लेते हैं। असलमें जो भगवानका आश्रय लेते हैं, उनमें दैवी प्रकृति प्रतिष्ठित होती है और जो दैवी प्रकृतिका आश्रय लेते हैं वे भगवान्‌का भजन करते हैं। बिना भगवान्‌के आश्रयके दैवी सम्पदा, दैवी स्वभाव नहीं हो सकता और बिना दैवी स्वभावके भगवान्‌का भजन नहीं हो सकता। यह दोनों एक साथ हैं। जैसे भागवतमें आता है कि मैंने अपने हृदयसे भगवान्‌का आश्रय लिया।

ब्रह्माजी बोलते हैं—मैंने अपने उत्कण्ठायुक्त हृदयसे भगवान्‌को पकड़ रखा है। अपने हृदयमें धारण कर रखा है। मेरी वाणी कभी झूठी नहीं होती। मेरा मन व्यर्थ चिन्तन नहीं करता। हमारा मन झूठमूठकी चीजोंमें नहीं जाता है। मेरी इन्द्रियाँ कभी कुमार्गमें गिरती नहीं। इसका क्या कारण है? उत्कण्ठायुक्त हृदयमें एक ही अभिलाषा है। लाख-लाख रूपमें वह भगवान्‌की ओर आगे बढ़ता है। यदि संसारका कोई काम है, कर्तव्य है तो उसको पूरा करो परन्तु मनको व्यर्थ इधर-उधर भटकने मत दो। उसको भगवान्‌में लगा दो। भागवतमें यहाँ तक वर्णन किया कि जिसके हृदयमें भक्ति है उसीमें सारे सद्‌गुण आकर निवास करते हैं।

जिसके हृदयमें भगवानकी भक्ति है, अकिंचन भक्ति, उसको दूसरे किसी व्यक्ति या दूसरी किसी वस्तुका सहारा नहीं चाहिए। ये भक्तिके साथ दो लक्षण हैं—'अकिंचनो' मेरा कुछ नहीं है, सब तुम्हारा है। मुझे और किसीका सहारा नहीं है, तुम्हारा सहारा है। 'अकिंचनो अनन्यगतिः।' बस, अब आयी भक्ति हृदयमें। जिसके हृदयमें यह 'अकिंचन' भक्ति आ जाती है—'सर्वे गुणास्तत्र समासते।' देवता लोग कहते हैं—भाई यह भगवान्‌का भक्त है, यह मालिकका अनन्य सेवक है—मालिकका कृपापात्र है। हम लोगोंको इसकी सेवा करनी चाहिए। उसके हाथमें इन्द्र बैठकर अच्छा काम करवाते हैं और पाँवमें विष्णु बैठकर अच्छी जगह ले जाते हैं। गति विष्णु हैं गति माने सब कर्मोंका जो फल है वह देने वाले स्वयं विष्णु । स्वर्गमें ले जावें, बैकुण्ठमें ले जावें, फल देने वाला विष्णु। सब देवता आकरके बैठते हैं और अकेले नहीं आते हैं, अपने गुणोंके साथ आते हैं। जिस कर्मसे इन्द्र इन्द्र बना है, वह सत्कर्म लेकर आता है। जिस वरोंसे वरुण बने हैं—वह आप्यायनी शक्ति। पृथिवी देवतामें जो धारणी शक्ति है वह हमारे अन्दर होनी चाहिए, उसे धारण करें। जल देवतामें आप्यायनी शक्ति है, सबको तर करना। तेजसमें प्रकाशिनी शक्ति है, सबको ज्ञान देना। वायुमें प्राणिनी शक्ति है, सबको जीवन देना, प्राण देना। आकाशमें व्यापिनी शक्ति है, सबको अपना आत्मा समझें। अपने साथ जैसा

व्यवहार करते हैं वैसा औरोंके साथ भी करनेका ध्यान रखते हैं। सब जितने देवता हैं—पृथिवी देवता, आपो देवता, अग्नि देवता, वायुर्देवता, ये सब देवता अपने-अपने गुणोंको लेकर उसके (भक्तके) जीवनमें बैठते हैं। जिसके जीवनमें भगवान्की भक्ति नहीं है, उसके जीवनमें महान गुण नहीं आ सकते। कहाँसे आवेंगे? क्योंकि सब महान गुणोंके आगार तो भगवान् हैं। वे आवेगें तो सब गुणोंको लेकर आवेंगे। हमेशाके लिए आवेंगे।

जो अपने हृदयमें भगवान्को नहीं बैठायेगा वह मनकी मोटरपर बैठा और बुरी-बुरी जगह दौड़ करके जाता रहता है। 'मनोरथेन बहिः' घरमें उसका मन नहीं लगेगा। अपने हृदयमें वह नहीं रहेगा। आप बाहर क्यों जाते हैं? या तो घरमें कोई तकलीफ हो, जहाँ हम उद्विग्न हो जाते हैं या बाहर बहुत कुछ आराम मिलता हो, सुख मिलता हो तो जाते हैं। किसीके घरमें एअरकण्डीशन नहीं है। दुकानमें एअरकण्डीशन लगा है—तो दोपहरके समय एअरकण्डीशन दुकानमें चला जायेगा। या तो अपने घरमें कोई दुःख है या बाहर सुख मिलता है। मनोरथेन—मनकी मोटर पर चढ़े और असत्य स्थान पर, जहाँ नहीं जाना चाहिए वहाँ चले जाते हैं। और जिनके हृदयमें भगवान् हैं—भगवान्की भक्ति है उन्हें कहीं नहीं जाना पड़ता है। महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः। देवताकी जो प्रकृति है, सम्पदा है, वह प्रकृति, वही सम्पदा है। माशुचः।

भगवान् कहते हैं—अर्जुन दैवी सम्पदा प्राप्त हो गयी है— 'अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।' 'दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तपमार्जवम्!' तीन ऊपर पहले जो हैं वे मानसिक है। 'अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञान-योगव्यवस्थितिः।' और दानं, दमश्च, यज्ञश्च, स्वाध्यायः ये बाहरके हैं। दान करो, मनको संयममें रखो, यज्ञ करो। यह दैवी सम्पदाकी पहचान है। महात्मा कौन है? जिसके अन्दर दैवी सम्पदा हो। ज्ञानी भी हो और उसमें दैवी सम्पदा न हो तो उस ज्ञानीको महात्मा नहीं मानेंगे। और कोई भजन-पूजन खूब करता हो और उसमें दैवी सम्पदा नहीं है तो भजन-पूजन करने वाला हो सकता है पर वह महात्मा नहीं हो सकता। खूब योगी हैं पर समाधिसे उठने पर आसुरी सम्पति उसमें आ जावे तो वह महात्मा नहीं हो सकता। वह योगी हो सकता है, महात्मा नहीं। भजन-पूजन करनेवाला हो सकता है, महात्मा नहीं। महात्मा होनेकी एक ही शर्त है कि अपने जीवनमें उत्तम गुण होने चाहिए।

इस गुणकी एक भूमिका बताते हैं। 'भजन्ति अनन्यमनसः।' अब महात्माकी तात्त्विक पहचान आयी। 'वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः। बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।' बहुत जन्मके बाद ज्ञानवान होता है। बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् भवति। ततः वासुदेवः सर्वमिति मां प्रपद्यते। अनेक जन्मसे सिद्ध होने पर ज्ञान प्राप्ति होती है और ज्ञानकी प्राप्ति होने पर वासुदेवः सर्वम् इति मां प्रपद्यते। सब कुछ परमात्मा है यह अनुभूति होती है। 'स महात्मा सुदुर्लभः।' वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है। अब देखो जब तक सब परमात्मा, वासुदेव नहीं होगा तब तक भजन अनन्य मनसा होगा ही नहीं। अनन्यमनसा तभी हो सकता है, जब भगवान्से अन्य कुछ न हो। जब तक अन्य रहेगा तबतक अन्यमना होगा। जब अन्य नहीं रहेगा तो अनन्यमना होगा।

गीतामें इस अनन्यताकी चर्चा अनेक बार की है। 'अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः'—इसी अध्यायमें

आनेवाला है। 'अनन्यचेता सततं यो मां स्मरति नित्यशः।' पहले आ चुका है। भगवान्‌का भजन करो। एक बात आप देखो कि आप चाहते क्या हो? जिस चीजको आप चाहते हो उसमें महत्त्वबुद्धि है कि नहीं। बिना महत्त्वबुद्धि हुए, उस चीजको कीमती माने बिना आप उसको चाहेंगे कैसे? और जब उसकी इतनी कीमत मानें कि पानेके लिए व्याकुल हों। जिसमें महत्त्व बुद्धि होगी, और उसको पानेके लिए आप घर, मजहब, ईमानदारी, बेईमानी स्वीकार करेंगे। इसलिए भक्तिका अर्थ है कि आपके जीवनमें जो महत्त्वबुद्धि है वह भगवान्‌के प्रति हो जाय। बिना भगवान्‌में महत्त्वबुद्धि सर्वोपरि हुए भक्ति प्रकट नहीं होगी। पहले यह देखो कि आपके अर्थसे भी महत्त्वपूर्ण भगवान् हैं। आपकी कामनापूर्तिसे भी महत्त्वपूर्ण भगवान् हैं। आपके धर्मानुष्ठानसे भी महत्त्वपूर्ण भगवान् हैं। मोक्षदाता प्रभु मोक्षकी अपेक्षा भी महान् हैं। जब भगवान्‌में महत्त्वबुद्धि होगी, भगवान् ही सबसे अधिक कीमती वस्तु हैं, वैसा मूल्यवान पदार्थ सृष्टिमें और कोई नहीं है।

अब आपके सामने विकल्प आ गया। क्या आप भगवान्‌के लिए संसारकी बेईमानी छोड़ते हैं? चोरी छोड़ते हैं? जारी छोड़ते हैं?, हिंसा छोड़ते हैं? आप भगवान्‌को छोड़ते हैं? एक ओर आपको झूठसे, बेईमानीसे, चोरीसे, जारीसे मिलनेवाली चीज है और एक ओर भक्तिसे मिलनेवाले भगवान् हैं तो आप अपने हृदयमें क्या रखना पसंद करेंगे? भगवान्‌की भक्ति रखना पसंद करेंगे कि दुनियाके लिए अपने चित्तको विक्षिप्त करना, मलिन करना, दूषित करना पसंद करेंगे? इसलिए अनन्यमना होकरके, क्योंकि परमात्माके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है। जहाँ देखता हूँ वहाँ तू-ही-तू है। सद्‌गुणको अपने जीवनमें धारण करनेकी यही युक्ति है— सर्वत्र भगवद्दर्शन।

एक बात और आपको सुनाता हूँ — असलमें सद्‌गुण बहुत प्रिय है। जिस शान्तिसे असत्य छूटता है उस शान्तिका नाम सत्य है। असत्यको छुड़ानेवाला है सत्य। यह तो ठीक है परन्तु बोलनेका नाम सत्य नहीं है। मौन भी तो एक सद्‌गुण है! और वह तो मानसिक तप है—मौन! 'भावसंशुद्धि'—किसी प्रसंगमें आप मौन रह सकते हैं या बोलते-ही-बोलते जायेंगे तो झूठ जरूर बोलेंगे। निरर्थक जरूर बोलेंगे। मौन धारणका भी सामर्थ्य होना चाहिए। असत्यसे बचानेवाला मौन है और उसका नाम शान्ति है।

इसीसे मुण्डकश्रुतिके भाष्यमें आचार्यने सत्यका अर्थ सत्य बोलना नहीं लिखा। उन्होंने लिखा, असत्य भाषणका परित्याग। परित्याग तो मौनमें भी होगा और सत्य भाषणमें भी होगा। असत्यका त्याग शान्ति है। और चोरीका त्याग भी शान्ति है। हिंसाका त्याग शान्ति है। परिग्रहका त्याग शान्ति है और कामवासनाके उद्रेकका त्याग शान्ति है। असलमें आप अपने हृदयमें जो वस्तु शान्ति देती है उसको पकड़ लें तो चाहे कुछ हो, चाहे घीका घड़ा ढरक जाय हम तो अपने हृदयको शान्त रखेंगे—अशान्त नहीं होने देंगे। हमारे हृदयकी प्रसन्नता, हमारे हृदयकी निर्मलता खो न जाय। और कुछ ध्यान रखनेकी जरूरत ही नहीं है। आप इतना ही ध्यान रखो कि हमारे हृदयमें शान्ति बनी रहे। हमारा प्रसाद कोई छीन न ले जाय। 'प्रसादस्तु प्रसन्नता।' हमारे हृदयकी निर्मलता, प्रसन्नता, शान्ति कहीं छिन न जाय। सारे सद्गुण आपमें निवास करेंगे और आपका मन अपनी आत्मामें जो कि परमात्माका स्वरूप है, उसमें स्थित रहेगा तब आप आत्मा नहीं, महात्मा हो जायेंगे।

आत्माकी सिद्धि विवेकसे होती है और परमात्माकी प्राप्ति अनुभवसे होती है। लेकिन महात्मा कैसे होता है? स्वयंको महात्मा होना हो तो सद्‌गुण चाहिए। 'भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्।' इसके लिए परमात्माका ज्ञान आवश्यक है। संसारकी जितनी भी वस्तुएँ हैं उनका उत्स परमात्मा है। 'प्रभवः प्रलयः स्थानं'—उसीमें-से सब निकलते और उसीमें सब लीन होते हैं। बस वह जान लो कि परमात्माके सब बच्चे हैं और सब परमात्माकी गोदमें हैं और अपने बच्चोंके रूपमें परमात्मा ही है। आप जहाँ देखेंगे—अच्छी-अच्छी शक्ल बनाकर आये हैं—स्त्रीके रूपमें तो, पुरुषके रूपमें तो, पेड़-पौधोंके रूपमें तो, कहीं कोई अन्य है ऐसा मन बनता ही नहीं।

अच्छा, अब उसकी प्राप्तिके लिए कायिक, मानसिक, वाचिक व्यापार—संस्कृत भाषामें व्यापार माने वाणिज्य नहीं होता है। मन, वचन, शरीर इनके द्वारा जो भी क्रिया होती है—व्याहृत उसको व्यापार बोलते हैं। संस्कृत भाषामें व्यापार शब्द बड़े व्यापक अर्थमें प्रयुक्त होता है। विशेष वह पालक और पूरक है। पाल जो अधूरेको पूरा कर दे। जिसके पास भोजन नहीं है उसकी विशेष रूपसे सम्पूर्ण भोजन पहुँचा दें—इसका नाम व्यापार है। और जो सूख रहा है उसको हरा-भरा कर दें, पोषण दे दें, पालन करें पोषण करें उसका नाम होता है पाल और विशेष रूपसे और पूर्ण रूपसे जो भरपूर कर दें लोगोंको, जिसके पास जो चीज न हो, उसके पास पहुँचा दे। तो यह शरीरसे, मनसे, वाणीसे जो हमारा व्यापार हो, जो भी क्रिया हो—वह भगवान्‌के लिए हो। अब व्यापार हो, जो भी क्रिया हो—वह भगवान्‌के लिए हो। अब व्यापार कीजिये—जिसके पास कपड़ा नहीं है, उसके पास कपड़ा पहुँचे और जिसके पास अन्न नहीं है, उसके पास अन्न पहुँचे। जिसके पास मकान बनानेकी सामग्री नहीं है, उसके पास मकान बनानेकी सामग्री पहुँचे। जिसके पास औषध नहीं है, उसके पास औषध पहुँचे। आपके व्यापारका नियम, अर्थ यह होता है कि अभावग्रस्त जो संसारके प्राणी हैं, उनके अभावकी पूर्तिकी जाय, उनको जीवनदान दिया जाय।

सबके लिए व्यापार कैसे होगा? जब भगवान्‌के लिए आपका व्यापार होगा। नहीं तो बहुत सीमित हो जायेगा। अपने सुखके लिए परिवारको भी छोड़ देते हैं। परिवारके सुखके लिए गाँवको छोड़ देते हैं। गाँवके सुखके लिए प्रान्तको छोड़ देते हैं। प्रान्तके सुखके लिए राष्ट्रको छोड़ देते हैं और राष्ट्रके सुखके लिए मानवताका ख्याल छोड़ देते हैं। विश्व-मानवताको छोड़ देते हैं। विश्व-मानवताकी अपेक्षा राष्ट्र छोटी चीज है। राष्ट्रकी अपेक्षा प्रान्त,प्रान्तकी अपेक्षा जिला, जिलेकी अपेक्षा गाँव छोटी चीज है। सम्पूर्ण विश्वको ध्यानमें रखकर हमको अपना काम करना है कि किसीको कष्ट न पहुँचे। यह कैसे होगा? हम तो सम्पूर्ण विश्वको ही नहीं जानते तब भगवत्-भावसे काम होगा? भगवान्‌के लिए जो काम हो जाता है वह सबके लिए हो जाता है। तो अपने हृदयमें शान्ति रखनेके लिए, प्रसन्नता रखनेके लिए, अपने हृदयको निर्मल बनानेके लिए, अपने हृदयमें पूर्णताको अभिव्यक्ति देनेके लिए भगवान्‌की भक्ति आवश्यक है।

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते। 9.14

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्।।
अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्॥
पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोङ्कार ऋक्साम यजुरेव च॥
गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥ 9.15-18

वाह, क्या बढ़िया बात सुना रहे हैं। पहली बात तो यह है कि आप अपने जीवनमें कोई व्रत लीजिये। 'दृढव्रताः' जब कोई व्रत लेते हैं, तो उसको पूर्ण करनेके लिए—कभी-कभी कष्ट भी सहन करना पड़ता है। आपके अन्दर सहिष्णुता आजायेगी और नियम पालनके लिए आत्मबल आयेगा। मनोबल आयेगा। जब कोई काम आप संसारमें करेंगे तो आपको आत्मबल चाहिए—मनोबल चाहिए—'नायं आत्मा बलहीनेन लभ्यः'। जो व्रत लिया, नियम लिया और जरा-सी तकलीफ होनेपर छोड़ दिया तो आपका मनोबल जो है, उसका ह्रास हो जायेगा। फिर आप कोई भी कठिन काम करनेमें समर्थ नहीं होंगे। नियम लिया और तोड़ दिया। जरा-सी कठिनाई अड़चन आयी, और तोड़ दिया। जो लोग अपने नियमका पालन नहीं कर सकते वे संसारमें कोई महान् कार्य नहीं कर सकते। क्योंकि महान् कार्य करने जब चलेंगे तो विघ्न तो आयेंगे ही—'श्रेयांसि बहु विघ्नानि'। अच्छा काम करनेमें विघ्न जरूर आता है। जरा-सा विघ्न आया और आप विचलित हो जायेंगे। उत्तम पुरुषका लक्षय यह है 'विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमाना प्रारभ्य चोत्तमजनाः न परित्यजन्ति'। बारम्बार उसके काममें विघ्न आते हैं परन्तु वह कोई उत्तम काम प्रारम्भ करके फिर उसको छोड़ते नहीं है। तो 'दृढव्रताः' यह बात है कि आपके जीवनमें दृढ़ नियम, दृढ़ व्रत होना चाहिए।

अब तो हमको यह हिसाब करना है, चाहे शरीर गिरे या काम पूरा हो। यहाँतक कि देखो भगीरथ गंगाजीको ले आये, तो एक पीढ़ीमें नहीं ला सके, दूसरी पीढ़ी, तीसरी पीढ़ीतक इसीमें लगे रहे और फिर गंगाजीको नीचे उतारकर उन्होंने छोड़ा। हिमालयमें-से पृथिवीपर ले आये। लोगोंके लिए अमृतका झरना, अमृतका स्रोत धरतीपर ले आये। एक पीढ़ी न सही, तीन पीढ़ी सही पर ले तो आये न! हमें भगवान्की भक्तिको अपने हृदयमें लाना है। इसके लिए शरीर, मन और वाणीसे—तीनों ओरसे सच्चिदानन्दको अपने जीवनमें बिठाना चाहिए। 'सततं कीर्तयन्तो मां'। प्रतिदिन, प्रतिक्षण लगातार—तार न टूटे। भगवान्का कीर्तन, भगवान्के स्वरूपका, उनके स्वभावका, उनके गुणका, उनके चरित्रका, उनके नामका, कीर्तन करना—अच्छे शब्दोंमें उनका उच्चारण करना। 'कीर्त संशब्दने' यह अपनी वाणी भगवान्के लिए लगे। नहीं लगती है—बीच-बीचमें बेमतलब कितनी बातें आ जाती हैं। 'यतन्तश्च' प्रयत्न करो। 'भक्त्या सततं कीर्तयन्तः' भक्तिसे भगवान्के स्वरूप, स्वभाव, गुण, चरित्र, नामका कीर्तन करो—एक बात। दूसरी बात नित्य योग, यह मानसिक

बात, नित्य योग न हो तो नित्य योगकी लालसा रखो। यह मानसिक प्रवृत्ति है और कायिक—शारीरिक क्या है?

'नमस्यन्तः' नमस्कार! देखो दुनियामें एक मजहब ही ऐसा है कि जो 'नमस् नमस् नमस् नमांसि' ईश्वरको नमस्कार करनेका है! श्रीरामानुजाचार्य तो कहते हैं कि चाहे कीचड़ हो, चाहे धूल हो, अपने शरीरकी परवाह किये बिना साष्टांग प्रणिपात करो। उसमें संसारका ध्यान रखनेकी कोई जरूरत नहीं है। 'नमस्यन्तश्च' ऐसा नमस्कार करो कि स्वयंको नमस्कार भी हो जाय। यह भी नहीं होता है, न तो नित्ययुक्त होता है— न तो सतत कीर्तन होता है और न तो नित्य नमस्यन्तश्च—यह क्या आश्चर्य है कि सततं है कीर्तनके साथ नित्ययुक्ता है युक्तके साथ और नमस्यन्तश्च मां भक्त्या और नमस्कार करो भक्तिसे। इसमें चाहिए व्रत।

वेदका मन्त्र है—

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणा।
दक्षिणया श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते॥

उसका अर्थ है, यदि जीवनमें कोई व्रत लोगे—ब्राह्मण लोग जब दक्षिणा लेते हैं यजमानसे तब इस मन्त्रका उच्चारण करते हैं। परन्तु केवल शब्दकी समता ही है इसमें—अर्थ तो दूसरा है। अपने जीवनमें कोई व्रत धारण करो। यदि व्रतमें कोई त्रुटि होगी, तुम्हारे करनेमें कोई गलती हो तो गुरु दीक्षा दे देगा कि यह काम ऐसे करो—यह करना चाहिए और जब कोई बतानेवाला मिल जायेगा, बता देगा तो दक्षिणा माने कौशल मिल जायेगा। वह काम करनेमें तुम्हें निपुणता मिल जायेगी।

जब कुशलतासे, चतुराईसे, निंपुणतासे कोई काम करोगे तो उसमें श्रद्धा हो जायेगी। रस आ जायेगा। श्रद्धा वह वस्तु है जो सूखेमें भी रस भर देती है। और 'श्रद्धया सत्यमाप्यते।' जैसे ज्ञानका शास्त्रमें वर्णन है न; कि ज्ञानसे आत्माका साक्षात्कार होता है, ब्रह्मका साक्षात्कार होता है, वैसे श्रद्धासे सत्यका साक्षात्कार होता है। यह वर्णन है, 'श्रद्धया सत्यमाप्यते।' अपने जीवनमें चाहिए नियमकी दृढ़ता और सबकी सहायताके लिए चाहिए भक्ति और प्रयत्न। मुखसे कीर्तन, शरीरसे नमस्कार और मनसे दृढ़योग।

'सततं कीर्तयन्तो माँ'—सर्वसाधारण है। इसमें प्राणिमात्रका अधिकार है। वाजपेय यज्ञ करना हो तो केवल ब्राह्मण कर सकता है। राजसूय यज्ञ करना हो तो केवल राजा कर सकता है और वैश्यस्तोम करना हो तो केवल वैश्य कर सकता है। लेकिन यह भगवान्‌की भक्ति ब्राह्मण करे या क्षत्रिय यह भेद नहीं है। मनुष्यकी दृष्टिसे कहो तो चाण्डाल भी कर सकता है।

भक्ति तो पेड़-पौधे भी कर सकते हैं। व्रजकी भक्तिमें यह वर्णन आता है कि कृष्णको देखकर लता खिलती है, पृथिवीको रोमांस हो जाता है और नदी स्थिर हो जाती है। पहाड़ोंसे मधुधारा गिरने लग जाती है। यह क्यों होता है? श्रीकृष्णके प्रेमसे! यह तो पेड़-पौधेके लिए बनायी गयी है। वहाँ गौएँ भी श्रीकृष्णको देखकर दूध झरने लगती हैं और पक्षी भी श्रीकृष्णको देखकर एकटक देखने लगते हैं। मोर भी नाचने लगता है। भक्तिमें अधिकारकी कोई समस्या नहीं है। कोई पापी हो—'अपि चेत्सुदुराचारो।' कुत्ता भी भगवान्‌की

भक्ति कर सकता है। यह सबके लिए है। जो भगवान्‌का बालक है, पुत्र है—जिसके स्वामी भगवान् हैं। अपने स्वामीकी भक्ति करनेमें सबका अधिकार होता है। अपने पिताकी भक्ति करनेमें सबका अधिकार होता है। अपनी आत्मासे प्रेम करनेमें सबका अधिकार होता है। अपने स्वामीकी हम सेवा करेंगे तो कोई कहेगा—तुम अधिकारी नहीं हो! अपने पिताकी कोई सेवा करेगा तो कोई कहेगा कि 'तुम अधिकारी नहीं हो'। इसीसे यह जो भक्ति है, यह प्रीति है—यह सबके लिए है। बल्कि यह बताया है कि जो यह भक्ति नहीं करता है, वह अपने कर्तव्यसे च्युत हो जाता है।

भागवतमें आया है कि हमारे पिता हैं परमेश्वर। वे हमारे स्वामी हैं। ईश्वर हमारे मालिक हैं। हमारा आत्मा है परमेश्वर। यदि हम उनसे प्रीति नहीं करेंगे तो जहाँतक हम पहुँच चुके हैं वहाँसे गिर जायेंगे। 'स्थानात् भ्रष्टः' कुर्सी तो छिन ही जायगी, जेलमें भी जाना पड़ेगा। 'स्थानात् भ्रष्टः' माने कुर्सी छिन गयी और जेलमें चले गये। तो उनसे प्रीति करना अपना कर्तव्य है। इसका अनुष्ठान भिन्न-भिन्न लोग भिन्न-भिन्न प्रकारसे करते हैं। भक्तिकी एक ही प्रक्रिया नहीं होती। मालिकके चलनेके रास्तेमें, उनकी श्रीमतीके चलनेके रास्तेमें, उनके बेटेके चलनेके रास्तेमें, उनके सेवकके चलनेके रास्तेमें अगर कूड़ा-कर्कट हो तो उसको साफ करना भक्ति है कि नहीं? वह भी तो सेवा है न! रसोई बनाना, पानी भरना, पंखा झलना, संगीत सुनाना, वेद-पाठ करके सुनाना, पहरेदारी करना सब सेवा है।

श्रमका प्रकट रूप है सेवा। और प्रेमका बाप है विश्वास। जितना विश्वास होगा उतना प्रेम होगा। जितना प्रेम होगा, उतनी सेवा होगी। वह एक ही रीतिसे नहीं होती। भिन्न-भिन्न रीतिसे होती है। 'ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।' ज्ञान-यज्ञ भी है और यज्ञ भी है। इसमें विशेषता क्या है कि एक तो होता है वेदान्तियोंका अद्वैतात्मक ज्ञान। उसमें क्रियाका समन्वय नहीं होता है। क्रिया परम्परासे समन्वित होती है। कर्म किया—अन्तःकरण शुद्ध हुआ और अन्तःकरणमें ज्ञान हुआ। वह एक प्रक्रिया अलग है और यह जो समग्र भक्तिकी प्रक्रिया है—उसमें रामानुज और मध्व, बल्लभाचार्य, समग्र शैव, शाक्त, गाणपत्य, सौर सब एक मत हैं। वे कहते हैं कि हमारा जो जीवन है इसमें कुछ कर्मेन्द्रिय हैं और कुछ ज्ञानेन्द्रिय हैं। केवल ज्ञानेन्द्रियसे जो काम होगा वह तो ज्ञान होगा और केवल कर्मेन्द्रियका जो कर्म होगा वह केवल कर्म होगा। पर जब एक शुभ उद्देश्यसे ज्ञान और कर्म दोनों एकमें मिल जावें तो उसका नाम ज्ञान-यज्ञ हो जायेगा। यज्ञ होनेसे कर्म हो गया और ज्ञान तो उसमें है ही। देखो, भगवान्‌को देखो, यह ज्ञान हुआ और भगवान्‌के लिए चलो, यह कर्म हुआ। जब भगवान्‌के दर्शनके लिए चले तो उसका नाम ज्ञान-यज्ञ हो गया। कोई भी मनुष्य चाहता है कि हम आँखको भगवान्‌में लगायें और हाथ न लगायें। कान तो लगायें पर जीभ न लगायें। जीभ लगायें पर कान न लगायें। ऐसा नहीं होगा। यदि परमेश्वरका ज्ञान प्राप्त करने जाओ तो प्रेम होता जायेगा और उसकी सेवा भी अवश्य होगी और सब परमात्माका स्वरूप है।

जो यह है वह भी भगवान् है और जो मैं हूँ वह भी भगवान् ही है। तब—'ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।' भागवतमें लिखा है कि अपनेमें भी भगवान्‌की पूजा करनी चाहिए। वह कैसे? अपनेको ठीक

स्नान कराओ। ठीक वस्त्र पहनाओ। ठीक भोजन कराओ और अपनेको स्वस्थ प्रसन्न रखो। तब जैसे दूसरेके हृदयमें बैठे हुए भगवान्‌की पूजा होती है, वैसे अपने हृदयमें बैठे हुए भगवान्‌की भी पूजा करो। यदि अपनेको बहुत कष्ट दोगे तो अपनेको असुर बना लोगे। अपनेको सेवाके योग्य तो रखो। अपनेको सेवाके योग्य रखनेमें भी सेवा होती है। यदि अपनेको सुखाकर सेवाके अयोग्य कर दिया तो सामनेवालेकी सेवा भी नहीं हो सकेगी। श्रीमद्भागवतका कहना है, अपनेको हृष्ट, पुष्ट, स्वस्थ, प्रसन्न रख करके और फिर दूसरोंमें, सबमें भगवान्‌की सेवा करो। ज्ञान-यज्ञ चाहिए, ज्ञान भी चाहिए। आँखसे देखो, पाँवसे चलो।

श्रीकृष्णसे प्रेम करनेमें पेड़-पौधेके लिए भी मनाही नहीं है। दोनों एक साथ परमेश्वरके लिए काम करें। 'यजन्तो मां उपासते।' ज्ञान भी हो यज्ञ भी हो। यज्ञकी एक प्रक्रिया है। उसमें देना-लेना दोनों होता है। जैसे आप अग्निके सामने बैठकर हवन करते हैं तो आहुति तो देते हैं अग्निको और अग्निका जो ताप है—तेजस्विता है, उसको ग्रहण करते हैं अपने आप! दान और आदान दोनों ही यज्ञमें होता है। और उत्सर्ग नियम होता है। ऐसे आहुति देना, ऐसे व्रत करना, ऐसे पूजा करना, ऐसे रहना।

मनुष्यका जीवन एक यज्ञ है। पृथिवी यज्ञ करती है। इसके साथ कितना भी अन्याय करो, सह लेती है और भोजन सबको देती है। कोई गड्ढा खोद दे, थूँक दे, मल-मूत्र कर दे, लेकिन अन्न उसको मिलेगा ही। जलको आप कितना ही गन्दा कीजिये वह आपको मना नहीं करेगा—रस जरूर देगा। वायु आपको साँस देगा। सूर्य-चन्द्रमा बिना विश्राम किये प्रकाश, गर्मी और शीतलता दे रहे हैं।

हमारे जीवनका यज्ञ ऐसा होना चाहिए। 'ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये' किसके लिए यज्ञ हो—'मां यजन्तो' दान भी करे तो किसके लिए? बोले परमात्माके लिए—दान न गरीबके लिए है, न विद्वानके लिए। गरीबको दान करनेसे ज्ञानकी, धर्मकी, संस्कृतिकी रक्षा होती है। लेकिन गरीबमें जो है वह विद्वान्‌में भी है और विद्वान्‌में जो है वह गरीबमें भी है। गरीबका दान सत्प्रधान है और विद्वान्‌का दान चित्-प्रधान है, यह नाटकमें, संगीतमें दान है संगीत नृत्य वादनमें जो दान है, यह आनन्द-दान है। गरीबके प्रति जो दान है वह जीवनदान है। विद्वान् कहीं सृष्टिमें जीवित रहेगा तो फिरसे धर्म और संस्कृतिका झरना बहा सकता है। यज्ञमें दान होता है सद्‌गुणोंका आदान करना। अपने जीवनमें नियम निष्ठाको लाना । कष्ट सहिष्णुताको लाना। परन्तु उपासना भगवान्‌की करना।

'यजन्तो मामुपासते'। यह सब कुछ करें परन्तु करें भगवान्‌के लिए। तब इससे न तो अपने व्यक्तिमें अभिमानका उदय होगा और न तो दूसरेको हम एहसानमन्द बनायेगें। हमने तुमको दिया है नहीं, भगवान्‌को दिया है। हमने दिया है, नहीं-नहीं भगवान्‌ने दिया है। देनेवालेका हाथ उठानेवाला भगवान् है और लेनेवालेका हाथ रोपनेवाला भगवान् है। वही देता है और वही लेता है। बिचौलिएकी जरूरत भगवान्‌को नहीं है। स्वयं देते हैं, स्वयं लेते हैं। यह बात भागवतमें भरतोपाख्यानमें बिलकुल स्पष्ट है। भरतका देना—भगवान् दे रहे हैं। इन्द्रका लेना—बोले भगवान् ले रहे हैं। देवताका अन्तर्यामी भी भगवान् है और दाताका अन्तर्यामी भी भगवान् है। अन्तर्यामी ही अन्तर्यामीको देता और लेता है। इसमें अभिमानका कोई स्थान नहीं ही है।

'मां उपासते' उपासना कई तरहकी होती है। 'एकत्वेन, पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्'। अपने मैंको परमात्मासे मिला दो—एकत्व हो गया। जैसा अपनेसे प्रेम है, अपनी सेवासे, वैसे ही सबसे प्रेम, सबकी सेवा। मैं सेवक सचराचर रूप-राशि भगवंत'—यह पृथक्त्वेन। सूर्य भी वही है, चन्द्रमा भी वही है, भगवान् अष्टमूर्ति है, अष्टमूर्तिमें पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्रमा और ऋत्विक ये आठ मूर्तियाँ भगवान्की हैं—आठोंकी सेवा करो। सूर्य-चन्द्रमाको आप अर्घ देते हैं। अग्निकी भी सेवा करते हैं, वायुकी भी सेवा करते हैं। इसका यह भी एक अर्थ है कि पृथवी, जलको गन्दा मत करो उसमें अपवित्र वस्तु मत डालो। वातावरणको दूषित मत करो। आकाशमें गन्दे शब्द मत भरो। यह भी भगवान्की सेवा है। 'एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा' अनेक रूपमें—माँके रूपमें, पिताके रूपमें सेवा करो। सब रूपमें यही हैं। बहुधा—सब रूपमें वही है।

बल्लभाचार्यने तो पुत्रके रूपमें भगवान्की सेवा की। यह आश्चर्य है। रामकृष्ण परमहंसने माँके रूपमें पत्नीकी उपासना की। अपनी पत्नी है न—माँ-माँ कर रहे थे पूजाकी सामग्री रखकर। और आकर उनकी श्रीमतीजी बैठ गयीं सिंहासन पर तब जगज्जननी जगदम्बा मानकर पूजा की।

कौन स्तव्य बड़ा है, कौन स्तव्य छोटा है, यह कहनेकी कोई आवश्यकती नहीं। एक परमात्मा सबमें पूर्ण है। बहुधा विश्वतोमुखम्। जल दो पीपलमें, तुलसीमें, बेलमें और कहो यह परमात्माकी पूजा है। पार्थिव लिंग बनाओ और उसपर चन्दन-अक्षत चढ़ाओ और कहो यह भगवान्की पूजा है। पत्थरकी मूर्ति हैं—लिंग है सब।

यह बात दुनियाके किसी मजहबमें नहीं है, इसलिए इसको आप वहाँसे मत लीजिये। वहाँ तो ईश्वर निराकार है। वैज्ञानिक लोगोंको अभी ईश्वरका पता ही नहीं है। साइन्समें पूजा मत निकालो। दुसरे मजहबसे पूजा मत निकालो, अपना जो सिद्धान्त है कि सिवाय भगवान्के और कोई चीज नहीं है—वहाँसे पूजा निकालो—अब बताते हैं मैं क्या-क्या हूँ—

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्॥ 9.16

इस श्लोकमें आठ बार अहं है—यह भगवान्के अहंको देखो—मैं तुम्हारे सामने हूँ देखो मुझे, देख लो मुझे। वैदिक रीतिसे कोई संकल्पपूर्वक यज्ञ करते हैं तो उस यज्ञके रूपमें मैं हूँ।

पहचान नहीं है भगवान्से, यही दोष है। पहचान हो तो देखो सब भगवान्। पिता, मातामें भी मैं ही हूँ। सबका माता सबका पिता। अब देखो जो माता है वह पिता नहीं है जो पिता है सो माता नहीं है। दोनो अलग-अलग होते हैं और भगवान् वह है जो माताका स्नेह और पिताकी शिक्षा, दोनों लेकर प्रकट हैं।

•

प्रवचन : 6

अपनी चित्तवृत्ति भगवदाकार होनी चाहिए। किस निमित्तसे होती है इसपर विचार करनेका कुछ अधिक कारण नहीं है। बाहर निमित्त कोई भी हो , पर हमारे हृदयकी वृत्ति भगवदाकार होनी चाहिए। क्योंकि निमित्त तो बाहर ही रह जाता है और वृत्ति तो हमसे लगकर बनती है। मनमें यदि भगवान् हो तो बाहर कैसे भी आयें।

एक महात्मा थे, उनकी ओर काला नाग बढ़ा आ रहा था। मौत सामने थी, वह कहते हैं— ओ हो, प्यारे से बिछुड़े बहुत दिन हो गया। उन्होंने हमको बुलानेके लिए अपना दूत भेजा है। एक महात्माके ऊपर शेर झपटा तो बोले कि यह देह हमको बहुत तकलीफ दे रहा था। बार-बार अपनेमें खींच लेता था। इसका अध्यास बड़ा प्रबल हो गया था। भगवान्ने इसे भेजा है। अब यह हमारे शरीरको खा जायेगा। अध्यासका कोई कारण नहीं रहेगा।

अपनी दृष्टि यदि ठीक हो तो रणमें, वनमें, जनसमूहमें, शत्रुमें, मित्रमें, किसीसे मिलके, किसीको भी देखके हम अपने हृदयको सद्भाव-सम्पन्न रख सकते हैं। थोड़ी जागरूकता चाहिए, सजग रहें तो सभी रूपोंमें भगवान्का दर्शन हो सकता है। आराधना करनेवाले कोई एक होकर आराधना करते हैं, कोई अलग रहकर आराधना करते हैं। कोई गणेश, गौरी, शिव, विष्णु, सूर्य इन देवताओंकी आराधना करते हैं। आराधना हम किस नामकी कर रहे हैं और किस रूपकी कर रहे हैं यह महत्त्वपूर्ण नहीं है। महत्त्वपूर्ण यह है कि उस रूपको देखकर हमारे हृदयमें भगवान्का स्मरण होता है कि नहीं—भगवदाकार वृत्ति होती है कि नहीं।

जो लोग शिव और विष्णुको ही लेकर लड़ पड़ते हैं, उनके मनमें भगवदाकार वृत्ति नहीं होती है। जो निराकार साकारको लेकर लड़ पड़ते हैं उनके मनमें भी भगवदाकार वृत्ति नहीं होगी। भगवान् तो निराकार भी है साकार भी है निर्गुण भी है सगुण भी है, शिव भी है, विष्णु भी है। काली पोशाक पहननेसे ये नहीं है कि, सफेद पोशाक पहननेसे यह नहीं है— ऐसा नहीं है। जिसको काली पोशाक अच्छी लगती है, उसके लिए भगवान्ने काली पहन ली और जिसको सफेद पोशाक अच्छी लगती है, उसके लिए सफेद पहन ली।

हम तो कइयोंके बारेमें जानते हैं कि वे दूसरेसे पूछते हैं कि आपको कौनसी पोशाक पसन्द है, हम वही पहनकर आपके सामने आवेंगे। ऐसे पूछते हैं। तबतक वही वस्त्र पहनेंगे जो तुमको भावे। 'जा भेसा म्हारा साईं रीझे सोई भेष धरूँगी'। यहाँ मीराका उदार हृदय है। तो भगवान्का हृदय तो इससे कोटि-कोटि

गुना उदार है। जिस भक्तके सामने आना होता है, वैसी पोशाक पहन लेते हैं। वैसा मेकअप कर लेते हैं। पर हैं तो भगवान् ही। आप उनको पहचान लो तो गोरे रूपमें भी पहचानोगे, काले रूपमें भी पहचानोगे। वह हाथी- सा वेष धारण करके आवेंगे, वहाँ भी पहचानोगे। असलमें अपने हृदयमें भगवान्‌की पहचान होनी चाहिए। इसलिए बात कही गयी कि बहुधा, अनेक रूपमें भगवान्‌की उपासना लोग करते हैं, यहाँ तक कि सम्पूर्ण विश्वके रूपमें उपासना करते हैं। आप जानते हैं—सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः।' आप सबमें व्यापक हैं इसलिए सर्वरूप हैं।

व्यापकताका अर्थ वेदान्तमें दूसरा होता है। दूसरे दर्शनोंमें मूर्त संयोगित कर्मको व्यापकत्व होता है। जैसे लोहेका गोला आगमें डाल दिया और गोलेमें व्यापक हो गयी। जब ठण्डा हो गया तो लोहेका गोला गया लोहेके लोहेमें, आग गयी आगमें। पर वेदान्तमें व्यापकका अर्थ होता है—जैसे गोलेमें लोहा हो। लम्बे औजारमें भी लोहा है। छड़में भी लोहा है और गोलमें भी लोहा है। तो जैसे लोहेसे बने किसी भी आकारमें लोहा व्याप्त है ऐसे ब्रह्ममें बने हुए किसीभी आकारमें भगवान् व्याप्त है। उपादानके रूपमें भगवान् है यह वेदान्तका मत है। मायाके आकार दिखते हैं। उपादान—मसाला सारा-का-सारा भगवान् है 'सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः'।

अब आओ भिन्न-भिन्न रीतिसे भगवान्‌की अराधना करते हैं, इसपर एक दृष्टि डालें। असलमें भगवान्‌की आराधना बहुत विलक्षण है। सर्वतोमुख हैं भगवान्, जैसे किसीको कुछ खिलाते हैं-हम मोहनको खिलाते हैं कि सोहनको, यह भेद हमारे मनमें होता है। लेकिन हम भगवान्‌के मुँहमें ग्रास डालते हैं, भगवान्‌को खिला रहे हैं यह उपासनाकी पद्धति दूसरी है। सर्वरूपमें भगवान् हैं। सर्वरूपमें उनकी सेवा है। हमारे भगवान् हम लोगोंसे बहुत दूर नहीं है। उनके मिलनेमें कोई देर नहीं है। वे कोई दूसरे नहीं। न दूरी है, न देरी है, न दूसरापन है। केवल पहचानका ही फर्क है। पहचान लिया तो सब यहीं है।

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्॥ 9.16

भगवान् कहते हैं कि जब कोई संकल्पपूर्वक देवताका ध्यान करना है तो जिस देवताकी पूजा करनी हो तो उसका ध्यान करो और उसमें भगवान् देखो। 'अग्निर्देवता, वायुदेवता' अग्नि भी देवता है—अग्नि अन्तर्यामी भगवान्, वायु अन्तर्यामी भगवान्—स्त्री अन्तर्यामी भगवान्, पुरुष अन्तर्यामी भगवान्, वृक्ष अन्तर्यामी भगवान्। संकल्प करके जिस देवताका ध्यान करते हो, उस क्रतुके रूपमें स्वयं भगवान् वहाँ आते हैं। और श्रौतस्मृति पद्धतिसे, जैसा वेदमें लिखा है, जैसा श्रुतिशास्त्रमें लिखा है, उसके अनुसार यदि यजन करते हो, यज्ञ करते हो तो उस यज्ञके रूपमें भगवान् केवल यज्ञशालामें ही नहीं हैं। अपने हृदयमें भी हैं।

इसी देहमें अधियज्ञके रूपमें भगवान् हैं। जब तुम प्रेमसे किसीके शरीरपर हाथ रखते हो और उसको सुख होता है, यह यज्ञ है। यदि अपनी आँखोंमें प्रेम और आनन्दसे किसीको देखते हो तो वह भी यज्ञ है। यदि प्रेमसे किसीसे मिलने जाते हो, तो वह तुम्हारा चलना भी यज्ञ है। बोलना यज्ञ है, देखना यज्ञ है, कोई अपनी

बात सुनानेके लिए आया और प्रेमसे उसको सुन लिया—उसको सन्तोष हुआ कि इन्होंने हमारी बात बड़े प्रेमसे सुन ली तो यह भी यज्ञ है।

यज्ञ माने जो कुछ तुम्हारे पास है—अच्छा, बुरा, अच्छे-से-अच्छा, दूसरेके काममें आये, भगवान्‌को अर्पित करो। यह नहीं कि लखपतिने कहा कि हमारा शरीर जब पहलवान हो जायेगा तब हम आपकी मालिस करेंगे। इसका नाम भक्ति नहीं है और पहलवानने कहा कि जब हमारे पास करोड़ रुपये हो जायेंगे तब हम आपकी सेवा करेंगे। इसका नाम सेवा नहीं है। जो तुम्हारे पास भगवान्‌ने दिया है, उसीके द्वारा सेवा करो। बोले, अभी तो हमको लिखना नहीं आता महाराज, जब लिखना आजायेगा तब हम आपके बारेमें बहुत बढ़िया कविता बनाकर आपकी सेवा करेंगे। अरे भाई, अब इस जन्ममें कवि बनोगे कि नहीं बनोगे वह हमको मालूम नहीं है पर तुम्हारी सेवा भी तो रह जायेगी।

यज्ञ माने होता है—जैसे सूर्य, चन्द्रमा, वायु, अग्नि ये आजान (जन्मसे) देवता हैं। पृथिवी, जल जन्मसे देवता हैं। क्योंकि ये निरन्तर यज्ञ करते रहते हैं। सबका पालन-पोषण करते हैं, सबको तर करते हैं, सबको गरमी देते हैं, सबको हवा देते हैं, सबको प्रकाश देते हैं। 'अभियज्ञोहमेवात्र।' तुम्हारे हृदयमें जो यज्ञका अन्तर्यामी है वह बैठा हुआ है, तुम्हारे शरीरमें ही है। तुम भी देवताकी तरह यज्ञ करो।

'अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।' पितरोंके लिए जो कुछ करते हैं—पितरोंके अन्नका नाम 'स्वधा' है। बहुत अद्भुत है। देखो जिसके मरनेपर भी सेवा करनी पड़ती है, उसकी जीवनकालमें ही सेवा करनी चाहिए। मृत्यु होनेपर श्राद्ध करते हैं, तर्पण करते हैं, अन्त्येष्टि-संस्कार करते हैं, वर्षी करते हैं, तीर्थ श्राद्ध करते हैं। जिनकी मृत्यु हो जानेके बाद भी सेवा करना अपना कर्तव्य है, जीवन-कालमें उनकी कितनी सेवा करनी चाहिए। सेवा करो नहीं तो पछताओगे, हाय-हाय! हमने माताकी सेवा नहीं की। पिताकी सेवा नहीं की। आचार्यकी सेवा नहीं की। 'मातृ देवो भव! पितृ देवो भव! आचार्य देवो भव।' और तुम्हारे पास जो इकट्ठा हुआ है, उसमें पिताने कम-से-कम तुम्हें जन्म तो दिया है न! माताने तुम्हें गर्भमें धारण तो किया है न! उन्होंने तुमको पढ़ाया-लिखाया तो है। पालन-पोषण तो किया है। उनके ऋणसे उऋण कैसे हो सकते हो, यदि उनकी सेवा नहीं करोगे। इसमें अपने लिए त्याग, दान करनेका मौका मिलता है। कैसे-कैसे धन आया है कुछ पता है? लेते समय तो सोचते नहीं कि लेना चाहिए कि नहीं, उचित है कि अनुचित? इसमें दूसरेको तकलीफ होती है कि नहीं? लेते समय तो नहीं सोचते हैं फिर देते समय क्यों सोचते हैं कि किसको देना चाहिए—किसको नहीं? जहाँ देनेका मौका मिले वहाँ बोलो—भाई सौभाग्यका क्षण है। भगवान्‌की दी हुई चीज भगवान्‌को दे रहे हैं। किसी मनुष्यको नहीं दिया जाता।

जिसने दिया है, उसीको दिया जाता है और देनेवाला तो एक ही है। इसलिए ईश्वर-बुद्धिसे देना चाहिए। इससे त्याग, वैराग्य, सहिष्णुता आती है। इससे मरनेके बाद जीवात्मा रहता है तो हम भी मरनेके बाद रहेंगे यह आस्था बनती है और यह आस्था बननेसे मरनेके बाद आत्मा रहती है यह भावना होगी। तो हमलोग पाप करेंगे तो नरकमें जायेंगे। पुण्य करेंगे तो स्वर्गमें जायेंगे। उत्तम परिस्थितिमें जन्म होगा। जैसे लोग बीमा कराते हैं। यदि

यह आस्था हो जावे कि मरनेके बाद भी हमारी आत्मा रहती है तो पाप नहीं करेंगे, पुण्य करेंगे। बुरा काम नहीं करेंगे, अच्छा काम करेंगे। क्योंकि ये कर्म जो हम करते हैं, उस कर्मसे एक अपूर्व उत्पन्न होता है जो पहले नहीं था—कर्म जो होता है वह नयी वस्तु बनानेके लिए कर्म होता है। तुम्हारे अन्त:करणमें जिस वस्तुके भोगनेकी, पानेकी, बनानेकी शक्ति नहीं थी, यदि तुम अच्छा काम करोगे तो वह शक्ति तुम्हारे अन्त:करणमें आजायेगी। कठोपनिषद्का तो प्रश्न ही यही है कि मरनेके बाद यह आत्मा है कि नहीं है? जब है में आस्था होगी तब उसपर विचार होगा। विचार होगा तो ज्ञान हो जायेगा। इसलिए पितरोंके लिए 'स्वधा', देवताओंके लिए 'स्वाहा' कहा है। जो लोग अग्निहोत्र करते हैं उन्हें प्रत्यक्ष लाभ होता है। सचमुचका मन्त्रोच्चारण करते हैं और अग्निके पासमें बैठते हैं और आहुति देते हैं, व्रत नियम लेते हैं, उनका जीवन प्राय: स्वस्थ होता है, निरोग होता है क्योंकि रक्तका संचार उनका बिलकुल ठीक बनता रहता है और उनका कोलेस्ट्रॉल कभी नहीं बढ़ेगा। यदि घी नहीं खायें तो नहीं बढ़ेगा। क्योंकि गरमी शरीरमें पहुँचती है। ये, अब आगमें डालनेके बदले खुद ही अपने शरीरमें डाल लें तो बात दूसरी है।

जबसे हविष्यके सम्बन्धमें लोगोंको अनास्था हो गयी तबसे यह भी आवश्यकता मिट गयी कि यज्ञमें हविष्य चाहिए गायका। यज्ञमें गायका घी चाहिए, दूध चाहिए, दही चाहिए, मक्खन चाहिए, मलाई चाहिए। तबसे गायकी भी आवश्यकता नहीं रही। यदि यज्ञकी प्रथा होती और हविष्यकी आवश्यकता बनी रहती तो गाय भी होती।

अब देखो 'अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।' यह औषध जो है यह मनुष्योंका अन्न है यह जौ है, गेहूँ, मटर है, चना है। वृक्ष वह होता है जो काटनेपर नष्ट होता है और औषधि वह होती है जो एकबार फल देकर नष्ट हो जाती है। जैसे गेहूँ है, मटर है, चना है, जौ है, अरहर है, मूँग है, उड़द है, ज्वार है, बाजरा है, मक्का है एकबार फल देनेके बाद फिर रहता नहीं! इनको बोलते हैं औषधि।

अमरकोशका वचन है—जो एकबार पका फल देकर और नहीं रहते हैं उनका नाम औषध। यह किसके लिए है? यह मनुष्यका अन्न है। यह औषधि है। शंकराचार्यने लिखा है अन्नको आप भोगके लिए, स्वादके लिए मत खाइये। यह हमारे जीवनको स्वस्थ, निर्विकार रखनेके लिए आवश्यक है, जो हम खाते हैं—औषधम्। औषधके रूपमें अन्नका सेवन करो। जिससे उसका परिपाक ठीक हो जावे और जीवनका ठीक-ठीक निर्वाह चले। औषध शब्दका प्रयोग करते हुए बताया कि जिससे हमारे शरीरके दोषोंकी निवृत्ति हो और गुणोंकी वृद्धि हो, उसका नाम औषध। चरकने स्वास्थ्यका जो लक्षण बताया है—आरोग्य क्या है? स्वास्थ्य-संरक्षणं अपने स्वास्थ्यकी रक्षा हो और जो कफ, बात,पित्तके दोष विषम होते हैं, उग्र होते हैं, उनको शान्त रखें। भोजन वह है जो कफ, वात, पित्तमें किसीको तीव्र न होने दे। ऐसा भोजन किया कि कफ बढ़ गया—सरदी हो गयी, छातीमें रोग हो गये, ऐसा भोजन किया कि पित्त भड़क गया—ऐसा भोजन किया कि वायु बढ़ गयी। भोजन औषधिके रूपमें होना चाहिए। मनुष्यके अन्नका नाम औषध है। उसकी सुगन्ध भी नाकमें अच्छी आनी चाहिए। देखनेमें भी अच्छा लगना चाहिए। जीभको भी अच्छा लगना चाहिए, परन्तु वह हमारे लिए

हितकारी हो, यह आवश्यक है। उसमें सौरभ्य हो नाकके लिए, सौन्दर्य हो आँखके लिए और स्वाद हो जीभके लिए और सौहृद्य हो हृदयके लिए। औषध रूपसे अन्नका भोजन करना चाहिए। भोगके लिए भोजन न हो।

इसी प्रकार यह स्त्री-पुरुषका विवाह भी भोगके लिए नहीं हैं। अपनी काम-वासनाके नियन्त्रणके लिए है। अनेक स्त्री, अनेक पुरुषोंमें बिखर न जाय। नहीं तो कभी तृप्ति नहीं होगी। 'स्वधाहमहमौषधम् मन्त्रोहमहमेवाज्यं'। मन्त्र मैं ही हूँ। भगवान् कहते हैं 'स्वधाहमहमौषधम् मन्त्रोहमहमेवाज्यं'। मन्त्र मैं ही हूँ भगवान् कहते हैं कि 'अन्न भी मैं ही हूं' और अन्न पचानेवाला भी मैं ही हूँ।'

तैत्तरीय उपनिषद्में कहा है—'अन्नं ब्रह्म' अन्न ब्रह्म है, अन्नसे ही मनुष्यकी उत्पत्ति होती है। उसीमें स्थिति होती है। उसीमें प्रलय होता है। अन्न ब्रह्म है। चाहे जैसे हो अपने घरमें अन्न हमेशा बना रहे। भोजनके समय कोई आ जाये तो उसको भूखा नहीं लौटाना। यह अपने जीवनमें व्रत लेना चाहिए। जहाँ अतिथि भोजनके समय आकर घरसे लौटा—तो समझो कि घरमें आनेवाला जो अन्न है उसको भी वह लेकर लौट जाता है। अन्न ब्रह्म है, यह बात दुनियाके किसी मजहबमें नहीं है। आचार-मूलक जो धर्म है, जिनको चलानेवाले कोई आचार्य हैं या अपौरुषेय वेद, इनको छोड़कर जो किताबी धर्म हैं— पुत्रमूलक धर्म हैं, सन्देशहारक धर्म है उनमें यह बात नहीं कही गयी है। हमारा सनातन धर्म तो 'अपौरुषेय' वेदमूलक-ज्ञानमूलक धर्म है।

कीड़े मारकर तो अन्न पैदा हुआ, कीड़े मारकर तो पकाया गया, वह अन्न धरतीमें पैदा होता है—उसमें पशुका भाग होता है, पक्षीका भाग होता है, प्राणिमात्रका भाग होता है। तुम अकेले खाये जा रहे हो—अरे बाबा! जिसका-जिसका हिस्सा है, उनको भी तो याद कर लो। वेदमें, शास्त्रमें मन्त्र होते हैं—मन्त्रसे हमारा मन बहिर्मुखसे अन्तर्मुख होता है। मन्त्रमें बड़ी शक्ति होती है। गोस्वामीजीने तो साबर मन्त्रकी महिमा बतायी है—जो वेदमें है, शास्त्रमें है, वह पुराणमें है, मजहबमें है, वे मन्त्र तो हैं ही। उनकी महिमाका तो कहना ही क्या? भागवतके ग्यारहवें स्कन्धमें है—जो भगवान्‌का रूप, भगवान्‌का नाम लोकभाषामें लोग गाते हैं—जगह-जगहकी भाषामें बोलते हैं— उससे भी भगवान्‌का कीर्तन करो, ऐसा कहा गया है।

जिस सिद्ध पुरुषने जो शब्द बोल दिया है उस शब्दमें शक्ति होती है। यह मत पूछो कि किस पोथीमें यह लिखा है। यह देखो कि सिद्ध पुरुषने उसका उच्चारण किया है कि नहीं!

वे भले ही उपदेश न करते हों परन्तु उस सन्तकी सेवा करो। बोल-चालमें वे स्वच्छन्द बोलते हैं। उनकी उस स्वच्छन्द वाणीका भी नाम शास्त्र रखा जाता है। उसीसे शास्त्र बनते हैं। ये जो वेदके मन्त्र हैं, तन्त्रके मन्त्र हैं, शास्त्रके मन्त्र हैं, पुराणके मन्त्र हैं, सिद्ध पुरुषोंके बोले हुए मन्त्र हैं और मन्त्रोंमें कौन है? उसमें भगवान्‌की शक्ति बैठी हुई है। 'मन्त्रोऽहम्'—मन्त्र बोलकर हम अपने कर्तव्य कर्म करते हैं, उनके अर्थज्ञानकी वेदमें आवश्यकता नहीं है। वैदिक लोग इसको जानते हैं, हमको कई लोग कहते हैं—महाराज समझमें नहीं आता, तो वह हमारे किस कामका? भाई, तुम्हारी समझ ही सबसे बड़ी है? उस मन्त्रमें भी एक शक्ति है।

वेदकी व्याख्या करनेवालोंमें एक विभाग ऐसा है और वह बड़े-बड़ोंका है—जैसे कुमारिल भट्ट—माने मीमांसकोंमें जो मूर्धन्य हैं सर्वोपरि, वे कहते हैं कि देवता कहीं रहते नहीं है। जब हम किसी मन्त्रका उच्चारण करते हैं तो उस मन्त्रमें 'इदं जुहोमि—इन्द्राय स्वाहा'—ऐसे बोला जाता है। शब्दकी शक्तिसे, शब्दके धक्केसे—तुम्हारे दिलमें उसका धक्का लगा और उससे देवता पैदा होता है। और जितनी जगह मन्त्र बोला जाता है, उतनी ही जगह पैदा होता है—केवल एक देवता नहीं है कि एकके बुलानेपर स्वर्गसे आ जाये।

शब्दको भी देवता बोलते हैं। इसलिए मन्त्रमें अद्भुत शक्ति मानी जाती है। चाहे हमलोग कुछ समझें या न समझें। तान्त्रिक पद्धतिमें जो 'क्रीं, क्लीं, ह्रीं, श्रीं आदि बोलते हैं—इनका अर्थ होता है, पर जाननेकी आवश्यकता नहीं होती। मन्त्रकी शक्तिसे ही सारा कल्याण होता है। मन्त्र क्या है? मैं हूँ—भगवान्‌ने कहा। कोई मन्त्रकी ही आराधना करते हैं। 'मन्त्रोऽहमहमेवाज्यं' जो आहुति देते हैं वह आज्य, घृत मैं ही हूँ।

बाप-दादाने बचपनमें सिखाया था कि जब भोजन करो तो भोजनके समय पहले ये मन्त्र बोलो। उस समय तो हमको पता भी नहीं था कि गीता क्या होती है और यह गीताका श्लोक है। बचपनमें जैसे बच्चोंको श्लोक सिखाते हैं न! ऐसे ही यह सिखाया था। हाथमें जल लो बोलो—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥

आपका जो हविष्य है—ऐसे भोजन करनेके पहले पञ्चाहुति बतायी गयी। मैं अपने खानेके लिए मुँहमें नहीं डालता हूँ—मैं नहीं खाता हूँ—'प्राणाय स्वाहाः।' ये प्राणका भोजन है। आत्माका भोजन नहीं है। 'प्राणाय स्वाहा। अपनाय स्वाहा। व्यानाय स्वाहा। उदानाय स्वाहा। समानाय स्वाहाः।' ये पाँच आहुतियाँ दिया करते थे। 'कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा।' भगवान्‌का स्मरण करके, भीतर नन्हें-से भगवान् बैठे हाथ फैला देते हैं, हम जो ग्रास लेते हैं तो हाथ फैलाकर अपने मुँहमें डाल लेते हैं। 'अहं वैश्वानरः'।

वही भोक्ता है। 'मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्'। ताप और गति—अग्नि और वायु ये देवता हैं। इनके द्वारा यक्षको देखा जा सकता है। यक्षके रूपमें, विराट्‌के रूपमें जो परब्रह्म परमात्मा है, उनको दिखानेका सामर्थ्य किसमें है? तापमें और वायुमें। आप गतिकी परीक्षा करके और प्राणायाम आदिके द्वारा अपने शरीरमें ऊष्माको बढ़ाकर, प्राणवायुको स्थिर करके यक्षका दर्शन कर सकते हैं। परन्तु यक्षको पहचान नहीं सकते। उसकी चेतनता पहचान नहीं सकते। जब इन्द्र आवेगा—कर्मका देवता—कर्म करके आप अन्तःकरण शुद्ध करेंगे तो शुद्ध अन्तःकरणसे पहले ब्रह्मविद्याका दर्शन होगा। ब्रह्मविद्याका दर्शन होनेपर ब्रह्मका साक्षात्कार होगा। 'अग्रे नयति' जो मनुष्यको आगे बढ़ावे उसका नाम अग्नि है। सारे वेद अग्निसे प्रारम्भ होते हैं।

'अग्निमीले पुरोहितं'—यजुर्वेद प्रारम्भ होता है। आपके जितने कल-कारखाने चलते हैं—जितने हीरा आदि बनते हैं—जितनी फैक्टरियाँ चलती हैं यह अग्नि देवताकी कृपा है। अग्निके रूपमें भगवान् आते हैं। 'अहं अग्निः अहं हुतम्' जो अग्निमें डालते हैं, हवन करते हैं, जो उसका ईंधन है, सो भी भगवान् ही है। हविष्य भी

भगवान्, मन्त्र भी भगवान्, अग्नि भी भगवान् और उनमें जो हवन करते हैं सो भी भगवान्। 'पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।' किसी रूपसे उपासना करो, मन्त्रके रूपमें, यज्ञके रूपमें, स्वधाके रूपमें, निमित्त कोई भी हो, बुद्धि ब्रह्माकार होवे, ब्रह्मसे सम्पन्न हो।

'पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।' संस्कृत भाषामें पिता शब्दका अर्थ पैदा करनेवाला नहीं होता। 'पाति इत पिता।' पालन करनेवालेका नाम पिता है। जो रक्षा करे सो पति और जो रक्षा करे सो पिता। बोले दोनोंमें प्रत्ययका भेद है। धातु एक ही है। एक ही धातुसे दोनों बनते हैं—जैसे स्त्रीके लिए कुमारावस्थामें पिता रक्षक है और युवावस्थामें पति रक्षक है। रक्षणरूप साधर्म्य होनेपर भी प्रत्ययका भेद है। एकके प्रति श्रद्धा है, स्नेह है। एकके वात्सल्यका उपभोग करते हैं और एकके प्रेमका उपभोग करते हैं। बल्कि पिताके प्रति तो एकांगी प्रेम होना चाहिए। पुत्र चाहे प्रेम करे चाहे न करे— पिता प्रेम करता ही है, यह मान लेना चाहिए और पतिसे परस्पर प्रेम होता है। वहाँ एकांगी प्रेम नहीं चलता है। वहाँ चातक पपीहेका प्रेम नहीं चलता। स्वामी और दासमें चातक और पपीहेका प्रेम चलता है। पति-पत्नीके प्रेममें परस्पर प्रेम चलता है। 'दोऊ चकोर दोऊ चन्दा'— दोनों चकोर हैं, दोनों ही चन्द्रमा हैं।

'पिताहमस्य जगतः'। माता वात्सल्यमयी है, उसने गर्भमें निरपेक्ष भावसे धारण किया है। यह तो पिता नहीं करता है। पिता त्याग प्रधान होता है। उसने तो अपने शरीरकी धातु, बीज-वपन कर दिया। लेकिन वह माता है जिसने महिनो तक, बरसोंतक अपने गर्भमें धारण करके और फिर अकुंरको प्रकट किया। प्रसिद्ध तो माता ही करती है। माता माने जो हमको जाहिर कर दे। गुप्तको प्रकट करे उसका नाम माता है।

'पिताहमस्य जगतो माता धाता'—अब देखो—इसमें एक तो पिता-पितामहकी जोड़ी है, और एक माता और धाताकी जोड़ी है। माताने प्रकट किया और दूध पिलानेवाला मान्धाता होता है। मान्धाता शब्दका अर्थ यही है। इस बच्चेकी माँ तो नहीं रही। दूध कौन पिलावेगा? बोले धाता-धाई। माँके रहते बच्चेको माँका दूध मिलना चाहिए। आपको जवानी भोग, सौन्दर्य चाहिए परन्तु आपका पुत्र आपके संस्कारसे युक्त हो, आपका आज्ञाकारी हो, वंशपरम्पराका पालन-पोषण करे, इसके लिए आप अपना दूध उसके अन्दर नहीं डालेंगे तो उसके संस्कार कहाँसे बनेंगे? माता भी भगवान्, धाता भी भगवान्, पिता भी भगवान्, पितामह भी भगवान्— बोले ठीक है भाई, यह तो जन्मकी और रक्षाकी बात हुई अब हम जब बुद्धिमान हो गये हैं और जानना चाहते हैं तो जाननेकी वस्तु क्या है? वेद्यं—वेद्य भी भगवान् हैं।

आप जानते हैं—गीतामें वेद्य पर बड़ा जोर है। आप जानिये, जानिये, जानिये। बुद्धिकी इतनी महिमा है गीतामें कि संसारकी किसी मजहबी किताबमें बुद्धिकी ऐसी महिमा नहीं है। जानिये— आप परमात्माको जानिये और जितने मजहब हैं सब श्रद्धा प्रधान हैं। क्योंकि वे परोक्षमें श्रद्धा करवाते हैं जो हमारी आँखोंसे ओझल है। हमारी आँखोंसे दूर है, उसमें श्रद्धा विश्वास करवाते हैं। हमारा जो वैदिक दर्शन है वही केवल मजहब नहीं है। वह केवल मिथ्या कल्पनापर आधारित नहीं है, मायथोलॉजी नहीं है और जितने मजहब हैं मायथोलॉजीके आधार पर—मायथोलॉजी माने संस्कृतका शब्द है—मिथ्या, वह मिथ्या पर आधारित नहीं है। यह दर्शन है,

दृष्टि है- 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्य:'। सारे वेद मेरे ज्ञानके साधन हैं। 'वेदै: अहमेव वेद्य:' मैं वेदोंसे ही जाना जाता हूँ।

मैं ही जानने योग्य हूँ और 'अहं वेद्यैव' हमको जानना ही चाहिए। चार बात कही उसमें—सारे वेदका तात्पर्य मुझमें है। वेदोंके द्वारा ही मैं जाना जाता हूँ—मैं ही जाना जाता हूँ और मुझे जानना ही चाहिए।

पवित्र कौन है? मैं ही पवित्र हूँ—'अन्त:करणकी शुद्धि भी मैं ही हूँ। जब मैं ही अन्त:करणमें रहता हूँ तब मेरा ज्ञान होता है तो शुद्धि भी मैं हूँ। शुद्धि कैसे होती है? ॐकारसे भगवान्‌के नामका जप करो । ॐकार नाम मात्रका उपलक्षण है। भगवान्‌का नाम लो। ॐकार—किसी न किसी रूपमें सर्व धर्ममें स्वीकार है। जैन लोग ॐनमो अरिहन्तारं बोलते हैं। बौद्ध लोग ॐमणिपद्मे हुम् बोलते हैं। बौद्ध हो कि जैन हो, मुसलमानोके तो ॐ भी है और दक्षिण कालीका क्रीं भी है। उनके करीम बोलते हैं और हमारा जो ह्रीं है—हरी है, हर है—उसको रहीम बोलते हैं। हमारी प्रार्थनाको प्रेयर बोलते हैं। हमारे नमस्‌को नमाज बोलते हैं। मन्त्र होते हैं उसको सदा बोलते हैं। चार भाग होते हैं मन्त्रमें, उसको ऋग्वेद बोलते हैं। और जिनमें गीति—गा-गाकर जो मन्त्र बोले जा सकते हैं—गीति प्रधान वे साम होते हैं और जिनमें गीतकी और पाद बन्धनकी विशेषता नहीं होती है, गद्यके सामान जो बोले जाते हैं उनका नाम यजुष होता है। 'ऋक् साम यजुरेव च।' 'च' से अथर्वणकी व्यवस्था भी ग्रहण करलो।

ये सारे वेद कौन हैं? भगवान् बोले मैं हूँ। मैं ही वेद्य हूँ। मैं ही पवित्र हूँ। मैं ही ॐकार हूँ। मैं ही यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद हूँ। गतिर्भर्ता प्रभु: साक्षी निवास: शरणं सुहृत:। देखो भगवान ही भगवान् हैं। मुक्ति मिलेगी कहाँ? मुक्ति कौन है? बोले भगवान्। क्यों सोचते हो यह तो क्रम ही है बन्धनका। कहीं कोई आबद्ध नहीं है। अपना मन ही बँधता है। अपना मन ही छोड़ता है। 'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयो:।' मन ही है कहो मेरा, कहो तेरा, कहो—बँध गये। मेरा नहीं, तेरा नहीं—तेरा मैं नहीं, मेरा तू नहीं—सब छूट गये। 'मानि मानि बन्धनमे आयो।' गति कौन है? साक्षात् परमात्मा है।

अन्तमें तुम्हें कौन मिलेगा? अन्तमें परमात्मा मिलेंगे। यह दुनियाँ नहीं मिलेगी, दुनियाँकी कोई चीज नहीं मिलेगी। इस समय तुम्हारा धारण-पोषण कौन कर रहा है? भर्ता। जब तक अपने पास बहुत सारी चीजें होती हैं, बहुत सेवक होते हैं, तब तक मालूम पड़ता है, हमारी सेवा करते हैं। जबतक हमारे पास बहुत सामग्री होती है तबतक मालूम पड़ता है मैं ही खा-पीकर जीता हूँ; किन्तु जिस दिन न कोई अपने पास रहता है सेवा करनेवाला और न कुछ खानेको रहता है, उस दिन आप देखो चमत्कार! उस दिन भगवान् लाकर खिलाते हैं। उस दिन भगवान् सेवा करते हैं।

यह बात मैं किताबमें-से पढ़कर नहीं बोल रहा हूँ। मेरे जीवनमें ऐसे अनेक अवसर आये हैं जब खानेको कुछ नहीं रहा है और भगवान्‌ने खिलाया है। जब हमारे पास कोई साथी नहीं रहा है तब भगवान्‌ने साथीका काम किया है। यह केवल पढ़ी हुई बात नहीं है कि एकनाथके घरमें श्रीखण्डी बनकर भगवान् रहे। जना बाईके साथ आकर चक्की पिसवायी। नाई बनकर किसीका पाँव दबाया। यह बात केवल कल्पना नहीं है,

खयाली नहीं है, असलमें वे देखते रहते हैं, जहाँ उनके सिवाय हमारा कोई नहीं होता है, वहाँ स्पष्ट रूपसे भगवान् हमारी सहायता करते हैं।

'गतिर्भर्ताप्रभुः।' मालिक हैं—स्वामी हैं। हमको गलत काम करने पर दण्ड भी देते हैं। अच्छा काम करने पर पुरस्कार भी देते हैं। वह मालिक मालिक नहीं की नौकरसे तश्तरी टूट गई तो जुर्माना कर दिया—क्यों तोड़ा तुमने? और उसने चोरसे बचा दिया तो कुछ नहीं। यह तो उसका कर्तव्य था। यदि तुम उसकी गलती पर दण्ड देते हो तो अच्छाईपर उसको पुरस्कार भी देना चाहिए। अपना हाथ है। संस्कृत भाषामें नौकरको क्या बोलते हैं? नो करः। करो न भवति। वह हाथ नहीं है पर हाथका सब काम करता है। 'कर इव भवति।' वह हाथ नहीं है पर हाथका सब काम करता है। 'कर इव भवति। वह हाथ नहीं है। हमारा हाथ सम्हालते हैं, वैसे ही उनको भी सम्हालना चाहिए। अपने पाँवको जैसे सम्हालते हैं वैसे उसको भी सम्हालना चाहिए। यह स्वामीका काम है। स्वामी हमको कैसे सम्हालता है? जैसे अपने हाथको सम्हालता है। जैसे अपने मुँहको सम्हालता है, वैसे ब्राह्मणको सम्हालता है। जैसे अपने हाथको सम्हालता है वैसे क्षत्रियको सम्हालता है। जैसे अपने उरुको सम्हालता है, वैसे वैश्यको सम्हालता है। ईश्वर तो प्रभु है। सबका मालिक है।

'गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी'—साक्षी माने देख-भाल करनेवाला। आपलोगोंने शायद बाईबिल पढ़ी हो—आजकल रामचरितमानस न पढ़ें पर बाईबिल तो देख लेते हैं। उसमें क्या है? हमारे दर्शनका ज्ञान हो कि न हो पर विदेशके दार्शनिक लोग क्या कहते हैं उसके बारेमें तो जानकारी होती ही है। बाईबिलमें कहा कि जैसे गड़रिया अपने भेड़ोंकी देख-भाल करता है और खास करके उस समय जब वह भटकने लगती हैं, उसी तरह ईश्वर हमारी देख-भाल करता है और जब हम भटकने लगते हैं, तब खासतौरसे देख-भाल करता है।

साक्षी माने 'साक्षात् पश्यति।' चारचक्षु नहीं है—राजा लोगोंके बारेमें है कि जो उनके गुप्तचर होते हैं और वे जगह-जगहसे उनकी खबर देते रहते हैं। तो ईश्वरने गुप्तचर नहीं लगाया है। 'साक्षात् पश्यति।' अपनी आँखोंसे देखता है। साक्षी माने जो बिना किसी औजारके, बिना किसी आदमीको अपने साथ जोड़े, स्वयं देखता है, उसको साक्षी बोलते हैं। 'साक्षात् दृष्टरि संज्ञायाम्'। फिर भी साक्षी संज्ञा हो जाती है। सुनी-सुनायी बात नहीं है। ईश्वर देखता है। 'गति भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः।' हमारे हृदयमें निवास करता है। इसलिए उसका नाम निवास है। 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।' ईश्वरने अपने लिए घर नहीं बनाया कि हमारा तुम लोगोंसे अलग मकान है, रहनेकी जगह है। बोले- घरका कोई माई-बाप हो और अपने पुत्रोके घरमें अलग-अलग रहने लगे, अपने लिए घर न बनावें तो कभी किसी पुत्रके घरमें रहेगा, कभी किसी पुत्रके घरमें रहेगा। ईश्वरकी यह विशेषता है कि वह सब बच्चोंके घर हमेशा उनके साथ ही रहते हैं। यह स्नेह है उनका- 'सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।' उसका निवास हमारा हृदय है। बाल्मीकिजीने कहा प्रभु वह स्थान बताओ जहाँ तुम नहीं हो? शरणं माने रक्षक—जहाँ रक्षापेक्षाका उदय

हुआ वहाँ भगवान् रक्षा करते हैं। 'शरणं गृहरक्षित:'। शरण माने रक्षक। जो चाहता है प्रभुको, उसको हाथ पकड़कर अपने पास बुला लेते हैं और उसकी जैसी अभिलाषा होती है, उसको पूर्ण करते हैं। 'शरणं सुहृत्।' सुहृत् कौन है? जिसका दिल बढ़िया है।

भगवान्का वर्णन है 'मृदुर्दयालु:' एक साथ बारह गुणोंका वर्णन है। वे अपेक्षा नहीं करते हैं कि हमने जीवको जन्म दिया, हमने जीवको पोषण दिया, हमने जीवको आँख दी, कान दिया, बुद्धि दी, दिल दिया, दिमाग दिया और नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा दी। अब उसके बदलेमें वह हमको कुछ दे। भगवान् अपने लिए कुछ नहीं चाहते हैं— देना, देना, देना। 'सुहृत्' क्योंकि उनका ऐसा सुन्दर हृदय है कि कौन क्या कर रहा है, इसको देखे बिना सब कुछ देते हैं। वे ऐसा नहीं कहते कि भाई, यह चोर है तो सूर्य और चन्द्रमाकी रोशनी इसके लिए बन्द कर दो। यह दुष्ट है तो इसको साँस लेनेके लिए हवा मत दो। कभी वह पानी काटता नहीं है। दुनियाँमें पानीका बिल न चुकाये तो पानी कट जायेगा। बिजलीका बिल मत चुकाओ तो बिजली कट जायेगी, पंखा नहीं चलेगा, रोशनी नहीं होगी और भगवान् न कभी अपनी हवा बन्द करता है और न रोशनी कभी बन्द करता है, न पानी बन्द करता है न धरतीपर रहनेसे मना करता है। सुहृत्! ' 'प्रत्युपकारं अनपेक्ष: प्रभव: प्रलय: स्थानम्'—हमारा जन्म स्थान वही है। 'प्रभव:' माने जन्म-स्थान। प्रभवति अस्मात् इति प्रभव:। हमारा प्रलय स्थान भी वही है वहींसे आये हैं, वहीं जाना पड़ेगा और तिष्ठति अस्मिन्, हम रह भी उसीमें रहे हैं। उसीमें हमारा जन्म हुआ है, उसीमें मिलना है, उसीमें रह रहे हैं। 'प्रभव: प्रलय: स्थानं निधानं'— हम जो कर्म करते हैं वह किस खजानेमें रखनेके लिए? ईश्वरके खजानेमें रख दो। निधान माने खजाना। हमारी निधि वही है। जो कुछ कमाई करो वह ईश्वरको समर्पित कर दो। यह सुरक्षित रहेगा। तुम जिस योनिमें रहोगे, तुम जिस लोकमें रहोगे, जिस रूपमें रहोगे, कहाँ रहोगे! वह ऐसा बैंक नहीं है कि कभी फेल हो जावे। 'निधानं बीजम्'— जहाँ नाना प्रकारके रूप-नाम प्रकट होते हैं वह बीज वही है। यह जबतक सब जगत रहता है, तबतक संसार रहता है। भगवान्के इस रूपमें कोई व्यय नहीं होता। कभी दिवाला नहीं निकलता। 'अव्ययं— न व्ययति इति अव्ययम्।'

●

प्रवचन : 7

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।

ये साधन, जितने हैं वे सब मैं ही हूँ। चाहे वे जीवनके साधन हों, चाहे अन्य।

देवताके रूपमें मैं हूँ। जो हमारे जीवनमें कर्मानुष्ठान होता है उसके रूपमें स्वयं भगवान् प्रकट होते हैं। 'अहं क्रतुरहं यज्ञः।' 'पितामहस्य जगतो माता धाता पितामहः 'में यह बताया कि संसारमें जितने सम्बन्ध हैं उन सब सम्बन्धियोंके रूपमें भी मैं ही हूँ—साधनका रूप मत देखो, मुझे देखो और सम्बन्धिका रूप मत देखो, मुझे देखो। तब रागद्वेष नहीं होगा। फिर ये वैदिक ॐकार, ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद ये सब भी मैं ही हूँ। 'गतिर्भर्ता, प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्' । आपके लिए जो कुछ चाहिए वह सब मैं ही हूँ।

तोहि मोहि नाते अनेक मानिये जो भावे।
ज्यों-त्यों तुलसी कृपालु चरण शरण पावे॥

अपने मुँहसे कह दिया- मैं गति हूँ, भर्ता हूँ, प्रभु हूँ, निवास हूँ, प्रभव हूँ, प्रलय हूँ, स्थान हूँ, अव्यय बीजमें मैं ही सब कुछ हूँ। अब एक आश्वासन और देते हैं।

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन॥ 9.19
त्रैविद्या मां सोमपाः पूतधापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्र लोकमश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान्॥ 9.20
ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते॥ 9.21
अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥ 9.22

आश्वासन क्या है कि काल चक्रमें यह सारा जगत परिवर्तित हो रहा है। असलमें हमको ऐसा मालिक मिलना चाहिए, ऐसेसे सम्बन्ध होना चाहिए, ऐसा रिश्ता होना चाहिए जो कालकी गतिको अपनी मुट्ठीमें रखता हो। एक सवंत्सरात्मक काल, एक वर्षका एक सम्वत्—उसमें चार-चार महीनेके तीन विभाग कर लिए। चार महीने गरमीके, चार महीने वर्षाके, चार महीने शीतके, बारह महीनेका एक वर्ष। वैसे महाभारतमें तो एक प्रश्न उठाया कि समयके अनुसार राजा बनता है कि राजाके अनुसार समय बनता है? बोले-यह संशय अपने मनमें मत रखो । जैसा राजा होता है, वैसा समय नहीं आता है। पुराणोंमें कथा आती है कि जब दुष्ट राजा हुए तो दुर्भिक्ष पड़ गया। महामारी फैल गयी और श्रीमद्भगवत्में एक ब्राह्मणका बालक मरा था तो उसने सारा दोष राजाके सिर मढ़ दिया और अपने बच्चेको लाकर उनके दरवाजे पर पटक दिया। तो अर्जुनने ब्राह्मणसे कहा कि यहाँ सचमुच राजा नहीं नपुंसक है, हम तुम्हारे पुत्रकी रक्षा

करेंगे। ऐसे अनेक उदाहरण पुराणोंमें मिलते हैं कि संसारमें, जगतमें जो परिस्थितियाँ बनती हैं उसमें शासकका मुख्य हाथ होता है। सम्पूर्ण विश्वका शासक कौन है? सम्पूर्ण विश्वका शासक तो परमेश्वर है। ईश्वर शब्दका अर्थ संस्कृतमें होता है जो सबको अपने वशमें रखे।

सबको अपने शासनमें रखना जिसका शील स्वभाव है उसको ईश्वर बोलते हैं। यदि प्रशासन शिथिल हो जाये तो धर्म, कर्म, जीवन व्यवहार सब शिथिल हो जाता है। शुक्रनीति है, नीतिसार है, चाणक्यके सूत्र हैं--उनका कहना है यदि दुष्टोंको ठीक दण्ड नहीं मिला, उनके साथ लिहाज किया गया तो संसारमें कोई मर्यादा, कोई व्यवस्था नहीं रहेगी। हमारे भगवान कालदण्डको अपने हाथमें रखते हैं। यदि दुष्टको दण्ड न मिले, शिष्टको पुरस्कार न मिले तो कोई मर्यादा पालन नहीं करेगा। 'तपाम्यहम्'— मैं ही संसारमें गरमी डालता हूँ। ग्रीष्मऋतु मैं ही लाता हूँ। 'अहं निगृह्णामि।' मैं चार महीने तक वर्षाको रोक लेता हूँ। 'वर्ष उत्सृजामि च।' और वर्षा भी मैं ही करता हूँ। अर्थात जो ये ऋतुएँ बदलती हैं, जो पक्ष मास होता है, सौरमास होता है-सावनमास होता है, सौरमासके दो विभाग होते हैं, एक सायन एक निरयन। इन संवत्सरोंका नियन्त्रण कौन करता है? भगवान् । जब वह चाहते हैं तब प्रलय होता है। जब चाहते हैं तब सृष्टि होती है। जब चाहते हैं तब स्थिति होती है। यह सृष्टि, स्थिति, प्रलयका विभाग भगवान्ने किसी दूसरेके हाथमें नहीं दिया। इसमें कोई उपप्रधानमन्त्री नहीं है। तीनों विभाग स्वयं देखते हैं। पोशाक अलग-अलग पहनते हैं। लाल पोशाक पहनकर सृष्टि करते हैं, और साँवरी सलोनी पोशाक पहनकर स्थिति करते हैं। विष्णु भगवान्का श्वेत रूपमें भी वर्णन मिलता है। 'शुक्लाम्बरधरं विष्णुं शशिवर्णं चतुर्भुजम्।' चन्द्रमाके समान सफेद हैं। और एक ही कपड़ा भगवान्के पास नहीं है कि हमेशा पीताम्बर ही पहनें। कभी नीलाम्बर पहनते हैं। कभी श्वेताम्बर पहनते हैं। कभी रक्ताम्बर पहनते हैं।

सृष्टि स्थिति, प्रलयका नियन्त्रण परमेश्वरके हाथमें रहता है। ब्रह्मा, विष्णु, शिवकी पोशाक ही तीन है। वेश-भूसा ही तीन है। ईश्वर तीन नहीं है। 'जगद्-व्यापारवर्ज्यम्।'ब्रह्मसूत्रका यह सूत्र है। बल्कि हमारे रामानुजसम्प्रदायके वैष्णव लोग तो ऐसा मानते है कि लक्ष्मीजीके हाथमें भी सृष्टि,स्थिति, प्रलय भगवान्ने नहीं दिया। रामजीने तो सीताजीके हाथमें दे दिया—उद्भव, स्थिति, संहारकारिणिम्। लेकिन नारायणने लक्ष्मीजीको उत्पत्ति, स्थिति, प्रलयका विभाग नहीं दिया। लक्ष्मीजीसे उन्होंने पूछा-तुमको कौन-सा विभाग चाहिए? बोलीं हमको अनुग्रह-विभाग चाहिए। ये जो संसारके दुःखी जीव हैं उनकी भलाई करनेका विभाग हमको दे दो— सदावर्तका काम हम करेंगे, सबको बाँटेंगे। तो जब लक्ष्मीजी सिफारिश करती हैं कि इस जीवका उद्धार करो तब भगवान् करते हैं। पाँव दबाती रहती हैं—उनकी छातीपर रहती हैं। जरा-सा दबा देती हैं, फिर मुसकराकर भगवान् देखते हैं तो कह देती हैं कि इसका उद्धार करो। सृष्टि, स्थिति—जैसे राजाके हाथमें शासन होता है, सारी परिस्थितियाँ राजाके अधीन हो जाती हैं।

बिलकुल सन्देह मत करो। प्रशासनके अनुसार परिस्थिति बनती है—महामारी फैले, आरोग्य रहे। यदि प्रशासन ठीक हो तो सबका मन ठीक रहे और मन ठीक रहे तो तन ठीक रहे। भगवान्ने कहा यह तीन बात

हमारे हाथमें है। बोले—देखो सब मैं हूँ—जिसको संसारके लोग अच्छा समझते हैं, वह भी मैं, और जिसको बुरा समझते हैं वह भी मैं। संसारके जो मजहब हैं उनकी अपेक्षा विलक्षण है। एक नयी बात है कि जितने अच्छे-अच्छे गुण हैं वे तो हमारे परमेश्वरमें हैं और जितनी बुराइयाँ हैं वे सब शैतानमें हैं। उनके एक ईश्वर हैं और एक ईश्वरका दुश्मन है। और हमारे जो वेदका सिद्धान्त है, मन्त्रका सिद्धान्त है, इसमें ईश्वरका दुश्मन कोई नहीं। शैतान नहीं है। ईश्वर ही ईश्वर सब!

बोले कुछ अमृत है, कुछ मृत्यु है। इसका भी विभाग कर लेते हैं। जो देवता हैं उनको अमृत पिलाते हैं और जो दैत्य हैं उनको मृत्यु देते हैं। मनुस्मृति और याज्ञवल्क्य स्मृतिमें भी दोनोंमें एक ही भावका एक श्लोक है। जब भगवान्‌ने मौतको आज्ञा दी कि तुम जाकर लोगोंको मारो तो वह डर गयी कि यह हत्याका काम मैं करनेवाली नहीं हूँ। तब उसे एक मर्यादा दी। जिनका अन्न दूषित है उनको मृत्यु मारेगी, जो आलसी होंगे उनको मृत्यु मारेगी और आचारका परित्याग करेंगे उनको मृत्यु मारेगी और जो वेदका, अपने धर्मग्रन्थका अभ्यास छोड़ देंगे—सदाचारका पालन नहीं करेंगे—उनको मृत्यु मारेगी। मृत्युसे बचनेका उपाय है—आप एक लोक-कल्याणकी बड़ी योजना, लम्बी योजना मनमें बनाइये और उसको पूरा करनेके लिए दृढ़संकल्प कीजिये। आपकी प्राण-शक्ति बढ़ जायेगी, क्योंकि आप बड़ा काम करना चाहते हैं। दृढ़संकल्प चाहिए, दृढ़ सफलताकी आशा चााहिए और ईमानदारी भी चाहिए। सबसे बड़ी तो ईमानदारी है। ईमानदारीके बिना तो दिखावा नहीं चलेगा।

अब देखो कि मृत्यु भी भगवान् कैसे हैं? यह अद्भुत है। आपका बच्चा अगर गन्दा कपड़ा पहने हुए हो या जीर्ण-शीर्ण हो या मैला हो या एक ही कपड़ा पहने रखना चाहता हो तो आप क्या करते हैं? भले वह रोवे लेकिन आप उसका कपड़ा निकालकर फेंकते हैं। उसके शरीरका मैल छुड़ाते हैं। उसको नया कपड़ा पहनाते हैं। उसे ऋषिकुलमें जाना है। गुरुकुलमें जाना है। कालेज भी जाना है। समय-समयके अनुसार अपना काम करते हैं। यह नहीं कि आजका कालेज पाँच हजार वर्ष पहलेकी बात पढ़ानेमें लगा रहे। आजके कालेजको चाहिए कि पच्चीस वर्ष बाद, पचास वर्ष बाद देशकी परिस्थिति कैसी होगी, उसमें हमारा छात्र ठीक-ठीक 'फिट'-सूत्रकी तरह फिट हो जाये।

संस्कृतमें फिट-सूत्र बोलते हैं। उस समय जैसी परिस्थिति हो उसके अनुसार काम कर लें इतना योग्य होना चाहिए। जब आपका बेटा ऋषिकुलमें, स्कूलमें, जाने लगता है तो वह अपनी पोशाक न बदलना चाहे तो भी आप बदलवाते हैं। ऐसे ही ये भगवान् हैं। जब देखते हैं कि इस शरीरसे जितना काम होना था वह हो चुका—बच्चेका भी हो जाता है। कोई योगी था उसके मनमें वासना थी कि मैं राजकुमार बनूँ और योगभ्रष्ट होकर राजकुमार बन गया। राजकुमार होने मात्रसे उसकी वासना हुई पूरी और वह शरीर छूट गया। छूट गया तो फिर वह योगी होगा। भगवान् यह बात देखते हैं। कालदण्डको अपने हाथमें रखते हैं। मृत्युसे भी किसीका भला होता है। मृत्युसे भी किसीकी दुष्टता छूटती है। हिरण्यकशिपु, रावण, कुम्भकर्णको मरनेसे ही तो दुष्टता शान्त हुई।

भगवद्दृष्टि तो बड़ी विलक्षण है। वह हिंसा-अहिंसा नहीं देखती है। इसमें भला कैसे है? हित कैसे है? जैन लोग, बौद्ध लोग अहिंसा देखते हैं। गाँधीजी अहिंसा देखते हैं। जो नहर बहती है, उसमें दुनिया बह जाती है। देखो एक देश है, जहाँ बच्चा पेटमें आता है वहाँ उसको निकाल देते हैं कि जनसंख्या बढ़ने न पावे और एक देश ऐसा है कि जहाँ बच्चा होनेपर पुरस्कार मिलता है। देश-देशका भेद है, कालका भेद है। भगवान् अनेक रूपोंमें कल्याण करते हैं। जिलाकर भी कल्याण करते हैं और मारकर भी कल्याण करते हैं। हमारा जीवन ऐसे महापुरुषके, पुरुषोत्तमके हाथमें है कि वह सब प्रकारसे हमारा कल्याण ही करते हैं। बीमार बच्चा हो, मिठाई खाने लगे तो उसके हाथसे छीन लेते हैं कि नहीं। ईश्वर कभी-कभी शरीर भी किसीका छीन लेता है। उसमें भी कल्याण होता है। अब उसको नया शरीर मिलेगा, नया उत्साह मिलेगा, नया वीर्य मिलेगा। मृत्यु भी भगवान्का रूप है। 'अमृतं चैव मृत्युश्च।' एक ही सिक्केमें दो पहलू हैं। कभी-कभी हम सोते हैं, कभी जागते हैं। कभी जीते हैं, कभी मरते हैं। और एक ही नचानेवाला है। जन्म और मृत्युको मत देखो। देखो उसको-हमारे शायर बोलते हैं-मयको मत देखो साकीको देखो।' वह क्या दे रहा है पीनेको, यह मत देखो। पिलानेवालाको देखो। 'अमृतं चैव मृत्युश्च।'

भगवान् राग भी देते हैं। वैराग भी देते हैं। मृत्यु भी देते हैं। घबड़ाओ मत देनेवाला बहुत बढ़िया है। इतना बढ़िया है, हमारा इतना हितैषी है कि हमको कभी चिकोटी काट ले चाहे कभी चपत मार दे। कभी हमारे कपड़े उतार ले और कभी बढ़िया-बढ़िया लाकर पहना दे। हमारा पूरा विश्वास है, 'अमृतं चैव मृत्युश्च।' वह अमृत भी है, मृत्यु भी है। 'मृत्युः सर्वहरश्च।' भगवान्का एक रूप मृत्यु है। देख मृत्युका रूप 'धरे मैं नहीं डरूँगा तुमसे नाथ!' अमृतं चैव मृत्युश्च। सदसच्चाहमर्जुन।' ऐसा ईश्वर दुनियामें और किसीका नहीं है, हमारा है। यह हमारा अपना ईश्वर है। दोनों तरफसे बताया है—मैं सत् हूँ, मैं असत् हूँ। माने मैं कार्य हूँ, मैं कारण हूँ। सत् कार्य है और असत् कारण है। सत् स्थूल है और असत् सूक्ष्म है।

दूसरी जगह अर्जुन कहते है—'सदसत्'—मैं सत् भी वही असत् भी वही। दोनोंसे परे भी वही। कहा— 'हाँ ठीक है'। अर्जुन, जगत्का मूल तत्त्व है ब्रह्मतत्त्व। उसको न सत् कह सकते न असत् कह सकते। वह अनिर्वचनीय है। वह सत्, असत् भी है और सत् असत्से परे भी है। यहाँ भी वह बात है। 'सदसच्चाहमर्जुन।' एक सत् है, एक असत् है। अब यह दोनों है। अपना दिल मत बिगाड़ो। सब खजानोंका खजाना अपना दिल है—यदि अपना दिल बिगड़ गया तो दुनियामें कुछ नहीं बना। आपकी भौं टेढ़ी न हो, आपकी वाणीसे कटुवचन न निकले। आपका हृदय किसीके प्रति क्रूर न हो। देखो वही प्यारा है, वही प्रभु है, उसको पहचानो। 'सदसच्चाहमर्जुन।' ईश्वरका यह स्वरूप ईश्वरके सिवाय कुछ नहीं है। इसका एक कारण है। उन्होंने उपादान अलग माना और निमित्त कारण अलग माना। बनानेवाले अलग हैं और जिस मृत्तिकासे यह बनता है वह दूसरी चीज है। नहीं, हमारे वेद-शास्त्रका सिद्धान्त है कि वही बनता है और वही बनाता है। बनानेवाला भी वही और बननेवाला भी वही—अभिन्न निमित्तोपादान कारण है। वही निमित्त है, वही उपादान है। यह बात वेदान्तकी भी है, वेदकी भी है, तन्त्रकी भी है, महाभारतकी है, पुराणकी है, दर्शनकी है—हमारे दो नहीं हैं, एक ही है।

इसलिए मेरे भोले मित्र अर्जुन! (अर्जुन माने भोले मित्र) बड़े सरल स्वभावके हो तुम। तुम दुर्भाव मत करो। अपने दिलको मत बिगाड़ो। अब देखो एक शास्त्रीय प्रश्न उठता है। लोग कहते हैं जब क्रतु भी वही, यज्ञ भी वही और अमृत भी वही, मृत्यु भी वही—सत् भी वही, असत् भी वही नियम क्यों करते हो कि सदाचारसे ही कल्याण होता है—दुराचारसे भी होवे। सब वही है। यह बात कही गयी दूसरे प्रयोजनसे। प्रयोजनपर ध्यान दो कि हमारे हृदयमें भेद-बुद्धि न हो। हमारे हृदयमें दुर्भाव न हो। हमारे हृदयमें रागद्वेष न हो। भगवान् हमारे दिलको सँवारना चाहते हैं—जैसे आप अपने-अपने बाल, चेहरे, कपड़ेको सँवारते हैं- वैसे भगवान् चाहते हैं हमारे दिलको सँवारना। दिलमें जो कूड़ा-करकट है, उसे उबटन लगाकर, साबुन लगाकर साफ करना चाहते हैं।

सर्वमें परमात्मभाव किये बिना यदि तुम अपनी कामनाओंकी पूर्तिमें ही लगे रहोगे तो भले स्वर्गमें चले जाओ वह भी पातक ही है। पातक माने पतनका कारण—'पातयति' जो ऊपर चढ़े हुएको भी नीचे गिरा दे उसका नाम है पातक।

श्रीकृष्ण भगवान् बड़े क्रान्तिकारी हैं। हमारे सनातन धर्मी लोग कहते हैं जो शास्त्र-विधिको छोड़ करके स्वच्छन्द बरताव करता है, उसका पतन हो जाता है। 'न सुखं न परां गतिम्।' न उसको सुख मिलेगा, न परा गति मिलेगी। 'शास्त्रं प्रमाणं ते'। मुसलमान कहता है कुरानको मानो, इसाई कहता है बाइबिलको मानो। हमारे पण्डित लोग कहते हैं धर्मशास्त्रको मानो और उसको छोड़ दोगे तो पतित हो जाओगे। एक बातपर आप ध्यान दें। यह अर्जुनका प्रश्न है—जो शास्त्रविधिको तो छोड़ देते हैं परन्तु हृदयमें श्रद्धा है, उनकी गति क्या होगी? श्रद्धा उत्तम गति देनेवाली है और शास्त्रविधिका परित्याग अधम गति देनेवाला है। परन्तु कहीं दोनोंकी विषमता हो जाय तो! शास्त्रविधि न रहे और श्रद्धा रहे तो?

श्रद्धा हृदयको कोमल बनाती है। यदि दोनोमें परस्पर विरोध हो जावे तो क्या होगा? बोले सहज स्थिति है। वह स्वभावज श्रद्धा होती है। स्वाभाविक श्रद्धा, श्रद्धा कल्याण किये बिना नहीं रहेगी। 'श्रद्धा मातेव योगिनं पाति'। जैसे माँ अपने बेटेकी रक्षा करती है वैसे अपने हृदयमें श्रद्धा बनी हुई है तो वह मनुष्यकी रक्षा करती है। 'श्रद्धा वित्तो भूत्वा'। श्रद्धा हमारी सम्पदा है। क्रान्ति कहाँ है श्री कृष्णमें ? क्रान्ति यह है कि यज्ञ-यागमें जो बड़ा आग्रह है। उसके बारेमें बोलते हैं कि वह ठीक है, यज्ञ करना तो बहुत अच्छा है, लेकनि जो यज्ञ करके तुम स्वर्ग चाहते हो वह अच्छा नहीं है। वहाँ क्या मिलेगा? भोगनेको अप्सरा मिलेगी, पीनेको अमृत मिलेगा वहाँ घूमनेको नन्दनवन मिलेगा वहाँ। यह जो तुम्हारी वासना है वह अच्छी नहीं है। यज्ञ-याग तो बहुत अच्छे हैं। वेदोमें निन्दा है इस बातकी कि इष्टापूर्तको, जो तुम बहुत बड़ा मानते हो, वह कामना तुम्हें दुनियाँमें भटका देगी। यदि कामनाके फन्देमें फँस गये तो कहाँ-कहाँ वह ले जायेगी-वह शराबखानेमें ले जायेगी, वह जुआखानेमें ले जायेगी, वह व्यभिचारके अड्डेमें ले जायेगी। यदि तुम कामनाके अनुसार चलने लगोगे तो यह कामना कहाँ-कहाँ ले जायेगी कुछ ठिकाना नहीं। 'त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापाः'। यज्ञ अच्छा है, वेदोंका अध्ययन अच्छा है। यज्ञ करना अच्छा है, उससे पाप मिटाना अच्छा है। सोमपान करना भी अच्छा है। लेकिन

यज्ञके द्वारा करते हैं हमारी आराधना और चाहते हैं स्वर्ग। राष्ट्रपतिकी, प्रधानमन्त्रीकी बड़ी खुशामत की। बोले किसलिए? इसलिए कि हम पेरिस जाना चाहते हैं। वहाँ हमको सबसे बढ़िया होटलमें रहनेकी जगह मिल जावेगी। अरे भाई राष्ट्रपतिके पास जाना अच्छा है, प्रधानमन्त्रीके पास जाना अच्छा है, पर किसीसे कहना कि अपना हाथी दे दो, हमको हाथीसे हल जुतवाना है। यज्ञ करके भगवान्‌को प्रसन्न करते हो और फिर चाहते हो कि हमको स्वर्ग मिले!

एक लड़कीने राजकुमारको प्रसन्न किया। उसने कहा तुमको क्या चाहिए? राजकुमार सब कुछ देनेको तैयार है। उसने कहा कि गाँवमें वह सबसे बड़ा गुण्डा है न ? उसके साथ हमारा व्याह कराओ।

यज्ञसे भगवान्‌को किया खुश और उनसे माँग ली अप्सरा। उनसे माँग लिया अमृत। उनसे माँग लिया नन्दनवन। उनसे माँग लिया कि हमको घूमनेके लिये एक हवाई जहाज दे दो। 'ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान्'—भगवान् कहते हैं जाओ भाई सैर कर आओ। वहाँ सुरेन्द्रलोकमें जाते हैं और वहाँ दिव्यभोग उनको प्राप्त होते हैं। 'ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालम्'— बोले भाई, अब पैसा नहीं है। होटलमें आये तो हैं। इतने दिन तक रहे, इतना भोग किया लेकिन जो तुम्हारे पास पूँजी थी सो चूक गयी। सो वही कर्मचारी जो तुम्हारी सेवा करते थे बाहर निकाल देते हैं।

महाभारतमें कथा है— राजा ययाति स्वर्गमें गये। इन्द्रने उनको अपने आधे सिंहासन पर बिठाया। बड़ा स्वागत-सत्कार किया। सब देवता हाथ जोड़कर खड़े। लेकिन जब उनका पुण्य क्षीण हुआ तो गरदन पर हाथ लगाकर ढकेल दिया। गरदनियाँ दे दी। अर्धचन्द्र बोलते हैं संस्कृतमें—अर्धचन्द्र दिया उनको। 'ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्य मर्त्यलोकं विशन्ति।' लेकिन जहाँ पुण्यकी पूँजी गयी, वह, पुण्य भी पातक ही है जो एक बार ऊँचे पद पर ले जाकर गिरा दे। जो ऊँचे -ऊँचे ले जावे और सबसे ऊँचेके पास ले जावे वह तो सच्चा पुण्य है; नहीं तो यह भी एक पवित्र पाप ही है। पूतपापा श्लोकमें ही है। पापी तो हैं पर पूतपापी हैं। पाप तो इसलिए है कि वह हमारी रक्षा नहीं कर पाता है— पा धातु रक्षाके हेतु है। जो संरक्षणसे च्युत कर दे—उसका नाम पाप है। एक बार तो उपर उठाकर ले गया। हम गेंद मारते हैं धरती पर, वह ऊपर तक उछलता है। क्यों उछलता है ? नीचे गिरनेके लिये उछलता है। यह पुण्य उछालकर जिनको स्वर्गलोकमें ले जाता है, वहाँसे धरती पर गिरानेके लिए, पटकनेके लिए ले जाता है। धरतीसे स्वर्गमें जाते हो, स्वर्गसे धरतीमें गिरते हो। आखिर धरतीका ही आश्रय है बाबा! धरतीमें ठीक-ठीक रहो। हम स्वर्गमें जाकर ठीक रहेंगे, यह कल्पना मत करो।

श्री कृष्णने इन्द्रकी पूजा बन्द कर दी और धरतीका जो एक अंश है पहाड़, उसकी पूजा करवायी। इन्द्रकी पूजा बन्द करवायी और मिट्टीकी पूजा करवायी। यह श्रीकृष्णका क्रान्तिकारी रूप है। पीढ़ी-दर-पीढ़ीसे इन्द्रकी पूजा चली आ रही थी और बोले छोड़ दो बाबा! देख हमारी गायका पालन-पोषण तो यह पहाड़ करता है। हमको खानेको तो यह पेड़ देते हैं। खेती देती है। यह धरती माता हमको अन्न देती है। कहाँ ऊपरकी ओर इन्द्रकी ओर देखता है। खसूची बन गया। खसूची माने चलते तो हैं धरती पर और देखते हैं आसमानकी ओर। आजकल दिल्लीमें देखना हो तो खसूचियोंकी भरमार है। सबके घरमें एक-एक खसूची पनपता रहता

है। 'ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं, क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।' 'एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना।'— शंकराचार्यका पाठ है। और दूसरे रामानुजाचार्यका—'गतागतं कामकामा लभन्ते।' एक कामना-दूसरी कामना, तीसरी कामना-कामान्—बस, अपने भोग-सुखको, अपनी इच्छापूर्तिको ही सबसे बड़ी चीज मानते हैं। 'गतागतं'—गये और आये। झूलेकी तरह झूल रहे हैं—न स्वर्गमें टिकते हैं न धरतीपर टिकते हैं। न समाजसेवी रहे, न राजनेता रहे। वहाँसे भी गये यहाँसे भी गये। सेवा तो बनती नहीं और कुरसी टिकी नहीं फिर क्या करेंगे? ये जो लोग कुरसीके चक्करमें पड़ जाते हैं—कुरसी माने वेश्या। कु-रसिका माने, वेश्या। कुरसिका— 'कु' माने धरती—जिसके पाप हमेशा धरती पर रहते हों उसको कहेंगे कुरसी। कुरसिकाके चक्करमें पड़ गये। 'गतागतं'— बैठो और उलटो। 'गतागतं कामकामा लभन्ते।' क्यों ऐसा होता है? वे स्वार्थके चक्करमें होते हैं। न मानवताकी सेवा करना चाहते हैं, न विश्वकी, न राष्ट्रकी, न प्रान्तकी, न मजहबकी, न जातिकी— वह तो अपने स्वार्थके चक्करमें हैं—'गतागतं कामकामा लभन्ते।'

आओ एक बढ़िया बात आपको सुनावेंगे।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां निन्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥ 9.22

महाभारतके अन्तर्गत गीता है। इस पर एक टीका अर्जुनमिश्रने लिखी है। वे जगन्नाथपुरीमें रहते थे। टीकाका नाम है लक्षाभरण। महाभारत पर संस्कृतमें दस टीकाएँ हैं। एक तो समग्र महाभारत पर नीलकण्ठी है। और एक अर्जुन मिश्रका लक्षाभरण है। जब यह श्लोक आया टीका लिखते समय तब वह सोचने लगे कि 'योगक्षेमं वहाम्यम्'। भगवान कहते हैं कि योगक्षेमको मैं ढोता हूँ। माने वह शान्त होकर बैठे हुए हैं और मैं जो कुछ उनके पास है—साधन है, धन है, सम्पति है उसकी पहरेदारी करता हूँ। बल्कि अपने सिर पर लेकर खड़ा रहता हूँ कि कहीं चोर न ले जाय। 'वहामि, योगं वहामि क्षेमं वहामि'। जो उनके पास नहीं है वह लाकर देता हूँ। इसका नाम हुआ योग। यदि उनके साधनमें कुछ कमी है तो उसको मैं पूर्ण कर देता हूँ। यदि उनके पास खानपानकी कमी है तो खानपान सिर पर ढोकर ला देता हूँ। और 'क्षेमं'—उनको कोई हानि पहुँचानेके लिए आवे— नुकसान करनेको आवे तो 'क्षेमं वहामि' हाथमें धनुष-बाण लेकर खड़ा हो जाता हूँ। उनकी रक्षा करता हूँ।

अम्बरीषको हानि पहुँचाने कृत्या आयी और हमारा चक्र घूम गया। तुलसी दासकी चोरी करने चोर आये—धनुष-बाण लेकर खड़े हो गये। 'क्षेमं वहामि' और 'यौगं वहामि।' अब अर्जुन मिश्रके मनमें आया कि ये भगवान् 'वहामि' क्यों बोलते हैं। 'ददामि' क्यों नहीं बोलते? 'योगक्षेमं ददाम्यहम्'। मैं उनको 'योगक्षेम' देता हूँ ऐसे बोलना चाहिए। 'वहामि'का अर्थ होता है सिर पर उठाकर ढोना। सोच-विचार कर उन्होंने निश्चय किया कि यह लेखकके प्रमादसे 'ददामि'का 'वहामि' बन गया है। हड़ताल लगा दी। पीली-पीली हड़ताल लगाकर वहाँ-उस जगह 'ददा' लिख दिया और 'मि' ज्यों-का-त्यों। चले गये समुद्र स्नान करनेको। घरमें तो कुछ था नहीं उनके।

पहले जो महात्मा लोग थे, वे खाने-पीनेकी फिक्र नहीं करते थे। एक बालक अपने सिर पर टोकरी लेकर, उसमें दाल, चावल, आटा, घी, नमक, साग, सब्जी भरकर घरमें पहुँचा दिया। बोला-मिश्राणीजी ये आप लीजिए भोजन बनाइये । उन्होंने पूछा कहाँसे आया भाई? हमको मिश्राजीने भेजा है। देख तेरे शरीर पर चोट कैसे लगी है? पीला-पीला यह सब क्या है? हल्दी काहे को लगा रखी है? बोले मिश्रजीने हमको मार-मारके भेजा है। बड़ी नाराज हुईं—मिश्रजी पर। बड़े प्यारसे उसको समझा-बुझाके भेजा।

मिश्रजी आये तो उनपर नाराज—क्यों तुमने उस सीधे-साधे बालकको मारा? अरे कौन बालक? वही जो सीधा-सामान लेकर आया था। न मैंने सीधा सामान भेजा, न मुझे मालूम, वह कौन था? वह बड़ा सुन्दर बालक था। उसको तुमने मार-मारके भेजा। वे बोले ना-ना। यह गीता भगवान्‌का रूप है, मैंने इस पर जो हड़ताल लगायी थी, अङ्ग-भङ्ग कर दिया गीताका, वहामिका ददामि बना दिया और हड़ताल लगा दी—वह हल्दी लगाकर आया था। भगवान्‌को भक्त लोग कपटी बोलते हैं। देखो तुमको तो दर्शन दे गया और हमको उसके दर्शन नहीं हुए।

'योगक्षेमं वहाम्यम्' किसका योगक्षेम ढोते हैं भगवान्? 'अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।' देखो भाई, तुम्हारा जन्म हुआ। जिसका जन्म होता है उसका नाम हुआ जन। मां चिन्तयन्तः। मेरा चिन्तन करते हुए । 'मां पर्युपासते।' मन मैं हूँ और चारों ओर भी मैं। पर्युपासते माने चारों ओर—ये देखो श्याम, ये देखो श्याम। हृदयमें भगवान्‌का चिन्तन और चारों ओर भगवान्‌का दर्शन और अनन्य माने—अन्य कोई दूसरा नहीं । जो कुछ दूसरा मालूम पड़ता है, उसमें भगवान् हैं। उसीको देखोगे तो समदर्शी हो जाओगे।

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

तुम्हें चाण्डालमें मनुष्यतक तो दिखता नहीं, भगवान् कहाँसे दिखेंगे? आदमी तो उसको समझते नहीं, ईश्वर कहाँसे देखोगे? यहाँ तो बोलते हैं 'पण्डिताः समदर्शिनः।' भागवतमें तो स्पष्ट है—जबतक भगवान्‌को नहीं देखोगे समता नहीं आयेगी और समता नहीं आवेगी तो शान्ति नहीं मिलेगी। बिना समताके शान्ति नहीं मिल सकती।

'अनन्याः' भगवान्‌के सिवाय कोई अन्य नहीं है। ब्रजमें एक लटका बोलते हैं। एक बल्लभ सम्प्रदायकी यात्रा निकली थी। गोस्वामीजी महाराज बैठे थे। नन्दगाँवके ग्वाल—हैं तो ब्राह्मण—पर खेती करते हैं, सिर पर बोझा लिए द्वारका आ गये। देखा सभा जुड़ी ह—पटक दिया। लाठी टेककर खड़े हो गये। लोगोने कहा—पा लागी महाराज, पा लागी महाराज। तो बल्लभ सम्प्रदायके गोस्वामीने पूछा—तुम कौन हो? हम गोस्वामी—हमसे पूछते हो तुम कौन हो? पहले तुम बताओ तुम कौन हो? बोले हम अनन्य हैं। बोले—अच्छा; तुम अनन्य हो तो हम खनन्य हैं। अरे भाई, खनन्य क्या होता है पहले यह बताओ? उन्होंने तो देवी- देवताओंका नाम लिया—ये सब अन्य-अन्य देवता हैं—ये सब अन्य हैं और हम अनन्य हैं। तो असने कहा तुम तो इन सालोंका नाम भी जानते हो! जो इनका नाम भी न जाने उनका नाम खनन्य । व्रजमें ऐसे गाली देते हैं तो —सारे बोलते

हैं। कृष्णको भी सारे कह कर पुकारते हैं। तो तुम तो इन सारोंका नाम भी जानते हो! अनन्य हो। हम तो इनका नाम भी नहीं जानते, इसलिए हम खनन्य हैं।

तो 'अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते। तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यम्।'अनन्य माने वस्तु दूसरी नहीं है और पार्युपासते माने स्थान दूसरा नहीं है और नित्याभियुक्तानां माने काल दूसरा नहीं है। भगवान् तो योगक्षेम वहन करनेके लिए अप्राप्तकी प्राप्ति और प्राप्तके संरक्षणके लिए हर देशमें, हर कालमें, हर वस्तुमें, हर रूपमें तैयार रहते हैं। तो देखो पहले यह बात बतायी कि जो तुम साधन करते हो वह भगवान् हैं, और कालका नियन्ता भगवान् हैं, और हमारा सर्वस्व—'गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षीः' भगवान् हैं।

आप यज्ञ भले करो—परन्तु उससे स्वर्ग मत चाहो। अन्तःकरणकी शुद्धि, परमात्मा प्राप्तिके लिए करो। चार प्रकारसे कर्म होता है। प्रायश्चितके लिए होता है, अपने कर्तव्य पालनके लिए होता है, अन्तः करणकी शुद्धिके लिए होता है, भगवानकी प्रसन्नताके लिए होता है। आप जो भी कर्म करो , उस कर्ममें चार बातका ध्यान रखो। आपने जो बुरा काम किया है, उसका प्रायश्चित हो जाय, अपने कर्तव्यका पालन हो जाय, अन्तःकरणकी शुद्धि हो जाय और भगवान् प्रसन्न हो जायँ। प्रसन्न हों माने अपना बुरका हटाके जरा सामने प्रेम भरी आँखसे देख लें, एक बार मुस्करा जायें। ये जो अपनेको ढँक-ढँक कर बैठे है न! आवृत हो गये हैं। उन्होंने गोपियोंका चीर हरण किया। हम उनका चीर हरण करना चाहते हैं। इसके लिए कर्म होता है।

●

प्रवचन : 8

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यम्॥ 9.22

भगवान्‌ने पहली बात कही अनन्यता। 'न अन्यत् तत्त्वं एषा' परमात्माके सिवाय दूसरा कोई तत्त्व जिनके लिए नहीं है। एक परमात्मा ही सर्व-रूपमें प्रकट है, सर्वका आधार है, सर्वका अन्तर्यामी है, सर्वका अधिष्ठान है और सर्वका प्रकाशक है। उसके सिवाय न कोई आधार है, न अन्तर्यामी, न उसके सिवाय कोई अधिष्ठान है और न प्रकाशक।

भक्त लोग कहते हैं—'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई।' मेरे तो सब कुछ भगवान ही हैं। दूसरा कोई नहीं है। मधुसूदन सरस्वती कहते हैं—श्रीकृष्णके सिवाय और कोई तत्त्व है, यह मुझे ज्ञात नहीं है। जिनको भगवद्रसका आस्वादन हो जाता है, एक बार भगवान्‌के चरणाविन्दमें मन लग जाता है, उसको अभ्याससे 'अनन्यता' लानी नहीं पड़ती है, स्वाभाविक ही 'अनन्यता' उसमें आ जाती है।

भगवान्‌के चरणाविन्दसे अमृतकी धारा बह रही है। झर-झर, झर-झर—'अमृतस्य' धारा। उनमें जिसने अपना मन लगा लिया अपनी आत्माको सन्निविष्ट कर दिया, उसको फिर दूसरी वस्तु पानेकी इच्छा कैसे हो सकती है—'स्थितेऽरविन्दे' मधुसे, मकरन्दसे, रससे भरपूर अरविन्द अपने सामने है। मधुव्रत निष्ठावान है। मधुके सिवाय अन्य कुछ नहीं लेता। दलको, पत्तीको, फलको हानि नहीं पहुँचाता। दूसरी वस्तु उसमें-से लेता नहीं। कण भी नहीं लेता, पराग भी नहीं लेता। जिसको अरविन्द, मकरन्दका समास्वादन प्राप्त हो जाय वह किसी सूखी घासकी ओर, सूखे तृणकी ओर क्यों देखेगा ? जिसको भगवद्रसका आस्वादन हो जाता है वह अनन्य हो जाता है। अब एक विभाग इसका क्या है? निश्चयमें अनन्यता और धारामें चिन्तन—अनन्याश्चिन्तयन्तो मां निश्चय है परमात्माके सम्बन्धमें यह अनन्यता है—अनन्यतामें निश्चय है और चिन्तनमें धारा। चित्तमें जितनी वृत्तियाँ उठती हैं—ये कृष्ण, कृष्ण, कृष्ण परमात्मा, भगवान्—स्मरणमें गृहीत ग्रहण होता है। माने जो पहले कहीं देखा हो, कहीं सुना हो, अनुभव किया हो, उसका स्मरण होता है। स्मृति गृहीत-ग्राहिका होती है और चिन्तन नव-नव उन्मेषशाली होता है। चिन्तन माने दोहराना नहीं, चिन्तन माने अभ्यास नहीं, चिन्तन माने परमेश्वरके बारेमें नयी-नयी बातोंका हृदयमें आना।

स्मरण दूसरी वस्तु है। वह जितना देखा-सुना है, अनुभव किया हुआ है, वह भी पूरा-का-पूरा नहीं, उसका आधा आता है, आधा भी आवे, चौथाई भी आवे, उलटा भी आवे—इसीसे स्मरणको दर्शन शास्त्र, प्रमाण शास्त्रमें प्रमाण नहीं मानते हैं। स्मृति प्रमाण नहीं है। और चिन्तन नव-नव उन्मेषशाली है। कल जैसी बात आपके सामने सुनायी थी उसकी अपेक्षा यह दूसरी शैली है। परन्तु अनन्यता एक विषय है—

नन्दनन्दन श्यामसुन्दर हमारे हृदयमें रहते हैं सो दूसरेको कैसे ले आवें? चिन्तन भी हो, उन्हींका। राम भक्त कहते हैं।

माता रामो मत्पिता रामचन्द्रः स्वामी रामो मत्सखा रामचन्द्रः।
सर्वस्वं मे रामचन्द्रो दयालुः नान्यं जाने नैव जाने न जाने॥

मेरे पिता राम हैं। मेरी माता राम हैं। मेरे स्वामी राम हैं, मेरे सखा राम हैं। मेरे सर्वस्व दयालु राम हैं—'नान्यं जाने नैव जाने न जाने।' मैं दूसरोंको नहीं जानता। यह अनन्यता है। माता, तात, गुरु, सखा ये सब-के-सब भगवान् हैं। सब प्रकारसे हमारे हितको भगवान् जानते हैं।

'ऊधो मन न भये दस बीस। एकहु तो सो गयो श्यामसंग, को आराधै ईस।' मन तो एक ही होता है और मनमें एक साथ दो ज्ञान नहीं होते। जिनको मनमें राम नहीं दिख रहे हैं वहाँ कामके लिए अवकाश ही कहाँ ?

एक बात हुई अनन्यताका निश्चय और दूसरी बात हुई चिन्तनकी धारा। निश्चय भी अन्तरंग है, और चिन्तन भी अन्तरंग है। बाहर देखेंगे तो क्या? 'पर्युपासते-परितः सर्वतः उपासते'। जो दिखता है, ये देखो श्याम, ये देखो श्याम, ये देखो श्याम। सम्पूर्ण जगतका अभिन्ननिमित्तोपादान कारण परमेश्वर है। 'मया ततं विश्वमनन्तरूपः। येन सर्वमिदं ततम्'। अन्यके रूपमें वर्णन हैं भगवान्का। जिनके द्वारा ये सम्पूर्ण तत है—माने कपड़ेमें सूतकी तरह सब भरा हुआ है। अर्जुनने कहा 'त्वया ततं विश्वमनन्तरूप'—ये सब परमात्माका रूप है और जो देखते हैं-'सर्वं सर्वगत—सर्वं खल्विदं ब्रह्म।'

तीसरी बात देखो। 'नित्याभियुक्तानां।' नित्य माने कालकी धारा—अविच्छन्न। जो सर्व नहीं होगा वह कालकी धारामें विच्छिन्न हो जावेगा। कभी उसका स्मरण होगा और कभी नहीं होगा। और जो सर्व देशमें नहीं होगा उसका कहीं स्मरण होगा, कहीं नहीं होगा। कभी चिन्तन होगा, कभी नहीं होगा। जो सर्व देशमें रहता है, जो सर्व कालमें रहता है, और जिसके अतिरिक्त कोई दूसरी वस्तु नहीं है, उसीके साथ नित्य योग हो सकता है। 'नित्याभियुक्तानां'। जो कहीं हो, कहीं न हो, कभी हो, कभी न हो, कुछ हो, कुछ न हो तो उसके साथ हमारा योग नित्य नहीं हो सकता। नित्य योग तो तभी होगा, जब हमारा परमेश्वर सर्व होगा। योगक्षेमं वहाम्यम्। ऐसे जो भक्त हैं, जिन्होंने अपना सर्वस्व मान लिया भगवान्को—'अकिञ्चनो न अन्यगतिः'—दूसरा साधन भी नहीं है।

तो; अनन्यतामें शरणागति है। चिन्तयन्तोमें बुद्धिकी धारा होवे। और पार्युपासतेमें भाव हो और नित्याभियुक्तानांमें नित्य संयोग हो। अब भक्त क्या करे? पद्मपुराणमें एक कथा आयी है, एक भक्तने भगवान्से प्रश्न किया कि प्रभु जब मृत्युका समय आयेगा तब हमारे हाथ काम नहीं देंगे तब माला कैसे फे

रूँगा? जीभ काम नहीं देगी तो नामका उच्चारण कैसे करूँगा? दिल दिमाग मेरे वशमें नहीं रहेगा तो मैं आपका स्मरण चिन्तन कैसे करूँगा? भगवान्‌ने कहा तुम मेरे प्यारे भक्त निश्चिन्त हो जाओ। जब तुम्हारा हाथ, जीभ, दिल-दिमाग काम नहीं देगा तो मैं स्वयं आऊँगा और तुम्हारे आसन पर बैठ जाऊँगा और तुम्हारी माला लेकर, तुम्हारी ओरसे मैं अपने नामका जाप करूँगा, अपना चिन्तन करूँगा और तुम्हारे ही रूपमें अपना रूप प्रकट करूँगा, मैं और तुम दोनों अलग-अलग नहीं रहेंगे।

यह क्या हुआ? यह योगका वहन हुआ। ऐसी अखण्ड स्थिति भक्तको प्राप्त नहीं है कि वह मृत्युके समयमें भी भगवान्‌का चिन्तन कर सके तो भगवान् अपने भक्तका चिन्तन करते हैं। भगवान् भी वही हो जाते हैं। 'अनन्याः चिन्तयन् पर्युपासनम्—नित्याभियुक्ताः' 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।' भगवान् भी अपने भक्तके सिवाय दूसरेको नहीं देखते। यदि मेरे भक्त जिन्दा नहीं रहेंगे तो मैं भी जिन्दा रहूँगा? भक्त नहीं रहेंगे तो भगवान् कहाँसे? किसके भगवान्? 'पुरुषं प्रकृतिं चैव'—तेरहवें अध्यायके इस श्लोककी व्याख्यामें भगवान् शंकराचार्यने कहा—यदि कोई नियममें नहीं रहेगा, जीव नहीं रहेगा और प्रकृति नहीं रहेगी तो भगवान् नियन्ता किसके होंगे?

एक सज्जन मेरे पास आये। बोले—मैं अपने स्कूलमें हेडमास्टर हूँ। मैंने उनसे पूछा कि स्कूलमें और कितने अध्यापक हैं? तो बोले और कोई नहीं है महाराज! फिर मैंने पूछा विद्यार्थी कितने हैं? बोले विद्यार्थी भी नहीं हैं। जब विद्यार्थी नहीं कोई दूसरे अध्शपक नहीं तो हेडमास्टर किसके? उनको तनखाह मिलती है। स्कूलका नाम दर्ज है। परन्तु न विद्यार्थी हैं न अध्यापक हैं, तो वे हेडमास्टर कैसे? ईश्वरके लिए तो कोई जीव होगा तभी न उसका ईश्वर होगा! जगत है तो उसका ईश्वर 'नियम्याभावे नियन्त्रकाभावप्रसङ्गः' यदि प्रकृति पुरुष नहीं होंगे तो वह नियन्ता किसका होगा? ईश्वर कहते हैं कि मेरा भक्त न हो तो मैं अपनेको भी रखना नहीं चाहूँगा। भक्त लोग मुझे अपने वशमें कर लेते हैं। 'वशीकुर्वन्ति मां भक्त्या'—जैसे सती स्त्री अपने सज्जन पतिको अपने वशमें कर लेती है वैसे भक्त लोग भगवान्‌को अपने वशमें कर लेते हैं। मैं तुम्हारे सिवाय और किसी दूसरेको नहीं देखता हूँ, तो भगवान् बोलते हैं— मैं तुम्हारे सिवाय और किसीको नहीं देखता हूँ। वह तो वही प्रतिध्वनित होगा जो भक्त बोलेगा, वही भगवान् को बोलना पड़ेगा। मैं केवल तुम्हारा चिन्तन करता हूँ। भगवान् कहते हैं— मैं भी भक्तके सिवाय किसी औरको नहीं जानता हूँ। भक्तको सर्वत्र भगवान् दिखते हैं। बल्कि इस अंशमें भगवान् भक्तोंके ऋणी भी हैं—

भागवतमें यह प्रसंग आता है। 'अनुव्रजाम्यहम्'—मैं अपने भक्तोंके पीछे-पीछे चलता हूँ। पीछे-पीछे क्यों चलते हो? इसलिए कि उनके चरणोंकी धूलि मेरे ऊपर पड़ जायगी तो मैं पवित्र हो जाऊँगा।

भक्तके चरणरेणुसे भगवान् पवित्र होते हैं। एक महात्माने पूछा कि प्रभो, आपमें क्या अपवित्रता है कि आप पवित्र होनेके लिए भक्तके चरणोंकी धूलि लेनेके लिए भक्तके पीछे-पीछे घूमते हैं? भगवान्‌ने कहा—भाई हमारे अन्दर एक अपवित्रता है, क्या है? बोले—भक्तके प्रेम जैसा मैं उससे प्रेम नहीं कर पाता हूँ। यह मेरी त्रुटि है। मेरी अकृतज्ञता है। भक्त अनन्य भावसे मुझसे प्रेम करता है, एक भक्त केवल मुझे ही सम्हालता है

और मुझे भक्तोंको सम्हालना पड़ता है। भक्तके प्रेमके बराबर मेरा प्रेम भक्तसे नहीं होता। तो इससे मेरे अन्दर त्रुटि आ जाती है। अपवित्रता आजाती है। उस अपवित्रताको दूर करनेके लिए मैं भक्तोंके चरणधूलिको अपने सिर पर लगानेके लिए उनके पीछे-पीछे घूमता हूँ।

भगवान् ऋणी भी होते हैं। भागवतमें गोपियोंसे कहते हैं—तुम्हारा प्रेम निश्छल है, निष्कपट है, मैं इससे कभी उऋण नहीं हो सकता है। तुमने मेरे लिए अपना घर छोड़ा, अपना धर्म छोड़ा, अपना परलोक—सारी जंजीरें काट दीं। सारे बन्धन काट दिये और मुझसे तुमने प्रेम किया। मैं तुमसे उऋण कैसे हो सकता हूँ? जन्म-जन्मके लिए यह भगवान्की वाणी है। जिसमें अहंकार है वह ऐसी वाणी नहीं बोल सकता है। बार-बार दुहराते हैं। मेरे हृदयमें एक ऋण ऐसा बैठ गया है, जो अब खटकता है। भगवान्की आँखोमें आँसू आजाते हैं। हमारे पर ऋण है, ऋण है और बढ़ता जा रहा है। उसका ब्याज भी बढ़ता जा रहा है।

यह ऋण मेरे हृदयमें बढ़ रहा है। बढ़ता जा रहा है और मैं दिलसे एक क्षणके लिए भी अलग नहीं होता। मेरे लिए द्रौपदीको पुकारना पड़ा। क्योंकि मैं दूर था। द्रौपदीको अपनी रक्षाके लिए मुझे पुकारना पड़ा—मैं पहलेसे सावधान नहीं था। मेरे रहते द्रौपदी पर संकट आगया और मुझे पुकारना पड़ा, यह मेरे ऊपर कर्ज हो गया है। भगवान् हमेशा तैयार रहते हैं। चक्र हाथमें है, भक्त पर कोई दूरका संकट दिखायी पड़े तो चक्र फेंक कर उसको मार दें। और निकट कोई संकट आ जावे तो गदा हाथमें है, गदासे मार दें। हमारे भक्तकी जीत तो होगी ही, इसके लिए, विजय घोषणा करनेके लिए शंख रखते हैं।

यों देखो ध्रुवके सामने भगवान् प्रकट हुए तो उसके मनमें इच्छा हुई कि भगवान्की स्तुति करे। पर ध्रुवको कुछ ज्ञान तो था नहीं। स्तुति कैसे करे? तो तुरन्त शंख लेकर ध्रुवके कपो लमें स्पर्श कर दिया और जहाँ शंखका स्पर्श हुआ, ध्रुवको तत्त्व ज्ञानकी स्फूर्ति हो गयी। तो यह योग हुआ। माने ध्रुवके पास जो साधन नहीं था वह साधन ध्रुवको दे दिया।

स्वायम्भुव मनु थे। भागवतमें कहा है कि एकान्तमें जाकर उपनिषद्का जप कर रहे थे। क्या जप कर रहे थे, 'आत्मावास्यमिदं सर्वम्—ईशावास्यं को आत्मावास्यं'। असुरोंने देखा कि अब राज-काज छोड़कर ये तो जपमें, तपमें, ज्ञानमें लग गये तो अब इनको चलकर मार डालें। और जो असुरोंने उनके ऊपर धावा किया स्वयं शंख, चक्र, गदाधारी भगवान् उनके सामने प्रकट हुए। जैसे भक्त लोग भगवान्का भजन करते हैं वैसे भगवान् भी भक्तोंका भजन करते हैं। सेवा किसकी बड़ी? जीवकी सेवा बड़ी है। क्योंकि जिसके पास अनन्त धनराशि हो वह यदि किसीको हजार, दो हजार, दस हजार दे दे तो उसमें कुछ विशेष बात नहीं है। परन्तु जिसके पास एक ही रुपया हो और वह अपना एक रुपया भी दे दे तो उसकी विशेषता होती है। धनकी अधिकता या न्यूनतासे दानका महत्व नहीं होता है। जीवके पास थोड़ा-सा साधन है।

स्तोत्रमें एक बात कही कि हे प्रभो, यदि ब्रह्माजी और मैं दोनों तुम्हारी स्तुति करने लगें तो आप किसके ऊपर पहले प्रसन्न होंगे? निर्णय करो। मैं जानता हूँ कि ब्रह्माजीकी आयु बड़ी लम्बी है, कल्पस्थायी है, शक्ति बहुत है और ज्ञान बहुत है, वे आपकी स्तुति करने लगेंगे, तो वे तो न जाने कितने कल्पतक करते रहेंगे। लेकिन

मैं तो अल्पज्ञ हूँ, अल्पायु हूँ, अल्पशक्ति हूँ, अल्पज्ञान हूँ। जब मैं स्तुति करना आरम्भ करूँगा तो थोड़ी देरमें ही बेहोश होकर गिर पड़ूँगा। तब मैं जानता हूँ कि आप ब्रह्माजीको उठाने नहीं दौड़ेंगे, मुझे उठानेके लिए दौड़ पड़ेंगे।

देखो, यह बेचारा तो थक गया—तो तुरन्त अपनी गोदमें ले लेंगे। 'क्षेमं वहामि'। भगवान् अपने भक्तका जो योगक्षेम है उसको सेवककी तरह-जैसे अपने स्वामीकी वस्तु लेकर पीछे-पीछे सेवक चलता है। स्वामीकी पोटली किसके हाथमें? बोले सेवकके हाथमें। पर यहाँ उलटा है। सेवककी पोटली स्वामिके हाथमें। 'योगक्षेमं वहाम्यहम्।'

अब प्रश्न हुआ दूसरोंका भजन करते हैं न! लोग सिपाहीसे बहुत डरते हैं। यदि सम्राट देखे कि ये लोग सिपाहीसे बहुत डरते हैं तो सिपाही महाराजके सामने डरता है। महाराज समझते हैं कि यह हमारा सिपाही है, इसलिए लोग डरते हैं न! यदि इसके पास वर्दी न होती, हमारा चपरास नहीं होता, हमारा चिन्ह इसके पास न होता तो इससे लोग डरते क्यों?

लोग तो समझते हैं कि देवता लोग अलग हैं। ये विभागाध्यक्ष हैं। एक-एक विभागके अध्यक्ष—जैसे एक-एक प्रान्तके गवर्नर होते हैं, जैसे एक-एक प्रान्तके मुख्यमन्त्री होते हैं—जैसे ये स्वास्थ विभागके हैं, ये विधि विभागके हैं, ये शिक्षा विभागके हैं—वैसे ही देवता लोगोंकी मिनिस्टरी भी अलग-अलग होती है। यही देवताओंका पृथक्त्व है। और सम्पूर्ण विश्वका जो सम्राट है, वह एक परमेश्वर है।

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्तविधिपूर्वकम्॥ 9.23
अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते॥ 9.24

कभी-कभी फोन आता है और मेरे साथके लोग अपने-अपने काममें संलग्न रहते हैं तो मैं उठा लेता हूँ। हमको घुमाना तो नहीं आता है—अभी तक किसीको अपने हाथसे घुमाकर फोन नहीं किया है, लेकिन ये लोग जब नहीं रहते हैं तो मैं उठा लेता हूँ। जब मैं उठाता हूँ तो कहते हैं अमुकको बुला दीजिए—जब वे आते हैं तो कहते हैं—हमारी स्वामीजीसे बात करा दीजिये। अच्छा कभी -कभी ऐसा हुआ है—आप लोगोंको आश्चर्य होगा कि मैंने पूछा कि आखिर काम क्या है? बोले—स्वामीजीसे बात करना है—मैंने कहा मैं स्वामीजी हूँ। तो बोले तुम झूठ बोलते हो। तुम स्वामीजी नहीं हो। येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयाविन्ताः। तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्। कोई कहता है देखो ये बात स्वामीजीको मालूम न होने पावे। किन्तु वह तो मुझे मालूम पड़ जाती है। वे मुझे बता देते हैं। अन्य-अन्य देवताके जो भक्त होते हैं, भक्त नहीं समझते हैं कि ये भगवान् हैं। भगवद्बुद्धि उनकी नहीं होती। और सम्भव है देवता भी न समझें कि मेरे अन्दर भगवान् हैं। वे अज्ञानी होते हैं, जिनको पूजा-पत्री ज्यादा मिलने लगती है वे थोड़े अभिमानी हो जाते हैं।

आप देखते हैं—इन्द्रको भेंट पूजा कायदेसे मिलने लगी तो उन्होंने कहा—नहीं ईश्वर कुछ नहीं है—मैं

ही परमेश्वर हूँ। और जब भगवान्‌ने उनकी पूजामें बाधा डाली तो असुर हो गये—देवता नहीं रहे—असुर हो गये। अन्य देवताकी भक्तिमें दोष कहाँ आया? एक तो भक्तके हृदयमें जो अन्य बुद्धि है या दूसरा कोई है—और देवताके हृदसमें यह बुद्धि आयी कि मैं दूसरा कुछ हूँ। भक्तमें श्रद्धा तो है, लेकिन भगवान्‌का यह स्वभाव है— देखो भाई हम तो पहचानते नहीं हैं। यह भक्तकी पूजा है। यजमानके हृदयमें भगवान् बैठते हैं। अन्तर्यामी हैं और वह कहते हैं—हे यजमान; अब मैं तुमको पसन्द कर रहा हूँ। तुम मेरे बड़े प्यारे हो। इसलिए तुम्हारे हाथसे ऐसा कोई काम कराना चाहता हूँ जिससे तुम हमारे पास आ जाओ।

जिस चेतनको भगवान् पसन्द करते हैं, यह मेरे पास आवे, उसके हृदयमें शुभ प्रेरणा देते हैं। उसके मनमें अच्छे कामकी प्रेरणा देते हैं। और उधर इन्द्रके हृदयमें बैठ जाते हैं। पहले तुमने बड़ी सेवा की है तो यह जो बड़ी पूजा मिलती है वह तुम ले लो। तो उधर यजमानके हृदयमें प्रेरणा देनेवाले वही आहुतिके दाता और वही आहुतिके भोक्ता। 'अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता'—इन्द्र हृदय और प्रभुरेव च यजमान हृदय। यजमानके हृदयमें प्रेरणा देनेवाला मैं। दोनो मेरी लीला है। दोष कहाँ है? 'न तु मामाभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते'। वे मुझे पहचानते नहीं हैं। 'न तु मामभिजानन्ति'—आत्मरूपसे, ब्रह्मरूपसे—दोनोमें मुझको नहीं देखते हैं। यह मेरा आर्दश ही उनकी च्युतिका—च्यवनका कारण है।

आप किसीकी भी पूजा करें, पीपलकी पूजा करें, गायकी पूजा करें। पतिकी पूजा करें, पत्नीकी पूजा करें, माँकी पूजा करें, बेटेकी पूजा करें,स्वामीकी पूजा करें। परन्तु आपके हृदयमें भगवद्‌बुद्धि बनी रहे। यदि भगवद्‌बुद्धि बनी हुई है तो आपकी पूजामें कोई त्रुटि नहीं है और भगवान् साक्षात् उसको ग्रहण कर रहे हैं। एक बहनजी हैं बम्बई में । वे खानेको मीठी-मीठी चीज लेकर आती हैं—मैं उनको चिढ़ा देता हूँ कि तुम मेरे लिए नहीं लायी हो मेरे पास जो तुम्हारे भाई साहब रहते हैं उनके लिए लायी हो। वे घरकी बनी मीठी-मीठी चीज खायेंगे, अगर मेरे लिए लाना होता तो तुम नमककी चीज लातीं। उसके संकल्पमें सचमुच उसके भाई ही रहते हैं, मैं नहीं रहता हूँ। परन्तु उनको क्यों खिलाती हैं—इसलिए कि हमारे साथ रहते हैं, हमारी सेवा करते हैं, हमसे प्रेम करते हैं।

न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते।

●

प्रवचन : 9

अम्ब त्वामनुसन्दधामि भगवद्गीते भवद्वेषिणीम्।

भगवान्‌ने कहा कि जो भगवत्-भावको नहीं जानते हैं और अन्य भावसे मेरी उपासना करते हैं—हृदयमें श्रद्धा भी हो—वे आराधना तो मेरी ही करते हैं, परन्तु वे विधिको नहीं जानते हैं। मर्यादाके अनुसार हमारी आराधना नहीं करते हैं।

कल श्लोक आपको सुनाया था—'येऽप्यन्यदेवता-भक्ताः' अगले श्लोकमें कहते हैं— 'अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च'। जितनी भी आराधना होती है उसको पानेवाला भी मैं हूँ, भोगनेवाला भी मैं हूँ और उसका प्रेरक भी मैं हूँ। परन्तु करनेवाले मुझे पहचानते नहीं, इसलि च्युत हो जाते हैं।

आप भगवान्‌की बात समझनेके लिए पहले अपनेको समझ लें। जैसे कोई आदमी है। वह आपका कार्यकर्ता है। वह बहुत बढ़िया है। अपने सभी काम करता है। उसे दी आँखकी सेवा। वह ध्यान रखता है कि हमारी आँख अच्छी रहे,स्वस्थ रहे, प्रसन्न रहे, उसमें दोष निवारक औषधि डालता है, उसमें गुणवर्धक औषधि डालता है, लेकिन अन्य अंगोंकी उपेक्षा कर दी। आपका जो एक मालिक है, वह केवल आँखवाला ही नहीं है, उसके जीभ भी है, उसके कान भी है, उसके हाथ भी है, उसके पाँव भी है। एक इन्द्रियको यदि हम ठीक रखनेकी कोशिश करें और दूसरी इन्द्रियोंको भूल जायँ और मालिकको समझें ही नहीं और डाक्टर हमारा एक रोग देखकर ऐसी दवा दे दे कि उसकी जो प्रतिक्रिया हो वह शरीरमें दूसरा रोग पैदा कर दे। एक रोगकी दवा करे, एक अङ्गको पुष्ट करे और दूसरेको कमजोर बना दे तो इसमें मालिक पर नजर नहीं है केवल अङ्गपर ही नजर है। क्योंकि मालिकके दोनों ही अङ्ग हैं। जो एक-एक देवताकी आराधना करने वाले हैं वे सब देवताओंके जो मालिक हैं भगवान् हैं, उनकी सेवा, उनके सुख पर ध्यान नहीं रखते हैं, वे तो अपने सही—असली मालिकके विरुद्ध ही काम कर बैठते हैं।

आपने सुना होगा—किसीके घरमें गुरुजी आये, दो भाई थे। उन्होंने उनके पाँव बाँट लिये। दाहिना तुम्हारा, बायाँ मेरा। जब रातको सेवा करने लगे तो एक पाँव दूसरे पाँव पर आ गया—बोले रामराम यह तुम्हारा पाँव हमारे पाँवपर क्यों चढ़ता है? उस पाँवको एक चपत लगा दिया। दूसरेने डण्डा लाकर दूसरे पाँवपर मार दिया। यह है अनजानकी सेवा।

अनजान लोग जो सेवा करते हैं उसमें भी दुःख पहुँचा देते हैं। हमारी जीभकी तो सेवा की कि हमें खूब स्वाद आ जाये। जीभकी तो सेवा होगी पर पेटका क्या होगा? हार्टका क्या होगा? डायविटीजका क्या होगा? पल्स क्या होगा? समग्र भगवानकी दृष्टिसे हमारी सेवा होनी चाहिए। एकांगी सेवा नहीं होनी चाहिए। फल भी क्या मिलेगा? 'यान्ति देवव्रता देवान्पितॄन्यान्ति पितृव्रताः'। यदि पीतृ-पीतृ बोलेंगे तो कभी संस्कृतमें श्लोक बनाना हो, तो वह अशुद्ध हो जावेगा। क्योंकि पितृमें 'पि' हमेशा लधु ही होता है गुरु नहीं होता पीतृ बोलेंगे तो 'पी' गुरु हो जावेगा। ये जितने 'पी' वाले अक्षर हैं उनका गुरु नहीं होता है। लधु रहता है।

अब यह है कि आपका संकल्प क्या है? देवता भी भगवान्‌के एक अङ्ग हैं। पितर भी भगवान्‌के एक अङ्ग हैं। ये सम्पूर्ण भूत भी भगवान्‌के एक अङ्ग हैं। एक-एक अङ्ग की आप पूजा करें और जो अङ्गी हो उसको भूल जायें। जिसके ये सारे अङ्ग हैं,उसको भूल जायें तो एक-एक विभागका अध्यक्ष है, उसकी तो सेवा पूजा हुई परन्तु जो सब विभागोंकी देखभाल करनेवाला है, मालिक है, उसकी सेवा नहीं हुई। 'यान्ति मद्याजिनोऽपि मां'—जो भगवान्‌की आराधना करते हैं, उनको तो भगवान्‌की प्राप्ति होती है। लेकिन जो केवल देवताकी आराधना करते हैं, ये विभाग हैं। जैसे वरुण देवताकी आराधना करते हैं—वे जलके मालिक हैं, अग्नि देवताकी आराधना हुई तो वे तापके मालिक हैं। आप अग्नि देवताको प्रसन्न करलें और वरुण देवताको प्रसन्न न करें तो आपको ताप तो मिल जावेगा लेकिन पानी नहीं मिलेगा। पानीका देवता भी प्रसन्न चाहिए। प्रकाशका देवता आँखोंमें रहता है सूर्य— आप सूर्यकी आराधना करें तो आपको प्रकाश तो मिलेगा। परन्तु आपके लिए अग्नि भी चाहिए उसके लिए ताप भी चाहिए। एअरकण्डीशन भी होना चाहिए। वायु देवता भी प्रसन्न हों, सूर्य देवता भी प्रसन्न हों, अग्नि देवता भी प्रसन्न हों।

यही सब देवता हैं। शास्त्रोंमें, वेदोंमें, इन्हींको देवता कहा गया है। इनसे हमारे व्यवहारके सब काम चलते हैं। ऊर्जा कहाँसे मिलेगी? विद्युत शक्ति कहाँसे मिलेगी? या तो आपके पक्षमें अग्नि हो या आपके पक्षमें सूर्य हो। तब आप ऊर्जा प्राप्त कर सकेंगे। जलसे भी प्राप्त कर सकेंगे। इसका अर्थ है कि समग्र दृष्टिसे ही हमको भगवान्‌की आराधना करनी चाहिए। केवल एक-एक अङ्गपर ध्यान दिया- अन्न बहुत पैदा हुआ और उद्योग मिट गये और उद्योग पर ध्यान दे दिया कृषि मिट गयी। पहननेको कपड़ा चाहिए तो खानेको अन्न भी तो चाहिए न! और अन्न, कपड़ेपर ध्यान दिया, दवा मिलनी बन्द हो गयी। तो यह एक-एक देवताकी जो आराधना है वह ऐसी ही है। अश्विनकुमारकी और अन्न ब्रह्मकी आराधना छूट गयी। तो समग्र दृष्टिसे सब काम करना चाहिए—सांगोपांग हो।

इसके बाद—आप देवताके संकल्पसे करते हैं, पितरके संकल्पसे करते हैं, भूतके संकल्पसे करते हैं या भगवान्‌के संकल्पसे करते हैं। व्रत माने संकल्प। आपके हृदयमें संकल्प क्या है? देवताके लिए, पितरके लिए, भूतके लिए है या सबके अन्तर्यामी, सबमें रहनेवाले, जो देवतामें भी हैं उनके लिए हैं? आपने पंखे पर बहुत ध्यान दिया और रोशनी देनेवाला बल्ब बुझ गया और बल्ब पर बहुत ध्यान दिया पंखा चलना बन्द हो गया।

तो आपको बिजली पर ध्यान देना चाहिए। बिजली बनी रहे—वह अन्तर्यामी है। पंखेका अन्तर्यामी कौन है? बोले बिजली! बल्बका अन्तर्यामी कौन है? बोले बिजली। आपके घरमें बिजली रहे तो ये सब काम ठीक-ठीक चलेंगे। इसीप्रकार यदि भगवान् पर दृष्टि रहे तो आपके सब अङ्ग, आपकी सब इन्द्रिय, आपका मन आपका समग्र विश्व ठीक-ठीक काम करेगा। क्योंकि भगवान् सम्पूर्ण विश्वके मालिक हैं। सम्पूर्ण विश्वके संचालक हैं, अन्तर्यामी हैं।

अब एक प्रश्न यह उठा कि भगवान् बहुत बड़े हैं तब तो अन्तर्यामी हैं और सब यज्ञोंके भोक्ता हैं, प्रभु हैं, तो उनकी आराधना थोड़ी कठिन होगी। छोटे-मोटे सिपाहीसे मिलना हो तो चौराहेपर ही मिल लेते हैं। किन्तु

गृहमन्त्रीसे मिलना हो तो उनकी इजाजत लेनी पड़ती है। राष्ट्रपतिसे, सम्राटसे मिलना हो तो कठिन पड़ता है। हमको दस वर्ष पहले एक उद्योगपतिने बताया था कि महाराज, हम लोगोंका निश्चित है कि किसकी तनखाह पर दस गुना रिश्वत दिया जाय तो वह मान जायेगा। यह तो पहलेकी बात है। अब वह हिसाब शायद न हो! इसलिए मैं बताता हूँ। अब बढ़ गया होगा। जो जितना बड़ा होता है उसके यहाँ पूजा-पत्री बड़ी होगी। सो भगवान्‌की पूजा करना कठिन तो नहीं है? तो बोले, नहीं—वे पूजाकी सामग्रीसे प्रसन्न नहीं होते। वे पूजा करनेवालेमें जो प्रेम है, उससे प्रसन्न होते हैं।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥ 9.26

एक पत्ता काफी है। तुलसीदलमात्र—तुलसीका एक पत्ता भगवान्‌को चढ़ा दो, भले तुम्हारे पास जल न हो, गुड़ न हो। हम लोगोंके घरमें पहले भगवान्‌पर भोग लगता था, शंकरजीका भोग लगता था तो गुड़ और अक्षत। और फिर बँटता था तो क्या खुशीसे हम लोग खाते थे। 'आक-धतूर चबात फिरैं।' शंकरजीको तो आकका फूल जंगलमें होता है वह चढ़ता है। बेलपत्र चढ़ा देते हैं। उनको चीज, वस्तु नहीं चाहिए। 'नारायण मोंहे वस्तु न चाहिए।'

वस्तु महत्वपूर्ण नहीं होती है, महत्त्वपूर्ण होता है प्रेम! इसीसे भगवान्‌ने कह दिया— 'पत्रं'—पत्ता चढ़ा दें—तुलसीदल-मात्रेण। एक चुल्लू पानी चढ़ा दें। शिवपुराणमें ऐसी कथा आयी है कि कोई चोर भगा और बेलके पेड़पर चढ़कर छिप गया। नीचे शंकरजीकी मूर्ति थी। रातको उसका पाँव, हाथ कहीं लग गया और एक बिल्बपत्र टूटकर शिवजीकी मूर्तिपर गिर पड़ा। अरे, शंकरजी तो प्रसन्न हो गये। उसमें तो प्रेम भी नहीं था, अनजानमें।

ये देवता लोग कुछ भोले भी होते हैं। भगवान्‌में एक मुग्धा शक्ति होती है। मुग्ध होनेकी शक्ति। अजामिलने नाम लिया—नारायण—अपने बेटेका। भगवान्‌ने कहा दौड़ो-दौड़ो— बचाओ इसको! पार्षदोंने विनती की कि महाराज, यह आपका नाम नहीं ले रहा है। भगवान्‌ने कहा , चुप रहो—नारायण नाम मेरा है कि उसके बेटेका है? अनादि कालसे तो मेरा कब्जा है, नारायण नाम पर—मैं पहलेसे मानता हूँ कि नारायण नाम मेरा है और उसके बेटेका नाम तो अभी कल हुआ है—दस वर्षसे, पाँच वर्षसे—'नारायण' उसका नाम कैसे हुआ? यह नाम तो मेरा है। ये तो भोलेभाले होते हैं। जो कुब्जाको देखकर, उसके उपर मोहित हो जावें, उसको बहुत अकल नहीं चाहिए। वह तो थोड़ेमें ही रीझनेवाला है। भगवान् प्रेमसे रीझते हैं।

'पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।' सर्वत्र सुलभ है। तुलसीदलमात्रेण—भक्तवत्सल भगवान्‌ने अपनी कीमत बना दी। क्या कीमत है? तुलसीका एक पत्ता—एक चुल्लु पानी। शिवपुराणमें तो ऐसी कथा है कि एक जंगली आदमी था—किसीने कहा तुम शंकरजीको जल चढ़ाया करो। उसके पास बरतन नहीं था। हाथमें लेकर नदीमें-से जल ले चले तो बीचमें गिर जाये। फिर उसने कहाकि हाथसे जल नहीं पहुँचता है, तो मुँहमें नदीका जल ले लिया और ले जाकर शिवजीके लिंग पर कुल्ला कर दिया। शंकरजी बोले ऐसा तो

हमको कभी नहीं मिला। प्रसन्न हो गये उसपर। वे जूठा नहीं देखते। ये तुमलोगोंको जो पाप-पुण्य लगते हैं वे भगवान् थोड़े ही लगते हैं! उनको नरकमें जानेका डर नहीं। स्वर्गका लोभ नहीं। उनको तो पाप लगता नहीं है। पुण्यकी जरूरत नहीं है। उनको तो प्रेम चाहिए।

गरीब लोग वस्तुकी कीमत देखते हैं— इन्होंने क्या दिया? जिसको कुछ नहीं चाहिए, उसको प्रेम चाहिए प्रेम! 'पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।' कुछ नहीं होगा बाबा घरमें—पत्र है? नहीं है। पुष्प है? नहीं है। फल है? नहीं है। अरे बाबा पानी तो होगा। केवल पानी! वह भी अपना नहीं है। पेड़में जो पत्ता लगता है या फूल लगता है या फल होता है वह किसी आदमीका लगाया हुआ थोड़े ही होता है? उसके तो मालिक बन बैठते हैं लोग। वह तो भगवान्‌का दिया हुआ है। बिलकुल आटोमेटिक। केलेमें हलुआ भरकर आदमी थोड़े ही भेजता है। हाथ लगाया नहीं—ऐसी पैकिंग है—हलवा बिलकुल बिगड़ता नहीं है। यह आममें रस तुम लोगोंने थोड़े ही भरा है। हमने थोड़े ही भरा है। हमारे बाप-दादाने भी नहीं भरा। वृंदावनमें इसकी व्याख्या गोपीके शरीरमें ही सब होते हैं— समझकर करते हैं। यो मे भक्त्या प्रयच्छति—प्रेमसे हमको लाकर दे। हमारी चीज हमको दे। महाराज, यह आपकी चीज हमने बहुत दिनोंसे, गलतीसे अपनी मान रखी थी। त्वदीयं वस्तु गोविन्द— जो कुछ मेरा है, और जो कुछ मैं हूँ, सब तुम्हारा है। बलिने लोक दिया, परलोक दिया और अपना मैं भी दे दिया कि नाप लो यह भी तुम्हारा है।

जब सब भगवान्‌का ही है तो उनको समर्पित क्या करना? समर्पित करना माने अपनी भूल मिटाना। भगवान्‌की चीजको हमने अपनी मान रखा था, अब हमारी भूल मिट गयी—बोले महाराज, इतने दिन हम भूलमें रहे कि यह हमारा है। यह तो तुम्हारा है। चाहे तो इस दुकानमें रखो चाहे उसमें रखो। चाहे इस मुनीमके पास रखो, चाहे उस मुनीमके पास रखो। चीज तो तुम्हारी है।

उदयपुरके राजा—राजा नहीं है—दीवान हैं। महाराजा तो एकलिंगी स्वामी हैं। एकलिंग स्वामी वहाँके अधिपति हैं और वे तो दिवानकी तरह काम करते हैं। 'यो मे भक्त्या प्रयच्छति।' क्षमा करो महाराज, हमने आपकी चीजको इतने दिनोंसे अपनी माना। आपकी चीज आप लो। 'तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः'। नियमसे, निष्ठासे, अपने मनको वशमें करके, भक्तिके साथ भगवान्‌को दे दो। बोले भगवान् भूल जाते हैं कि क्या करनेका है। एकने इत्रका फाहा दिया तो वह तो देनेवालेकी तरफ देख रहा था। असलमें दी हुई वस्तुका उतना महत्त्व नहीं है। देनेवालेका बहुत महत्त्व है। जिसके हाथ पर रूईका फाहा रखा था— उन्होंने पट मुँहमें डाल दिया— यह भोलेपनका लक्षण है। भगवान् बहुत भोले हैं। कानून-कायदा भी नहीं देखते हैं। यदि उनका भक्त आजाये तो सब कानून-कायदा ताक पर रख देते हैं। यदि भगवान् कानूनके अनुसार ही भक्तसे व्यवहार करें तो भक्ति करनेकी क्या जरूरत है? दरवाजे पर लिखा— बिना इजाजत अन्दर आना मना है। अपनी पत्नीके लिए है क्या? अपने आपसे इजाजत लेकर भीतर आयें? अपने बेटेके लिए है क्या? अपने सेवकके लिए है क्या? अरे भाई, वह तो पराये लोंगोके लिए कानून होता है।

परमात्मा न्यायकारी नहीं है। अपने भक्तका पक्षपाती है। इसीसे नाम भी भक्तका पक्षपाती है। शंकरजी

प्रारब्धको भी मिटा देते हैं। भगवान्का भोलापन क्या है? उसपर आपका ध्यान जाये— भोलापन यह है कि पत्रं, पुष्पं, फलं तोयं— कोई खानेकी चीज तो है नहीं और भगवान् खानेवाले भी नहीं हैं। यह बात वेदमें बिलकुल स्पष्ट है—जीवात्मा भोक्ता होता है। भगवान् भोक्ता नहीं होता। उसको भूख-प्यास नहीं लगती है। वह तो नहीं खाता है लेकिन जब अपने प्रेमी भक्तको देखते हैं, तो महाराज भूख-प्यास न हो तब भी ये लेकर खाते हैं, अपने प्रेमीके हाथसे भूख न होने पर भी खा लेते हैं। हम लोग भी खा लेते हैं, भले भूख न हो, भले रुचि न हो—कभी-कभी तो कड़वा भी खा लेते हैं। एक हमारे हरिबाबाजी थे—एक सज्जन उन्हें निमन्त्रण देकर भोजन कराने ले गये। उनकी स्त्री छू गई तो वह रसोई नहीं बना सकी। पतिने खाना अपने हाथसे बनाया। परन्तु घी-तेलकी पहचान नहीं थी, उन्होंने एरण्डीके तेलसे साग बना दिया। जब बाबाको परसा तो वह पहचान गये कि यह तो एरंडीका तेल है। बोले कितना बनाया है भाई, बहुत बढ़िया साग है— महाराज खूब है आप खूब खाइये। बोले ला सारा-का-सारा लेआ। आज तेरे लिए नहीं छोड़ेंगे। सब खा गये। उसको पता ही नहीं चला कि हमने एरंडीके तेलमें बनाया था। अब जब जुलाब हुआ, रेचन हुआ तो भगत लोंगोने पूछा—यह क्या हुआ? बोले चुप रहो—हमारा बहुत दिनसे मन था कि एक दिन जुलाब लेंगे, आज मिल गया। अपना प्रेमी—उसके हाथका महत्त्व है—उसके प्रेमका महत्त्व है। उसके कड़वाहट और मिठासका महत्त्व नहीं है। महात्माओंको अपने शरीरका भी ज्यादा महत्त्व नहीं होता। वे सोचते हैं—इतने जी कर हमने क्या किया, कि थोड़े दिन और जीयेंगे तो दुनियामें और कुछ कर लेंगे। अपने शरीरकी भी कीमत नहीं होती है। उनकी दृष्टि ही अलग है। तो जब सब महात्माओंका महात्मा है, जो भगवान् है—'तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि'—भूल गये कि हमारा तो आज निर्जल व्रत है—कोई प्रेमी ले आया तो खाने लगे—अरे बाबा तुम तो निर्जल व्रत रखते हो—कभी कुछ खाते ही नहीं हो। बिना खाये-पिये चमकते रहते हो। बोले नहीं भाई, भक्तिका—प्रीतिका स्वभाव ही यह है कि प्रियतम अपने-आपको भी भूल जाता है।

तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥ 9.26

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥ 9.27

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥ 9.28

'यत्करोषि, यदश्नासि' — आपका ध्यान खींचते हैं। 'साधु सावधान—दीजिये अवधान।' हमारे जब साधु लोग बैठते हैं तो उनमें यह बोला जाता है। साधु सावधान, दीजिये अवधान। इधर अपना ख्याल, तवज्जुह, ध्यान दीजिये। गीतामें दो-तीन जगह यह बात कही गयी है कि हम कर्म करें तो भगवदर्पणबुद्धिसे करें तब वह कर्म हमारे अन्दर पाप-पुण्य नहीं लगावेगा। पहलेसे संकल्प कर लें कि यह कर्म भगवान् अपनी प्रेरणासे ही करवा रहे हैं। देखो कोई हमसे जबरदस्ती काम करावे, डण्डा लेकर कहे—यह काम करना पड़ेगा और हम भयभीत होकर कर लें तो स्वयं करनेपर जितना पाप होता है, उतना विवश होकर करनेपर पाप नहीं लगेगा। यह तो आप जानते ही हैं। उन्होंने स्वयं संकल्प करके किया, कराया।

पहले कर्मको ब्रह्ममें रख लो और आसक्ति छोड़कर करने जाओ, फिर पाप नहीं लगेगा—'मयि संन्यस्य कर्माणि।' अध्यात्म-बुद्धिसे सारे कर्म भगवान्‌को अर्पित कर दो और फिर करते जाओ, तो तुम्हें पाप-पुण्य नहीं लगेगा। सब जगह वही है। ये तु सर्वाणि कर्माणि—वहाँ सब जगह यह बात है कि पहले संकल्प करो अपने मनमें कि यह कर्म भगवान्‌की प्रेरणासे, भगवान्‌के लिए, भगवान्‌में रहकर मैं कर रहा हूँ। यहाँ बिलकुल अद्भुत दूसरी बात है—यहाँ ऐसा है कि करनेके लिए पहले आपको भगवान्‌की याद बिलकुल न रही हो, लौकिक स्वार्थसे करने लग गये।

अपने स्वार्थके लिए, अपने भोगके लिए काम कर रहे हैं। पहलेसे संकल्प नहीं है। करते समय याद नहीं है। न भगवान्‌की प्रेरणाका अनुभव किया, न करते समय भगवान्‌का स्मरण और कर्म-निर्वाह हो रहा है। कर्म पूरा भी हो गया और पूरा करनेके बाद 'श्रीकृष्णार्पणमस्तु' एक बार हृदयसे निकला। पहले तो याद नहीं थी भाई! करते समय भी याद नहीं थी पर अब आ गया तो बोले—'श्रीकृष्णार्पणम् अस्तु' । हे भगवान् ! न मैं कर्ता हूँ और न यह मेरा है। करनेके बाद भी!

भगवान्‌को अपने जूठेका भोग लगता है। संस्कृत भाषामें एक ग्रन्थ है प्रेमपत्तनम्। इसके कर्त्ता एक महान् विद्वान् हुए हैं उनकी रचना है। भगवान् कहते है कि मैं उच्छिष्ट हूँ। भक्तोने मुझे चाट-चाट कर जूठा कर दिया। 'उच्छिष्ट ब्रह्म'—सब पैदा होते हैं सब मरते हैं और भगवान् बचे रहते हैं इसलिए उनका नाम उच्छिष्ट है। बोले—उच्छिष्ट मैं ही हूँ—पहले महात्मा लोग भगवान्‌को जूठा भोग नहीं लगाते थे। जब व्रजमें भगवान् आये तो उन्होंने कहा कि ये बात रही जायेगी 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते'—जो मुझे जैसे भजे, मैं उसी प्रकार उसका भजन करता हूँ। भक्त लोग बोलेंगे कि, यह कैसी रही—हम तुम्हारा जूठा खायँ और तुम हमारा जूठा न खाओ। बोले ला भैया—मेरे प्यारे भाई ला!

मैं जब संन्यासी नहीं हुआ था। एक महात्माके साथ भोजन करने बैठा। वे भगवान्‌को अर्पण करके, तुलसी डालके, पानी घुमाकर खाते थे। भोजन करने लगे, इसी बीचमें दही लेकर आदमी आया कि दही परोसना तो मैं भूल गया, उसने थालीमें डाल दिया। उन्होंने फिरसे हाथमें पानी लिया और बोले 'भगवद्-पर्णमस्तु'—मैंने कहा ऐसा क्यों करते हो? जूठा भोग लगाते हो? बोले, हमारा भगवान्‌का कुछ ऐसा ही रिश्ता है, हमारा जूठा वे खाते हैं, उनका जूठा मैं खाता हूँ।

रिश्ता तो जोड़ो—वह रिश्ता जोड़ो—पति-पत्नी है, माँ-बेटा है, भगवान्‌के साथ सम्बन्ध तो होने दो? सम्बन्ध जुड़ जाय तब देखो क्या मजा आता है।

एक गोस्वामीजीके घरमें भोजन करने गया। भगवान्‌को भोग लगाया थाली हमारे सामने रख दी। मैंने कहा, तुम स्वयं प्रसाद नहीं लेते हो। बोले मैं तो ग्वारियेका जूठा नहीं खाता। मेरी जात बिगड़ जायगी। मैंने कहा तुम ब्राह्मण और यह ग्वारिया! इसका जूठा मैं खाऊँगा! मैंने कहा यह क्या बात है? किसी महात्मासे पूछा तो हमें बताया—देखो, वह मूर्तिको मूर्ति नहीं समझता है। सक्षात् ग्वारिया, अहीरका बेटा कृष्ण समझता है, उसका कितना जागृत भाव है। मूर्तिको मूर्ति नहीं समझता । साक्षात कृष्ण समझता है, यह तो देखो।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥ 9.27

'यत्करोषि'—जो कुछ करते हो, धन कमानेका काम करते हो, बहुत बढ़िया है। संसारके और लौकिक कर्म भी करते हो, बहुत बढ़िया है। भागवतमें एक जगह लिखा है कि एक आदमीको कुत्तेने खदेड़ा। वह आदमी डर गया। उसको भगवान्‌की तो याद आयी नहीं , एक मन्दिर था सामने और भयभीत होकर भागा। मन्दिरमें गया और भगवान्‌का चरण पकड़ लिया कुत्तेके डरसे। भगवान्‌ने कहा यह तो मेरे शरणागत हो गया। भयके निमित्तसे वह भगवान्‌की ओर गया और उसको शरणागत मान लिया भगवान्‌ने।

आपको सुनावें भक्त लोग क्या मानते हैं—जब लघुशंका करते हैं, जब वह शौच जाते हैं तो वह कहते हैं यह हम भगवान्‌के लिए कर रहे हैं। पहले हम लघुशंकासे निश्चित हो जायें, मल-त्यागसे निश्चिन्त हो जायें, स्नानसे निश्चिन्त हो जायें तब भगवान्‌की सेवा करेंगे, अरे सच्चे भक्तका हर कार्य भगवान्‌की सेवाके लिए होता है। लघुशंका लगी—तो सेवा क्या करोगे? शौच लगा तो सेवा क्या करोगे? भक्त सोता क्यों है? सोकर उठेंगे—चित्त शान्त रहेगा और प्रसन्न रहेंगे तब प्रेमसे भगवान्‌की सेवा करेंगे। भक्तका सोना भी भगवान्‌के लिए, मूत्र, पुरोष भी भगवान्‌के लिए। उसका चलना, बैठना, खाना सब भगवान् अपने लिए ग्रहण करते हैं। जो भूल करता है तो भूलको भी लेते हैं। जब उसके शरीरमें गन्दगी रहती है—भगवान् कहते हैं—हमारी लापरवाही है—क्यों गन्दगी आयी हमारे भक्तके शरीरमें? अपने हाथसे उसको धोते हैं, पोंछते हैं। *'कोटि विप्रवध लागहि जाहू। आये सरन तजहिं नहि ताहू।'* ऐसा भगवान्‌का स्वभाव है।

यत्करोषि—जो करते हो। यह मत देखो क्या करते हो, जो तुम्हारा भोजन है वही भगवान्‌को अर्पित करो। नहीं तो भोजन करनेके बाद भी अर्पित कर दो कि यह मैंने खाया, उस समय भूल गया था।

जो करते हो , जो खाते हो, जो हवन करते हो, जो भी हवन करते हो, जो तपस्या करते हो, वह करनेके बाद सही। भगवद् अर्पण कर दो, यह मेरा नहीं। 'शुभाशुभफलैरेवं मौक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।' यह जो कर्मोका बन्धन है, यही सुख या दुःख स्वरूप फल देनेवाला है। कर्मोके बन्धनसे छूट जाओगे तब कहोगे कर्म मेरा नहीं।

कहते हैं ड्यूटी करते समय आदमीसे जो गलती होती है उसकी जिम्मेवार सरकार है। ड्यूटी करते समय अगर कोई मर जाय तो सरकार मानती है कि ड्यूटी करते हुए मरा है, यह तो हमारा है। उसके परिवारका पालन-पोषण करते हैं। पेन्शन मिलती है। जो अपना कर्म, अपना दान, अपना भोग, अपना होम, अपनी तपस्या करनेके बाद भी भगवान्‌को अर्पित कर दे, उसको भी शुभाशुभ फलसे मुक्त कर देते हैं और संन्यासीको जो फल मिलता है, वही फल जैसे संन्यासी कर्मबन्धनसे छूटता है, वैसे वह भी कर्मबन्धनसे छूटता है गृहस्थकर्म करनेवाला। परन्तु संन्यासी त्याग करके छूटता है और गृहस्थ भगवान्‌को अर्पण करके छूट जाता है।

जो समर्पण है वही सन्यास है, जो संन्यास है वही समर्पण है। 'संन्यासयोगयुक्तात्मा'— बल्कि संन्यास भगवान्‌के लिए हुआ कि नहीं हुआ इसमें शंका रहती है। पर यह तो संन्यासयोग है। समर्पणयोग है। क्योंकि भगवान्‌का स्मरण है, भगवान्‌का स्फुरण है। इसमें भगवान्‌का उद्‌देश्य है। यह भगवान्‌की ओर मुँह करके

किया जाता है, इसलिए योग हो जाता है। 'संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि'—सारे कर्मबन्धनसे मुक्त हो करके। मुक्ति माने संसारको तलाक देना। इसका नाम है संन्यास, विनिर्मुक्त।

फिर बोले भाई एकसे मुक्ति हुई—कुछ मिले तब ना। 'मामुपैष्यसि'। मैं मिलूँगा। संसारसे होगा तलाक और मिलेगा भगवान्। कर्म करते हुए हो जायेगा। यही गीताकी विशेषता है। सर्वकर्माणि—सारे कर्म करो—'कुर्वन्नपि न लिप्यते।' गीताकी विशेषता है। कर्मको छुड़ाकर भगवान्को गीता नहीं मिलाती है। कर्म करते हुए गीता भगवान्को मिलाती है। क्या पक्षपात करते हो ? भगवान् पक्षपाती— आर्यसमाजी तो भगवान्को पक्षपाती नहीं मानते—आर्यसमाजी तो भगवान्को न्यायकारी मानते हैं— तब भगवान्के पास जानेकी जरूरत ही क्या है ? यमराजके दरवाजे पर चले जाओ। आपको न्याय मिल जायगा। इतना पाप, इतना पुण्य, इतना स्वर्ग, इतना नरक—न्याय करनेके लिए तो यमराज हैं। भगवान् तो पतित-से-पतितको, नीच-से-नीचको उठाकर अपने हृदयसे लगानेवाले हैं। भगवान्के पास क्षमा है, भगवान्के पास दया है। भगवान् कानून बदल देते हैं। तो यह पक्षपात क्यों ?

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥ 9.29

'समोऽहं सर्वभूतेषु'—आपके कामकी बात सुनाता हूँ। भगवान् कहते हैं—मैं सबमें हूँ, सबको देखता हूँ, न मेरा किसीसे द्वेष है न राग है। श्री कृष्णने तो महाभारतके युद्धके अन्तमें जब परीक्षितका जन्म हुआ तो वे मृत थे—अश्वत्थामाके अस्त्रसे दग्ध थे। हाय-हाय मच गयी कि कौरव-पाण्डव वशंका अन्त हुआ। श्री कृष्णको मालूम हुआ तो अपने-आप वहाँ आये। उन्होंने हाथ उठाकर सबके बीचमें कहा— यदि कौरव-पाण्डव युद्धमें किसीके प्रति मेरे मनमें विषमता आयी न हो, मेरे मनमें समता बनी रही हो, राग-द्वेष न रहा हो तो मेरे इस समत्वके बलपर यह मरा हुआ बालक जीवित हो जाय। तुरन्त परीक्षित जीवित हो गये।

भागवतमें तो कथा है कि गर्भमें प्रवेश करके रक्षा की। महाभारतमें कथा है कि अपने समत्वके बलपर श्री कृष्णने रक्षा की। 'समोऽहं सर्वभूतेषु'—भगवान् सबमें सम है। न उनको किसीसे द्वेष है और न किसीसे राग है। यह भगवान्का स्वरूप है।

उड़ियाबाबाजीके पास दो भगत आये। दोनोंमें लड़ाई हो गयी थी। एक कहता था—महाराज बड़े निष्ठुर हैं, एक कहता था, बड़े दयालु हैं। बोले—महाराज आप ही निर्णय करो। आप दयालु हो कि निष्ठुर हो ? वे बोले देखो मेरा स्वरूप निष्ठुर है, और मेरा स्वभाव दयालु है। स्वभावमें दया है और स्वरूपमें असंगता है। तो भगवान् भी अपने समरूपमें सम है, राग-द्वेष नहीं है, सबके अन्दर है, एक सरीखे हैं, सबको जीवन देते हैं, सबको ज्ञान देते हैं, सबको सुख देते हैं। सबमें रहते हैं। परन्तु विशेष क्या होता है ? 'ये भजन्ति तु मां भक्त्या'—जरा प्रेम जोड़ो उनके साथ।

जैसे कल्पवृक्षमें दरवाजा बन्द किसीके लिए नहीं है। सबके लिए खुला है। पर उसके नीचे जा करके, उससे कहो हमे हीरा चाहिए, मोती चाहिए, हमको बैकुण्ठ चाहिए, हमको ज्ञान चाहिए—नीचे जाकर, उसका

आश्रय लेकर माँगो तो कल्पवृक्ष जो माँगोगे सो देगा। वहाँ जाना किसीके लिए मना नहीं है। वहाँ आर्य भी जा सकते हैं, अनार्य भी जा सकता है। कल्पतरु जैसा स्वभाव है, जो उनके आश्रित हुआ, उसका परम कल्याण, परम मंगल है।

अब 'मयि ते तेषु चाप्यहम्'—पर ध्यान दो। भगवान् कहते हैं 'मयि ते'—उनका आधार मैं हूँ। मयि माने मुझमें। भक्त कहाँ रहते हैं? भक्तके सर्वस्व भगवान् हैं। भगवान्से पूछो महाराज आप कहाँ रहते हो? तो बोले 'तेषु चाप्यहम्' मेरे आधार भक्त हैं और मेरे सर्वस्व भक्त हैं। भक्तने कहा—मेरे आधार, प्राणाधार तुम, मैं तुममें रहता हूँ—और मेरे रहनेके लिए दुनियामें कोई जगह नहीं है। मैंने कोई घर नहीं बनाया। मैं तो तुम्हारे घरमें रहता हूँ। तुम्हारा होकर रहता हूँ। यहाँ क्या हुआ? परस्पर आधार-आधेय भाव हो गया। भक्त है आधेय और भगवान् है आधार और भगवान् है आधेय और भक्त है आधार। भक्तके हृदयमें भगवान् रहते हैं और भगवान्के हृदयमें भक्त रहता है। यह बात भागवतमें बहुत साफ है। मेरे हृदयका नाम है साधु, सन्त, भक्त। साधुके हृदयका नाम है भगवान् और भगवान्के हृदयका नाम है साधु। भक्तका हृदय क्या है? देखो, निरीक्षण करो—भक्तके सिवाय और कुछ नहीं है।

अनेक स्थलोंपर भगवान्ने स्वयं कहा है—भक्त लोग मेरे सिवाय और किसीको नहीं जानते हैं और मैं भक्तके सिवाय किसी अन्य को नहीं जानता हूँ। 'हम भक्तनके भगत हमारे, सुन अरजुन परतिज्ञा मेरी, यह व्रत टरत न टारे।'— एक बार बोल दो। भगवान् बोलते हैं—'अहं भक्तपराधीनो।' दुर्वासाजी मैं भक्तके पराधीन हूँ। मैं तो भक्तोका गुलाम हूँ। मेरे अन्दर स्वतन्त्रता तो है ही नहीं और भक्त मेरे सिवाय दूसरी किसी वस्तुको जानता ही नहीं है। इसलिए भगवान्ने कह दिया—मेरे भक्त न हों तो मैं स्वयंको भी रखना पसंद नहीं करता हूँ। कभी-कभी साधु लोग भी कह देते हैं। यदि हम न होते तो तुम्हारी क्या गति होती? बोलो, कौन पूछता तुमको? 'सन्त रामके पूत हैं राम सन्तके पूत'—सन्त न होते जगतमें तो ईश्वरका क्या होता कि उसके पूत जहाँ हैं वहीं रहते। सन्तोंने ही भगवान्को निराकारसे साकार बनाया। बैकुण्ठसे धरतीपर ले आये। जिनका किसीसे सम्बन्ध नहीं है, उनको सम्बन्धी बनाया। यह तो सन्तोंकी महिमा है। 'मयि ते तेषु चाप्यहम्।' बोले बाबा दुराचार देखते हो कि नहीं, जाति देखते हो कि नहीं? अब अगले जो श्लोक आते हैं, उनमें यह बात है। हम आचरण भी नहीं देखते। 'अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्'। आचार नहीं देखते। 'क्षिप्रं भवति धर्मात्मा' आचरण नहीं देखते, देर नहीं लगाते और जाति नहीं देखते।

●

प्रवचन : 10

भगवान्ने कहा कि जो जिसकी आराधना करता है, वह उसीको प्राप्त करता है और इसी न्यायसे अपना भी वर्णन कर दिया, जैसे देवाराधन करनेवाला देवताको प्राप्त होता है, वैसे ही मेरी आराधना करनेवाला मुझे प्राप्त होता है। न्यायतः संगत है परन्तु दोनोंमें बड़ा अन्तर है। देवता लोग तो पूजाकी सामग्री देखते हैं कि हमारी पूजा-पत्रीमें यह क्या लगा रहा है। जैसे देवतासे हम पाँच लाख चाहते हैं और पाँच रुपयेका लड्डूका भोग लगा देते हैं। तो वह हिसाब-किताब देखता है। देवताओंको गणित, व्यापार मालूम है। उनको वेद-मन्त्रका उच्चारण चाहिए। उनको विधि-विधान चाहिए और वे पूजा तो पहले ले लेते हैं और उसका फल कभी, अपनी मौजसे देते हैं। न्याय यही है कि जो भगवान्की आराधना करे वह भगवान्को प्राप्त हो।

क्या यही बात भगवान्के बारेमें भी सोची जाय? उन्होंने देवताओंसे अपनी विलक्षणता बतायी। देवता अमर हैं—अमीर लोग उनकी उपासना करते हैं। अमर हैं, अमीर हैं, उमराव हैं। अमेरिका अमीरोंका निवास स्थान है। भगवान् गरीबोंके लिए हैं। अमीरोंके ही भगवान् नहीं है, भगवान् गरीबोंके भी हैं। जिनके पास कोई सामग्री न हो वे क्या करें? देखो गरीबोंकी सेवा स्वीकार करनेके लिए— 'पत्रं पुष्पं फलं तोयं।' 'यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्' में थोड़ी आपत्ति आयी थी, जो आक्षेप आया था, उसका समाधान करनेके लिए। इसको आक्षेपिकी संगति बोलते हैं। तुम भी देवताओं जैसे हो, ना-ना, मैं देवताओं जैसा नहीं हूँ। 'पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।' वस्तुकी कीमत नहीं कीमत है भक्तिकी। कितना प्रेम— 'पत्रं' एक तुलसीका पत्ता, 'पुष्पं' एक जंगलमें-से तोड़ लाओ फूल। यदि कोई मालिक है, तो उसकी अनुमति लेकर ही फल, फूल, पत्ता चुनना चाहिए या कीमत देकर लेना चाहिए, स्वयं पैदा करना चाहिए। पर यदि कोई वनमें फूल-फल लगा हो तो वहाँसे ले लेना चाहिए। क्योंकि वह तो भगवान्का है। तो पत्र हो, फूल हो, फल हो और नहीं तो पानी तो बहता ही रहता है। अपने पीनेके लिए मिलता है, तो भगवान्को पिलानेके लिए क्या पानी नहीं मिलेगा? अब यह है कि भगवान् सबके साथ अश्नामि शब्दका प्रयोग करते हैं। अश्नामि माने खाता हूँ। थोड़ा हो तो आप उसको नाश्ता बोलते हैं। 'नाशितं'— अशितं पूर्णं न भवति!' यह पूरा भोजन नहीं है अधूरा भोजन है। परन्तु भगवान् कहते हैं कि मैं भोजन करता हूँ। यह प्रेमसे दे रहा है। क्या है? सुनते हैं विदुरकी पत्नीने केला, नहीं, केलेका छिलका खिलाया था भगवान्को। पत्रं पुष्पं भी नहीं था वह तो त्याज्य अंश था।

महाभारतमें ऐसी कथा नहीं है पर भक्तमालमें यह कथा है। फूल, फल, पानी, 'तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि'। हमको बचपनमें साधुओंमें बहुत श्रद्धा थी। पन्द्रह-सोलह वर्षके थे तो कई बड़े मस्त महात्माओंके पास गया। उन्होंने इलायची उठाकर दे दी तो बिना छिले ही खा जाता था। एक दिन किसी महात्माने पिस्ता दे दिया तो ऐसे ही मुँहमें डाल दिया—तब उन्होंने डाँटा—बोले, नहीं यह छिलका गलेमें, कलेजेमें जाकर नुकसान पहुँचावेगा, ऐसे नहीं खाना चाहिए।

प्रेममें, श्रद्धामें, वस्तुका विचार नहीं होता। भगवान् भी प्रेम-मुग्ध अवस्थामें ही रहते हैं। 'पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।' तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः। वस्तु नहीं देखता है कि वह कितनी कीमतकी है, कितनी बढ़िया है, कहाँसे लायी गयी है, कितने श्रमसे उत्पन्न हुई है, देखता यह है कि यह पूजा करनेवाला प्रेमसे कर रहा है कि नहीं! 'प्रयतात्मनः' का अर्थ है उसमें कोई स्वार्थ नहीं है। उसका मन उसके हाथोंमें है। तो यह बात हुई कि भगवान्‌की पूजामें वस्तुका महत्त्व नहीं है, प्रेमका महत्त्व है। अब यह देवताकी पूजा नहीं रही, पितरकी पूजा नहीं रही— यह भगवान्‌की पूजा है, विलक्षण हो गयी।

अब यज्ञमें यह बात है। 'यान्ति मद्याजिनोऽपि मां।' प्रश्न यह उठा कि क्रियाविशेषको धर्म कहते हैं। जब शास्त्रोक्त कर्म, शास्त्रोक्त रीतिसे, शास्त्रोक्त अधिकारी, शास्त्रोक्त समय पर करता है तब यज्ञ सम्पन्न होता है। यह गीताकी विशेषता क्या है? इसमें तो ब्राह्मणादि अधिकारीकी अपेक्षा है कि ब्राह्मण करे, वेदमन्त्र पढ़े यह भी जरूरी नहीं है। 'मूर्खो वदति विष्णाय धीरो वदति विष्णवे। विद्वान् वदति विष्णवे।' पण्डित बोलता है तो 'विष्णवे नमः' बोलता है और मूर्ख बोलता है तो 'विष्णाय नमः' बोलता है—अशुद्ध हो गया। ना-ना प्रेममें कहीं अशुद्धि होती है! दोनोका समान फल मिलता है।

भगवान्‌को व्याकरणका उतना ज्ञान नहीं है, जितना हमारे पण्डित लोंगोने व्याकरण जोड़ा है। भगवान्‌का तो स्वाभिक व्याकरण है। भागवतमें लिखा है 'वयांसि तद्व्याकरणं विचित्रं।' भगवान्‌का व्याकरण क्या है? चिड़िया। जो चिड़ियाकी तरह-तरहकी बोली बोलती है और उनकी जो भिन्न-भिन्न प्रकारकी आकृति-प्रकृति होती है, यही भगवान्‌का नामरूप व्याकरण है। चिड़ियोंकी बोलीका नाम व्याकरण है और उनकी जो आकृति है वह रूप-व्याकरण है। व्याकरण माने विशिष्ट आकृतिका सम्पादन। 'व्याकरणं' उसमें मन्त्रकी जरूरत नहीं है। अधिकारीकी आवश्यकता नहीं है। क्रियाविशेष कि ऐसी वेदी बनाओ और ऐसा स्थान हो और वसन्तमें आग्न्याधान करो। यह सब कुछ नहीं। सारी क्रिया ही भगवान्‌के प्रति अर्पित हानेसे धर्म हो जाती है। 'यत्करोषि'—यज्ञमें क्रियाविशेष है और भगवद्-सर्मपणमें क्रिया विशेषका सर्मपण नहीं है।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥ 9.27
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥ 9.28

'यत्करोषि'— भगवान् सब कर्मकी बात करते हैं। भगवान् श्रीकृष्णने (भगवान् तो आदरवाचक शब्द है) श्रीमान् कृष्णने—श्रीमती भगवद्गीता(जैसे स्त्रीके नामके साथ श्रीमती जोड़ते हैं वैसे ही भगवान् भी विशेषण शब्द है,कहीं -कहीं संज्ञाके अर्थमें प्रयोग होता है) ने क्या किया, मन्दिरमें-से तो भगवान्‌को निकाला और 'सर्वभूतेषु मद्भावम्' कर दिया।

भगवान् कहाँ है? सबमें हैं। सड़कपर हैं, घरमें हैं, स्त्रीमें हैं, पुरुषमें हैं। परमेश्वरको तो निकालकर सबमें रख दिया और धर्मको यज्ञशालामें-से निकालकर—'यत्करोषि यदश्नासि लौकिकमपि'—जो कुछ लौकिक कर्म

करते हो, परिवारके लिए करते हो, धनार्जनके लिए करते हो—'यत्करोषि।' और पहलेसे ख्याल नहीं है—यह भगवान्‌के लिए है। करनेके बाद ही बोल दिया 'श्रीकृष्णार्पणमस्तु।.ब्रह्मण्याधाय कर्माणि' का अर्थ है कि पहले परमात्माका ध्यान रखकर तब कर्म करो। इससे भगवान् प्रसन्न होंगे कि नहीं। और 'यत्करोषि'का अर्थ है—जब कर्म हो जाय तभी, पहले करो तो बहुत बढ़िया। परन्तु कर्म हो जावे तो! 'यत्करोषि।'— शुभाशुभ भगवान्‌को अर्पित करें—अशुभ कैसे करेंगे? 'शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः' से कर्मका क्या रूप हो, यह बन्धन भी नहीं लगाया। 'यत् किञ्चित्सामान्यं करोषि' जो कुछ सामान्य कर्म करते हो, सब।

'यदश्नासि'—जो समय पर मिल गया और भोजन कर रहे हैं। भगवान्‌ने दिया— याद आजाय। भगवान् ही भीतर बैठकर भोजन कर रहें हैं यह स्मरण हो जाय। 'अहं वैश्वानरो भूत्वा।' भगवान् शहद भी तो खाते हैं। पञ्चामृतमें शहद पड़ती है। आपको मालूम है शहद कैसी चीज है? न मालूम हो तो अच्छा है। उसका भी भगवान्‌को भोग लगता है। 'यदश्नासि यज्जुहोषि'—आप हवन करते हैं? ब्रह्म हवि है। जो दान करते हो दान अपनी सन्तुष्टिके लिए होता है। देनेवालेको सन्तोष होना चाहिए। जिसको दिया जाता है, उसका सन्तोष यदि देखोगे तो एक-एक व्यक्तिकी इतनी माँग होगी कि आप सर्वस्व दे करके भी उसको सन्तुष्ट नहीं कर सकोगे। इसलिए दान है तो बाह्य—बाहरी धर्म, परन्तु आत्मसन्तुष्टिके लिए होता है। उससे अपनेको सन्तोष होना चाहिए, हाँ हमने ठीक किया। अधिकारी कौन है? उसका मालिक है वही अधिकारी है। धन न तुम्हारा है, न जिसको दे रहे हो उसका है। वह तो जिसका है, उसीका है।

'यत्तपस्यसि कौन्तेय'—जो आत्मसंयम करते हैं, अपनी इन्द्रियोंको संयममें रखते हैं। आत्मसंयमरूपी तपस्या। 'तत कुरुष्व मदर्पणम्' वह भगवान्‌के प्रति अर्पित हैं। हमने एक महात्मासे पूछा था। उन दिनों मैं 18-19 वर्षका था। गंगा किनारे बड़े मस्त महात्मा रहते थे। उन्होंने एक दिन उस समय पूछ लिया क्या चाहते हो? मैंने कहा हमको भगवान्‌के प्रति समर्पित कर दो, शरणागत कर दो। हम भगवान्‌के प्रति शरणागत हो जायँ, समर्पित हो जायँ यही चाहते हैं। वे बोले तुम भी सोचकर आओ ऐसी कौन-सी वस्तु है जो भगवान्‌को समर्पित नहीं है? धरती भगवान्‌की है। पानी भगवान्‌का ही है, पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, सब परमात्माका स्वरूप है। क्या है ऐसा जो भगवान्‌का नहीं है। कल आकर बताना समर्पण करा दूँगा। 24 घण्टे तक मैं सोचता रहा—जब मनही भगवान्‌का है तो शरीरकी माटी किसकी? जब पानी भगवान्‌का है तो शरीरका पानी किसका? जब आग भगवान्‌की है तो शरीरकी गर्मी—टेम्परेचर कहाँसे आता है? मैं गया उनके पास—महाराज नहीं मिले। देखो असमर्पितका भ्रम है। यह अपनी बुद्धिका दोष है कि हम किसी वस्तुको भगवान्‌की नहीं समझते हैं।

यह बिलकुल पक्की बात है कि सिवाय भगवान्‌की वस्तुके और दूसरे किसीकी कोई वस्तु नहीं है। मै आपको क्या अर्पित करूँ? शुभाशुभफलैरेवं—बोले छोटी चीज अर्पित करेंगे तो पहले प्रश्न था कि शायद न खायँ तो भगवान्‌ने प्रतिज्ञा कर ली कि खाते हैं। छोटी वस्तु दें, छोटा कर्म दें, थोड़ा भोजन दें तो इसका फल भी छोटा होगा? बोले—भगवान्‌के पास तराजू तो है ही नहीं ।

रामानुजसम्प्रदायमें बरबर मुनि हुए हैं—उन्होंने ललकार दिया है—तुमको पुण्यका साक्षात्कार हुआ है? तुमको पापका साक्षात्कार हुआ है? क्या तुम जो पाप-पुण्य मानते हो उसको भगवान् भी पाप-पुण्य मानते हैं? अरे तुम अपनी आँख भगवान्के साथ मत जोड़ो—विचार करके देखो भगवान्को ये सृष्टि कैसी दिखती है? अपना स्वरूप दिखती है—तो तुम भगवान्की शरणमें हो कि नहीं? तुम क्या दिखाते हो? अपना स्वरूप दिखाते हो। भगवान् तो हमको अपना मैं मानते हैं। हम ही भगवान्को अपनेसे अलग मानते हैं। जो भगवान्की दृष्टि है वही हमारी दृष्टि है।

'जो थारी राय सो म्हारी राय'—ऐसे बोलो भगवान्से। तब तो तुम्हें कभी दु:ख नहीं होगा और जब तुम कहोगे तुम्हारी राय अलग, हमारी राय अलग, बस जहाँ भगवान्से मतभेद हुआ, जीवनमें दु:ख आया। जीवनमें दु:खका एक ही कारण है, भगवान्से मतभेद। भगवान् किसको पापी मानते हैं? किसको पुण्यात्मा; मालूम है? हम अपने ही एक हाथको पापी मानें, एक हाथको पुण्यात्मा मानें—यह कैसे हो सकता है?

'शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।' यह कर्म बन्धन है सृष्टि और इसीमें तुम्हारी मान्यता है, इस कर्मका फल यह है, इस कर्मका फल यह है। भगवान् अमेरिकन कानून मानते हैं कि यूरोपियन? किस संविधानके अनुसार वे पाप-पुण्यका निर्णय करते हैं? उनके पास जो संविधानकी पुस्तक है वह किस राष्ट्रकी है? किस जातिकी है? किस आचार्यकी है। यह आचार्य तो सब बादमें पैदा हुए —तो भगवान्के पास वह पोथी नहीं रही होगी जो इन लोगोने बनायी है। उस समय मनुकी पोथी कहाँ थी? जैमिनिकी पोथी, कुरानशरीफ, बाईबिल कहाँ थी—ये तो बादमें बने। इनके पहले जो भगवान्का कानून है, उसका साक्षात्कार किसने किया? बतायें तो सही! भगवान्का कानून विचित्र है। सबको अपने मैंके रूपमें अनुभव करते हैं। सृष्टि क्या है यह तो उसकी कविता है।

भगवान् अपना ही भिन्न-भिन्न नाम बनाते हैं : विलक्षण, विलक्षण नाम रखते हैं और मौजमें अकेले गाते हैं, जो गाते जाते हैं सो बनता जाता है। 'संन्यासयोगयुक्तात्मा'—देखो सर्व कर्मार्पिण हो गया इसमें, सर्व कर्म त्याग हो गया—'विमुक्तो मामुपैष्यसि।' मुक्त हो गये और भगवत्प्राप्ति हो गयी। भगवान्की प्राप्ति मरनेके बाद होती है यह कुकल्पना है। भगवान्की प्राप्ति इसी समय हो रही है खुली आँखसे देख लो। अब एक बात आयी कि नहींजी, हम तो पापी हैं। अच्छा तुम पापी मानते हो तो मानो, तुम्हारी इच्छा, तुम्हारे मुँहमें घी-शक्कर। हम तुम्हारी बात मान लेते हैं।

कल सुनाया था। 'ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्।' मयि ते—उनका आधार मैं हूँ और तेषु चाप्यहम् और मेरा आधार वे हैं। माने मेरे दिलमें वे हैं और उनके दिलमें मैं हूँ। मनकी उपाधि ही हमको भगवान्से अलग करती है। यह डिग्री लग गयी। एक आदमीको पहले राय बहादुरकी पदवी मिली। फिर राजा बहादुरकी पदवी मिली। पहले पद्मश्री मिली तो फिर पद्मभूषण मिल गया। अरे बाबा डिग्री दो हुई, आदमी दो थोड़े ही होगा। आदमी तो एक ही है। यही आदिम है। भगवान्ने अपने सरीखा बना दिया—आदिम है यह आदमी नहीं है—मान्यता ही तो है। बोले—'ये भजन्ति तु मां भक्त्या'! मुझमें भक्त और भक्तमें मैं।

भक्तके बिना भगवान् कहाँ? यदि ईशितव्य नहीं होगा तो ईश्वर कहाँ होगा? अच्छा हम पापी हैं। पापी हो तो पहले छाँटो सबसे बड़ा पापी कौन है? भगवान्‌ने कह दिया 'अपि चेदसि पापेभ्यः' सब पापियोंको इकठ्ठा करो और उनमें-से कहो कि यह छोटा पापी, यह बड़ा पापी, यह सबसे बड़ा पापी! 'पापकृत्तमः- पापकृत्, पापकृत्तर, पापकृत्तमः'—बोले, हमारी नाव तुम्हारे लिए किनारे लगी है। आओ बैठ जाओ। संकोच होता है महाराज, हम पापी हैं—नाव पर कैसे चढ़ेंगे। छोड़ दो संकोच। नहीं, हमसे नहीं आया जाता—'तेषामहं समुद्धर्ता' मैं आकर तुमको उठाता हूँ और दोनों हाथसे पकड़कर हृदयसे लगाता हूँ। ओ मेरे प्यारे 'सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि'। साराका सारा पाप तुरन्त भस्म हो जायेगा। पापका समुद्र बहता रह जायेगा नीचे और तुम तर जाओगे।

जिसके पास वस्तु नहीं है, उसके लिए भी भगवान् हैं। जिसके पास विधि-विधान नहीं है, उसके पास भी भगवान् हैं और जिसके पास पुण्य कर्म नहीं है, पापकी पूँजी है—भगवान् महापतितपावन हैं—जो पापीको अपना नहीं सकता, जो नीचे गिरे हुएको उठा नहीं सकता, जो पिछड़ेको आगे बढ़ा नहीं सकता, जो भूले हुएको रास्ता बता नहीं सकता, वह धर्म नहीं होता, उसका नाम धर्म नहीं है। उसका नाम भगवान् नहीं है। यदि पतितको पावन न करदे तो भगवान् कैसा? 'अपि चेत्सुदुराचारः' भगवान् कहीं आचार देखते हैं?

आपने सुना होगा—पूतना राक्षसी, कंसप्रेरिता रुधिराशना बालघातिनी और हिंसासे हृदय भरा हुआ और जहर लगा हुआ। भगवान्‌के पास गयी तो उन्हें कुछ दिखा ही नहीं। यह राक्षसी है कि बालघातिनी है कि हिंसिका है, कुछ नहीं। क्या दिखा? बच्चेको क्या दिखता है—आप जानते हैं? माँका दूध दिखता है। केवल दूध दिखा, जहर वैगरह कुछ दिखा ही नहीं। कुब्जा दिखी, रूप आदि कुछ नहीं दिखा। यहाँतक कि उद्देश्य भी नहीं दिखा कि यह किसके लिए है। वह तो कंसके लिए था, जो कुछ उसके पास था और वह कंसकी सेविका थी। अरे यह तो बड़ी स्वामिनिष्ठा है। कंसकी सेवा बहुत कर चुकी। तुम्हारी जैसी सेविका तो हमारे घरमें चाहिए।

अनजानमें अमृत पी लिया—अमर हो जायेगा कि नहीं? अनजानमें श्री कृष्णसे प्रेम हो गया। आचार नहीं है, ज्ञान नहीं है, जाति नहीं है; परन्तु भगवान्‌से प्रेम है। मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई। 'साधुरेव स मन्तव्यः।' आपसे कहते हैं कि आप भी उसके आचारको मत देखिये, आप भी उसके निश्चयको देखिये। भक्ति संकल्प-प्रधान नहीं है। भक्ति क्रिया-प्रधान नहीं है—भक्ति उद्देश्य-प्रधान है। किसके लिए कर रहा है? 'कस्मै देवाय' यहाँ कस्मै का अर्थ है किसके लिए—उसका निश्चय, सर्वोत्तम निश्चय है। भगवान् व्यवसायात्मिका बुद्धिको पसन्द करते हैं। अव्यवसाय नहीं, उसने निश्चय कर लिया है। 'भजन्त' भजन माने प्रेमपूर्वक। अपने चित्तका सर्वतोमुखी प्रवाह भगवान्‌में लगा है। आगे भगवान्, पीछे भगवान्, दायें भगवान्, वायें भगवान्। ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्। पापी भी आपका भजन करनेका निश्चय करे तो कुछ देर तो लगेगी? 'क्षिप्रं'—चुटकी बजाते ही, तत्काल पापी हो गया, धर्मात्मा। धर्मात्मा होना कोई कम तकलीफदेह नहीं है।

मच्छर मर जाये, चींटी पाँवके नीचे आ जाय—आगके आगे बैठकर होम करना पड़े तो धर्मानुष्ठान करते-करते भी हाथ तो जलते ही हैं। बोले नहीं , बादमें शान्ति मिलेगी—बादमें धर्मात्मा होगा—ऐसा नहीं, तुरन्त हो जायेगा धर्मात्मा। यहाँ मरनेके बाद धर्मका फल नहीं। श्वच्छान्ति निगच्छति। उसी समय उसको शाश्वत शान्ति मिलेगी।

बोले—अर्जुन, सुन एक बात! मेरा दोस्त है। जैसे आजकल यार-यार करके बात करते हैं न! मित्र हो तो गाली देकर भी बात करते हैं—सुन अर्जुन, जरा कान इधर दे—तू प्रतिज्ञा करले, त्वं प्रतिजानीहिं तुम प्रतिज्ञा करो—मैं क्या प्रतिज्ञा करूँ? बोल, 'न मे भक्त:प्रणश्यति' —श्रीकृष्णके भक्तका कभी नाश नहीं होता। यह प्रतिज्ञा कर। मैं प्रतिज्ञा नहीं करूँगा, तू कर। अरे बाबा करले न यार! काहको हिचकता है। बोले तुम्हीं क्यों नहीं कर लेते? मेरे सिर पर बोझ क्यों डालते हो? देख बात यह है कि मैं तो प्रतिज्ञा कर चुका हूँ कि महाभारत युद्धमें कोई शस्त्र नहीं ग्रहण करूँगा। सो अभी तो युद्धका प्रारम्भ है, दो-तीन दिन बाद मुझको शस्त्र उठाना पड़ेगा, हमारी प्रतिज्ञा टूट जायगी तो दुनियामें विख्यात हो जायगा कि भगवान् अपनी प्रतिज्ञाके पक्के नहीं है। प्रतिज्ञा करते हैं तोड़ देते हैं। यदि रामचन्द्र हों तो बात दूसरी है।

कृष्णने कहा कि हमारे बारेमें थोड़ी बदनामी है और आगे और होनेवाली है। महाभारतमें भगवान्ने अपनी प्रतिज्ञा तोड़ दी—क्यों? भीष्मकी प्रतिज्ञाकी रक्षा करनेके लिए। भीष्मकी प्रतिज्ञा थी—'आजु हौं हरि सों शस्त्र गहइहौं'—महाराज आप अपनी प्रतिज्ञा तोड़ देंगे? हाँ, लेकर चक्र दौड़े—रथका पहिया। जैसे सिंह झपटता है हाथी पर वैसे झपटे। धरती काँपने लगी। वाणी देवी काँपने लगीं कि अपनी वाणीसे श्रीकृष्णने प्रतिज्ञा की कि मैं शस्त्र ग्रहण नहीं करूँगा और वे हमारा तिरस्कार करके दौड़े, थरथर काँपने लगीं, अब हमारी मर्यादा क्या रहेगी? पीताम्बर गिर पड़ा। श्री कृष्णने एक परदेसे अपनेको ढँक रखा था। पीताम्बर उनके ऊपर परदा है। बोले बड़े सम हैं-बड़े सम हैं। कौरव-पाण्डव दोनों सम हैं—यह किसका पक्षपात नहीं करते हैं। वे पीले-पीले पीताम्बरसे ढँके हुए थे अपनेको । पीताम्बरने कहा कि अब जाओ, बेपरद हो गये तुम!

'गतोत्तरीय'—यह अन्धी आँखोंसे भी देखनेकी चीज है। इसके लिए बाहरकी आँखकी जरूरत नहीं है। यह आत्मा प्रज्ञानेत्र है। उपनिषद्में कहा—प्रज्ञाकी आँख है। बोले देख भाई —मेरी प्रतिज्ञा जब झूठी होगी तो अब मैं प्रतिज्ञा करूँगा उसको लोग झूठी मान लेंगे। इसलिए तू कर ले प्रतिज्ञा—'न मे भक्तः प्रणश्यति'। और 'बुद्धिनाशात् प्रणश्यति'—बुद्धि भगवान् हैं। 'बुद्धिं तु सारथिं विद्धि' — यह सारथिके रूपमें कौन बैठा है? बुद्धि है। किसी मजहबमें बुद्धिका इतना आदर नहीं है। 'बुद्धियोगात्, बुद्धियोगात्,बुद्धियोगात्'। 'न मे भक्तः प्रणश्यति'—मेरे भक्तका प्रणाश कभी नहीं होगा। 'तस्याहं न प्रणश्यामि—स च मे न प्रणश्यति।' वह मेरी आँखसे ओझल नहीं होगा और मैं उसकी आँखसे ओझल नहीं होऊँगा।

'प्रणश्यति'का अर्थ है — आँखसे ओझल होना। जब कोई चीज नहीं दिखती है तो मरती तो नहीं है पर हम समझते है कि मर गयी। एक घड़ा फूट गया, हमने कहा घड़ा फूट गया, मर गया, पर मर नहीं गया, माटीका एक कण भी नष्ट नहीं हुआ। माटीका जितना वजन था उतना ही वजन बना रहा। माटी-माटीमें मिल

गयी ज्यो-की त्यों। घड़ा मरा कहाँ? कोई नहीं मरता। मेरे भक्त हो जाओ तब इसका पता चलेगा। भगवान् भक्तको देखते हैं। भक्त भगवान्को देखता है। दोनों दोनोंको देखते हैं। 'विष्णोस्तत् परमं पदम्।'

अब जातिकी बात करते हैं—माने जो कर्मसे नीच है, जो वस्तुसे रहित है, जो कर्मकाण्डसे रहित है, जो पापी हैं, फिर बोले नहीं,नहीं, अब आओ सबके लिए दरवाजा खुला है। भगवान्का द्वार कभी किसीके लिए बन्द नहीं होता। 'मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।' पापयोनि माने जो कुत्ता है। कुत्ता भी भक्त होता है। भगवान्का आश्रय लेता है।

हमने भक्त कुत्ता देखा है। ग्वालियरके पास एक सन्त रहते थे—उनके यहाँ एक कुत्ता था। उसको एकादशीका ज्ञान था। एकादशीके दिन जब जबरदस्ती रोटी दी—वह नहीं खाता था। हमने फलाहारी कुत्ता भी देखा है। वे मोसम्बी, अनार खाते हैं। कीर्तनमें नाचते देखा है। तालसे अपना पाँव हिलाता था। साँप भी कथा सुननेके लिए आते हैं। प्रवचन सुननेको साँप भी आते हैं। ये जो जन्तु-विज्ञानके विद्वान् हैं, वे कहते हैं, इनके अन्दर समझ सब होती है, वे केवल हमारी वाणी नहीं बोल सकते हैं। केवल भाषाका ही अन्तर है।

कुत्ता भी समझता है कि मेरी तारीफ हो रही है कि मेरी निन्दा हो रही है। गीध भी भगवान्का भक्त है—'शूकरयोनिं वा।' सुनते हैं, तोता, कौवा भी भगवान्के भक्त होते हैं। गाय, हरिण, पेड़पर रहनेवाली चिड़िया भी भगवान्की भक्त हैं। असलमें सब जानमें, अनजानमें 'मम वर्त्मानुवर्तन्ते।' भगवान्की सेवा सबके द्वारा हो रही है। 'स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्राः'—जो भगवान्-विमुख स्त्री हैं, जैसे पूतना है, कुब्जा है। वैश्य, जो अपने व्यापारके अनुसार लोगोंके काममें आनेवाली चीज—वह अच्छी हो चाहे बुरी—व्यापार करते हैं। 'पापयोनयः' और साथ-साथ 'तेऽपि' है। 'अपि' शूद्राः—जो छोटे-छोटे काम करते हैं। राजाकी आज्ञासे जल्लाद फाँसी देता है, उसमें उसको पाप लगेगा? निष्ठाके साथ आज्ञाका पालन करता है, संविधानका पालन करता है। वहाँ पापका प्रश्न क्या है? 'तेऽपि यान्ति परां गतिम्।' यदि उनके हृदयमें भगवान्की भक्ति है तो उनको परागतिकी प्राप्ति होती है। 'किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या—जिनका हृदय पवित्र है, ब्रह्मर्षि है, जिनके हृदयमें भक्ति है, उनका क्या पूछना?

एक ब्राह्मण है। बारह पुण्योंसे युक्त है—स्वाध्याय, तपस्या, एकान्तसेवन, सब है उसके अन्दर—परन्तु भगवान्से विमुख है। बोले भाई, उस ब्राह्मणसे तो वह चाण्डाल बढ़िया है जो भगवान्के प्रति समर्पित है। यह भागवत्में श्लोक है। प्रह्लाद-स्तुतिका है। जिसकी जीभपर भगवान्का नाम है—भगवान्का नाम लेकर पुकारे और ताप, यमदूत, नरक, स्वर्ग, पुनर्जन्म उसके पास आयें? यह कैसे हो सकता है? उसको कोटि-कोटि यज्ञका फल मिलता है। यह भगवान्की सुगमता है। 'तेऽपि यान्ति परां गतिम्।' उनके लिए भी द्वार खुला है, वे भी आयें। आओ भाई, यहाँ किसीके लिए रोक-टोक नहीं है, यह तुम्हारा अपना घर है, कोई पराया घर होता तो यहाँ कोई कानून लगता, कोई रोक-टोक लगती, यह तो तुम्हारा अपना घर है। आओ-आओ हमारे पास आओ।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥ 9.34

अपने मनको देखो। मैं हूँ तुम्हारा मन। 'अहमेव मनो यस्य।' मैं ही जिसका मन हूँ—समान अधिकरण, जब आँख बन्द की, जरा गरदन झुकायी, कौन दिखता है? हमारा मन दिखता है, ठीक है तुम्हारा मन मैं हूँ कि नहीं? मैं ही तो तुम्हारे अन्दर मन बनकर बैठा हुआ हूँ। तन्मे मनः।

मद्भक्तो भव—मुझसे प्यार करो। अपना मनन, विचार मुझको दे दो, यह हुआ मन्मना भव। और भक्ति माने प्रीति प्यार। अपने विचार हमको दे दो और अपना प्यार हमको दो। मद्याजी—अपना कर्म हमको दो। बोले बाबा—कुछ दिया लिया नहीं जाता, अच्छा हाथ तो जोड़ो, नमस्कुरु। हमारा सिर भी नहीं झुकता, कई लोग ऐसे होते हैं। बिलकुल ठूंठ होते हैं, झुकनेका तो नाम ही नहीं आता। सिर नहीं झुकता है, हाथ नहीं झुकता है। हमको तो डॉक्टरने बताया कि यदि आप साष्टांग दण्डवत् रोज किसीको करते होते तो बर्षों पहले आपके हाथकी दवा हो जाती। भगवान्ने कहा—अच्छा, सिर तो झुका लिया करो, बोले यह भी नहीं बनता है बाबा! कौन साष्टांग दण्डवत् करे। कौन सिर लगावे धरतीमें। हाथ, पाँव, छाती, घुटना लगावे धरतीमें—यह सब उपद्रव हमसे नहीं बनता है।

एकबार श्रीकृष्णके सामने झुकना दस अश्वमेध यज्ञके बराबर होता है। दस अश्वमेध यज्ञ करो फिर जन्म होगा लेकिन एकबार श्रीकृष्णके सामने नम्र हो जाओ, झुक जाओ, अपना दिल नम्र हो जाये, हृदयमें कोमलता आजाय—बस, छूट गया संसार! यह तो कठोर हृदयके लिए संसार है, कोमल हृदयके लिए संसार थोड़े ही होता है। कोमल हृदयको तो भगवान् पसन्द करते हैं—इसका कोमल हृदय है, कहीं संसारमें फँस जायेगा। आओ-आओ हमारे साथ जुड़ जाओ। जिसका हृदय कोमल होता है, वह संसारमें कहीं भी खिंच जाता है, किसी भक्तके रंगमें रँग जाय, किसीके साथ चिपक जाय तो भगवान्ने कहा—यह तुम्हारा नमन जो है यह नमक हमको पसन्द है।

नमन कहो नमक कहो कुछ फरक नहीं होता। यह तो गला देता है—नमक जिस चीजमें डाल दो गला देता है। तो हमको गला हुआ हृदय पसन्द है।

मेरा कुछ नहीं, सब तुम्हारा है, शरणागति। पहले ज्ञान है, फिर भक्ति है, फिर यज्ञ है, उसके बाद शरणागति है। बोले यह भी नहीं होता, बोले मत्परायण—मेरा भरोसा रखो, मुझपर विश्वास रखो, सब ठीक कर देंगे। 'एवं आत्मानं युक्त्वा।' इस तरह तुम अपने-आपको जोड़ दो, मेरे पास आओ।

एक बातपर आपका ध्यान खींचें। यह श्लोक 18वें अध्यायमें भी है और नवें अध्यायमें भी है। थोड़ा अन्तर है। वहाँ है 'मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे।' विश्वनाथ चक्रवर्तीने कहा कि जब भगवान्ने कहा 'मामेवैष्यसि'—बोले हमको तो तुम पहले ही बता चुके हो कि तुम वादेके झूठे हो, झूठी प्रतिज्ञा करते हो। हम नहीं मानते। बोले 'सत्यं'—मैं सत्य-सत्य कहता हूँ, सौगन्ध खाकर कहता हूँ। सत्यकी शपथ खाकर कहता हूँ। तुमसे कहता हूँ भाई, यह भी तो देख! नहीं, बाबा बचपनसे ही झूठ बोलते रहे। मैयासे

कह दिया माटी नहीं खायी—गोपियोंसे कह दिया कभी झूठ नहीं बोला—भीष्मसे प्रतिज्ञा की सो तोड़ दी। तो मुझसे भी झूठ बोल सकते हो। कुछ विश्वास नहीं है, तुम्हारा। बोले, नहीं 'प्रियोऽसि'—अर्जुन तुम मेरे प्यारे हो 'भक्तोसि मे'—ब्रजवासी लोग बात-बातमें तेरी सौं मेरी सौं कहते ही रहते हैं। ब्रजवासियोंकी सौगन्धका कुछ ठीक नहीं है। प्रेममें भी है न! 'सौंह करे भौंहनि हंसे'......। सौंहकी तो कीमत ही नहीं है। बोले नहीं-नहीं तुम तो मेरे प्यारे हो—'प्रियोऽसि!' अपने प्यारेसे कहीं कोई झूठी प्रतिज्ञा की जाती है। कोई पराया हो तो बात दूसरी है, तुम तो हमारे बड़े प्यारे हो। 'इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्।' तुम मेरे इष्ट हो, माने मैं तुम्हें चाहता हूँ—

भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्।

तुम मेरे भक्त हो, सखा हो, पर वहाँमें और यहाँमें फरक क्या है? वहाँ सारी जिम्मेवारी अपने ऊपर लेते हैं। तुम अपनेको इस तरहसे मेरे साथ जोड़ो। यह अभी आधी गीता है। पूरी गीता 'प्रियोऽसि मे' पर है।

× × ×

यह बड़ा अच्छा होता कि हमें धन्यवाद पहले मिल जाता है और पूरा करनेका अवसर बादमें आता है। हम आप लोगोंके आभारी हैं कि आप अपने घरका इतना बड़ा काम-धन्धा छोड़कर बढ़िया-बढ़िया फर्नीचर और एयरकण्डीशन घर छोड़कर आते हैं, कुर्सीपर बैठते हैं, इतना श्रम करते हैं, इतनी शान्तिसे, इतने प्रेमसे सुनते हैं। और सचमुच यदि श्रोता अच्छा न हो तो वक्ता तो कुछ बोल ही नहीं सकता। श्रोताका जो उत्तम श्रवणका संकल्प है, वह वक्ताके हृदयको प्रभावित करके उसको बोलनेकी शक्ति देता है। आभारी तो हम आपके हैं—कृतज्ञ हैं। बार-बार ऐसा मौका मिले, तो हम बहुत खुश हों। ऐसे नीचे बैठनेवाले मिलें, हँस-हँसकर हमारी बात सुनें और महाराज, माला भी पहनावें, हाथ भी जोड़ें, महाराजजी भी कहें, ऐसे श्रोता तो हमको बार-बार चाहिए—धन्यवाद हम ही देते हैं।

ॐ शान्तिः, शान्तिः शान्तिः

●

गीता-दर्शन

(7)

गीता अध्याय-10

स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

संकलनकर्त्री

श्रीमती सरला बसन्तकुमार बिरला

विश्वात्मा प्रीयताम्

ऋग्वेदमें एक मन्त्र है—मेरा हाथ भगवान् है। भागवतमें प्रार्थना है—भगवान् मेरी वाणीका शृंगार करें। महात्माओंका वचन है—हृदयका उत्साह ही सफलताकी कुञ्जी है। भगवान् मेरी वाणीपर बैठ गये। श्रीमती सरला बिरलाका हाथ भागवतशक्तिसे भरपूर हो गया। श्रीमान् बसन्तकुमार बिरला उत्साहसे भर गये। गीता-दर्शनका सप्तम भाग आपकी आँखोंके सामने है। इससे विश्वमानवके रूपमें मूर्तिमान् भगवान् प्रसन्न हों। सबके हृदयमें, जीवनमें, कर्ममें हितभावनाका प्रकाश हो।

अनेन कर्मणा विश्वात्मा भगवान् प्रीयताम्।

अखण्डानन्द सरस्वती

गीता अध्याय -10

प्रवचन : 1

(10-11-'80)

श्रीमद्भागवद्गीताका एक प्रसिद्ध वाक्य है—

मामनुस्मर युध्य च। (8.7)

मेरा स्मरण करो और युद्ध करो। इस वाक्यकी व्याख्या दसवें अध्यायमें पूर्ण रूपसे की गयी है। गीताके दसवें अध्यायमें दो पदार्थोंका वर्णन है। एक है योग और एक है विभूति। अर्जुनके प्रश्नमें है—

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्॥ (10.18)

आप योगका उपदेश कीजिये। विभूतिका भी उपदेश कीजिये। श्रीकृष्णके वचनमें है—

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः॥ (10.7)

हमारी विभूति और योग, इन दोनोंको जो जान लेता है, उसको अविकम्प योगकी प्राप्ति होती है। अविकम्प योगका अर्थ है जो योग एक-कालिक न हो, एक-देशिक न हो, एक-व्यक्तिक न हो। अविकम्प योग—कभी काँपे नहीं, कभी हिले नहीं, कभी चले नहीं। समाधिमें भी रहे और व्यवहारमें भी रहे। जो योग समाधिमें रहता है और व्यवहारमें नहीं, वह विकम्प योग है। समाधिमें लगे तो व्यवहार छूट गया और व्यवहारमें लगे तो योग छूट गया। दोनों परस्पर विरोधी हो गये। ऐसा जो योग होगा वह विकम्प योग होगा।

योग ऐसा चाहिए—**अविकम्पेन योगेन**—जो दोनोंमें एक-सा रहे। वह कैसे होगा? इसके लिए दोनों बातें पहचाननी पड़ेंगी। यह व्यवहार क्या है? यह भगवान्‌का वैभव-विभूति और भगवान्‌का योग क्या है? उनका अनुस्मरण—यह है योग। जब आप समाधिमें हों तो परमात्माके योगमें स्थित हो जायँ और जब व्यवहारमें हों तो भगवान्‌की विभूतिमें, वैभवमें स्थित हो जायँ। जो विभूति है, विशिष्ट भवन—ईशावास्य उपनिषद्‌में 'संभूति' शब्द द्वारा इसको कहा गया है। संभूति और असंभूति।

संभूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा संभूत्यामृतमश्नुते॥ 14॥

मृत्युका संतरण होता है। मौतसे पार जानेका उपाय है—व्यवहार बिलकुल ठीक-ठीक रहे। और अमृतत्व प्राप्तिका उपाय क्या है? संभूतिमें स्थित हो जायँ। दोनोंसे हमारा यह जीवन चलता है। जैसे विश्राम न हो तो व्यवहार करनेकी शक्ति भी क्षीण हो जायेगी, यदि आप काम न करें, तो नींद नहीं आयेगी। और नींद नहीं लें तो काम नहीं कर सकेंगे। जैसे—विश्राम और कर्त्तव्यपालन दोनों जीवनके अङ्ग हैं, इसीप्रकार भगवत्स्मरण और स्वधर्मका, स्वकर्त्तव्यका पालन ये जीवनके अङ्ग हैं। अतः **मामनुस्मर युध्य च** इस महावाक्यकी व्याख्या करनेके लिए यह दसवाँ अध्याय प्रारम्भ हुआ है। सातवें और नवें अध्यायमें भी भगवान्‌ने विभूतिका वर्णन किया है।

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः। (7.8)

यह सूर्यमें कौन चमक रहा है? चन्द्रमामें कौन चमक रहा है? और इस चमकसे कितनी चीजें बनती हैं? इसपर आप ध्यान दें। यह आप जो देखते हैं—लाल, पीला, हरा—यह वृक्षोंकी हरियाली, यह पुष्पोंकी सुन्दरता यह जो नाना प्रकारकी वस्तुएं हैं वे हैं तो विभूति। ये जो नाना प्रकारके स्वाद हैं—इसमें जल तो एक ही है। जल योग है और उसमें जो नाना प्रकारके स्वाद हैं वे विभूति हैं। यह जलका वैभव है कि वह मिठास भी दे दे और खटास भी दे दे। जल तो एक है परन्तु उसमें जो अनेक प्रकारके रस हैं—वे जलकी विभूति है। पृथिवी तो एक ही है किन्तु उसमें जो तरह-तरहके इत्र बनते हैं, तरह-तरहके गंध बनते हैं, वह पृथिवीका वैभव है। उष्मा, तेजस्-तत्त्व तो एक ही हैं, परन्तु उससे जो आप भिन्न-भिन्न प्रकारकी मशीन चलाते हैं वह उसका वैभव है।

प्राण तो एक ही है, परन्तु ऊपर जानेवाला प्राण दूसरा, आँखको हिलानेवाला प्राण दूसरा, हाथको उठानेवाला प्राण दूसरा, रक्तको ठीक-ठीक चलानेवाला प्राण दूसरा। एक ही वायु अनेक प्रकारकी विभूति, वैभव अपने जीवनमें प्रकट करता है। आकाश तो एक ही है; परन्तु वह बाँसुरीमें कुछ और बोलता है, तबलेमें कुछ और बोलता है, हारमोनियममें कुछ और बोलता है, सितार, सारंगी, वीणामें कुछ और बोलता है, यह जो भिन्न-भिन्न प्रकारकी स्वर-लहरी है, यह आकाशकी विभूति है।

यह जो आप संसार देख रहे हैं, वह क्या है? सबके भीतर छिपे हुए बैठे हुए जो भगवान् हैं उनकी यह विभूति है। यदि आप इस दृश्यमान प्रपञ्चको विभूतिके रूपमें पहचान लें तो आप जहाँ कहीं भी रहेंगे, भगवान्‌से जुड़े रहेंगे। भगवान्‌के भूलनेका जीवनमें कोई प्रसंग ही नहीं रहेगा, यदि आप इस विभूतिको, इस वैभवको पहचान लें। इसीसे उपासना-शास्त्रमें जब सर्वात्मक भगवान्‌का वर्णन आता है, तो कहते हैं भोग और मोक्ष दोनोंकी सिद्धि भगवान्‌से होती है। भक्ति-शास्त्र और तन्त्र-शास्त्र, वह चाहे द्वैत प्रधान हो, चाहे अद्वैत-प्रधान, भाग और मोक्षका युगपत्—एक साथ वर्णन करता है। हम ऐसी साधना आपको बताते हैं। जिसमें भोग तो छूटे नहीं और मोक्ष मिल जाय और मोक्षसे आप वंचित न हों और संसारका व्यवहार करते रहें।

यह गीता-शास्त्र आपके व्यवहारको भी परमार्थ बनानेके लिए अवतीर्ण हुआ है। श्रीकृष्णकी वाणीमें यह चमत्कार देखनेमें आता है। उद्धवजीसे कहते हैं—'तुम सब छोड़कर मेरे पास आजाओ। आत्मसर्मपण करो।' अर्जुन से कहते हैं—तुम सब लेकर मेरे पास आजाओ। यह तुम्हारा युद्ध कर्म भी मेरे लिए हो। 'हमारे जीवनके सारे कार्य-कलाप ईश्वरकी दृष्टिसे होवें।' गीताका यह मुख्य उपदेश है। उद्धवजीको कहते हैं, सब छोड़कर बदरीनाथ आओ और मेरी शरणमें रहो। अर्जुनको कहते हैं—'युद्ध करो और मेरे लिए करो।'

तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर। (3.9)

मेरे लिए सारे कर्म करो। अम्बरीषसे कहते हैं—पवित्र होकर, धर्मानुष्ठान करो और उपासनाके द्वारा एकादशी आदि व्रत करके, पवित्र होकर मेरे पास आओ और गोपियोंसे कहते हैं—तुम जैसे हो, जहाँ हो, जो हो- कुछ सम्हालो मत, जैसे हो वैसे ही मेरे पास आ जाओ।

ये आत्मसमर्पणके चार प्रकार हैं। सब छोड़कर परमात्मासे मिलो, सब लेकर परमात्मासे मिलो, पवित्र होकर परमात्मासे मिलो, पवित्र-अपवित्र जैसे भी हो वैसे ही— जो जैसेहिं तैसेहिं उठि धावा—परमात्माकी ओर चल पड़ो। अपनी ओर मत देखो कि मैं पवित्र हूँ कि अपवित्र, परमात्माकी ओर देखो कि उनके पास जो जाता है वह पवित्र हो जाता है, पवित्रतम हो जाता है, परमात्मासे एक हो जाता है । नवें अध्यायमें भी विभूतियोंका वर्णन है।

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक् साम यजुरेव च॥
गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥
तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन॥ (9.17-19)

भगवान्‌की विभूति है—वे ही सबके पिता हैं— माता, धाता, पितामह। 'तपामि'— मैं ही गरमीके रूपमें प्रकट होता हूँ, मैं ही वर्षाके रूपमें प्रकट हूँ, यह वैभव है। भगवान् तपते हैं, यह उनकी विभूति है। मेघ बरसते हैं यह भगवान्‌की विभूति है। मैं ही दण्ड देता हूँ और मैं ही मुक्त करता हूँ। मैं ही पकड़ता हूँ, मैं ही छोड़ता हूँ। अमृत भी और मृत्यु भी, भगवान्‌का वैभव है। अच्छा बुरा जो कुछ सृष्टिमें है वह सब भगवान्‌का वैभव है, भगवान्‌की विभूति है। ग्यारहवें अध्यायमें कहा गया है।

सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः। (11.40)

आप सबमें व्याप्त हैं इसलिए सब हैं। इसलिए सब हैं, इसका अर्थ हुआ कि परमात्मा तो हमको किसी भी स्थितिमें छोड़ता नहीं । हम अच्छी स्थितिमें हो, हम बुरी परिस्थितिमें हों, पापमें हों, पुण्यमें हो, सुखमें हों, दुःखमें हों, मन चंचल हो कि स्थिर हो, हम काम कर रहें हों कि निक्कमे हों— परमात्मा तो हमको छोड़कर कहीं जाता नहीं परन्तु हमारा ध्यान इस बात पर नहीं जाता है कि परमात्मा हमारे साथ है।

हमारे ध्यानकी, हमारे अवधानकी, हमारे ख्यालकी कमी है, हमारी भावनाकी कमी है, कल्पना-शीलताकी कमी है कि हम परमात्माको भूल जाते हैं। वह तो पक्षियोंमें बैठकर चहकता है, वह तो वृक्षोंमें लहराता है, वह तो फूलोंमें खिलता है। वह स्त्री-पुरुष बनकर नाना प्रकारकी क्रीडा कर रहा है। परमात्मा हमसे दूर नहीं है। विभूति और योग दोनोंका अर्थ यह हुआ कि हम परमात्माके स्वरूपका केवल ध्यान रखें। चाहे काम करते हुए हों, चाहे काम न करते हुए हों। समाधिमें हो तो ठीक, व्यवहारमें हो तो ठीक। दोनोंमें परमात्मा हमारी दृष्टिमें रहे। अमृतश्चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन। सत् भी वही—असत् भी वही। अमृत भी वही, मृत्यु भी वही। इसीसे विभूतियोंका जहाँ वर्णन दशम अध्यायमें हुआ, वहाँ मृत्युके रूपमें भी भगवान्‌ने अपनेको बताया।

मृत्युः सर्वहरश्चाहम्। (10.34)
कालः कलयतामहम्। (10.30)

यह जो क्षण-क्षण दीख रहा है वह काल नहीं, क्रम नहीं—जितना क्रम मालूम पड़ता है—बचपन आया, जवानी आयी, बुढ़ापा आया। जिनका आकलन होता है और जो आकलन करते हैं—यह सारी गणना, यह सारा क्रम परमात्मामें है और जो सबको हर लेनेवाला मृत्यु है, वह मृत्यु भी परमात्माका स्वरूप है। कितनी निर्भयताकी बात है जीवनमें लोग मौतसे डरते हैं, हाय! हाय! मर न जायँ। मृत्यु भी जीवनका एक अवश्यम्भावि रूप है और परमात्माका रूप है। मरनेके डरसे अपने कर्तव्यका परित्याग नहीं करना चाहिए। अपने कर्तव्यका पालन करते चलो—

यजतां पाण्डवः स्वर्गमवत्विन्द्रस्तपस्विनः।
वयं हनामभिषतः सर्वः स्वार्थं समीहते॥

(शिशुपाल वध 2.65)

सूर्य तपे, इन्द्र बरसे, वायु चले, आग तपे, जीवन रहे, मृत्यु आवे, हम अपने कर्तव्य-पथसे विचलित क्यों हो? हम अपना काम करते चलें। यह मूल दृष्टिकोण लेकर गीताका दशवाँ अध्याय प्रवृत्त होता है। भगवान्‌की वाणीकी पहचान है। वह क्या है—जो सबकी भलाईके लिए हो , जिसमें कहीं भी जातिका, सम्प्रदायका, वर्णका, राष्ट्रका पक्षपात न हो, लिंग भेद भी न हो, स्त्री-पुरुष सबके लिए हो। पशु-पक्षी, देवता-दैत्य सबके लिए हो। सब भगवान्‌के बालक हैं, सबकी उन्नति हो, सबमें सद्‌भाव आवे, सबमें चिद्‌भाव आवे, सबका ज्ञान बढ़े और सब अच्छे-अच्छे काम करें, और सब सुखी रहें। जो सबको अच्छाईमें लगानेके लिए सबको श्रेष्ठ ज्ञान देनेके लिए और सबको आनन्दित करनेके लिए वाणी होती है, वह भगवान्‌की वाणी होती है। दसवें अध्यायके प्रारम्भमें भगवान् स्वयं बोलते हैं—बिना पूछे। कितनी कृपालुता है ईश्वरकी, इसपर ध्यान दें। मनुस्मृतिमें तो कहा गया है कि पूछे बिना बोलना ही मत—

नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयात् न चान्यायेन पृच्छतः। (2.110)

बिना पूछे किसीको बतावे नहीं और यदि पूछनेवाला अन्यायसे पूछता हो तो भी नहीं बतावे। जानते हुए

भी न बतावे। बात समझमें आ रही है, फिर भी न बतावे। मूर्खकी तरह रहे। चुप हो जावे। यह मनुस्मृतिका उपदेश है। और भगवान्का जो उपदेश है, वह इस प्रकार है—एक अन्धा आदमी जा रहा है, उसके सामने गड्ढा है, तुम देख रहे हो कि वह अन्धा है, उस समय क्या करोगे? तुम बिना पूछे न बतानेका नियम लेकर बैठे हो। अरे भाई, अगर वह गड्ढेमें गिर रहा हो तो बिना पूछे भी उसको बता देना चाहिए। अगर वह अन्धा गड्ढेमें गिर गया तो एक श्रेष्ठ पुरुषका क्या लाभ होगा? भगवान् अर्जुनको बिना पूछे बताते हैं—'श्रीभगवानुवाच'। तुम्हारी दृष्टिमें किसीका अहित हो रहा है, वह अपना अहित करने जा रहा हो तो उसे बोलकर बता देना चाहिए। और भगवान्ने तो अज्ञानियोंको समझानेका ठेका ही लिया है। जो नहीं जानते हैं, उनको समझाओ, जो पतित हैं उनको भी—साथ ले लो, जो पिछड़े हुए हैं उनको साथ ले लो। नवें अध्यायमें है।

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्। (9.30)

दुराचारी पुरुषको भी छोड़ो मत। यदि वह ठीक रास्ते पर चलेगा तो क्षिप्रं भवति धर्मात्मा।(9.31) तत्काल वह धर्ममात्मा हो जावेगा। जो कर्मसे हीन है, उसको भी अपने साथ लो। जो उत्तम जातिके हैं, उत्तम कोटिके हैं, उनको लेकर चलना ही है, लेकिन जो कर्मसे, जातिसे हीन हैं, उनको भी साथ लेकर चलो। अर्जुन चुप हैं लेकिन भगवान् बोल रहे हैं। असलमें भगवान् बोलते तभी हैं, जब आदमी चुप होकर उनकी बात सुनना चाहे। श्री भगवानुवाच—

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया॥
न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः॥
यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते॥ (10.1-3)

अर्जुनके लिए महाबाहो शब्द कहा। किसीको काममें लगाना हो तो आप उसको निरुत्साह मत कीजिए। यह मत कहो कि तुम यह काम कर ही नहीं सकते। यह बोलनेकी शैली है। महाबाहो-तुम्हारी बाँह बड़ी लम्बी है, तुम बड़े शक्तिशाली हो, तुम क्या नहीं कर सकते! हम जानते हैं कि तुम इस जीवन युद्धमें विजयी बनोगे। यह तुम्हारे बड़े-बड़े हाथ तुम्हें पराजित नहीं होने देंगे। उत्साह करो। उत्साहमें लक्ष्मीका निवास है। जो उद्योगी श्रेष्ठ पुरुष हैं, उसके पास लक्ष्मी स्वयं आती है। महाबाहो-भूय एव—जैसी बात मैंने पहले सातवें, आठवें, नवें अध्यायमें कही है, ठीक उसी प्रकारकी बात तुमको फिर कहने जा रहा हूँ। यदि एक बात दो बार, तीन बार क ही जाय तो मीमांसक लोग कहते हैं-यह बड़े कामकी बात है। श्रीकृष्णने कहा—'**मैं तुम्हें दुबारा सुनाता हूँ।**' क्या सुनाते हैं? एक प्रामाणिक वचन, तुमको सुनाता हूँ। '**शृणु मे परमं वचः।**' सावधान होकर सुनो—'**शृणु**' का अर्थ है- सावधान होकर सुनो और '**मे परमं वचः, मम वचः।**' यह मेरी बात है—किसी साधारण अनुभवीकी बात नहीं है। असाधारण, सर्वज्ञ, सर्वद्रष्टाकी बात है। और बात भी कैसी है? '**परमम्**'-माने जिसमें

पूरी प्रामाणिकता हो। **'परा मा प्रमा यस्मिन् परमं वचः।'** पूरी-पूरी प्रामाणिक बात है यह। **यत्तेहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया।** तुम मेरी बात सुनकर खुश होते हो। 'प्रीयमाण' माने मैंने दूसरे अध्यायसे लेकर अब तक नवें अध्याय तक जो कहा, उसको सुनकर तुम तृप्ति अनुभव करते हो, प्रीति अनुभव करते हो, तुम्हें इसमें आनन्द आता है, तुम इसको अपनी उन्नतिका साधन समझते हो। तुम्हे सुख देनेके लिए, प्रसन्नता देनेके लिए फिर बोलेंगे। बोलना तो तभी चाहिए कि जो बात बोली जावे उससे उसका हित हो, प्रसन्नता हो।

यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ।

प्रसन्नता योग है, प्रसाद योग है और हितकाम्या विभूति है। किसीका भला करना, हित करना यह विभूति है। वैभव वही है जो दूसरेके काममें आता है। योग अपने काममें आता है और विभूति दूसरोंके काममें आती है। जहाँ हमारी आत्मशुद्धि भी हो, आत्म-साक्षात्कार भी हो, और दूसरोंका भला भी हो, ऐसी बात मैं सुनाता हूँ। 'वक्ष्यामि' शब्दका अर्थ संस्कृतमें दो तरहसे होता है। एक तो 'कहूँगा' और एक होता है 'ढोऊँगा'। मैंने तुम्हारे लिए यह बात बहुत दिनोंसे अपने मनमें पालकर रखी है, सोचता रहा हूँ कि कब मौका मिले और कब अर्जुनको यह समझाऊँ? अपने भक्तके लिए अपने प्रेमीके लिए भगवान् बोझ भी ढोते हैं। यह बात आज तक छिपाकर रखी थी।

अर्जुन, तुमसे मैं 'हितकाम्यया'से यह बात कहता हूँ—हितकाम्ययाका अर्थ है—तुम्हारा हित जिसमें है वह सुनाता हूँ। हित चाहना विभूति है और प्रियमाणता योग। तुम मेरी बात सुनकर प्रसन्न होते हो तो मुझसे एक हो जाते हो और जब तुम लोंगोके भलेमें लग जाते हो, हित साधनमें लग जाते हो, तो हमारे वैभवका विस्तार करते हो। हमको जानना सरल नहीं है।

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः॥

आँखको क्या दिखता है कि हमारे अन्दर रोशनी कहाँसे आ रही है? ये देवता हैं। कामको मालूम नहीं कि भीतर वह कौनसी चीज है जो सुन लेती है। आँखको मालूम नहीं कि वह देखनेवाली रोशनी कहाँसे आती है। जीभको मालूम नहीं कि स्वाद ग्रहण करनेकी शक्ति कहाँसे आती है।

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।

महर्षि भी नहीं जानते। सात ऋषि हैं। जिनको ज्ञान हो उनको ऋषि कहते हैं। दोनों कानोंके रूपमें ऋषि हैं, जो हमें दूसरेकी बात सुननेकी शक्ति देते हैं। देवता हैं, वे विभूति हैं और ऋषि हैं, वे योग हैं। ज्ञान होता है अन्तरंगमें और ये इन्द्रियशक्तियाँ बाहरसे ग्रहण करती हैं। देवता देवनशील हैं।

ऋषि दर्शनशील होते हैं। देवता और ऋषि क्यों नहीं जान पाते इसका कारण बताते हैं। **अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः।** जहाँसे ये देवता प्रारम्भ होते हैं, वहाँ मैं हूँ। जहाँसे ऋषि प्रारम्भ होते हैं, वहाँ मैं हूँ। एक बहुत सीधी तथा सबके अनुभवकी बात आपको सुनाता हूँ—कोई बता सकता है कि पूरब, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण कहाँसे शुरू होता है? घूमने चले जाओ—जिधर सूर्य उगता है—उसके पहले पूरब और जहाँ सूर्यास्त

होता है उधर घूमने चले जाओ—उसके बाद पश्चिम, जो पूर्व और पश्चिमको ढूँढ़नेके लिए सूर्योदय तथा सूर्यास्तकी ओर जायगा उसे कभी पूर्व और पश्चिमकी प्राप्ति नहीं हो सकेगी। वह केवल अज्ञानमें भटक जायगा। जहाँ आपका 'मैं' है वहाँसे एक ओर पूरब प्रारम्भ होता है और एक ओर पश्चिम प्रारम्भ होता है। जहाँ आप बैठे हैं वहींसे, घरमें बैठे हैं तो वहींसे, धर्मशालामें बैठे हैं तो वहींसे, मन्दिरमें बैठे हैं तो वहाँसे—आपका 'मैं' ही पूर्व-पूर्वका आदि है और आपका 'मैं' ही पूर्वका अन्त है। आपका 'मैं' ही पश्चिमका आदि और आपका 'मैं' ही पश्चिमका अन्त है।

यदि आपको पूर्व और पश्चिमका सच्चा पता लगाना है तो आपको अपने 'मैं'के भीतर बैठकर देखना पड़ेगा कि वह 'मैं' क्या है और वहींसे पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण प्रारम्भ होता है। आप ऋषियोंको ढूँढ़ना चाहते हैं तो उसके लिए हिमालयमें जानेकी जरूरत नहीं है। गंगा-किनारे जानेकी भी जरूरत नहीं है। उसके लिए किसी मन्दिरमें जानेकी जरूरत नहीं है। आपके 'मैं'के पाससे ही सब देवता-सब ऋषि, नारायण, ब्रह्मा, इन्द्र, शिव, सूर्य—सब प्रकट होते हैं और आपके 'मैं' के पाससे ही सब ऋषि पैदा होते हैं।

सम्पूर्ण ज्ञान और सम्पूर्ण शक्तियोंका खजाना कहाँ है? ऊपर है? नीचे है? दायें है? बायें है? नहीं-नहीं—आप अज्ञानमें भटक जायेंगे। सारी शक्तियोंका खजाना वहीं छिपा हुआ है। उसका दरवाजा वहीं है जहाँ आपका 'मैं' है। अब देखो भगवान्‌का वैभव! देवता लोग तो नहीं जानते।

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।

देवतागण और ऋषिगण भगवान्‌के प्रभव और प्रभावको नहीं जानते। प्रभव योग है और प्रभाव वैभव है। प्रभाव फैलता है और प्रभव—जहाँसे सबकी उत्पत्ति होती है—**'प्रभवति यस्मात् इति प्रभवः'** ऋषि लोग जहाँसे पैदा होते हैं, उसको नहीं जान पाते। देवता लोग जहाँसे पैदा होते हैं जब उसको ही नहीं जान पाते तब यह आत्मा जो परमात्मा है, इसको कैसे जान सकेंगे? **अहमादिर्हि भूतानां महर्षीणां च सर्वशः।** ये सारी ज्ञानेन्द्रियाँ और सारे देवता, सारा अध्यात्म-ऋषि है और सारा अधिदैव-देवता है और इनके द्वारा ये समग्र अधिभूत दिखायी पड़ते हैं।

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः। (7.30)

ये सब-के-सब परमात्माके स्वरूप हैं। सबका उपादान कारण मैं हूँ। सबका आदि मैं हूँ। हमारे अन्तरात्मामें बैठे हुए श्री कृष्ण बोलते हैं।

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः। (10.20)

जन-जनमें विभूति—एक-एक प्राणी भगवान्‌का वैभव है, भगवान्‌की विभूति है। सबमें भगवान्‌को देखो। न राग होगा , न द्वेष होगा, न शोक होगा, न भय होगा। यही तो उपनिषद् बोलती है, इसीको जानो। देवता लोग नहीं जानते, ठीक है। किसी देवताके पास हाथ मत जोड़ो कि हमें बता दो। देवता नहीं बतायेगा। किसी ऋषिके पास हाथ मत जोड़ो। कौन बतायेगा? जो ऋषियोंका आदि है सो बतायेगा। जो देवताओंका आदि है सो बतायेगा। और यदि उसको पहचान लोगे—

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते॥ (10.3)

भगवान्‌को जानो यह योग है। अज और अनादि—जायमान नहीं—जिसके जन्मका किसीको अनुभव ही नहीं होता। थोड़ी-सी भूमिका दसवें अध्यायकी सुना रहे हैं। फिर हँसी-खेलकी बात भी सुना देंगे।

दुनियामें ऐसा कोई माईका लाल न पैदा हुआ है, न है और न होगा कि वह बता दे कि मैं पहले-पहल कब पैदा हुआ? ज्ञानका जन्म भी पहले रहनेवाले ज्ञानसे ही मालूम पड़ता है। ज्ञानके अभावका अनुभव नहीं हो सकता। और मैं नहीं हूँ यह अनुभव भी कभी किसीको नहीं हो सकता। यह नियम है दर्शनशास्त्रका कि किसीको यह अनुभव हो ही नहीं सकता कि मैं नहीं हूँ। क्योंकि जब मैं नहीं हूँ, यह अनुभव होगा तो अनुभव करनेवाला 'मैं' मौजूद रहेगा। विद्यमान रहेगा पहलेसे। मैं नहीं हूँ, यह एक दर्शन हो रहा है और दर्शन करनेवाला पहलेसे विद्यमान है। यह आत्मा अजन्मा है। यह कालमें प्रारम्भ नहीं होता, कालको प्रकाशित करता है। यह हमारा अनादि जो है, वह कल्पना नहीं है कि समझमें नहीं आया तो कह दिया अनादि है। विचारनेपर यह समझमें आ सकता है कि आत्माकी आदि है ही नहीं, इसकी जायमानता है ही नहीं। तो परमात्मा समझो—कहाँ है? कौन है? यह योग है। और वेत्ति लोकमहेश्वरम् यह विभूति है। विभूति क्या है? जैसे मशीनको चलानेवाली बिजली है, वैसे।

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते। (10.8)

भगवान् बोलते हैं—सबका आदि, जन्मदाता मैं हूँ। यह योग हो गया और **मत्तः सर्वं प्रवर्तते**—सबका संचालक मैं हूँ—यह विभूति हो गयी। आप तारमें बिजलीको आँखसे नहीं देख सकते, यह योग है। लेकिन बल्बमें जब उसकी रोशनी आती है तब उसकी विभूति देखते हैं। पंखेको घुमाना बिजलीकी विभूति है। बल्बको जलाना यह बिजलीकी विभूति है। और बिजली क्या है? छूनेसे जिसका करेण्ट लगता है वह बिजली है—नहीं वह भी उसकी विभूति है। जो इस सारे आकाशमें विद्युत्तत्त्व हैं, वह योग है। व्यापक बिजलीको देखो, यह विभूति है। लोकमहेश्वर सारी सृष्टिको नचानेवाला जो है—*विधि हरि संभु नचावनहारे*—ब्रह्मा, विष्णु और शंकरको नचानेवाला वही है। **लोकमहेश्वरम्**—कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड, ये ग्रह, नक्षत्र, तारे, यह माया, यह प्रकृति जिसके नचाय नाच रही है, उसको देखो। यह उसका वैभव है कि वह सारी सृष्टिका संचालन कर रहा है—**लोकमहेश्वरम्**—ईश्वर है वह। **कर्तुम् अकर्तुं अन्यथा कर्तुं समर्थः**—करे सो ठीक, न करे सो ठीक बदल दे सो ठीक—सब जगह भगवान्‌का हाथ है।

दो बात ध्यानमें आनी चाहिए। सबके आदिमें अजन्मा परमात्मा ही स्थित है। वही सबका मूल मसाला है और वही सबका संचालक है—ये दो बातें आपको तुरन्त प्राप्त हो जायेंगी। **असंमूढः स मर्त्येषु**—ज्ञान हो गया। **सर्वपापैः प्रमुच्यते।** सब पापोंसे मुक्ति हो गयी। तो; अज्ञान मिटा देना यह योग है और पापोंसे मुक्त कर देना यह विभूति है। जब आप सर्वत्र परमेश्वरका दर्शन करने लगेंगे—यह देखो श्याम, यह देखो श्याम! वृक्षमें भी वही है।

भागवतमें वृक्षोंका रोमांचक वर्णन है। मधुक्षरणका वर्णन है। श्रीकृष्णकी वंशीध्वनि सुनकर वृक्षोंसे मधुधारा बहने लगती है। लताएँ खिल उठती हैं। पृथिवीमें रोमांच—दूबके रूपमें रोमांच हो जाता है, तालाबोंमें कमल खिल जातें हैं, यह वैभव है। अग्नि शान्त हो जाती है। सूर्य-चन्द्रमा ठिठक जाते हैं। माया शरीरमें रोमांच, आँखोमें आँसू, हृदयमें गोविन्द हैं। यह भगवान्‌की विभूति सृष्टिमें सर्वत्र काम करती है। आप जहाँ देखेंगे वहीं भगवान्‌का वैभव है।

यह पृथिवी दृढ़ क्यों है? फट क्यों नहीं जाती ? यह पानी सबको कहाँसे तृप्ति देता है? ये सूर्य तथा चन्द्रमामें रोशनी कहाँसे आती है? ये वाये सबको प्राण कैसे दे रहा है? आकाश सबको कैसे धारण कर रहा है? देखो, यह भगवान्‌की झलक सारी सृष्टिमें। यह स्त्री-पुरुषमें इतना प्रेम क्यों? बालक इतने प्यारे क्यों लगते हैं? लोंगोमें सद्‌भाव कहाँसे आता है? इस जड़ शरीरमें चेतना कहाँसे आती है? ये परमात्माकी विभूति ही सारी सृष्टिमें भरी हुई है। और जहाँ इसको मनुष्यने पहचाना—

सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः।

भगवान्‌ने कहा—हमारी विभूति और हमारा योग—**एतां विभूति योगं च**—'च' बोलनेसे मालूम पड़ता है कि दो चीज है। **आत्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन**—तो समाधिमें भी भगवान्, पूजा घरमें भी भगवान् और फैक्टरीमें भी भगवान्, दुकानपर भी भगवान्,सड़कपर भी भगवान्—नानारूप जो दिखायी पड़ रहा है, उसमें भी भगवान्। यह विभूतियोगका अभिप्राय है।

●

प्रवचन : 2

(11-11-80)

उपनिषदोंमें बार-बार आता है—य एवमुपासते य एवं वेद—जो ऐसी उपासना करता है और जो ऐसा जानता है। दोनोंका फल एक होता है। क्योंकि उपासनामें मनकी प्रधानता रहती है और जाननेमें बुद्धिकी प्रधानता रहती है। आप जानते हैं—जिस वस्तुको आप अच्छी समझते हैं उसको पानेकी इच्छा होती है। जिस वस्तुको बुरी समझते हैं उसको त्यागनेकी इच्छा होती है। पानेकी और त्यागनेकी इच्छा यह मनका काम है। और समझना कि क्या अच्छा है क्या बुरा यह बुद्धिका धर्म है। इच्छाओंका उदय होता है समझदारीके अनुसार। परन्तु समझदारीमें दो विभाग हो जाते हैं। एक सुख-प्रधान विभाग और एक सत्य-प्रधान विभाग।

जहाँ हम सत्य और सुख दोनोंको अलग-अलग कर देते हैं, ब्रह्मचर्य सत्य है, परन्तु सुख तो भोगमें है, वहाँ हमारी बुद्धिके दो खण्ड हो जाते हैं। एक तो सत्यका पक्षपात करती है और दूसरी बुद्धि सुखकी ओर आकृष्ट करती है। सत्य तो ईमानदारीमें हैं, लेकिन बेईमानीमें तो बहुत आमदनी है, उसमें सुख है। तो बुद्धिके दो खण्ड हो गये। एक सत्यपक्षपातिनी ईमानदारीकी बुद्धि और एक सुखपक्षपातिनी बेईमानीकी बुद्धि। उसमें हम स्वयं अपनेको किस बुद्धिके साथ जोड़ते हैं, किसके अनुसार जीवन चलता है। यदि सत्य और ईमानदारीके पक्षमें बुद्धि हो तो कष्ट सहना अच्छा लगेगा; परन्तु बेईमानी करना अच्छा नहीं लगेगा। और यदि तात्कालिक सुख भोगकी ओर बुद्धिकी प्रवृत्ति हो गयी तो कष्ट सहना अच्छा नहीं लगेगा। तत्कालिक सुख भोग जिससे मिले वह काम करनेकी इच्छा होगी।

अब यहाँ तो चर्चा है परमात्माके ज्ञानकी।

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते॥ (गीता 10.3)

ये कहते हैं कि परमात्माको जानो। जो अज है सो परमात्मा है, जो अनादि है सो परमात्मा है। वैसे तो लोक-व्यवहारमें तो हम ईश्वरको भी अजन्मा मानते हैं और प्रकृतिको भी अजन्मा मानते हैं और जीवको भी अजन्मा मानते हैं। जो लोग विशेषण-विशेष्य भाव मानते हैं वे भी परमात्मा, प्रकृति और जीव इनको अजन्मा और अनादि ही मानते हैं। और जो लोग संयोग मानते हैं—वे भी मानते हैं कि प्रकृति स्वयं अनादि है और अजन्मा है। प्रकृति हमेशा थी, हमेशा है और हमेशा रहेगी और जीव भी कभी नहीं है, ऐसा नहीं; जीवका जन्म माने क्या, प्रकृतिसे पैदा हुआ जो शरीर उसको 'मैं' और मेरा मान लेना। असलमें जीवका जन्म और कुछ नहीं है। इस देहमें जो मैं है और मेरापन है यही जीवका जन्म है। यदि मैं और मेरापन छूट जाय तो जीवका न जन्म है, न मरण है और प्रकृतिमें जो जन्म है वह प्रकृतिमें विकार होता है। यों प्रकृतिमें बुद्धि, फिर बुद्धिमें अहंकार हुआ, फिर अहंकारसे तन्मात्राएँ पैदा हुईं। उनसे फिर पञ्चभूत बने। फिर पञ्च तन्मात्राओंके सात्त्विक अशंसे पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ बनीं, राजस अंशसे पाँच कर्मेन्द्रियाँ बनीं, तामसांशसे पाँच भूत बने। ये पाँच-पाँचकी प्रक्रिया है—क्योंकि हमारे पास जाननेके

जो औजार हैं वे पाँच हैं—नाकसे गन्ध, जीभसे स्वाद, आँखसे रूप, त्वचासे स्पर्श और कानसे शब्द। हमारे पास सूक्ष्म वस्तुओंको जाननेके लिए, दृश्य वस्तुओंको पहचाननेके लिए जो औजार हैं, वे पाँच हैं, और पाँच विषयोंको जानते हैं और उनमें पाँच प्रकारकी वृत्तियाँ बनती हैं तथा पाँच प्रकारके कर्म होते हैं। आँख देखती है, पाँव चलते हैं—ज्यों-ज्यों पाँव चलेंगे त्यों-त्यों आँख देखेगी। ज्यों-ज्यों आँख देखेगी त्यों-त्यों पाँव चलेंगे। हाथ चीजको पकड़कर लायेगा और उसको हम हृदयसे लगा लेंगे। मुँहमें डाल लेंगे, नाकसे सूँघ लेंगे, कर्मेन्द्रियाँ चपरासीकी तरह काम करती हैं और ज्ञानेन्द्रियाँ बताती रहती हैं। यह हमारे जीवनकी प्रणाली है। हम लोग दूसरोंके बारेमें तो बहुत सोचते हैं। परन्तु अपने बारेमें सोचनेका मौका कम मिलता है। और असली बात यह है कि हम अपने बारेमें पहले ठीक-ठीक समझलें तो इस संसारमें जो बहुत सारी चाजें हमारे साथ जुड़ गयी हैं—मरनेका डर लग गया है—और छूटी हुई चीजोंके साथ शोक लग गया है—जो हमारे जीवनमें चीजें साथ चल रही हैं—उनके साथ मोह लग गया है। सबसे बड़ा लाभ इसमें यह होता है कि छूटी हुई चीजके लिए शोक नहीं रहेगा, और वर्तमानमें जो चीज अपने साथ जुड़ी हुई हैं उनको साथ ले चलनेका मोह नहीं रहेगा और मृत्युका जो जीवनमें भय है वह नहीं रहेगा। आप सोचिये वो जीवन कितना स्वच्छ, कितना सुन्दर, कितना सत्य, कितना शिव होगा, जिसमें मृत्युका भय न हो, वस्तुओंके छूटनेका मोह न हो। छूट जानेका शोक न हो—शोक, मोह और भयसे रहित जो जीवन होगा वह कितना उत्तम कोटिका जीवन होगा। उसको अपने कर्तव्य पालनमें कहीं कोई अड़चन ही नहीं है। शोकमें तो आपका पाँव फिसल गया पीछे, मोहमें आपका पाँव गड़ गया और भयमें आपका पाँव आगे फिसल गया। आप जीवन यात्रा कैसे करेंगे? इसलिए जीवनमें सच्चा दृष्टिकोण प्राप्त होना चाहिए और उसके बाद आप निर्भय होकर नि:शोक होकर, निर्मोह होकर—

तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वम् अनुपश्यतः। (ईशोप०7)

जीवन यापन कर सकते हैं। जब आपको परमात्माका दर्शन हो जाय माने संसारकी असलियतको सच्चाईको आप जान जायँ तो आपका जीवन कितना मुक्त, कितना स्वतन्त्र होगा, इसकी कल्पना कीजिए। प्रकृतिमें होते हैं विकार, वे बदलते रहते हैं और जीव अपने साथ जोड़कर दु:खी-सुखी होता है और परमेश्वर, सर्वज्ञ, परम कृपालु स्वेच्छासे अपने आपको प्रकट करके लोगोंको ठीक रास्ता बताता है, ज्ञान देता है, सुख देता है और सच्चा जीवन व्यतीत करनेकी प्रेरणा देता है। ईश्वरका जन्म कृपा-परवश है, जीवका जन्म अज्ञान-मूलक है और प्रकृतिका जन्म स्वाभाविक विकार है। यदि स्वाभाविक विकारको अपनेसे अलग करलें, अज्ञान मिटाकर तो दुनियामें जो हेर-फेर हो रहा है, उसका असर उसपर नहीं पड़ेगा। और यदि वह स्वयं अपनेको न जान सके तो सर्वज्ञ परमेश्वर, परम कृपालु अवतार ग्रहण करके जो मार्ग बनाते हैं, उस मार्गको समझें और उसपर चले—

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।

श्रीकृष्ण भगवान्‌ने कहा है कि अब तुमको और जाननेके लिए हम कहाँ भेजें, कि जाओ तुम ब्रह्मको जानो, आत्माको जानो, प्रकृतिको जानो, हम तुमको किसी दूसरेके पास नहीं भेज रहे हैं। तुम मुझे जानो। 'माम' माने मुझे जानो। 'मां वेत्ति' जो मुझे जान लेता है। कितना बड़ा आधार मिल गया जाननेके लिए, एक सहारा मिल

गया। आओ कृष्णको जानें। कृष्ण कैसे हैं—तो कहते हैं कि, जो तुम मेरा जन्म देखते हो और मेरी आदि देखते हो—यह दोनों बात गलत है—न मेरा जन्म-मरण है—न मेरा आदि-अन्त है—**यो मामजमनादिं च वेत्ति**—जन्म ग्रहण न करके बहुत रूपोंमें मालूम पड़ रहा है।

भगवान् कहते हैं—अपरा प्रकृति है—आठ प्रकारकी और परा प्रकृति है—एक प्रकारकी और मेरा जो यह रूप है उसमें न अपरा प्रकृति है न परा प्रकृति है। एक परमेश्वर है और सारे लोककी व्यवस्था कर रहा है। इसीको कल मैं सुना रहा था कि परमात्मा अजन्मा है, अनादि है—यह जानना तो योग है अर्थात परमेश्वर ही सबका संचालन करता है। वह ईश्वरोंका ईश्वर अर्थात् महेश्वर है। वह आपके साथ-साथ ही रहता है। यहाँ तक कि इसके बिना आपकी जीभ बोल नहीं सकती।

योऽन्तः प्रविश्य मम वाचमिमां प्रसुप्तां संजीवयत्यखिलशक्तिधरः स्वधाम्ना।
अन्यांश्च हस्तचरणश्रवणत्वगादीन् प्राणान् नमो भगवते पुरुषाय तुभ्यम्॥

(भाग 4.9.6)

यदि परमेश्वर आपके हृदयमें बैठा हुआ न हो तो आपकी जीभ बोल नहीं सकती। आँख देख नहीं सकती। कान सुन नहीं सकता। केनोपनिषद्के प्रारम्भमें यही बात तो समझायी गयी है—

चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति। (1.1)

वह कौन देवता है जो हमारे मनको सोचनेकी शक्ति देता है? आँख और कानको देखने और सुननेकी शक्ति देता है? हमारी जीभको बोलनेकी शक्ति देता है? वह हमारे आँख-की-आँख है—हमारे कान-का-कान है—हमारी जीभ-की-जीभ है। वह हमारे मन-का-मन है, वह हमारे प्राण-का-प्राण है। यदि वह न हो तो हमारी साँस ही न चले। और आश्चर्य तो यह है—वह एक ही शरीरमें नहीं है—सबके शरीरमें है और सबकी आँख, कान, और सब इन्द्रियोंका संचालन कर रहा है, नियमन कर रहा है—अन्तर्यामी है। वह प्रभु है। उसका न जन्म है, न मृत्यु है। जन्म जिसका होता है वह दृश्य होता है। पहले नहीं था, यह भी हमने देखा और अब पैदा हुआ, यह भी हमने देखा। वह तो हमारे सामने नहीं था और पैदा हो गया और उसका नहींपना भी मैंने देखा और उसका होना भी मैंने देखा—तो देखनेवाला अजन्मा होगा—दीखनेवाला अजन्मा नहीं होगा।

अब आओ, यह जो हमारा देखना—एक-एक आदमीका देखना और सब लोंगोका देखना—इसमें एक-एक आदमीका देखना जिससे होता है उसको जीव बोलते हैं और सब जीवोंका देखना जिससे होता है, उसको परमेश्वर बोलते हैं। वही लोकमहेश्वर है। सम्पूर्ण दृश्य सृष्टिका महान् परमेश्वर वही है। अब इसको जान लिया। **असंमूढः स मर्त्येषु**। दो बात बतायी। इसमें भी जीवनके लिए कितनी उपयोगी बात कही गयी है। एक तो आप कहीं संमूढ न हों और एक आपको पाप नहीं लगेगा। जीवनमें लोकके दुःखसे मुक्त किया, असंमूढ बनाकर और परलोकके दुःखसे मुक्त कर दिया, पापसे मुक्त करके। आप इस लोकमें दुःखी तब होते हैं, जब आपका कहीं मोह होता है, संमूढ होते हैं। इसके भी सूक्ष्म रूपसे दो विभाग हैं। एक तो होता है मोह और एक होता है संमोह।

जैसे कोई राजा है, उसको आपने पहचाना नहीं—यह तो मोह हुआ, अज्ञान हुआ। लेकिन आपने यदि उसे चपरासी मान लिया तो राजाको राजाके रूपमें न मानना अज्ञान है और उसको चपरासी मान बैठना यह तो भ्रम है, संमोह है। चपरासी माननेसे पहले तो अज्ञान था, पर चपरासी मानने पर तो भ्रम हो गया। अज्ञानका बच्चा है भ्रम। वेदान्तियोंकी भाषामें रस्सीको न पहचानना अज्ञान है और साँप या माला या डण्डा या भूछिद्र—ऐसा कुछ मान बैठना, इसका नाम भ्रम है। भ्रम कार्य होता है और अज्ञान कारण होता है।

संसारमें हम लोगोंके जीवनमें जीतना दु:ख है, उसका एक ही कारण है—और वह कारण है संमूढ हो जाना। संमूढ हो जाना माने अटक जाना। हम अपनी जगहसे टस-से-मस होनेको तैयार नहीं है। एकने कहा—कि आप जरा इस कुर्सीपरसे उठकर इसपर बैठ जायँ। हमने कहा तुम अपमान करते हो? हम तो इसी कुर्सीपर बैठे हैं और इसीपर बैठे रहेंगे। अब कुर्सीके साथ चिपक गये। अगर आपसे ज्यादा उस कुर्सीकी और किसीको आवश्यकता हो—अपनेसे कोई श्रेष्ठ पुरुष हो, कोई बीमार हो तो विवेकपूर्वक उस कुर्सीको छोड़ देना चाहिए। इसमें आपको सुख होगा। एक रोगीके लिए, असमर्थके लिए कुर्सी छोड़ेगें तब भी आपको सुख होगा और एक बड़ेका आदर करनेके लिए कुर्सी छोड़ेंगे तब भी आपको सुख होगा और यदि आप कुर्सी छोड़ना पसंद न करेंगे तो कुर्सीपर तो आप भले ही बैठे रहेंगे लेकिन; आपके मनमें कभी-न-कभी उद्वेगकी प्राप्ति होगी। पश्चाताप होगा कि हमने एक असमर्थकी सेवा नहीं की या हमने एक बड़ेका आदर नहीं किया। यह जो हम संसारकी स्थितिमें संमूढ हो रहे हैं—अटक गये हैं—हम किसी भी परिवर्तनको स्वीकार करनेके लिए तैयार नहीं हैं। परिवर्तन तो होता ही रहता है। पहली बात यह है कि आपको परमात्माका स्वरूप समझना होगा। यहाँ भी वही है—वहाँ भी वही है।

एक बार बहुत बड़ी सभा हुई थी। उसमें बहुतसे साधु-आचार्य जो चाँदी-सोनेके सिंहासनपर बैठते हैं और बड़े-बड़े छत्र-चँवर लगाते हैं, वे कई इकट्ठे हुए थे। एक महात्मा आये और आकर बालूपर बैठे। अब जितनी भीड़ छत्र चाँवरवालोंपर लगी हुई थी उससे ज्यादा भीड़ बालूपर बैठनेवालेके पास चली गयी। भीड़का मुँह बालूपर बैठनेवालेकी तरफ हो गया। महात्मापन छत्र-चँवर धारणकर सिंहासनपर बैठनेमें है कि बालूपर बैठनेपर है! छत्र-चँवरमें भी वही परमात्मा है—हम उसका तिरस्कार नहीं करते हैं, आदर करते हैं। पर बालूपर बैठनेवाले भी वही हैं—यह बात भूलनी नहीं चाहिए। वह धरती भी भगवान्‌का बनाया हुआ सिंहासन है। सबकी माँ है, सबकी गोद है। इसलिए भगवान् चाहे यहाँ रखें या वहाँ रखें। मालिक अपने मुनीमको इस दुकानमें रखे कि उस दुकानमें रखे, इस दुकानका माल उस दुकानमें भेजनेको कह दे, यह तो मालिककी मौज है—उसमें मुनीमको दु:खी नहीं होना चाहिए। हम तो यहीं रहेंगे, वहाँ नहीं आयेंगे— यह मुनीमका काम नहीं है। मुनीम मालिकके हुकुमको प्रसन्नतासे स्वीकार नहीं करता तथा इनकार करता है, वह संमूढ हो गया।

यदि आप परमात्माको पहचानेंगे तो उसके बाद आपको कहीं भी सम्मोह नहीं होगा, न भ्रम होगा और न अज्ञान होगा। आप देखेंगे कि सब मालिकका खेल है और उसके अनुसार सारी सृष्टि चल रही है और हमको भी उसीके अनुसार चलना है। वह न छूट जाय—इसका दु:ख अपने जीवनमें होता है और यह न

आजाय, यह न आजाय इसका दुःख भी अपने जीवनमें होता है। दुःखसे मुक्तिका उपाय यही है कि हमारे जीवनमें सम्मोह न रहे, भ्रम न रहे। यह ईश्वरके सिवाय कोई दूसरा है, मैं कुछ दूसरा हूँ। यह सब सम्मोह अपने जीवनमें-से तब मिट जाता है। जब हम परमेश्वरको दोनों-रूपोंमें पहचान लेते हैं। दोनों रूपों-में— समाधिके रूपमें भी और व्यवहारके रूपमें भी वही है। जहाँ हम दोनों रूपोंमें परमेश्वरको पहचानेंगे वहाँ हमारे जीवनमें सम्मोह नहीं रहेगा।

अब रही बात पाप-पुण्यकी—**सर्वपापैः प्रमुच्यते**। पहले मैंने बताया कि योग तो है परमात्माके अनादि और अजन्मारूपको मानना। और विभूति क्या है? वैभव क्या है? उसके लोक महेश्वररूपको पहचानना ही विभूति है। हमारी आँख देखती है, हमारा हाथ हिलता है, पत्ते हिलते हैं, पर बिना उसकी सत्ताके कोई पत्ता हिल नहीं सकता। उसीमें यह हवा चलती है और उसीसे सूर्य, चन्द्रमा अपने रास्ते पर चलते हैं। यह सब उसी परमेश्वरकी ओरसे हो रहा है। इसीसे भगवान्‌ने कर्मयोगका जब वर्णन किया तो यह कहा कि मैंने कर्मयोगकी पहली शिक्षा सूर्यको दी।

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवान् अहमव्ययम्। (4.1)

कर्मयोगी कौन है? कर्मयोगी सूर्य है। निरन्तर चलता रहता है। सूर्यके जीवनमें विश्राम नहीं है। एक क्षणके लिए भी विश्राम नहीं है। रुकता ही नहीं है और प्रकाश फेकना कभी बन्द नहीं करता । उसका ताप उसका प्रकाश निरन्तर फैलता रहता है। प्रकाश उसका काम है और विश्राम उसके जीवनमें है नहीं। यदि सूर्य कभी समाधि लगाले तो क्या होगा? सूर्य समाधिमें बैठ जावे और चलना बन्द कर दे तो क्या होगा? सारा विश्व अन्धकारमय हो जायेगा।

कर्मयोगी पहला गुरु भगवान्। भगवान् भी समाधि नहीं लगाते। भगवान् भी योगमें नहीं बैठते। हर समय सृष्टि, स्थिति, प्रलय। परमात्मा कभी बैठा-ठाला नहीं रहता। हर समय कुछ-न-कुछ करता रहता है। सबको सुलाता है। जैसे माँ बच्चेको सुलाती है और स्वयं इसको दूध पिलाती है और जाग-जागकर उसकी देखभाल करती है, वैसे परमात्मा निरन्तर जागता है, कभी सोनेका नाम नहीं लेता। समाधि लगानेका नाम नहीं लेता। कर्मयोगका सबसे बड़ा आदर्श परमात्मा हुआ और दूसरा नाम सूर्य। यह लोक-महेश्वर है, इसी सूर्यका वेदमें वर्णन है—

स्वस्ति पन्थामनुचरेम सूर्याचन्द्रमसाविव। (ऋग्वेद 5.51.15)

जैसे सूर्य और चन्द्रमा कल्याणमय मार्गपर सदा चलते रहते हैं—वैसे हम भी कल्याणमय मार्गपर चलते रहें—हनुमानजीकी तरह बरोल रहे हैं—*'राम काज कीन्हें बिना मोहि कहाँ विश्राम।'* इस तरहसे लोक-महेश्वर प्रभुको जानो और फिर लोक व्यवहारमें सर्वत्र प्रभुका दर्शन करो। कर्मकाण्डी लोंगोने कर्मके फलको परलोकमें डाल दिया। यह बात गीताको पसन्द नहीं। अर्जुनने कहा—

नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम। (1.44)

अरे हम ऐसा पाप करके मरेंगे तो हमेशा हमें नरकमें रहना पड़ेगा। भगवान् बोले, यह तो पुष्पिता वाणी है—

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥ (2.42)

आओ, हम तुमको ऐसी युक्ति बताते हैं कि यह पाप-पुण्यका चक्कर यहीं छूट जावेगा। गीता या उपनिषद् कोई पुरोहित-विद्या या पन्थाई लोगोंकी विद्या नहीं है। गीता कहती है—आओ, हम तुम्हें ऐसी बात सुनाते हैं कि इसी जीवनमें पाप और पुण्य दोनोंसे छूट जाओ।

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृत-दुष्कृते। (2.50)

जो बुद्धियोगी पुरुष होता है वह इसी जीवनमें, इसी लोकमें यहीं सुकृत और दुष्कृत दोनोंको छोड़ देता है। दोनोंसे मुक्त हो जाता है। आप पुण्य करके स्वर्गमें जावेंगे और वहाँ सुख पावेंगे, यह बात नहीं है। वह तो एक वासना बनती है। अपनी वासना स्वर्ग बनाती है। वहाँ क्या मिलेगा? वहाँ घूमनेके लिए नन्दनवन मिलेगा, चढ़नेके लिए विमान मिलेगा, पीनेके लिए अमृत मिलेगा, वहाँ अप्सराएँ मिलेंगी, इस तरहकी वासना अपने मनमें बनायी गयी—उसका साक्षात्कार होता है, हम उसको काटते नहीं हैं—परन्तु यदि पाप और पुण्य दोनोंसे छूटना हो तो जरा बुद्धिमानीसे काम कीजिए। बुद्धिमत्ता चाहिए जीवनमें—**बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृत-दुष्कृते।** आप दुनियामें कहीं अटकिये मत। अटकेंगे नहीं तो भटकना भी नहीं पड़ेगा।

सर्वपापैः प्रमुच्यते। (10.3)

सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जायेंगे। यहाँ पाप शब्दका अर्थ पुण्य भी है। एक सज्जन आये थे, बोले—नामका उच्चारण करेंगे तो हम भले ही अजामिलकी तरह हों, हमें मुक्ति मिल जायेगी। अजामिलने अपने बेटेको भगवान्‌का नाम लेकर पुकारा और मुक्त हो गया। भागवतमें तो ऐसा नहीं है, उसमें तो ऐसा है कि उसने अपने बेटेका नाम लिया—भगवान्‌की कृपासे भगवान्‌के पार्षद आ गये और उन्होंने अजामिलको यमराजके दूतोके पाशसे छुड़ा दिया। उसके बाद अजामिल हरिद्वारमें गंगा तटपर जीवित रहकर बहुत दिनों तक साधन-भजन करता रहा, उसके बाद उसको भगवान्‌का धाम मिला—तुरन्त मुक्ति मिल गयी ऐसा तो नहीं है।

असलमें मनुष्यके जीवनमें जो पाप होता है उससे छूटनेके तो अनेक उपाय होते हैं, लेकिन समूचे संसारके बन्धनसे छूटनेके लिए परमात्माके स्वरूपका ज्ञान अपेक्षित होता है। मैंने उनसे पूछा कि ऐसा कोई श्लोक बताओ कि जिसमें यह लिखा हो कि नाम लेनेसे पुण्यका नाश हो जाता है। पुण्य बना रहेगा तो पुण्यका फल भोगनेके लिए कहीं-न-कहीं जाना पड़ेगा। चाहे इस सृष्टिमें जाओ, चाहे दूसरी सृष्टिमें जाओ। पुण्यका फल तो भोगना ही पड़ेगा। लेकिन बुद्धियोग वह है जो केवल पापसे नहीं, पुण्यके बन्धनसे भी छुड़ा देता है और जब पाप-पुण्य दोनो छूट जाता है तब मनुष्यकी वास्तविक सच्ची मुक्ति होती है।

पाप क्या है? यह आदमीकी बुद्धि नहीं सोच पाती। भिन्न-भिन्न देशोंमें पाप-पुण्य अलग-अलग हैं—रसियाका पाप-पुण्य, चाइनाका पाप-पुण्य, और अमेरिकाका पाप-पुण्य, हमारे भारतवर्षका पाप-पुण्य, हिन्दूका पाप-पुण्य, मुसलमानका पाप-पुण्य, वैष्णवका पाप-पुण्य, शैवका पाप-पुण्य अलग-अलग है।

आश्चर्य होगा आपको कि गुजरातमें ऐसे वैष्णव हैं—जो हम लोगोंकी तरह कपड़ा सीओ नहीं बोलते, क्योंकि उसमें शिवका नाम आ जावेगा।

शिवः काशी शिवः काशी काशी काशी शिवः शिवः।

हम तो शिव कहते हैं तो हमारे पाप मिट जाते हैं और वे अपने मुँहमें शिवका नाम आने ही नहीं देते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि पाप-पुण्यकी व्याख्या जो है वह सबकी जुदा-जुदा है और यह व्याख्या बुद्धिसे नहीं होती है—असलमें अनुशासनसे ज्ञात होती है। जिसके गुरु, जिसके सम्प्रदाय, जिस पंथवाले, जिसके दिमागमें जो पाप-पुण्य भर देते हैं—वह उसीको मानने लगता है। नहीं तो, मूर्ति तोड़नेमें या नमाजके वक्त जाकर बाजा बजानेमें कौनसा पाप-पुण्य है? यह पन्थाई लोगोंने आपत-विपत बनायी है और यही पाप है। जो बुद्धिमान पुरुष होता है वह इसी जीवनमें, इसी लोकमें—सब पाप-पुण्यकी कल्पनासे मुक्त हो जाता है। **बुद्धियुक्तो जहातीह उभे**—इह—इसका माने है, इसी जीवनमें—**अमृत इह भवति**। श्वेताश्वतर उपनिषद् कहता है—

ईशं तं ज्ञात्वा अमृता भवन्ति। (3.7)

यहीं अमृतत्वकी प्राप्ति हो जाती है। आपके दिमागमें जो बिना सोचे-विचारे, कहीं देखकर, कहीं सुनकर, कहीं किसीके कहनेसे जो बातें भर गयी हैं—उनसे छूटनेकी विद्या है। वह विद्या यह है कि परमात्माका वैभव देखिये। जब आपको सब जगह परमात्माका हाथ दिखेगा तो कहीं किसीके प्रति पापवृत्ति आपकी नहीं होगी। किसीके प्रति पुण्यवृत्ति नहीं होगी। सबके भीतर करानेवाला कौन है, वहाँ तक अपनी नजर जाने दो। 'सर्वलोकमहेश्वरम्' परमेश्वरको पहचानो।

पाप शब्दका अर्थ संस्कृतमें होता है—जिससे रक्षा नहीं है, जिसमें त्राण नहीं है। 'पा' माने रक्षा। पा रक्षणे धातु है। पाति इति पतिः—जो पत्नीकी रक्षा करे उसका नाम पति। पाति इति पिता—जो कन्याकी, पुत्रकी रक्षा करे उसका नाम पिता—उसी धातुका है पाप और उससे अप माने अपगत जिसमें 'प' प्रत्यय होता है उसका अर्थ यह कि जिसमें रक्षा नहीं है। पाप करना माने अपनेको अरक्षित बना देना। पता नहीं कब कहाँ चले जायेंगे? पता नहीं कब क्या कर बैठेंगे? पता नहीं कब क्या बोल बैठेंगे। पता नहीं कब क्या सोच बैठेंगे? तब आपका जीवन सुरक्षित नहीं रहेगा। लेकिन आप सब जगह परमेश्वरका प्रत्यक्ष हाथ देखें,वही नाच रहा है, 'उरप्रेरक रघुवंशविभूषण'—अपने हृदयमें रघुवंशविभूषण प्रेरक है, यदि आप इस बातको देखेंगे तो पापोंसे छूट जायेंगे।

अब कहते हैं—भगवान् हमारे जीवनमें क्या-क्या देते हैं—

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।
सुखं दुखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च॥ (10.4)
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः॥ (10.4-5)

इसको जानो, भगवान् क्या देते हैं? बुद्धि, वैसे भगवान्ने विष भी दिया है और अमृत भी दिया है। यह भगवान्का दान है। यदि संसारमें विष न हो तो अमृतका कोई महत्त्व नहीं। परन्तु जिसको हम विष कहते हैं वह

भी तो अनेक रोगोंकी औषध है। वह तो रत्न है। विष तो चतुर्दश रत्नमें-से एक रत्न है। हम लोग उसकी उपयोगिता कभी समझते नहीं हैं। गाय भी एक रत्न है, घोड़ा भी एक रत्न है, हाथी भी एक रत्न है—ये वृक्ष भी रत्न हैं एक-एक वृक्ष रत्न हैं। इससे जो हवा निकलती है वह रत्न है। उसके पत्ते रत्न हैं फूल रत्न हैं—इनकी जड़ रत्न है। भगवान्‌ने कल्पवृक्षके रूपमें पहले रत्न दिया था।

भगवान्‌का दिया हुआ विष भी रत्न है और अमृत भी रत्न है। इसमें हीरे-मोती, लक्ष्मी भी रत्न हैं, वैद्य भी रत्न हैं, आयुर्वेद भी रत्न है, ओषधी भी रत्न हैं—भगवान्‌ने बड़े-बड़े रत्न दिये हैं। परन्तु मनुष्यके शरीरके भीतर जो सबसे बढ़िया भगवान्‌ने रत्न दिया वह है **बुद्धिः, ज्ञानम्, असंमोहः**। ये तीन आत्मरत्न हैं। पहले तो बुद्धि दी। उसमें ज्ञान सच्चा होना चाहिए। ज्ञानका जो आधार है वह बुद्धि है।

आपको एक दीपक प्राप्त है। आप उसे केरासीनका तेल डालकर जलाते हैं—तिलका तेल अथवा कड़वा तेल—या उसमें घी डालकर जलाते हैं। आपका स्नेह मिट्टीके तेल जैसा स्नेह है—या तिलके तेल जैसा स्नेह है या घृत जैसा स्नेह है। उसमें कहीं बिजलीका कनेक्शन कर लिया—खूब प्रकाश हो गया। बुद्धि दी है भगवान्‌ने—पात्र—और उसमें जो ज्ञान है वह प्रमाणजन्य है। ऐसे सुना-सुनाया, देखा-दिखाया, भेड़िया चाल ज्ञान नहीं होना चाहिए। सत्यका यथार्थ ज्ञान आना चाहिए। बुद्धि वह है जिसमें यथार्थका ज्ञान होता है।

बुद्धि भी भगवान्‌ने दी और यर्थाथका ज्ञान भी भगवान्‌ने दिया। और उसका एक फल दिया—असंमोहः। आप कहीं भ्रान्त नहीं होंगे। भूलेंगे नहीं। ठीक-ठीक रास्ते पर चलेंगे। बुद्धि जिसमें ज्ञान भी होता है और भ्रान्ति भी होती है। बुद्धि में भ्रम भी होता है और ज्ञान भी होता है। यथार्थ ज्ञान और भ्रम दोनों बुद्धिमें होते हैं। आप भ्रमको निकाल दीजिए और ज्ञानको रखिये और इसका फल आपके जीवनमें क्या होगा—

असंमोहः असंमूढः स मर्त्येषु।

आपका कहीं समोह नहीं होगा। ये तीन बात आपकी आत्मामें भगवान्‌ने दी है। आपको बुद्धि मिली है कि नहीं? उसमें ज्ञान मिला है कि नहीं? और मोह त्यागकी शक्ति आपमें मिली है कि नहीं? बड़ा मोह हो किसीसे—इतिहासमें तो बहुत आता है। राजाका एक स्त्रीसे बहुत मोह था-राजाको मालूम पड़ा कि उस स्त्रीको हमारे शत्रुने हमें मारनेके लिए भेजा है। तुरन्त मोह कट गया कि नहीं कट गया! बहुत बढ़िया भोजन आया। बढ़िया थाल, बढ़िया बरतन, बढ़िया भोजन बना हुआ—देखनेमें आँखोको प्यारा, सुगन्ध बहुत अच्छी—जीभको बहुत प्यारा! परन्तु शंका होगयी कि सम्भव है हमारे शत्रुने इसमें जहर मिला दिया हो। आप भोजनका संमोह छोड़ देंगे। ये जो दुनिया आपको प्यारी-प्यारी लगती है। इसमें बड़ा संमोह है। यह स्त्री-पुरुषसे भी प्यारी है। यह भोजनसे भी प्यारी है। आपको जो चीज बहुत पसन्द है, उससे भी प्यारी है। लेकिन आपको यदि यह ज्ञान हो जाय कि इसमें जहर मिला हुआ है, तो?

उत्तर प्रदेशमें एक राजा थे—उनके यहाँ बहुत बढ़िया भोजन बनता था। वे जब भोजन करते थे तब पहले डाक्टर परीक्षा करता था कि उसमें कोई विष नहीं है न! और यह नहीं कि वह परीक्षा करके छोड़ दे—डॉक्टरको भी उसके साथ बैठकर भोजन करना पड़ता था। डॉक्टर पर भी विश्वास नहीं था। बुद्धि वह होनी चाहिए जिसमें

सत्यका ज्ञान हो। सत्यका ज्ञान वह होना चाहिए कि ज्ञानके विपरीत जो हो उसे त्याग देनेका सामर्थ्य हो और ये तीनों बात भगवान्‌ने आपको जन्मसे दे रखी है। बुद्धि भी दिया है, ज्ञान भी दिया है और ज्ञानके विरुद्ध जो है उसे त्यागनेका सामर्थ्य भी दिया है। यह ज्ञान हमारे जीवनमें प्रकट कैसे हो? तो आपके अन्तःकरणमें भी भगवान्‌ने **क्षमा सत्यं दमः शमः**—यह चार सम्पदा डाली है। यह भगवान्‌का दिया हुआ रत्न है।

क्षमा—आपको यदि अपने लक्ष्यकी ओर चलना है तो क्षमा करते हुए नहीं चलेंगे, सबको दण्ड देते हुए चलेंगे तो सबको दण्ड देनेमें ही रह जायेंगे, आप अपनी जगह पहुँचेगे ही नहीं । स्टेशन पर गये कहीं जानेके लिए—पहले क्यू लगानेमें ही लड़ाई हो गयी। पुलिसने पकड़ लिया। टिकट लेनेमें बाबूसे ही लड़ाई हो गयी कि हमको पहले क्यों नहीं देते हो। ट्रेनपर बैठकर यात्रियोंसे लड़ाई कर बैठे! क्षमा करते चलो। क्षमता जो जीवनमें आती है। क्षम धातु एक होती है क्षमा करनेके अर्थमें और एक क्षम धातु होती है क्षमताके अर्थमें। इनके अन्दर ये काम करनेकी क्षमता है, क्षमता माने सामर्थ्य। जो समर्थ होता है वही क्षमा करता है। कमजोर आदमी निर्बल आदमी क्षमा नहीं कर सकता। भगवान्‌ने आपके अन्दर क्षमा करनेकी शक्ति डाली है। जने-जनेसे लड़ते मत चलिये।

एक ठाकुर साहबके यहाँ देखा—कोई आदमी आया एक चीज उठाकर ले गया। उन्होंने कुछ नहीं कहा। पीछे जब मैनेजर आया तब उन्होंने कहा वह चीज कहाँ है? पता लगाओ। हमने कहा तुमने तो देखा ही है—वह चीज कहाँ गयी। बोले यह हमारा काम नहीं है। हमने देखा है, पर यह मैनेजरका काम है कि पता लगावे कि वह चीज कहाँ गयी? हम अपने कामकी जानकारी रखते हैं पर उसको अपनी ड्यूटीपर चूकना नहीं चाहिए। यदि तुम हर अपराधीको दण्ड दोगे—हनुमानजीने साताजीसे कहा कि मैं उन राक्षस-राक्षसियोंको दण्ड दूँगा। रावणके मर जानेके पश्चात जब लंकापर विजय हो गयी तो हनुमानजी गये। सीताजीसे कहा कि मैं इन अपराधियोंको दण्ड दूँगा। सीताजीने कहा हनुमानजी किसको दण्ड देंगे? क्या मैं अपराधिनी नहीं हूँ? जब रामचन्द्र मृगके पीछे-पीछे दौड़कर गये तो मैंने ही तो भेजा था—क्या मेरा अपराध नहीं था? जब लक्ष्मणजी उनकी मददके लिए नहीं जा रहे थे तब मैंने उनको जो दुर्वचन कहे—उसमें क्या मेरा अपराध नहीं था? रावणके आनेपर मैंने लक्ष्मण-रेखा भंग करके बाहर जाकर भिक्षा दी, उसमें क्या अपराध नहीं था? ऐसा संसारमें कौन है, जिससे अपराध नहीं होता है—छाती ठोंककर कहे।

ईसाने कहा—जिसने कभी चोरी न की हो, जिसने कभी व्यभिचार न किया हो वह इस चोर और व्यभिचारीको दण्ड दे।

क्षमा ईश्वरकी दी हुई सम्पदा है हमारे अन्तःकरणके लिए। उसका सदुपयोग करना चाहिए। **क्षमा सत्यं दमः शमः**—सत्यके अनुसार जीवन व्यतीत करना, अपनी इन्द्रियोंको वशमें रखना, अपने मनको शान्त रखना, हमारे अन्तःकरणके लिए क्षमा। सत्य आत्मामें तीन चीज बुद्धि, ज्ञान और असंमोह और अन्तःकरणमें चार वस्तु **क्षमा सत्यं दमः शमः। सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च**—यह हमारे व्यवहारके लिए भगवान्‌ने छह पदार्थ दिये हैं। ●

प्रवचन : 3

(12-10-80)

भगवान् श्रीकृष्णने गीताके दसवें अध्यायमें एक विलक्षण वस्तुका वर्णन किया है। उनका कहना है कि मैं समाधिमें भी हूँ और विक्षेपमें भी मैं हूँ। परमार्थ भी मैं, व्यवहार भी मैं। जब यह बात मनुष्यकी बुद्धिमें ठीक-ठीक बैठ जाय कि महाप्रलय भी वही—महासृष्टि भी वही, यदि सर्वत्र भगवान्की पहचान हो जाय., तो आदमी चाहे समाधिमें रहे, चाहे व्यापार करे, दोनों जगह उसको भगवान्के दर्शन होते हैं। इसीको कहते हैं, योग और विभूति—

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन। (10.18)

यहाँ 'च' होनेसे दोनों अलग-अलग हो गया। भगवान्का एक योग है और एक विभूति है। योग क्या है? **बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः**—ये भगवान्के योग हैं और **क्षमा सत्यं दमः शमः**—ये विभूति हैं।

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन—भूयः कथय।

भगवान्ने दो बात बतायी है—योग और विभूति। भगवान्ने स्वयं कहा—
एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः। इसका अर्थ है व्यवहार और परमार्थ दोनोंमें आप भगवान्को देखिये। तत्त्व भी वही हैं और तत्त्वका विस्तार भी वही हैं। श्रीमद्भागवतमें इसकी भी व्याख्या दी हुई है। पहले तो दृष्टान्त हैं—जैसे उपनिषद्में हैं। जैसे एक सोनेका पत्र है और उसपर चाहे ठप्पेसे ठोककर चित्र उभार दिये जायँ—चाहे साँचेसे ही सोनेके पत्रपर एक मकान बनाया जाय। उस मकानमें एक ओर शयनगृह है, भोजनगृह है। भोजनगृहमें मेज है तो उसमें भोजनकी सामग्री भी रखी हुई है। एक ओर बाथरूम भी है। उस मकानमें कहीं मच्छर भी उड़ रहे हैं। कहीं पेड़-पौधे भी दिख रहे हैं। है सब-का-सब सोना। सोना एक तत्त्व है और उसमें जो भिन्न-भिन्न प्रकारके चित्र हैं, मकान है, मन्दिर है, देवता है, पशु है, पक्षी है, वृक्ष है, लता है, स्वच्छ है, गन्दा है ये सब स्वयंकी विभूति है, माने स्वर्णमें ऐसी योग्यता है कि उसमें आप कोई भी चित्र बना लो। एक है स्वर्णतत्त्व और एक है उसकी योग्यताका प्रदर्शन। परन्तु कुलका कुल सोना है। भागवतमें ऐसे कहा—

न हि विकृतिं त्यजन्ति कनकस्य तदात्मतया स्वकृतमनुप्रविष्टमिदमात्मतयावसितम्। (भा. 10.87.26)

यह वेद-स्तुति सारे श्रीमद्भागवतके सिद्धान्तोंका निचोड़ है। सोनेके बने हुए जो जेवर हैं, सिल्ली है, उसका चुरा है, उसमें चित्र हैं, उसको गला दिया—द्रव हो गया। ये सब स्वर्णका विकार है। परन्तु क्या कोई

सोनेका जानकार उन विकारोंको छोड़ देता है— **न हि विकृतिं त्यजन्ति कनकस्य।** सोनेके विकारको कोई फेंकता नहीं है। 'तदात्मतया' क्योंकि सोनेका विकार भी सोना ही होता है। द्रव भी सोना, चूर भी सोना, सिल्ली भी सोना, जेवर भी सोना। जिसको स्वर्णका मूल्यांकन है वह स्वर्णकी बनी हुई किसी भी वस्तुको छोड़ेगा नहीं।

स्वयं भगवान्‌ने अपने आपमें इस जगत्‌को बनाया और इसके एक-एक कण-कणमें प्रविष्ट हैं और भगवान् स्वयं इसको अपने आत्मरूपसे अनुभव करते हैं। इसलिए कौन ऐसा स्वर्णका जानकार है, जो स्वर्णकी आकृतियोंको छोड़ दे,विकृतियोंको छोड़ दे। इसी प्रकार यह सम्पूर्ण विश्व भगवान्‌में, भगवान्‌के द्वारा ही चित्रित है। भगवान् परदा हैं और उनपर यह सारा-का-सारा चित्र दिखायी पड़ रहा है। भगवान् स्वर्ण हैं और उनमें यह सारी-की-सारी आकृतियाँ दिखायी पड़ रही हैं। योग माने सोना और विभूति माने उसमें बने हुए चित्र—दोनोंको जो जान लेता है, **सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः।** उनको अविकम्प योगकी प्राप्ति होती है।

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः।। (10.7)

कोई संशय मत करो। अविकम्प योग माने ऐसा योग—जो कभी टलेगा नहीं—कभी चलेगा नहीं—कभी छूटेगा नहीं। मृत्युमें भी आपको अविकम्प योग बना रहेगा, क्योंकि—

मृत्युः सर्वहरश्चाहम्। (10.34)

मृत्युके रूपमें भी वही है—

अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन। (9.19)

यह तो आपके लिए मृत्युका नाम लिया। मृत्यु ही नहीं बुढ़ापा भी वही है, जवानी भी वही है, बचपन भी वही है। ब्रह्मचर्य भी वही है। विवाह भी वही है, वानप्रस्थ भी वही है—संन्यास भी वही है। घर-गृहस्थीमें भी वही है—वनमें भी वही है। पर्वतमें भी वही है। **सर्व सर्वगत सर्व उरालय**—गोस्वामी तुलसी दासजीने कहा। भगवान् सब हैं, सबमें हैं, सबके हृदयमें निवास करते हैं। इसीसे श्रीमद्भागवतमें इसकी बहुत उत्तम व्याख्या की हुई है। गीताके अठारह अध्याय हैं और भागवतके अठारह हजार श्लोक हैं। एक-एक अध्यायकी व्याख्यामें एक-एक हजार श्लोक समझ लें। भागवतमें भी कहा गया है—

बृहदुपलब्धमेतदवयन्त्यवशेषतया यत
उदयास्तमयौ विकृतेर्मृदि वाविकृतात्। (भा. 10.87.15)

'एतद् उपलब्धम्'—यह जो जगत हमे मालूम पड़ रहा है, ये वृक्ष, ये लता, ये स्त्री, ये पुरुष, ये दाढ़ीवाले, ये चोटीवाले—चाहे कोई भी राष्ट्रीयता हो, चाहे कोई भी जातीयता हो, कोई भी साम्प्रदायिकता हो—यह सब कहाँ है? **—एतद् उपलब्धम्**—जो कुछ हमें अपने इन्द्रियोंके द्वारा, मनके द्वारा, बुद्धिके द्वारा उपलब्ध होता है, ज्ञान होता है—मालूम पड़ता है वह सब-का-सब परम ब्रह्म परमात्मा है—

सर्वं खल्विदं ब्रह्म। (छान्दोग्य 3.14.1)

ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठं। (मुण्डक 2.2.11)

आत्मैवेदं सर्वम्। (छान्दोग्य 7.5.2)

सर्वके रूपमें परमात्माका ही अनुभव करें। अवशेषतया क्योंकि जब नाम-रूप मिट जाता है तब भी वही शेष रह जाता है। उसीमें-से उसका उदय हुआ है। उसीमें अस्तमय हुआ है। जैसे मिट्टीसे बने हुए बरतन—मिट्टीका डाला, मिट्टीका चूरा और पानीमें डली हुई मिट्टी सब मिट्टी ही है। ये उपनिषद्में इस तरहके उदाहरण हैं। मिट्टीके उदाहरण हैं, जेवरके उदाहरण हैं, लोहेके उदाहरण हैं, वस्त्रके उदाहरण हैं, मकड़ीके जालेके उदाहरण हैं। यह सम्पूर्ण विश्वसृष्टि परमात्माका स्वरूप ही है। विकृते मृदिवाविकृतात्।

स्वयं परमात्मा निर्विकार है और जैसे मिट्टीके बहुतसे पदार्थ बनते हैं— खिलौने बनते हैं, वैसे यह सब परमात्माके बने हुए खिलौने हैं और परमात्मामें कोई विकार नहीं है। इस ज्ञानका फल अद्भुत बताया है।

यहाँ भागवतमें अत ऋषयो दधुः कहा गया है। यह जानना चाहिए कि जो ऋषि हैं, जिसकी आँखें खुली हैं—जो खुली आँखोंसे परमात्माको देख सकता है, वह अपने वचन और आचरण दोनोंको परमात्मामें रख देता है। हम जो कुछ बोलते हैं सो परमात्मा, हम जो कुछ करते हैं सो परमात्मा है। इसका एक और दृष्टान्त दिया—

कथमयथा भवन्ति भुवि दत्तपदानि नृणाम्।

आप पाँव रखेंगे तो धरतीपर रखेंगे। ऐसे आप कुछ बोलेंगे तो भगवान्में बोलेंगे—आप कुछ करेंगे तो भगवान्में करेंगे। अब वह महात्मा जीवन्मुक्त हो गया। न कहीं उसका राग रहा,न कहीं उसका द्वेष रहा। उसके हृदयमें समता आगयी। यही जो परमात्मा है आपकी आत्माके रूपमें बैठा हुआ है, यह योग हो गया और वह आपकी बुद्धिके रूपमे आया, यह उसका वैभव हो गया, विभूति हो गयी। आप केवल आत्माके रूपमें ही परमात्माको मत देखिये। उसका जो वैभव आपकी आँखोंके सामने आ रहा है, उसे देखिये। मन भी भगवान्का वैभव है—इन्द्रियाणां मनश्चास्मि। इन्द्रियोंमें मैं मन हूँ। पृथिवीमें सुगन्ध हूँ। जलमें रस हूँ। तेलमें रूप हूँ। आप अपने जीवनमें परमात्माका दर्शन अपने शरीरमें ही करें।

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च॥
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः॥

सब भगवान् ही उच्छ्वसित हो रहे हैं—जैसे समुद्रमें तरंग उठती है तो तरंगके रूपमें कौन है? जो ज्वारके रूपमें है, वही भाटेके रूपमें है। समुद्रमें ज्वार आया तो कौन है? समुद्र है—ज्वार शान्त हो गया यह समुद्रकी मुद्रा है—समुद्र माने जिसमें दो मुद्रा हो। सम्पुट आदि मुद्राएँ प्रसिद्ध हैं। नृत्यकी मुद्राएँ भी होती हैं। तो

समुद्र उसको कहते हैं जिसमें दो मुद्राएँ हों—एक विक्षेपकी मुद्रा और एक शान्तिकी मुद्रा। ज्वार आया तो विक्षेपकी मुद्रा हुई और भाटा आया तो शान्तिकी मुद्रा हो गयी। विक्षेपकी मुद्रा अलग है और शान्तिकी मुद्रा अलग है। परन्तु है तो समुद्र ही न! हमरा मुँह मुस्कराता हो जब भी मुँह ही है और रुआँसा बना हो तब भी मुँह ही है। यह परमात्मा जब मुस्कराता है तब यह सृष्टि बन जाती है।

निश्वसितमस्य वेदा वीक्षितमेतस्य पञ्च भूतानि।
स्मितमेतस्य चराचरस्य च सुप्तं महाप्रलयः॥

(भामतीकार मगंलश्लोक 2)

आओ परमेश्वरको पहचान लें। परमेश्वरका श्वास क्या है? जैसे किसीकी साँस चल रही हो जोरसे और उसमें कोई शब्द निकाल ले कि यह 'नमः शिवाय' बोल रहा है कि नमो भगवते वासुदेवाय बोल रहा है। ऐसे तो ये भगवान्के वेद हैं। और जब अपनी साँसकी आवाज सुनकर आँख खोली तो **(वीक्षितमेतस्य पञ्चभूतानि)** उसने देखा—पाँच भूत खड़े हैं। **स्मितमेतस्य चराचरस्य।** जब मुस्कराया तो चराचर सृष्टि बन गयी और फिर आँख बन्द करके सो गया, बोले महाप्रलय हो गया। यह सब-का-सब परमेश्वरकी सृष्टिमें हो रहा है। उसीकी साँस है उसीकी दृष्टि है, उसीकी मुस्कान है, उसीका सोना है। यह विश्व सृष्टि उससे पृथक नहीं है। इसीको बोलते हैं उल्लास। यह परमेश्वरका ही उल्लास है—ऐसे बल्लभाचार्य बोलते हैं। यह आत्माका उल्लास है—ऐसे कश्मीरी शैव बोलते हैं। लेकिन है यह उल्लास। परमात्माके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है।

अब आओ आप अपने जीवनमें देखो—**बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः।** तीन बातें आत्माके साथ सम्बन्ध रखनेवाली हैं। आपको बुद्धि किसने दी है? जन्म होनेसे पहले बुद्धि आगयी। बुद्धिका उदय जहाँसे बच्चेकी धड़कन चलना शुरू होता है, वहींसे होता है और यहीं नहीं यह तो पिताके बीजमें जो किटाणु होते हैं—उन किटाणुओंमें भी बुद्धि होती है, बुद्धिका बीज वहाँ होता है और उन किटाणुओंमें नहीं, जिस अन्नके खानेसे बीज बनता है, जिस रक्तसे बीज बनता है, उस रक्तमें भी बुद्धि होती है और जिस अन्नके खानेसे रक्त बनता है उस अन्नमें भी बुद्धि होती है। इसीसे कौन कैसा अन्न खाता है, उसका प्रभाव बालक पर पड़ता है। माता-पिताकी मनोवृत्तिका प्रभाव पड़ता है। बुद्धि नहीं होती तो कौन ग्रहण करता? दादा-दादी, नाना-नानीका प्रभाव आता है। वंशका प्रभाव आता है। भोजनका प्रभाव आता है। संगका प्रभाव आता है। चरक संहितामें कहा गया है कि सात प्रकारका प्रभाव लेकर बालक जन्म लेता है। बुद्धि तो पहले भगवान्के द्वारा दे दी गयी है। बुद्धिका अर्थ है—ग्रहणका सामर्थ्य अर्थात् किसी वस्तुको समझनेकी शक्ति। यह हमारी बनायी हुई नहीं है। भगवान्की बनायी हुई है।

फिर बुद्धिमें ज्ञान होता है। ज्ञान भी तत्त्वका ज्ञान अलग होता है और तत्त्वमें गढ़े हुए पदार्थोंका ज्ञान अलग होता है। बालकके सामने खाँडका खिलौना रख दो तो वह कहेगा यह गधा है, यह घोड़ा है, यह हाथी है, यह औरत है, यह मर्द है, उसकी दृष्टि खाँडपर नहीं जायेगी। असलमें जिन लोंगोकी दृष्टि दुनियाकी शक्ल-

सूरतमें ही लगी है और इसके तत्त्वकी पहचान नहीं है, उन लोंगोकी स्थिति-(माफ करना) बालकों जैसी ही है। शकल-सूरत देखते हैं बालक और घरके समझदार देखेंगे— खिलौना प्लास्टिकका है या स्टीलका है या माटीका है। तत्त्व-दृष्टि समझदारीकी होती है और केवल शकल-सूरतपर जो दृष्टि होती है वह बच्चोंकी होती है। बुद्धिर्ज्ञानं असंमोहः। भगवान्‌ने बुद्धि दी और बुद्धिमें ज्ञान प्राप्त करनेकी शक्ति दी।

अब उस ज्ञानका फल अपने जीवनमें क्या होना चाहिए? आप अपनेको बुद्धिमान् भी मानते हैं और यह भी मानते हैं कि हम पहचानते हैं कि यह चीज क्या है—बहुत बढ़िया। पर एक बातपर ध्यान दें। भगवान्‌का यह योग—'असंमूढः'—कहीं तुम संमूढ तो नहीं हो गये। संमोहमें तो नहीं फँस गये! भ्रम तो नहीं हो गया? जमीन वही है। तुम्हारे पिता,पितामहने भी उसको हमारी कहा था और तुम भी कहते हो कि यह हमारी भूमि है और तुम्हारे पुत्र, पौत्रादि भी कहेंगे कि यह हमारी भूमि है। भगवान् न करे—कहीं तुम्हारे शत्रुके हाथ चली गयी तो वे भी कहेंगे हमारी है। किसकी है? जब हम किसी वस्तुको अपनी मानकर संमोहित हो जाते हैं तब हम बुद्धि और ज्ञानका मार्ग छोड़ देते हैं। बुद्धि और ज्ञानका मार्ग है—संमोहित न होना। 'असंमोहो बुद्धिर्ज्ञानम्।' यदि आपको भगवान्‌की दी हुई बुद्धि ठीक-ठीक प्राप्त है, भगवान्‌का दिया हुआ ज्ञान ठीक-ठीक प्राप्त है तो आप संमोहित नहीं होंगे। अपने ज्ञानको आप कसौटीपर कस लीजिये। कहीं आपने ज्ञानमें धूल-मिट्टी, भ्रम तो नहीं मिला दिया है। आपका सोना कितने कैरेटका है—आप देख लीजिये। कहीं भी समूह नहीं होना।

ईश्वरने पेड़ बनाया। आपका शरीर है, स्त्री है, पुरुष है—ईश्वर-सृष्टि है। लेकिन इसमें जो मेरापन आता है। यह पेड़ मेरा है—यह मेरापन ईश्वरका बनाया हुआ नहीं है। यह जीवका बनाया हुआ है। क्योंकि वह चाहे तो छोड़ भी सकता है। किसीको दे सकता है। कोई उसको छीन सकता है। ईश्वरकी जो सृष्टि है वह तो रहती है ज्यों-की-त्यों और जीवकी जो सृष्टि है वह दुखदायी हो जाती है। तो वेदान्तियोंने जीव-सृष्टि, ईश्वर-सृष्टि करके दो विभाग कर दिया। और ईश्वर-सृष्टिमें दुःख नहीं है और जीव सृष्टिमें दुःख है। यह पेड़ किसीको दुःख नहीं देता, लेकिन जब कोई इसको मेरा मानेगा और दूसरा कोई मेरा मानेगा और दोनोंमें छीना-झपटी होगी—हम इसको काट डालना चाहते हैं, हम इसको रखना चाहते हैं, तब यह वृक्ष दुःखदायी हो जायेगा।

यह मैं पेड़की बात नहीं कर रहा हूँ यह स्त्रीकी बात है, पुरुषकी बात है, धनकी बात है, जमीनकी बात है। इसीको योगियोंने दो विभाग कर दिया है। एक प्राकृत सृष्टि और एक आविद्यक सृष्टि। आप लोग यदि योग-दर्शन पढ़ते हों तो आपको उसमें यह बात मिल जायेगी। दो परिवार हैं। प्रकृतिके परिवारमें यह सारी सृष्टि बनती है। अविद्याके परिवारमें 'मैं' बनता है। मेरा बनता है—तेरा बनता है और मृत्युका भय बनता है। 'असंमूढः'—आप अविद्याके परिवारमें अपना नाम मत लिखवाइये। आप अपना नाम ईश्वरके परिवारमें, भगवन्-सृष्टिके रूपमें अपनेको सम्मिलित कीजिये। एक होती है अविद्याकी सृष्टि, इसमें दुःख होता है। एक होती है प्रकृति की सृष्टि, इसमें दुःख नहीं होता। एक होती है जीवकी सृष्टि उसमें दुःख होता है और एक होती

है ईश्वरकी सृष्टि, उसमें दुःख नहीं होता है। लेकिन जीव या अविद्या कुछ नया बना देती है सो नहीं। उपादान, मसाला वही है। वही परमेश्वर मसाला है। अज्ञानके कारण उसमें दुःख हो गया और जहाँ भगवान्‌की पहचान है, वहाँ दुःख नहीं है। परमेश्वरकी पहचानके लिए बल्लभाचार्य 'भागवत-सृष्टि' बोलते हैं और कश्मीरी शैव 'आत्मसृष्टि' बोलते हैं। योगी लोग प्राकृत सृष्टि और आविद्यक सृष्टि बोलते हैं। आत्मा तो असंग है। वेदान्ती लोग ईश्वर सृष्टि, जीव-सृष्टि बोलते हैं। चेतनकी प्रधानतासे जीव-सृष्टि, ईश्वर-सृष्टि और जड़की प्रधानतासे प्राकृत-सृष्टि, अविद्या-सृष्टि और तत्त्वकी प्रधानतासे, अनुभव-प्रधान तत्त्वकी दृष्टिसे आत्मसृष्टि और श्रद्धाप्रधान अनुभवकी दृष्टिसे भागवत-सृष्टि। यह सब-की-सब अपने-अपने स्थानपर बिलकुल ठीक हैं।

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः।

अब आप जीवनमें भगवान्‌के वैभवका दर्शन कीजिये। पहले तो बुद्धि भगवान्‌की, ज्ञान भगवान्‌का— ऐसा जानें और भ्रान्तिमें न पड़ें। कहीं भी मोह करके चिपकना नहीं—यह भगवान्‌की सृष्टि है। अब व्यक्तिगत जीवनमें देखो—**क्षमा सत्यं दमः शमः।** आपको जीवनमें यदि भगवद्-भावका अधिक-से-अधिक विकास करना है—आगे बढ़ना है, माने-बहुत सारी जमीन अपनी हो, ऐसा नहीं बहुत सारा धन अपना हो, सो नहीं, अपने अन्तःकरणके सम्पत्तिकी जो वृद्धि है—यह **क्षमा सत्यं दमः शमः** अन्तःकरणकी सम्पदा हैं। आपके पास पूँजी कितनी है? आप तहाँतक अपराध क्षमा कर सकते हैं। हनुमानजीने सीताजीसे कहा—माता, इन राक्षसियोंने आपको बहुत सताया—हम इनको नोच लें, इनको मार डालें। जानकीजीने कहा—अरे हनुमान् ऐसा मत बोलो। इसमें न रामका यश बढ़ेगा, न रामके भक्तका यश बढ़ेगा, न मेरा यश बढ़ेगा। आर्य पुरुषका धर्म है—करुणा—चाहे कोई पापी हो, चाहे कोई पुण्यात्मा हो, चाहे वधके योग्य हो, आर्य पुरुषको तो करुणा करनी चाहिए।

सृष्टिमें ऐसा कोई नहीं है जिससे कोई-न-कोई अपराध न हुआ हो। मुझसे भी अपराध हुए हैं। मैंने स्वर्ण मृगके पीछे रामचन्द्रको भेज दिया। लक्ष्मणको दुर्वचन कहा। लक्ष्मण-रेखाका उल्लङ्घन किया। अब दण्ड दो तो हम भी दण्डके योग्य हैं। जीवनमें क्षमा-क्षमा-क्षमा—यही क्षमता है। क्षमा करना सामर्थ्यका लक्षण है, निर्बलका लक्षण नहीं है। क्षमा क्या है? अपने जीवनकी क्षमता है। हम कितना सह सकते हैं? यही अपनी नाप तौल है कि हम कहाँतक क्षमा कर सकते हैं। आत्मबल क्षमा है और जो जितना अधिक क्षमा करेगा वह उतना ही आत्मबलको प्राप्त करेगा। दण्ड देनेका सामर्थ्य रहने पर भी क्षमा करना, यह आत्म-बलकी वृद्धिका सर्वोत्तम उपाय है और सुगम-से-सुगम उपाय है। बुद्धिके साथ क्षमाको जोड़ दो। ज्ञानी पुरुष सत्यको पकड़कर रखता है। सत्यके बारेमें कुछ उलटी-सीधी बात भी हम कभी-कभी बोलते हैं, क्योंकि भगवान्‌का स्वरूप तो सब है। महाभारतमें एक स्थानपर ऐसा आया है—**न सत्यवचनं सत्यम्**—सच बोलनेका नाम सच नहीं है। **'नासत्यवचनं मृषा'**—असत्य बोलनेका नाम झूठ नहीं। जिससे प्राणियोंका आत्यन्तिक हित हो, दूसरेकी भलाईके लिए ही जो बात की जाय, उसको हम कहते हैं सत्य। भीष्म-पितामहका वचन है—

यद्भूतहितमत्यन्तमेतत् सत्यं मतं मम। (शान्तिपर्व 329.13)

पति-पत्नी एकान्तमें रहकर आये। बच्चेने माँ-बापसे पूछा—क्या कर रहे थे? आपको उस समय जैसे बच्चेकी शिक्षामें कोई अन्तर न पड़े, ऐसा बोलना चाहिए। जैसे बच्चेमें माता-पिताके सामने उद्दण्डता, अशिष्टता, उच्छृङ्खलता न आवे ऐसे बोलना चाहिए। सत्यके नामपर कटु तो नहीं बोलना चाहिए। यह मनुस्मृतिका वाक्य है—

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयात् एव धर्मः सनातनः॥ (4.138)

सत्य बोलो, प्रिय बोलो और अप्रिय, अनावश्यक सत्य मत बोलो। सत्यमें आनन्द भी होना चाहिए और आनन्दमें ज्ञान होना चाहिए। आपकी वाणीमें सच्चिदानन्द होना चाहिए। आनन्द रहित वाणी होनेपर भी अधूरी हो गयी। सत्यसे रहित ज्ञान, ज्ञान होनेपर भी अधूरा हो गया। ज्ञानमें भी सत्य और आनन्द होना चाहिए। तब ये भरपूर होते हैं। अपने जीवनमें सत्य होना चाहिए। यदि आप सुख और सत्य दोनोंको अलग-अलग कर देंगे तो दुःखी हो जायेंगे। कभी-कभी सत्यके नामपर हम लोग कटु बोलते हैं, सत्यमें कटुता नहीं चाहिए। सत्यमें तो प्यार चाहिए। जो सुने उसके मनमें भी सत्यसे प्यार हो और जो बोले उसके मनमें भी सत्यसे प्यार हो। इसके लिए चाहिए दम। माने हमारी जीभ काबूमें हो। हमारी आँख काबूमें हो, हमारे कान काबूमें हों—वशमें हो—आप घोड़ेकी सवारी करें—तो लगाम चाहिए, बागडोर चाहिए, जिसकी ओर देखना नहीं है उसकी ओरसे आँखफेर लेनेका सामर्थ्य होना चाहिए।

लोनावलामें एक मशीन रखी है। उसके भीतर मुँह डालकर देखते हैं। उसमें बुद्धका चित्र है। एक श्रीकृष्णका भी चित्र है, मन्द-मन्द मुसकराते, बांसुरी बजाते हुए। एक विदेशी नर्तकीका चित्र है, वह नग्न नृत्य कर रही है। यह एक गन्दा चित्र है। जब आदमी देखता है भीतर, तो वह समझता है कि मैं भीतर आड़में देख रहा हूँ—मुझे कोई देख नहीं रहा है कि मैं क्या देख रहा हूँ, लेकिन उसकी नजर किस कोणपर गयी यह रेकार्ड हो जाता हो। उसने बुद्धके चित्रको देखा है प्रेमसे या नर्तकीके चित्रको देखा है, या कृष्णके चित्रकी देखा है—यह रेकार्ड हो जाता है। हमलोग जो बाहर देखते हैं—उसमें अपनी आँख भी काबूमें होनी चाहिए। दो व्यक्ति आपसमें प्रेमी हैं, क्या बात कर रहे हैं, उनकी बात सुननेके लिए हमारा कान नहीं जाना चाहिए। हमारे जीवनका जो यन्त्र है—हमारा जो बटन है, इस यन्त्रको सञ्चालित करनेके लिए, वह हमारे हाथमें होना चाहिए। इसीको बोलते हैं, इन्द्रियोंका संयम।

श्रद्धावान् लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रिय (4.39)

जिसकी इन्द्रियाँ संयत है। आप दूसरेको अपने वशमें करना चाहते हैं। पति चाहता है पत्नी हमारे वशमें रहे। पत्नी चाहती है पति हमारे वशमें रहे। बेटा चाहता है बाप हमारे वशमें रहे और बाप चाहता है बेटा हमारे वशमें रहे। मालिक चाहते हैं नौकर हमारे वशमें रहे। नौकर चाहते हैं कि मालिक हमारे अनुसार चले। यह दूसरोंको वशमें रखनेकी जो इच्छा है वह है तो स्वाभाविक—उसमें हमको कोई आपत्ति नहीं है और यह सबके मनमें होती है। लेकिन सबसे पहले जो वशमें करनेकी चीज है वह तो अपने शरीरमें ही है। जब हमारा

हाथ हमारे वशमें नहीं हुआ तो पति-पत्नी वशमें कहाँसे होंगे? सबसे पहले वशमें करने योग्य हमारे शरीरमें जो क्लर्क हैं, मुनीम हैं, चपरासी हैं—अर्थात् हमारे शरीरमें जो इन्द्रियाँ है—क्लर्क न बोलकर क्लार्क बोल दें—कलाके भास्कर कलाके सूर्य, वे हमारे वशमें हों। हमारे शरीरमें कई नौकर हैं। जैसे नौकर शब्द हैं, वशमें हों। कई नौकर हैं—नौकर शब्द वैदिक है—'नो करः, करो न भवति'—यह हाथ नहीं है माने हाथके समान है। जैसे अपना हाथ काम करता है—ऐसे हो अपने घरमें हाथके समान जो है वह नौकर है। वे हमारे हाथ हैं, हमारे पाँव हैं। ये दान्त होने चाहिए।

वृन्दावनमें श्रीहरि बाबाजी महाराज रहते थे। वे घूमने रोज 5-7 मील जाते थे। उनका नियम था और जब निकलते तो लोग घड़ी मिलाते थे। ये कमरेसे निकले हैं तो इतना बजा है। वे हाथ छातीपर रखकर चलते थे और 5-7 मील घूमकर आनेपर भी उनका हाथ वहीं होता था। क्या मजाल कि हाथ वहाँसे हट जाय। हाथ उनका आज्ञाकारी था। जीभ उनकी आज्ञाकारिणी थी। बहुत थोड़ा बोलते थे। और आँखसे तो इतना कम देखते थे कि उनके 6-8 हाथ आगे एक आदमी चलता था और एक पीछे चलता था। नहीं तो रास्तेकी ओर भी नहीं देखते थे। अभी 85 वर्षके होकर उन्होंने अपना शरीर छोड़ा। कितना नियम-कायदा था उनके जीवनमें! हम उन्हें कथा सुनाते थे तो हमको कह देते थे कि देखोजी, आज 4 बजकर 29 मिनिटपर कथा बन्द हो जानी चाहिए। 29 मिनिटका ख्याल रखना पड़ता था कि सेकेण्ड-मिनट कब आवें, सावधान! यह आपको अति मालूम पड़ेगी पर उनके जीवनमें नियम कितना था, नियन्त्रण कितना था यह देखने योग्य है। और 'शमः'—शमका अर्थ होता है शान्ति। भगवान्की दी हुई यह सम्पदा है अपने जीवनमें—अपराधीके प्रति क्षमाका भाव हो और सत्यमें दृढनिष्ठा हो तथा अपनी इन्द्रियाँ वशमें हों और मन बात-बातमें उद्विग्न न हो।

मनकी शान्ति सर्वोत्तम वस्तु है। बाहरका प्रभाव अपने मनपर कम पड़े, इसकी आदत डालिये। दो बालक हमने देखे। एक साथ दोनों धूपमें खेलने गये और एक साथ लौटकर आये। एकको आगया बुखार और एक स्वस्थ रहा। एक समय तक दोनों धूपमें खेले, दोनोंका परिश्रम समान हुआ। दोनोंके ऊपर धूप बराबर पड़ी लेकिन एक बीमार हो गया और एक बीमार नहीं हुआ। धूपके प्रभावसे बीमारी आती तो दोनों बच्चोंको आती। उसके शरीरमें जिस प्रकारके उपादान बन गये थे, उन्होंने धूपको ज्यादा ग्रहण किया और वह बीमार पड़ गया और दूसरेके शरीरमें गरमी ग्रहण करनेका मसाला है वह कम था, वह बीमार नहीं पड़ा। इसी प्रकार हमारे जीवनमें अशान्ति आजाती है और किसीको बड़ी-बड़ी बातसे भी अशान्ति नहीं आती और ऐसा भी होता है कि कभी किसी आदमीकी जरा-सी बातपर अशान्ति आगयी और कभी बड़ी-बड़ी बातपर भी अशान्ति नहीं आयी। हमारी आदत अच्छी पड़नी चाहिए।

हम जो काम करते हैं, जो बोलते हैं, जो भोजन करते हैं वह हमारे लिए अशान्ति-दायक न हो। दूसरोंका तो कोई ठेका नहीं है कि कौन कैसा रहे। किसीकी जीभ पकड़कर हम मौन बना नहीं सकते, किसीका हाथ पकड़कर उससे अच्छा काम करवा नहीं सकते। किसीका मन पकड़कर उसे अपने अनुकूल

चला नहीं सकते। तो जो अशक्य हैं, जिसको हम बदल नहीं सकते वह चीज हमारे जीवनमें अशान्ति क्यों डाले? जान लिया यह काम हमारे करनेका नहीं है, बस खतम। मरना है, मर गया कोई, अब हम जानते हैं कि इसे लौटा नहीं सकते, तब संमोहका तो कोई हेतु ही नहीं है।

जो अशक्यानुष्ठान हो, माने जिस कामको हम कर ही न सकते हों, उसके लिए हमारे मनमें अशान्ति नहीं आनी चाहिए और जो हो गया हो उसके लिए भी मनमें अशान्ति नहीं आनी चाहिए। हम जो छोटी-छोटी बात पर अपने मनको अशान्त कर लेते हैं, यह जीवनमें अच्छी आदत नहीं है। भगवान्ने हमको क्षमा दी है, सत्य दिया है—भगवान्ने हमको इन्द्रियों पर संयम दिया है, भगवान्ने हमारे मनमें शान्ति दी है। यह जो भगवान्का दिया हुआ अमृत है, रत्न है हमारे जीवनमें उसका लाभ उठाना चाहिए। यही भगवान्की विभूति है। अपनी विभूतियोंको भगवान्ने बाँट दिया है। ऐसी विभूति—स्त्रियोंके लिए भगवान्ने क्या विभूति दी है।

कीर्तिश्रीर्वाक् च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा। (10.34)

भगवान्ने वृक्षोंमें अपना वैभव दिया, पक्षियोंमें अपना वैभव दिया, लताओंमें अपना वैभव दिया, हमारी क्रिया-कलापोंमें अपना वैभव दिया। जहाँ जो—

यद् यद् विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥ (10.41)

उस भगवान्के प्रति हमारे हृदयमें कृतज्ञता आनी चाहिए, जिसने इतनी सम्पदा हमको दी है। **सुखं दुखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च**। तीन तत्त्व ज्ञानके साधन हैं। चार अन्तकरणकी शुद्धिके साधन हैं और उसके बाद **सुखं दुखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च।** यह भी भगवान्की विभूति है—जैसे बुद्धि-ज्ञान असंमोह—भगवान्का आत्मयोग-रूप विभूति है—क्षमा, सत्य, दम, शम —अन्तःकरण शुद्धिरूप विभूति है और **सुखं दुखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च**—यह लोक-व्यवहार रूपी विभूति है।

संसारमें जो पैदा हुआ है उसके जीवनमें कभी सुख आता है ,कभी दुःख आता है। कभी जन्म होता है, कभी मृत्यु आती है। कभी भय आता है। कभी निर्भयता आती है। ये लौकिक व्यवहार है। आप यह न समझें कि आपके जीवनमें कभी भय आ गया तो आपका नाश हो गया। आपके जीवनमें कभी दुःख आ गया तो आपका नाश हो गया। ये तो जीवनको खरा करनेके लिए हैं। जैसे सोनेको तपाते हैं और कोई समझेकी सोनेका नाश हो रहा है। नहीं; तपानेसे सोना और निखरता है। इसी प्रकार हमारे जीवनमें सुख और दुःख दोनों दिये।

मैंने मध्य प्रदेशमें देखा एकके घरमें कोई रसोई बना रहे थे उस चीजको क्या बोलते हैं, हमें मालूम नहीं—हमने खाया तो कई बार है। थोड़ा-सा कढ़ाईमें बेसन और घी डालकर चलाते हैं फिर उसपर मट्ठेका छिंटा देते हैं। एक ओर घी तो बेसनके लिए गरम होता है और जो मट्ठेका छिंटा देते हैं वह ठण्डा होता है। एक ओरसे गरम और एक ओरसे ठण्डा—उसको चलाते हैं तो छोटा-छोटा कण बन जाता है। खानेमें बहुत

स्वादिष्ट होता है। जो गरमी और सरदी दोनों सहेगा उसके जीवनमें स्वाद आयेगा और जो चाहेगा कि हम गरम-ही-गरम रहें तो जल जायेगा, चाहे ठण्डा ही ठण्डा रहे तो जम जायेगा। केवल ठण्डा नहीं—जीवनमें ठण्डक भी चाहिए और गरमी भी चाहिए। कभी गरमीसे काम बने तो अपना काम बना लेना चाहिए। लेकिन वह थोड़ी देरके लिए होनी चाहिए। कभी आँख टेढ़ा करनेसे काम बने तो आँख टेढ़ी कर लो। और कभी आँखमें प्रेम भरनेसे काम बने तो आँखको प्रेमसे भरलो। यह जीवनके दो तत्त्व हैं—

सुखं दुखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च।

सुख, दुःख दोनोंमें 'ख' है। एक चीज ऐसी है जो सुखमें है और दुःखमें भी। वह क्या है? वह है 'ख'। सुखमें सु उपसर्ग है और ख धातु है—दुःखमें दुः उपसर्ग है और वही का वही है जो दुःखमें है। 'दुष्टं खं यस्मात्'। यह 'ख' माने हृदयाकाश। जिस वस्तुके आनेसे हमारा हृदयाकाश सुन्दर, स्वच्छ, निर्मल हो जाता है उसका नाम है सुख और जिस प्रभावके इानेसे हमारा मन दूषित हो जाता है, उसका नाम है दुःख। जैसे आकाश कभी-कभी स्वच्छ होता है तब भी आकाश ही है और आकाशमें कभी आँधी आ गयी, कभी धूल उड़ गयी, कभी गरमी पड़ गयी, कभी सरदी पड़ गयी तब भी आकाश ही है।

हमारा हृदय भी एक आकाश है। इसमें कभी बादल आते हैं, कभी धूल उड़ती है—ठीक है लेकिन इसका स्वभाव स्वच्छ है, इसका स्वभाव आकाशके समान निर्मल है। जीवनमें जो सुख-दुःख हैं ये घबड़ानेकी चीज नहीं है। न सुख पकड़कर रखनेके चीज है। न दुःख भगानेकी चीज है। यह हमार हृदयकी बनावटके अनुसार आते ही रहते हैं—ये आवें और जायें—**नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण।** जैसे रथका पहिया नीचे-ऊपर होता है, वैसे ही सुख-दुःख आते ही रहते हैं। ये जीवनके दो पहलू हैं—इसमें घबराना नहीं चाहिए। ये भगवान्की देन हैं। भगवान्की विभूति हैं।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

प्रवचन : 4

(13.11.80)

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।
सुखं दुखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च॥
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः॥ (10.4-5)

जीवनमें सुख-दुःख आते हैं। ऐसा कोई व्यक्ति संसारमें नहीं होता जिसके जीवनमें सुख-दुःख दोनों न आये हों। ये भगवान्‌के बनाये हुए हैं। जिसके जीवनमें केवल सुख-ही-सुख आया है या किसके जीवनमें केवल दुःख-ही-दुःख आया है?

नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण।

जैसे रथका पहिया नीचेसे ऊपर, ऊपरसे नीचे घूमता रहता है, वैसे सुख-दुःखका एक चक्र है, जो सबके जीवनमें घूमता रहता है।

एक हल्की-फुलकी बात आपको सुनाता हूँ। संन्यासी होनेके बाद दस वर्षके अन्तरसे मैं काशी गया। जिनसे मैंने श्रीमद्भागवतका अध्ययन किया था उनके घरमें बिना बुलाये, बिना किसी सूचनाके पहुँच गया। हमारे गुरुजीकी पत्नी थीं। आकर बैठ गयीं और खूब रोयीं। इन 8-10 वर्षोंमें उनके पुत्रकी मृत्यु हुई थी। फिर उनके पौत्रीका विवाह बहुत अच्छे घरमें हो गया था। उसका वर्णन करने लगीं तो खूब हँसी। इस तरहसे आठ वर्षका इतिहास सुनाते-सुनाते दस बार रोयीं दस बार हँसी। हम लोग अपनी ओर भी देखें! हमारे मनकी दशा कैसी होती है!

उनके एक पुत्रको ऊँचा पद मिल गया था। हमारे गुरुजी सौ वर्षके हो गये थे। उनकी आँखोंसे दिखता नहीं था। उन्हें श्री मद्भागवत आदिसे अन्ततक टीका-टिप्पणी सहित, व्याकरण सहित कण्ठस्थ था। एक रुपया रोज उन्हें मन्दिरमें मिलता था। और उसीसे उनकी उदर-पूर्ति होती थी। कहीं वेतन नहीं लेते थे। उस मन्दिरमें जाकर थोड़ी देर भागवत सुनाते थे और उन्हें एक रुपया रोज मिलता था। अबसे 55 वर्ष पहलेकी बात है।

कहना यह है कि हम अपने जीवनमें कितने संवेदनशील हो गये हैं— क्षणमें रोना, क्षणमें हँसना। क्षणमें रोष, क्षणमें तोष। कहीं एक स्थिति तो चाहिए न! स्थिरता चाहिए। एक स्थायी भाव चाहिए। स्थायी भाव सुखमें नहीं होता है और दुःखमें भी स्थायी भाव नहीं होता है। थोड़ी देरके लिये सुखमें, थोड़ी देरके लिए दुःखमें स्थिर हो जाते है। दोनोंके परे जो अपना स्वरूप है, जो सुखके समय सुखी होता है, दुःखके समय दुःखी होता है और दोनोंमें-से एक होनेसे दोनोंसे न्यारे होता है, उस पर ध्यान नहीं जाता। यदि हम अपनेको इसमें स्थिर कर लें कि-सुख आता है जायेगा, दुःख आता है जायेगा; कोई चीज दुनियामें स्थिर रहनेवाली चीज नहीं है। हमारा जो आत्मा है अजर है, अमर है, अचल है, स्थाई है। शेष सब तो सिनेमाके परदेपर जैसे आते हैं वैसे आते हैं। ऐसा समझ लें तो , सुख-दुःखका जितना असर आप अपने ऊपर ले लेते हैं, उतना नहीं पड़ेगा।

भगवान्ने यहाँ एक दूसरी ही ओर हमारी दृष्टि खिंची है। आप यह मत देखिये कि सुख कैसे आया। यह भी मत देखिये कि दुःख कैसे आया। देखनेकी वस्तु यह है कि सुख-दुःख देनेवाला कौन है? हमारी माँने एक दिन रबड़ी-मलाई खिलायी। बहुत खुशी हुई। पर एक दिन उसने कहा कि आज खानेको कुछ नहीं मिलेगा। सिर्फ सूप पियो। आज तुम्हें रोटी नहीं मिलेगी। जब माँ कह रही है कि आज रोटी खाना ठीक नहीं है। उसका कितना प्रेम होगा, उसका कितना हित होगा। क्या खिलाया जा रहा है यह मत देखो—खिलानेवाला कौन है यह देखो। जब खिलानेवाले पर नजर जायेगी तब आप देखेंगे कि वह आपका इतना हितैषी है—इतना प्रेमी है कि वह आपको खिलाता है, तब भी आपके हितके लिए और आपको भूखा रखता है तब भी आपके हितके लिए। देनेवाले पर नजर जानी चाहिए। इस प्रसंगमें श्रीकृष्णने हमारी नजर खींची है—

सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च।
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः॥
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः।

मैं हूँ—जो तुम्हें सुख भी देता हूँ और दुःख भी देता हूँ। सुख देनेवालेको देखो, दुःख देनेवालेको देखो। जब उसपर दृष्टि जायेगी तो सुख, दुःख गौण हो जायेगा और देनेवाला मुख्य हो जायेगा। जहाँ देनेवालेपर नजर गयी वहाँ सब-का-सब आनन्दमय हो जायेगा। सब-का-सब मङ्गलमय हो जायेगा।

कहते हैं एक बार श्रीराधारानी और श्रीकृष्ण क्रीडा कर रहे थे, नृत्य कर रहे थे। श्रीकृष्णका नाखून राधारानीकी कलाईमें लग गया। श्रीराधारानीने छिपा लिया। बादमें श्रीकृष्णने देखा। बोले—प्रियाजी, आपको बहुत कष्ट हुआ! परन्तु दो महीनेके बाद देखा तो यह घाव ज्यों-का-त्यों। उन्होंने पूछा यह सूखा क्यों नहीं, अच्छा क्यों नहीं हुआ? तो बोले कि यह तो तुम्हारा दिया हुआ है, हम इसको अच्छा क्यों करेंगे? इसको देख-देखकर तुम्हारी याद आती है। अपने प्यारेके द्वारा दिया हुआ कष्ट भी सुख ही है।

हमलोग बचपनमें एक दूसरेको चिकोटी काट लेते थे तो उससे लड़ाई नहीं होती थी—अच्छा तुम हो। आकर पीछेसे किसीने आँख बन्द कर ली—हम कौन है, पहचान लिया? पहचान लिया। यह तो हमारा मित्र है, शत्रु नहीं है। यदि हम अपने उस मित्रको पहचान लें जो सुखके पीछे रहकर सुख देता है, दुःखके पीछे रहकर दुःख देता है। वही कभी नाखूनसे काटता है तो कभी दाँतसे भी काट लेता है।

एक बार मुझे ऐसी हँसी आयी, जो बन्द न हो। लोटपोट हो गया और ऐसा लगे कि अब प्राण गये। हँसी बन्द ही न हो। हमारे एक मित्र थे, उनकी समझमें बात आगयी और एक चाँटा कसकर उन्होंने हमको मारा और हमारी हँसी बन्द हो गयी। तो क्या उनका चाँटा मारना बुरा था? बुरा नहीं था, वह तो बचानेवाला था।

नारायणदास बाजोरिया बता रहे थे कि मैं लन्दनमें कहीं सड़के पार करने लगा, वहाँ सड़क पार करनेकी जगह नहीं थी। दूसरी ओरसे बड़ी तेजीसे मोटर आयी, एक आदमीने हमें ऐसा धक्का दिया कि हम फुटपाथपर गिरते-गिरते बचे। पहले तो बहुत बुरा लगा पर फिर देखा कि वहाँसे मोटर सरसे निकल गयी। यदि यह धक्का न देता तो मैं तो मर ही जाता।

हमलोक अपने हितैषीको पहचान नहीं पाते हैं जो छिपकर हमारा हित करता रहता है। उसपर जो विश्वास है, उसपर जो आस्था है, उसपर जो दृष्टि है, वह जीवनके लिए बहुत बड़ा सम्बल है। हमलोग चीज तो देखते हैं, रुपया दिया कि छीन लिया? हमारे आदमी मिले कि बिछुड़े—यह तो देखते हैं। लेकिन यह करनेवाला कौन है; उसपर नजर नहीं जाती है। यहाँ भगवान् हमको यह बता रहे हैं कि तरह-तरहके सुख आते हैं तुम्हारे जीवनमें, लेकिन देनेवाला मैं हूँ। तरह-तरहके दु:ख आते हैं जीवनमें, लेकिन देनेवाला मैं हूँ।

इस सुख-दु:खका मूल उद्गम, मूल स्रोत, मूल उत्स क्या है, उसपर दृष्टि नहीं जाती। जो शास्त्री होते हैं—वे जहाँ हमारी नजर जाती है वहाँ हमारी नजर खींचते हैं। द्वितीयाके दिन हमारे पितामह चन्द्रमाका दर्शन करते थे और कराते थे। उसको बहुत माङ्गलिक मानते थे। वे उँगली उठाते—वह देख वह चन्द्रमा—हम उनकी ऊँगलीकी ओर ही देखते। तो वे डाँटते कि तुम मेरी उँगली मत देखो। जिधर मेरी उँगली दिखा रही है, उधर देखो, तब चन्द्रमाका दर्शन होगा। ये जो शास्त्र हैं ये उँगलीके इशारेसे हमको कोई चीज दिखाते हैं और वह चीज हमारे हृदयमें बैठा हुआ परमेश्वर है, जिसे हम नहीं देख रहे हैं। वे परम कृपालु, करुणावरुणालय—कहते हैं—'तुम्हारे जीवनमें सुख-दु:ख आते हैं—ये तरह-तरहके सुख-दु:ख मैं ही देता हूँ।'

बरसानेमें एक महात्मा थे, उन्होंने अपना जीवन सुनाया। एक लड़केको जहर पिलाना था—उसकी माँने ही लड़केके लिए जहर तैयार किया। ऐसा कोई काम आगया जिससे लड़केको मालूम पड़ गया कि यह जहर है, पर उसने कहा कि जिस माँने हमको दूध पिलाया,नौ महीनोंतक अपने पेटमें रखा—पैदा होनेपर दूध पिलाया। पालकर हमको बड़ा किया—अगर वही माँ आज हमको जहर देती है तो इसको पीनेसे इनकार करना मेरी कृतघ्नता होगी और छीनकर पी गया।

ईश्वरके प्रति मनुष्यके मनमें कैसा भाव होना चाहिए? वे प्रभु जो कुछ करते हैं, हमारे मङ्गलके लिए करते हैं, हमारे हितके लिए करते हैं। सुख भी वही देते हैं। दु:ख भी वही देते हैं। **भवोऽभाव:**—भव माने जन्म, अभाव माने मृत्यु; जिसने जन्म दिया है, वही मृत्यु देता है और अच्छा जन्म देनेके लिए मृत्यु देता है। इस जन्मके जो काम थे, जो प्रयोजन थे, जिन कारणोंसे यह जन्म लिया था, वह पूरा हो गया। मृत्युसे डरनेका तो कोई कारण नहीं है। हम कभी-कभी सोचते हैं—कि इतने वर्षोंमें हमने ऐसा क्या अच्छा काम कर दिया कि ईश्वर हमारी 2-4 वर्ष उम्र और बढ़ा दे, तो हम और बढ़िया काम करेंगे। अरे इतने दिनोंमें तो कुछ किया ही नहीं। 70 वर्षमें तो कुछ हुआ ही नहीं, 2-4 वर्ष भगवान् और भी उम्र बढ़ा दें तो उसमें हम ऐसा क्या कर गुजरेंगे।

जब उसका हुक्म आवे, चलो। यह नहीं कि एक क्षण ठहर जाओ। दोनों बात नहीं होनी चाहिए। हाय-हाय, मैंने जीवनमें यह काम नहीं किया—इस प्रकार पछताते हुए नहीं मरना चाहिए। और जैसे एक सैनिकको आज्ञा दी जाती है—बन्दूक उलट दो, मुड़ जाओ, सीधे खड़े हो जाओ, जैसे एक सैनिक आज्ञा पालन करता है, वैसे ईश्वरकी आज्ञाका पालन करनेके लिए हमको क्षण-क्षण तैयार रहना चाहिए।

सुखं दु:खं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च।

भगवान् डराते हैं और निर्भय भी करते हैं—क्या अद्भुत है। बचपनकी बात सुनाता हूँ। आप कहेंगे गीताकी

व्याख्या करो। गीताकी असली व्याख्या पोथीमें नहीं होती—लिखी हुई नहीं होती है और वह व्याख्यानमें भी नहीं होती है। गीताकी असली व्याख्या तो अपने जीवनमें होती है। हम बच्चे थे तो खलिहानमें सोनेका आग्रह करते थे, जहाँ हमारे जौ, गेहूँ, धान खेतोंमें-से काटकर रखे जाते थें। हमारे एक चाचा थे। वे रातको काला कम्बल ओढ़कर भालूकी तरह बनकर सामनेसे आये। हम डर गये। तो सोचा कि खलिहानमें नहीं सोना चाहिए, यहाँ तो भालू आता है। पर वे भालू बनकर क्यों आये? हमको रोज खलिहानमें सोनेका जो आग्रह था वह आग्रह तोड़नेके लिए। उन्होंने डराया जरूर परन्तु अपनी जानमें उन्होंने हमारा हित किया कि हम ऐसी जिद्द न करें।

एक दिन मैंने देखा कि कोई भूत-प्रेतवाला आया था। उसने कहा कि हमें तुम्हें भूत दिखा देंगे। हम अपने दरवाजेपर ही बैठे थे। सामने एक फर्लांगकी दूरीपर एक पेड़ था। उससे बीच-बीचमें चिनगारियाँ छूट रही थीं और नीचे आग गिर रही थी। बोला देखो वह भूत है, आग बरसा रहा है। हमारे चाचा आगये। पिता तो थे नहीं—उन्होंने उसको डाँटा। क्यों बच्चेको डरा रहे हो? वह भूत नहीं है। यह जो बारूद होती है वह पोटलीमें भरकर बाँधकर उसने नीचेसे आग लगा दी थी। जब बारूदकी पोटली आगसे लगती बारूद जलकर गिर जाती और जब गाँठ आती तब बन्द हो जाती। जब गाँठ जल जाती है तो फिर बारूद जलती है। वह तुमको डरानेके लिए ऐसे कर रहा है। हमको भय चाचाने दिया क्योंकि हम अनुचित चिद्द कर रहे थे। और हमको निर्भय भी चाचाने बनाया। तो यह जो सबका चाचा है—सबका बाप है, सबका दादा है, वह हमको जरूरत पड़नेपर डराता भी है और निर्भय भी बनाता है। भगवान् ही हमारा पिता है, हमारा पितामह है—जैसा कि भगवान्ने ही कहा है—

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च॥
गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥ (9.17-18)

हमको सब दिखता है—फूल दिखते हैं पर फूल खिलानेवाला नहीं दिखता। हमको पेड़ दिखता है पर पेड़ पैदा करनेवाला नहीं दिखता है। हमको आँखसे चीजें दिखती है पर जिसने हमारी आँखमें ज्योति डाली है वह **चक्षुसः चक्षु**—वह जो हमारी आँखों-की-आँख है—**श्रोत्रस्य श्रोत्रम्**—जो हमारे कानका कान है—प्राणस्य प्राणाः जो हमारे प्राणों-का-प्राण है, उसपर हमारी नजर नहीं जाती।

गीतामें भगवान् बोलते हैं—हमारी ओर देखो।

सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च।
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः॥

अहिंसा—अहिंसा शब्दका संस्कृत भाषामें अर्थ होता है—मनसे, वचनसे, कर्मसे किसीको कष्ट नहीं देना। किसीके शरीरको कष्ट नहीं देना।

हम अपने परिवारकी बात सुनाते हैं। जन्मसे हम लोगोंके यहाँ मन्त्र देनेकी परिपाटी थी। शिष्य बनाया करते थे हम। हमारे घरका पेशा था। ज्योतिष बताना, मन्त्र देना—यह रोजगार था। पहले बताया करते थे। चोरी,

जारी, झूठ और हिंसा-चार बात छोड़ना। मन्त्र लेते हो तो चार बात छोड़ देना। सब लोग मन्त्र लेते समय तो कहते हैं कि हाँ हम चारों छोड़ देंगे, पर छोड़ते नहीं। संशोधन किया कि अच्छा हम और कुछ छोड़नेको नहीं कहते हैं, सिर्फ एक चीज छोड़ दो। जान-बूझकर किसीको तकलीफ मत दो। एक बात अपने जीवनमें आजाय तो अच्छा है। क्योंकि वेदकी आज्ञा है—**मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि।**

संसारके किसी भी प्राणीको सताओ मत, दुःख मत दो। तुम्हारे भीतर परमेश्वर बैठा है। किसीको तकलीफ देते हो तो उसके सामने ही तो देते हो। मालिकके सामने हम अपराध करते हैं। कानून अपने हाथमें लेते हैं—सबका मालिक परमेश्वर सामने बैठा हुआ है और उसीके सामने हम दूसरेको तकलीफ देते हैं। तीन चीज जीवनके लिए मूल मन्त्र है, महोषध हैं। जिसके जीवनमें ये हैं, वही महात्मा है। केवल तीन—**अहिंसा, समता, तुष्टिः**। ये भगवान्‌के दिये हुए अपने जीवनके लिए रत्न हैं। जान-बूझकर किसीको तकलीफ न पहुँचाओ। सबके प्रति हमारे मनमें समभाव हो। और अपने भीतर सन्तोष बना रहे। **अहिंसा, समता, तुष्टिः**—ये सद्‌गुण हैं। यदि आगया तो आपके जीवनमें भगवान् प्रकट हैं। इसीको जीवन्मुक्त बोलेंगे। उसने परमार्थ और व्यवहार सबका रहस्य समझ लिया जिसके जीवनमें ये गिनी हुई तीन बातें आजायँ।

एक महात्माके ऊपर किसीने आक्रमण किया। वह आक्रमण सफल नहीं हुआ। परन्तु जो महात्माजीके भक्त थे, उन्होंने उसको पकड़ लिया। इसने हमारे गुरुके ऊपर आक्रमण किया है, मार डालेंगे इसको। महात्माजी दौड़े—जाकर उसे अपने बाँहमें भर लिया, बोले—देखो इसको अगर कोई कुछ कहेगा या इसका अपमान करेगा या मारेगा तो हम यह देश छोड़कर चले जायेंगे। और फिर कभी यहाँ नहीं आयेंगे। हम तुम लोगोंको फिर कभी नहीं मिलेंगे। श्रीमद्भागवतमें तो ऐसा आया है—बात आदर्श की है—लेकिन बहुत ऊँचा आदर्श जो अपने जीवनमें नहीं आता है, उसको भी जानना अच्छा रहता है, उससे बहुत बल, बहुत शक्ति मिलती है। संस्कृतमें एक श्लोक है जिसका तात्पर्य यह है कि 'एक आदमी कुल्हाड़ीसे हमारा दाहिना हाथ काट रहा है और एक बायें हाथपर चन्दन लगा रहा है। उस चन्दन लगानेवालेको मत देखो। उस कुल्हाड़ीसे काटनेवालेको मत देखो। दोनोंके भीतर जो प्रभु है, उसको देखो'।

जीवनकी तीन सम्पदाएँ हैं, ऐसा महाभारतमें जो सनत्सुजात-गीतामें लिखा है। महाभारतमें १८-२० गीताएँ हैं उसमें 'अनु-गीता' है, 'मंकि-गीता है, 'ब्रह्म गीता' है। एक सनत्सुजात-गीता है। उसमें ऐसा बताया कि—**प्रमादं वै मृत्युमहं ब्रवीमि।** (उद्योग-पर्व 42.4) यह जो हमारे जीवनमें प्रमाद है, असावधानी है, उसीका नाम मृत्यु है। जिस समय हम प्रमादमें हो जाते हैं, हमें अपने कर्तव्यका स्मरण नहीं रहना, जिसकी आज्ञामें सूर्य, चन्द्रमा चल रहे हैं, उसका ध्यान नहीं रहता। जो हमारे जीवनमें शक्ति दे रहा है उसका ध्यान नहीं रहता। प्रमाद आया तो मूल उत्ससे माने उद्‌गमसे—जैसे गङ्गोत्तरीसे गङ्गाजी चलती हैं तो जहाँ गङ्गोत्तरीकी धारासे संलग्न जलधारा होगी वहाँ तो उसको गङ्गाजी कहते हैं और जहाँ उस मुख्य धारासे अलग कोई जल गड्ढेमें रह जाता है तो शास्त्रकी दृष्टिसे उसे सुरातुल्य अर्थात् शराबकी तरह मानते हैं। उसमें स्नान करनेपर पुण्य नहीं होगा। पुण्य तो उसी धारामें स्नान करनेका होगा जो गङ्गोत्तरीसे लगातार संलग्न है।

मनुष्यका यह जीवन जिस गङ्गोत्तरीसे चला है, जीवनकी धारा भी एक गङ्गोत्तरीसे चली है, यह भी भगवान्के चरणारविन्दसे ही प्रभावित हुई है। यदि वहाँसे अपने जीवनका सम्बन्ध जुड़ा रहा तब तो यह गङ्गा है और यदि उससे सम्बन्ध टूट गया तो जैसे सम्बन्धसे मुक्त गङ्गाजल सुरा-जलके समान हो जाता है—वैसे ही यह जीवका जीवन भी अपवित्र हो जाता है। जहाँ परमेश्वरके साथ सम्बन्ध टूटा— यह अपवित्र हो गया।

सनत्सुजात-गीतामें तीन बात हमारे जीवनमें रहनी चाहिए, यह बताया। ब्रह्मसे हम एक हैं—जुड़ा हुआ है हमारा विस्तार। चित्तवृत्तिमें समता है—जो हुआ सो ठीक, जो हो रहा है सो ठीक—'नानक है भी सच, नानक होसी भी सच।' जो है सो भी सच है और जो होगा सो भी सच है। है शान्ति, रहेगी शान्ति—देखो उस परमात्माको देखो। उसके साथ सम्बन्ध नहीं टूटे। तत्त्वमें एकता है, चित्तवृत्तिमें समता है और व्यवहारमें असंगता है। कहीं फँसे नहीं—हाथ वहीं तक डालो जहाँसे खींच सकते हो। व्यापार भी करना हो तो ऐसा व्यापार करो कि कितनी भी मुश्किल आवे उसमें-से अपनेको निकाल सकें। अपनी क्षमता देखकर ही व्यापारमें हाथ डालना चाहिए और केवल सम्भावनाओंपर हाथ डाल दिया कि फिर निकाल न सकें तो ठीक न होगा।

असंगता माने छुटकारा। कहीं भी हम फँस न जायें, कहीं भी आसक्त न हो जायँ—कहीं भी बँध न जायँ। निर्द्वन्द जीवन व्यतीत हो और सब स्थितियोंमें समान हों और परमात्मासे जो सम्बन्ध है वह जुड़ा रहे। जीवन तो वही है।

सुखं-दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च। अहिंसा-समता तुष्टिः......

शङ्कराचार्य भगवान्ने कहा है कि संसारी लोग, गृहस्थ लोग जो हैं—उनको स्त्री-पुरुषके सहवासमें जैसा सुख मिलता है, अच्छा भोजन करनेपर जैसी तृप्ति होती है और धन मिलनेपर जैसा सन्तोष होता है, उससे अधिक सुख 'आत्मरति' में होता है। **यस्त्वात्मरतिरेव स्यात्** (3.17)—आत्मा ही स्त्री-पुरुष है। आत्मा ही भोजन, आत्मा ही संतोष है। आप उस जीवनकी कल्पना तो करें। कितना स्वावलम्बी वह जीवन होगा, कितना स्वतन्त्र, स्वच्छन्द वह जीवन होगा जो धनके बिना सुखी है और अच्छे भोजनके बिना भी तृप्तिका अनुभव कर रहा है। और स्त्री-पुरुषके सहवासके बिना भी अपने मनमें अपनी आत्मामें रह रहा है। पराधीनता तो वहाँसे कट गयी।

अहिंसा-समता-तुष्टिः।

किसीको तकलीफ न पहुँचायें, एक बात। यह हो गया जैन धर्म—ये लोग अहिंसाका नाम बहुत लेते हैं। करुणा बौद्धधर्मकी प्रधानता है। उसमें करुणाका समुद्र उमड़ता है। बुद्धके जीवनमें एक बात आती है। उन्हें मुक्तिके द्वारपर ले जाया गया कि आप मुक्तिके राज्यमें प्रवेश करो। बुद्ध ठिठक गये। बोले—नहीं, मैं मुक्तिके राज्यमें प्रवेश नहीं करूँगा—क्यों, क्योंकि संसारके जीव इतने दुःखी हैं—उन सबको दुःखी छोड़कर मैं चला जाऊँ। प्रवेश नहीं करेंगे, मुझे मुक्ति नहीं चाहिए। समाधि छोड़कर उनकी आँखोंमें आँसूकी धारा बह रही है। संसारके जीवो! तुम दुःखमें, सुखमें, रागमें, भोजनमें हँस रहे हो—आओ-आओ, इनसे मुक्त हो जाओ।

अहिंसाकी प्रधानतासे जैन-धर्म, करुणाकी प्रधानतासे बौद्ध धर्म और हितकी प्रधानतासे वैदिक धर्म है। कभी कठोरता करनी पड़े तो कठोरता भी कर लिया और करुणा करनी पड़े तो करुणा भी कर लिया लेकिन हित-भावना दोनोंमें रहे। कभी हिंसा भी-कभी अहिंसा भी—यह वैदिक धर्मकी विशेषता है। आवश्यकता पड़नेपर हिंसा भी—राष्ट्रकी रक्षा करनी हो, गरीबकी रक्षा करनी हो, धर्मकी रक्षा करनी हो, तो वहाँ हाथ-पर-हाथ धरकर बैठना नहीं चाहिए। जिसमें लोगोंका कल्याण हो वह करनेके लिए हिंसा भी ठीक है, अहिंसा भी ठीक है और समता भी ठीक है, विषमता भी ठीक है। सन्तोष भी ठीक है और असन्तोष भी ठीक है। विद्या और अर्थ प्राप्त करनेमें सन्तोष नहीं चाहिए।

अजरामरवत् प्राज्ञो विद्यामर्थं च चिन्तयेत्।

असन्तोष, धर्म करनेमें—और करें, और करें, और करें। उसमें सन्तुष्ट नहीं हो जाना। विद्या प्राप्त करनेमें सन्तुष्ट नहीं हो जाना। धन प्राप्त करनेमें सन्तुष्ट नहीं हो जाना; लेकिन यह बात है—आत्मस्थिति-तुष्ट। हितप्रधान हमारा वैदिक धर्म है। उसमें सन्तोषके लिए भी स्थान है और असन्तोषके लिए भी स्थान है। उसमें हिंसाके लिए भी स्थान है, विषमताके लिए भी स्थान है। परन्तु क्यों, बोले—हितदृष्टि रहनी चाहिए। जिसमें सबका भला हो, वह दृष्टि चाहिए। **अहिंसा, समता, तृष्टिः, तपो, दानं, यशोऽयशः।** अपने इन्द्रियोंका संयम करो। विवेकपूर्वक जीवन व्यतीत करना और दान करना।

दानके बारेमें तो जैसी बात वेदोंमें है—अद्भुत है। **श्रद्धया देयम्** (तै०उप० १.११.३) श्रद्धासे दान करो। **अश्रद्धया देयम्**—अश्रद्धासे भी दान करो। **ह्रिया देयम्**—शरमसे भी दान करो। **भ्रिया देयम्**—भयसे भी दान करो—**संविदा देयम्**—जान-बूझकर दो। अनजानमें दो—लज्जासे दो—देना, क्योंकि लेना-देनाकी शिक्षा तो मनुष्य अपने आप ही प्राप्त कर लेता है, उसके लिए तो कोई पाठशाला बनानेकी जरूरत ही नहीं पड़ती। बच्चे पाठशालामें पढ़े बिना ही सीख लेते हैं, लेकिन देना सिखानेके लिए तो लोगोंको पाठशाला भी नहीं बनायी कि इसमें दान करनेकी, देनेकी शिक्षा दी जाये। असलमें मनुष्यके लिए दान सर्वोपरि है।

वृहदारण्यक उपनिषद्में यह कथा आयी है। (५.२)—दैत्य गये ब्रह्माजीके पास—बोले क्या करें? बोले 'द-द-द' दया करो। तुम लोग बड़े क्रूर हो—दया करो। देवता गये ब्रह्माजीके पास क्या करें? बोले 'द-द-द' दान करो। तीन प्रकार है। दैत्य हिंसक हैं इसलिए उनके जीवनमें दया आनी चाहिए। देवता भोगी हैं, उनके जीवनमें दम आना चाहिए और मनुष्य लोभी हैं, उनके जीवनमें दान आना चाहिए। कुछ-न-कुछ देते चलो।

मनुस्मृतिमें ऐसे कहा कि अपने घरमें कोई आजाय—अपने घरमें अच्छा फर्नीचर न हो—कोई बात नहीं, चटाई बिछायें—कुशासन तो है। अगर वह भी न हो तो धरतीपर हाथ फिरा दिया। आइये यहाँ बैठ जाइये। कुछ खानेको देनेके लिए न हो तो थोड़ा-सा जल दे दो। जल भी न हो—**वाक्चतुर्थी च सूनृता।**

आपके मुँहमें तो है न। मीठा बोलिये। अपनी जबानका शरबत—आपके मुँहमें तो अमृत भरा हुआ है। कुछ-न-कुछ देते आप चलते हैं। आपके जीवनमें जो क्रोध है, उसकी तन्मात्राएँ आपके शरीरसे निकलकर फैलती हैं। आपके जीवनमें जो लोभ है उसकी तन्मात्राएँ निकलती हैं। लोभीके संसर्गमें आनेसे मनमें लोभ

आता है। क्रोधीके संसर्गमें आनेसे मनमें क्रोध आता है। कामीके संसर्गमें आनेसे मनमें काम आता है। आप तो बहुत कुछ देते चलते हैं, कुछ और भी देते चलिये। 'तपोदानम्', पर यह दान करनेकी वृत्ति आती कहाँसे है। अभिमानी मत बनो। कुछ अभिमान करने लायक नहीं है। न सुखी होनेका अभिमान, न दुःखी होनेका अभिमान। न कुलीनताका अभिमान, न मृत्युका अभिमान। मृत्युका भी अभिमान होता है—हम मरेंगे। कहाँ मरेंगे? अमुक तीर्थमें मरेंगे। उतान छाती करके—बन्दूककी गोलीके सामने मरेंगे। देशहितके लिए फाँसीपर टँगकर मरेंगे। हमको तो भाई बहुत डर लगता है, हम तो बहुत निर्भय रहते हैं—सब आता है, पर देखना उसको है जो हमारे हृदयमें सद्भाव भेजता है।

भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः।

वह साक्षी, वह प्रेरक, वह अन्तर्यामी है। आप गायत्रीका जप करते होंगे। उसमें सीधा दोनोंका वर्णन है। एक ओर योग है। **भर्गो धीमहि सवितुः वरेण्यम्।** 'धीमहि' माने ध्यान करते हैं। ध्यान करते हैं माने योग कर रहे हैं। किसके साथ? परमात्माके साथ। परमात्मा क्या कर रहे हैं? **धियो यो नः प्रचोदयात्।** वह हमारी बुद्धिको प्रेरित कर रहा है। हम परमात्माका ध्यान कर रहे हैं और परमात्मा हमारी बुद्धिको प्रेरित कर रहा है। देवता लोग बुद्धिमें प्रेरणा, स्फुरणा देकर रक्षा करते हैं। इसमें साफ-साफ बात है—'तत्सवितुर्वरेण्यम्' हम परमात्माके उस तेजका ध्यान करते हैं—किस तेजका? जो हमारी बुद्धिका प्रेरक प्रकाशक है। माने जो सम्पूर्ण विश्वका हेतु सविता है—इधर है, वही हमारी बुद्धिका प्रेरक आत्मा भी है। जीव और ईश्वर दोनोंकी आत्मा एक है, यही तो गायत्री बोलती है। सृष्टिकर्ता है सविता देवता। देवता—स्वयं प्रकाश और बुद्धिप्रेरक है, हमारे देहमें बैठा हुआ। दोनों एक हैं—दोनोंमें समानाधिकरण्य है।

आओ परमात्माका दर्शन करें। कहाँसे देखें? किसी मशीनमें कोई चीज बनती है तो मशीन फटाफट घूमती रहती है, वस्तुएँ निकलती जा रही हैं—उस मशीन चलानेवालेको देखो—और वह मशीन एक मिनटमें कितना चक्कर लगाती है, यह मत देखो—चलानेवाला कौन है? **भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः।** सारे भाव जो हमारे हृदयमें आते हैं, उसके मूलमें परमात्मा आते हैं। और यह जो सारी सृष्टि बनी है—

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः॥ (10.6)

इस सारी प्रजाका मूल पिता कौन है? और सद्भावोंका प्रेरक कौन है? दो चीजें निकलीं, जो जिससे पैदा है और जो जिससे प्रकाशित होता है, वह अपने प्रकाशक और जनकसे पृथक् नहीं होता। यह सारी-की-सारी सृष्टि परमात्ममयी है, उसीकी रोशनीमें दीखती है और वही सारी सृष्टिमें हो रहा है। उसीका योग है और उसीका वैभव है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

प्रवचन : 5

(14-11-80)

श्रीमती भगवती गीता—गीताके विशेषण है—**गीताशास्त्रमिदं पुण्यम्**—गीता शब्द संज्ञा है। व्यवहारमें और परामार्थमें दोनोंमें भगवान् हैं। **मामनुस्मर युद्ध्य च** (8.7) 'मामनुस्मर' परमार्थ है और 'युद्ध्य च' व्यवहार है। दसवें अध्यायमें परमार्थमें भगवान् योग हैं और व्यवहारमें भगवान् विभूति हैं। दो चीजें हैं। दसवें अध्यायका पाठ पहले हमने कितनी बार किया होगा। पर यह बात ध्यानमें नहीं आती थी। मेरे ध्यानमें नहीं आती थी, इसलिए मैं बार-बार इसको दोहराता हूँ। औरोंके ध्यानमें न आती हो तो वे भी ध्यान करें।

एतां विभूतिं योगं च—यह मेरी विभूति है और यह मेरा योग है। अर्जुनने प्रश्न भी किया है कि—**विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च** (10.18)। एक है योग और एक है विभूति। व्यवहार वैभव है, एक व्यक्ति है और उस व्यक्तिकी मूर्ति है। एक वस्तु है और एक वस्तुकी विभूति है। देखो मिट्टी वस्तु है और हीरा उसकी विभूति है—खानेमें-से निकला हुआ मिट्टी ही है। पाषाण-खण्ड ही है, पत्थर ही है। मृत्तिका योग है और हीरा उसकी विभूति है। जब हम परमात्माका चिन्तन करें तब देखें **मृत्तिकेत्येव सत्यम्**—(छान्दोग्य 6.1.4) केवल मृत्तिका ही सत्य है केवल परमात्मा ही सत्य है।

कल एक विलक्षण फूल देखा। बताया गया कि सालमें एक दिन खिलता है। कल खिला हुआ था। वह क्या है? उसमें मिट्टी है; उसमें पानी है। वह अपने तत्त्वसे वियुक्त नहीं हुआ है। युक्त है, योग है, मिट्टी-पानीका वैभव है; यह विभूति है कि वह इतने सुन्दर, सुगन्धित, रसयुक्त रूपमें है; उसमें सुकुमारता है। यह क्या है—यह मिट्टी पानीकी विभूति है। परमेश्वरकी जो सृष्टि है, सूर्य है, चन्द्रमा है, यह अग्नि है, यह वायु है। यह परमेश्वरकी विभूति है। जिसकी विभूति है उसको भूलना नहीं चाहिए।

विभूतिमें उसका दर्शन करते हुए विभूतिके साथ व्यवहार करना चाहिए। **रसोऽहमप्सु कौन्तेय** (7.8)—भूलनेकी वस्तु नहीं है। अग्निमें तेज भगवान् है। जलमें रस भगवान् है। पृथिवीमें गन्ध भगवान् है। ये व्यावहारिक हैं। व्यवहारमें भी भगवान्, परमार्थमें भी भगवान्। ये दसवाँ अध्यायका सार है, रस है, हमको पहले बहुत दिनतक ध्यानमें बात नहीं आयी थी। अब भगवान् कहते हैं—जितने आध्यात्मिक भाव हैं, और जितने आधिदैविक भाव हैं, वे सब-के-सब मुझसे ही होते हैं।

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः—यह आध्यात्मिक भाव है हमारे हृदयमें। यह योग्यता जिससे प्रकाशित हो—विषयका भी ज्ञान हो और परमात्माका भी ज्ञान हो, उस ज्ञानकी योग्यताके रूपमें बुद्धि भी हो। फिर बुद्धिमें प्रकाश दिया और असंगता भी दी। यह भ्रम होता है कि हम फँस गये। कभी कोई फँसता नहीं। बचपन, जवानी, बुढ़ापा, दादा-दादी, नाना-नानी, भाई-बन्धु—जब वे अपने साथ थे तो संमोह था कि साथ ही रहेंगे। पर जब छूट गये तब कठिनाईसे, उनका स्मरण होता है। वह पिता जो गोदमें खिलाते थे, वह माता जो दूध पिलाती थी, गुरुजी जो बड़े प्रेमसे पढ़ाते थे—सब छूट गये। कहाँसे मोह हुआ? संमोह तो कहीं हुआ ही नहीं। पति-

पत्नीमें बड़ा मोह है, बड़ा प्रेम है, माता-पुत्रमें बड़ा प्रेम है—जब आप सोते हैं तो आपका मोह कहाँ जाता है? योग हो जाता है। उस समय आप परमात्मासे मिल जाते हैं.

भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः। (10.5)

क्षमा सत्यं दमः शमः। (10.4)

हमने देखा है—जो पहले शत्रु माने जाते थे वे मित्र हो गये। जो मित्र माने जाते थे वे शत्रु हो गये। बदलती है दुनिया। यह क्षमा है, सत्य है, दम है, शम है—आध्यात्मिक हैं। आध्यात्मिक माने जो हमारे शरीरके भीतर है। 'आत्मनि एव अध्यात्मम्'। जो हमारे शरीरमें ही होते हैं उनका नाम अध्यात्म है। यह लगता है कि इसने सुख दिया—इसने दुःख दिया, देता-वेता कोई नहीं, हमारे मनमें जो बैठा हुआ है, वही उभड़कर सामने आजाता है। सुख-दुःख भीतरसे निकलते हैं। बाहरसे नहीं आते। बाहर तो जिससे प्रेम हो उसकी मृत्युपर दुःख नहीं होता; बल्कि कभी-कभी तो मुँहसे निकल जाता है—अच्छा हुआ। सबके मुँहसे नहीं निकलता। आप तो बड़े सज्जन हैं, आपके मुँहसे ऐसा शब्द नहीं निकलता लेकिन भीतरसे आजाता है।

भागवतमें ऐसा कहा गया है कि बिच्छू, साँप मर जानेसे सज्जन पुरुषको भी अच्छा लगता है। **सुखं दुःखम्** यह बाहरसे नहीं, आपके भीतरका विकास है। यदि आप अपने मनको, अन्तःकरणको संयमित कर लें तो सुख देनेवाला कोई दूसरा है, ऐसा समझ लें मोह नहीं होगा और दुःख देनेवाला कोई दूसरा है, यह समझकर किसीको द्वेष भी नहीं होगा। ये तो हमारे अन्तःकरणकी ऐसी ही बनावट है। देखो शीशेका स्वरूप। शीशा चमकता है और कोयलेकी कालिमा प्रकट होती है और आतसी शीशेपर सूर्यका प्रकाश पड़ता है तो जल उठता है। उसपर रुई डाल दो—आग लग जाती है। यह वैभव है।

शीशेका वैभव दिखाता है कि आपकी नाक कैसी है, आपकी आँख कैसी है? लेकिन इसका योग देखो, शीशेमें योग है। न तो तुम उसके भीतर घुसे और न तो पैदा हुए और न उसमें तुम्हारी लम्बाई-चौड़ाई है। न तुम्हारा उसमें दाहिना-बाँया है, न मुटापा है—न आगे-पीछे है। क्या विभूति है शीशेकी! यह परमात्माकी विभूति है। यह दुनियाकी लम्बाई-चौड़ाई, इसका मोटापा, इसका आगे-पीछे, इसका छोटापन, इसका बड़ापन कुछ नहीं।

सुखं दुःखं भवो भावः।

देखो जन्म-मरण दीखता है—क्या विभूति है। बेटेका जन्म हुआ—केवल समाचार मिला। इसीसे फूल गये। झूठा समाचार मिला, किसी प्यारेकी मृत्यु हो गयी। दुःखित हो गये। है कुछ नहीं—आपके पैदा होनेसे पञ्चभूतका—धरतीका, पानीका, कुछ वजन बढ़ गया? आपके मरनेसे पञ्चभूतका वजन कुछ घट गया? सो रहा ज्यों-का-त्यों! गणेशजी बने और मूर्ति बिगड़ गयी। मूर्त्ति बनी और बिगड़ गयी। इतना ही है, मिट्टीका योग है और मूर्त्ति उसकी विभूति है। जन्मना भी भगवान् मरना भी भगवान्। दूसरेको दुःख पहुँचानेसे डरें। दूसरेने कड़वा बोलनेमें डरें। और निर्भय होकर सदाचारका पालन करनेमें भय काहेका? यह तत्त्वज्ञान तीन ही चीज जीवनमें देता है। एक तो—

अभयं प्रतिष्ठां विन्दते। (तै० उप० 2.7.1)

जिसको तत्त्वज्ञान हो जाता है, वह सृष्टिमें निर्भय हो जाता है। कोई आओ, कोई जाओ। भगवान्की विभूति मजा लेनेके लिए है। हमारे हृदयमें भय प्रकट होता है कि हम दुष्कर्म न करें। हमारे जीवनमें अभय प्रकट होता है—हम सत्कर्म करें। ये दोनों वृत्तियाँ भयकी, अभयकी सब भगवान्की दी हुई हैं। जरा देनेवालेको एक बार झाँक लें। आपके मनमें कोई भाव आवे तो **धियो यो नः प्रचोदयात्**को जरा देख लो। हमारी बुद्धिका प्रेरक जो है, उसको देख लें। एक बार उसकी ओर निहार लो। यह भेजनेवाला कौन है? अपना प्यारा है। चाँटा किसने लगाया? प्यारेने। ये चिकोटी किसने काटी? प्यारेने। बस, इसीमें तो मजा है। दूसरी बात वेदान्त-जीवनमें देखना है—एक विज्ञानसे सबका विज्ञान। ऐसी कोई दूसरी विद्या नहीं है, किसी मजहबमें नहीं। हम चुनौती देते हैं—दुनियाका कोई मजहब बता दे एक विज्ञानसे सर्व-विज्ञानकी प्रक्रिया क्या है? यह उपनिषदोंके सिवाय और कहीं मिलती है? एकको जान लिया और सबको जान लिया।

तीसरी बात है—सर्वत्यागका सामर्थ्य! हमारे असंग स्वरूपमें ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है जिससे हम चिपके रहें। सब छोड़ सकते हैं। अभय पदकी प्राप्ति, एक विज्ञानसे हम चिपके रहें। सब छोड़ सकते हैं। अभय पदकी प्राप्ति, एक विज्ञानसे सर्व-विज्ञान और सर्व-त्यागका सामर्थ्य। **भयं चाभयमेव च-अहिंसा समता तुष्टिः**—किसीको दुःख नहीं पहुँचाना—सबके प्रति समभाव रखना और मनमें सन्तोष रहना। हमारे जीवनमें यह विभूति है या नहीं, यह देखो।

तपोदानं यशोऽयशः—अपना काम करते चलो, यश-अपयशकी ओर मत देखो। अपयश-यश देखने लगे कि किस काममें लोग हमारी तारीफ करते हैं और किसमें निन्दा करते हैं—तब हम एक कदम आगे नहीं बढ़ सकते। एक ही कामकी दस निन्दा करनेवाले मिलेंगे और दस तारीफ करनेवाले मिलेंगे। इसलिए दृढ़ निश्चयके साथ जीवनमें आगे बढ़ना चाहिए। कोई यश देता है? भगवान् देते हैं, आदमी नहीं देता। कोई अपयश देता है? भगवान् देते हैं, आदमी नहीं देता। अपयश सुनकर डरो मत और यश सुनकर खुश मत होओ। देनेवालेको देख-देखकर खुश होते जाओ। हर काममें उसको निहारते जाओ और खुश होते जाओ।

भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः।

यह आध्यात्मिक भाव है। सृष्टि तो भगवान्ने बनायी ही है, वह तो हम आगे सुनावेंगे।

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते। (10.8)

हमारे मनके भाव भी भगवान्के ही भेजे हुए हैं। अब देखो आधिदैविक भाव—

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः॥ (10.6)

ये सारे आधिदैविक भाव हैं। **महर्षयः सप्त**—जैसे हमारे शरीरमें सात इन्द्रियाँ हैं, आध्यात्मिक रूपसे ये सात ऋषि हैं। ऋषियोंको सात क्यों कहते हैं? दो आँख, दो कान, दो नाक, एक मुँह—ये सातों ज्ञानके देवता, ज्ञानके ऋषि, ब्राह्मणोचित स्थानमें हैं। मुख तो ब्राह्मण है न! देवताका निवास कहाँ है? विराट्के मुखरूप ब्राह्मणमें। सात ऋषि हैं और सात ही इनके देवता हैं। फिर अधिदैवमें ऋषि सात क्यों? क्योंकि इनका जो बीज है, मूल

कारण है वह भी सात है। वे प्रलयमें भी नष्ट नहीं होते हैं। जब प्रलय होता है तब मत्स्य भगवान् सप्तर्षियोंको नावपर बैठा लेते हैं। सभी वस्तुओंका बीज नावमें रख लेते हैं और प्रलय के समय विचरण करते रहते हैं।

ये सात ऋषि कौन हैं? बोले—'पूर्वे' जो सबसे पहले रहते हैं—सबसे पहले रहते हैं का क्या मतलब है? जितना भी आपको ज्ञान होता है—यह गन्ध है—यह गन्धवाली पृथिवी है। यह रूप है, यह रूपवाला तेज है—यह रस है, यह रसवाला जल है। यह स्पर्श है, यह स्पर्शवाला वायु है—ये शब्द हैं, यह शब्दवाला आकाश है। इनका प्रकाश करनेके कारण ऋषि, ऋषन्ति=जानन्ति इति ऋषयः। ये ज्ञान देते हैं। 'पूर्वे' का अर्थ हुआ धरती देखनेसे पहले और धरतीकी गन्ध सूँघनेसे पहले। देखनेसे पहले कौन होगी? आँख। आँखके मूलमें जो ऋषि है—बड़ा तेजस्वी है। नाकके मूलमें जो ऋषि है—गन्धसौंध है, गन्ध ग्रहणमें बड़ा निपुण है। जो आदि सर्गमें पहले सात ऋषि हुए उनको भृगु आदि नामोंसे बोलते हैं। हर मन्वन्तरके सप्तर्षि नहीं; स्वायम्भुव मन्वन्तरके सप्तर्षि, आदि सर्गके सप्तर्षि।

चत्वारो मनवस्तथा। चार मनुके विषयमें तिलक महाराजने दूसरे ढंगसे लिखा है। ज्ञानेश्वरने दूसरे ढंगसे लिखा है। शंकराचार्यने दूसरे ढंगसे लिखा है। पर बाबा, उससे हमारा कोई ज्यादा मतलब नहीं है। सप्तर्षिमें कौन-कौनसे सात हैं, इसका पता तो महाराज, ऐतिहासिक लोगोंको लगाने दो। ये तो आधिदैविक भावकी चर्चा है। चौदह मनु होते हैं—चार क्यों? चार मानस मनु हैं। स्वायम्भुव, रेवत, तामस—प्रियव्रतके तीन पुत्र हैं। उनकी उम्र कितनी है? तीन मन्वन्तरके तीन अधिपति होते हैं। तीनों प्रियव्रतके पुत्र हैं।

एक प्रश्न उठता है—एक मनुकी उम्र तीन मन्वन्तर, एक मनुकी उम्र एक मन्वन्तर और ये हैं एक ही बापके बेटे? स्वायम्भुव मन्वन्तरमें ये तीनों थे और अपने-अपने मन्वतरमें भी तीनों थे। ये कोई भौतिक व्यक्ति नहीं—भगवान्‌के मानस भाव थे। अपने सङ्कल्पसे उनके मनुत्वकी स्थापना कर दी थी। और इतना विवेक है पुराणोंमें, इतिहासोंमें, वेदोंमें। सभी शास्त्रोंमें मनुका नाम आया है।

हमारे अन्तःकरणके चार भाग होते हैं। मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार। ये हैं मनन करनेके कारण 'मनु'। इनके आधिदैविक रूपको जब हम ढूँढ़ते हैं तो चार-के-चार मिल जाते हैं। **मद्भावा मानसा जाताः**। भगवान् कहते हैं—ये सप्तर्षि मेरे भाव हैं। मेरे मनसे पैदा हुए हैं। **येषां लोक इमाः प्रजाः**—इन्हीं आधिदैविक भावनाओंकी शक्तिसे संसारमें सब लोग पैदा हुए हैं।

अन्तमें भगवान्‌ने फलश्रुति बता दी। **एतां विभूतिं योगं च**—यदि दोनोंको अलग-अलग नहीं मानोगे तो जो 'च' का प्रयोग है वह व्यर्थ चला जायगा। **एतां विभूतिं योगं च**—यह विभूति और यह योग। पानी अपने स्वरूपमें है तब योग है और जब उसमें बरफ बन गया तब विभूति बन गयी। वस्तुओंको ठण्डा कीजिये, पानी ठण्डा कीजिये; उससे ठण्डी हवा लीजिये। अपने घरमें रखिये। पानी-पानी है। वह योग है और जो बरफ बन गया—वह उसकी विभूति है। तेज-तेज है। सूर्यकी रोशनी-रोशनी है, सूर्य योग है—उसकी रोशनी विभूति। और जहाँ बरफको ताप लगा वहाँ बरफ फिर पानी हो गया। बरफको गला देना यह तेजकी विभूति है।

एतां विभूतिं योगं च—हम अपने पितामहके पास रहते थे। योग था वह। एक दिन उनसे अलग होकर

रातमें कहीं गाड़ीपर जा रहे थे तो डाकुओंने घेर लिया। मैंने पुकारकर कहा—'मैं अमुकका पौत्र हूँ।' तो हाथ जोड़कर बोले—'पालागी महाराज! आप रातको क्यों अकेले आये?' घर पहुँचा दिया। यह हमारे पितामहकी विभूति थी, वैभव था। एक प्रभव होता, एक प्रभाव होता है। वह हमारे पितामहका प्रभाव था। **एतां विभूतिं योगं च।** हमें खूब दुःख हो रहा हो, भगवान् तो हमारे हृदयमें हैं। भगवान्के साथ तो हमारा योग है। अब इनका स्मरण कर लिया। स्मरण भगवान्की विभूति है। तुरन्त दुःख दूर हो गया। **हरिस्मृतिः सर्व विपद्-विमोक्षणम्**—भगवान्के स्मरणमात्रसे ही सारे दुःख दूर हो जाते हैं।

यह तो आपको मालूम ही है कि मनमें दो बात एक साथ नहीं रह सकती। बारी-बारीसे होती है। हमारी आँख एक बारमें दो उँगली नहीं देखती है। एक बार एक, फिर दूसरी, फिर दूसरी—लेकिन बहुत ही जल्दी-जल्दी देखती है। नेत्र-वृत्ति इतनी त्वरासे एकसे दूसरीपर जाती है कि हम वह काल ग्रहण नहीं कर पाते हैं। एक साथ एक चीज रहती है। हमारे मनमें दुःख भी रहे और भगवान्का स्मरण भी रहे, यह नहीं हो सकता।

आप भगवान्के दुःखोंकी याद कीजिये। भगवान्को कम दुःख थोड़े ही हुआ। भगवान् भी कहीं पत्नीके लिए रोते हैं। कहीं बापके लिए रोते हैं। कहीं भाईके लिए रोते हैं। राम भगवान्के जीवनमें क्या रोना नहीं है? लक्ष्मणके लिए रोना है। सीताके लिए रोना है। रोते हुए भगवान्का स्मरण करो और तुम्हारा रोना बिलकुल मिट जायेगा। क्या बतावें आपको—लोगोंको सुनानेमें भी डर लगता है, संकोच होता है कि किसीको अच्छा लगे, न लगे। हमने बच्चेके रूपमें भगवान्को देखा है। रोते हुए भगवान्को देखा है। दूध पीते हुए भगवान्को देखा है। चोरी करते हुए भगवान्को देखा है। छेड़छाड़ करते हुए भगवान्को देखा है। बँधते देखा है, भागते देखा है, हारते देखा है—और कड़वी बात बोल दें—मरते देखा है। डरनेकी बात नहीं है—सही-सही बात है।

भागवतमें तो लिखा है कि भगवान्का शरीर जलाया नहीं गया। योगाग्निद्वारा वह शरीर भस्म नहीं हुआ। पर महाभारतमें दग्ध होनेकी बात लिखी है—और जगन्नाथजीका तो सारा इतिहास ही इसी बातसे भरा है कि भगवान्का शरीर समुद्रमें बहता है। ये सारी-की-सारी विभूति है। और यह हमारे दुःखोंको दूर करनेके लिए विभूति है। हम दुनियामें जिस चीजको देखकर घबरा जाते हैं, उन रूपोंमें भी हम भगवान्को देख सकते हैं.

एतां विभूतिं च योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।

जो तत्त्व है इन रूपोंमें, उस तत्त्वको देखो, आकृतिको मत देखो। गाँधीजी योग हैं तो नेहरूजी विभूति हैं। हमने जान-बूझकर नाम लिया, क्योंकि आज नेहरूजीका जन्म-दिवस है। भगवान्का यह भव है, यह विभूति है। ये ग्रह, नक्षत्र, तारे भगवान्के वैभव हैं। पाल ब्रन्टन एक विदेशी था—वह उड़ियाबाबाजी महाराजसे बोला—महाराज कोई चमत्कार दिखाइये। कोई विभूति दिखाइये। बाबाने कहा कि देखो—एक बूँद पानी किसी पुरुषके शरीरमें-से टपक पड़ा और उसमें-से बना यह शरीर। यह चलता है, फिरता है, बोलता है—आगेकी बात सोचता है, पीछेकी याद करता है। बुद्धिमानीसे बड़े-बड़े काम करता है। तुमको अगर यह जीवन, यह शरीर चमत्कार नहीं मालूम पड़ता तो तुमको चिड़ियाकी तरह आसमानमें उड़कर दिखावें तब चमत्कार मानोगे?

देखो; यह आँखोंके सामने एक बूँद पानीका चमत्कार। इसमें मन भी है, इसमें बुद्धि भी है, इसमें

इन्द्रियाँ भी हैं, इसमें भूत-भविष्यका ज्ञान भी है। इसमें वर्तमानकी सामग्री भी है। यह है ईश्वरका चमत्कार— यह नहीं मालूम पड़ता? तत्वतः वस्तुके मूलको, रहस्यको पकड़ो। ऊपर-ऊपर तैर मत जाओ। लहराना विभूति है और शान्ति योग है। आप सोते हैं तो योग है। सपना देखते हैं तो विभूति है। वह आपके मनकी विभूति है। हमको महात्माओंने समझाया कि तुम्हारे अन्दर एक ऐश्वर्य है। जाग्रतकी सृष्टि ईश्वर बनाता है। और स्वप्नकी सृष्टि तुम बनाते हो। वहाँ धरती है, वहाँ पानी है, वहाँ आकाश है, वहाँ मीलों लम्बा स्थान है, वहाँ वर्षों लम्बा काल है, वहाँ अपने मित्र हैं, शत्रु हैं अपने मनका वैभव देखो!

इसने मित्रका रूप धारण किया, शत्रुका रूप धारण किया। दोनों लड़ने लगे। कौन लड़ रहा है? तुम्हारा मन ही शत्रु और मित्र बनकर लड़ रहा है। यह मन योग है और ये शत्रु-मित्र बनकर लड़ायी करना या प्यार करना—ये उसकी विभूतियाँ हैं। व्यवहारको भी देखो, परमार्थको भी देखो। किसीकी एक आँख होती है। वह कभी दाहिनी आँखसे देखता है—कभी बाँयीं आँखसे देखता है। हमें कभी भगवान्का परमार्थ-रूप देखना है, कभी उनकी विभूति देखनी है। केवल समाधिमें डूब नहीं जाना, केवल व्यवहारमें फँस नहीं जाना।

सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते।

हम दसवें अध्यायको विभूति-योग बोलते थे—जब ध्यान गया तो लगा अरे इसका नाम तो भगवान्ने विभूति-योग नहीं रखा है, इसका नाम तो भगवान्ने 'अविकम्प-योग' रखा है। **सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः।** अविकम्प माने जो कभी कम्पित न हो, विचलित न हो। स्पन्दित न हो। यहाँ है अभी अपने घरमें; मुम्बई है तो अपने घरमें, कलकत्तामें हैं तो अपने घरमें, वृन्दावनमें हैं तो अपने घरमें—जिसका घर भगवान् है, वह जहाँ है वहीं अपने घरमें है कि नहीं? यह अविकम्प-योग है। कभी अपने घरसे बाहर निकाला ही नहीं। न जाग्रत्में, न स्वप्नमें, न सुषुप्तिमें, न समाधिमें, न व्यवहारमें—

सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः यह हो गया अविकम्पयोग। हम रोते हुए भी भगवान्में हैं— हम हँसते हुए भी भगवान्में हैं। हम जन्मते हुए भी भगवान्में हैं। हम मरते हुए भी भगवान्में हैं। और लड़ते हुए भी भगवान्में हैं। जहाँ हैं वहीं भगवान्में। अविकम्प-योग, कभी भगवान् छूटता ही नहीं। **सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते।**

कुछ शंका रह गयी। बोले—मैं संशय मिटानेके लिए तो सब बता ही रहा हूँ। **नात्र संशयः।** क्या अर्जुन! तुम समझते हो, मैं ध्यान करता हूँ तब ब्रह्म हूँ और घोड़े हाँकता हूँ तब ब्रह्म नहीं हूँ? जब हम दोनों प्रेम करते हैं तब ब्रह्म हैं और जब आपसमें वाद-विवाद करते हैं तब ब्रह्म नहीं हैं? **नात्र संशयः।** कोई संशय मत करो। कभी परमात्मासे अलग होते ही नहीं। अलग होनेका भ्रम है—वेदान्त आगया। अलग होना नहीं है। अलग होनेका भ्रम है। न प्रतीतिमें अलग होते हैं, न प्रतीतिकी निवृत्तिमें अलग होते हैं। प्रतीतिकी निवृत्ति हुई तब भी परमात्मा और प्रतीति हो रही है, विश्वसृष्टि चल रही है—तब भी परमात्मा।

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥

श्रीमता भगवता गीता=श्रीमान् भगवान्ने इसका गान किया है। भगवता गीता=भगवद्-गीता—भगवान्ने गाया है, श्रीमती भगवती गीता भगवद्गीता! वाणीमें भगवान् हैं; हमारी वाणीके भीतर बैठकर कौन बोल रहा है? बोल रहा है वह योग है और जो वाणी बोल रही है यह भगवान्की विभूति है। यह वाणी योग है—शब्द विभूति है। **अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।** मैं सबका प्रभव हूँ। एक होता है प्रभव और एक होता है प्रभाव। प्रभव योग है और प्रभाव विभूति। भगवान्ने पहले ही बताया कि दूसरे लोग नहीं जानते—मैं ही जानता हूँ।

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः॥

मैं सम्पूर्ण देवताओंका, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र सबकी आदि मैं हूँ। और सम्पूर्ण ऋषियोंकी आदि मैं हूँ। परन्तु ये लोग मुझे जानते नहीं। आँख देखनेवालेको नहीं देख सकती। दूरबीन दूसरेको देखनेके लिए होती है, अपनी आँख देखनेके लिए थोड़े ही होती है?

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।

किसी भी देवता या ऋषिको मेरे प्रभव, मेरी उत्पत्तिका पता नहीं है। उत्पत्ति हो तब न! मेरी उत्पत्ति नहीं है। फिर तो सब अज्ञान ही होगा क्यों?

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।

भगवान्का जो जन्म है, उसको न कोई देवता जानते और न कोई ऋषि जानते, क्योंकि देवता और ऋषि जब नहीं पैदा हुए थे, जब आँख थी ही नहीं तब मैं था, जब कान था ही नहीं तब मैं था, जब जीभ थी ही नहीं तब मैं था—ये पट्ठे क्या जानेंगे हमको! ये तो अभी तीन दिनके बच्चे हैं और मैं अनादि महावृद्ध, मुझसे बड़ा बूढ़ा दुनियामें और कोई नहीं। ये मुझे क्या जानेंगे! बोले महाराज, आप तो जानते हो? बोले अपनी उत्पत्ति हम भी नहीं जानते कि हमारा जन्म कब हुआ, कहाँ हुआ, कैसे हुआ? पर सबका जन्म मुझसे हुआ, यह मैं जानता हूँ।

अहं सर्वस्य प्रभवः मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥

अहं सर्वस्य प्रभवः—यह तो योग और मत्तः सर्वं प्रवर्तते—यह है विभूति, सबको चलानेवाला। बिजलीका विश्वमें व्यापक होना यह योग है और पावर हाउसमें प्रकट होना यह विभूति है। और पावर हाउसमें बिजलीका होना योग है—बल्ब और पंखेमें, हीटरमें, रेफ्रिजरेटरमें प्रकट होना यह उसकी विभूति है। **अहं सर्वस्य प्रभवः—सर्वस्य**=जो कुछ गतिशील है उसका। सर्व शब्दका अर्थ गतिशील होता है। सृ धातुसे ही सर्व शब्द बना है—जो भी बदल रहा है दुनियामें, जो भी अनेक रूपमें दिखायी पड़ रहा है—जो भी परिवर्तनशील है, जो भी ज्ञानका विषय है—सबका प्रभव-सत्ता, मूलसत्ता, सर्वोपरि सत्ता मैं हूँ और सबका प्रेरक भी मैं हूँ।

इति मत्वा बुधा भवन्ति। जब इस बातको जान लेते है तब वे ज्ञानी हो जाते हैं। और **बुधा इति मत्वा मां भजन्ते।** जो ज्ञानी पुरुष हैं वे ये बात जानकर मेरा भजन करते हैं। और **इति मत्वा बुधा भवन्ति।** जो ऐसा हमको जान लेते हैं वे ज्ञानी हो जाते हैं। ज्ञानीका लक्षण क्या है? उनकी पहचान है—**माँ भजन्ते**—जहाँ देखते

हैं—ज्ञानी पुरुषको, नजर ही भगवान्‌पर होती है—आप ऐसे समझ सकते हैं। यहाँ सब स्त्री बैठी हैं। लेकिन यदि आपकी बेटी यहाँ बैठी हो तो आप उसको स्त्री नहीं समझेंगे। बेटी समझेंगे। माँको स्त्री नहीं समझेंगे। उसमें आपका भाव, आपका संस्कार जुड़ गया। उसमें स्त्रीत्व मात्र ही नहीं है। उसमें पुत्रित्व है, उसमें मातृत्व है, उसमें पत्नीत्व है। वह कहाँसे आगया? आपके हृदयमें-से ही निकलकर गया। स्त्रीत्व तो ईश्वरसे और मातृत्व, पत्नीत्व, पुत्रित्व गया है आपके हृदयमें-से। तो चीज जुड़ गयी और आप जब देखेंगे अपने हृदयका भाव, आप स्त्रीको नहीं देखेंगे।

यह जो बुध है, इसके विषयमें कुछ समझना है—बुध माने संसारके संस्कारसे मुक्त बुद्धिवाले बुध है—ज्यों-की-त्यों बुध है। बुध सोमका पुत्र है; अतः बुधमें सोमका सोमत्व—अमृत आगया और आनन्दका पुत्र जो बुध है, वह केवल ज्ञानका पुत्र नहीं है—आनन्दका पुत्र है। हम सच्चिदानन्दके पुत्र हैं। हमारा जीवन सत्‌का पुत्र है। हमारा ज्ञान चित्‌का पुत्र है। हमारा रस आनन्दका पुत्र है। हम सच्चिदानन्दके पुत्र हैं और आत्मा वै पुत्र नामासि। हम सच्चिदानन्द हैं। भजन्ते भावसमन्विताः। भाव वह है जो आनन्दसे भरपूर है, जिसके जन्म-मरणका कोई भय नहीं है। और भावसे भगवान्‌में जुड़ गया।

गीताका यह प्रसङ्ग बड़ा आनन्ददायक है। अब यह है कि यहाँ बैठकर व्यापारकी बात सोचोगे तब तो आनन्द नहीं आयेगा। उसको थोड़ी देर आफिसमें छोड़ दो। संसारके भोगमें क्या सुख होगा? बच्चे जब खेलमें लग जाते हैं तो उनको माँ-बाप भी भूल जाते हैं। आओ, भगवान्‌में लगो। 'रमन्ति' रम गये।

इसको व्याकरणके जो पण्डित हैं वे कहते हैं 'रमन्ति' नहीं बनता है। 'रमन्ते' होता है। आत्मनेपदी धातु है। भगवान्‌ने अपशब्द भाषण किया। 'रमन्ति' क्यों कहा? तो तुरन्त काशीका पण्डित बदल देता है। तुष्यन्ति च रमन्ति च। चरमन्ति-चरमाम् अवस्थाम् अनुभवन्ति—बस-बस, इसके आगे—आगे और कुछ नहीं—चरम अवस्थाका अनुभव। 'च' बादमें भी है। दो 'च' होना भी ठीक नहीं है। और 'रमन्ति' भी ठीक नहीं है। एक पण्डितने कह दिया 'गौरीशंकराभ्या नौमि'—अशुद्ध हो गया गौरीशंकराभ्याम् नमः होना चाहिए बोले—अशुद्ध नहीं है शुद्ध है—'गौरीशं कराभ्या नौमि'—शुद्ध हो गया। ऐसे पण्डित लोग करते हैं 'चरमन्ति च'। आओ रम जाओ!

सन्तोषका अनुभव करो, दुनिया नहीं चाहिए और रम जाओ इस परमात्मामें रमनेका उपाय क्या है।

मच्चित्ता मद्‌गतप्राणाः बोधयन्तः परस्परम्।

एक बार आओ, भगवान्‌के इस अमृतमय समुद्रमें, इस ज्ञानकी गङ्गामें, हृदयके आनन्दके फुहारेमें—एक बार स्नान करो।

मच्चित्ता मद्‌गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

प्रवचन : 6

(15-11-80)

सबके पिता हैं परमेश्वर, स्वामी हैं परमेश्वर और गुरु हैं परमेश्वर—जैसे पितासे पुत्र होता है और पिता पुत्रकी शिक्षाकी व्यवस्था करता है, और उसपर नियन्त्रण भी रखता है कि यह ठीक-ठीक चले। वैसे इस सम्पूर्ण विश्वका, जीवका, जगत्का पिता है परमेश्वर, शिक्षक है, गुरु है परमेश्वर और शास्ता, अन्तर्यामी है परमेश्वर। जो जीव परमेश्वर-भजन, उसकी सेवा नहीं करता है वह अपने स्थानसे च्युत हो जाता है। भगवान्ने जो मनुष्यका शरीर दिया है— जो स्थान दिया है, वहाँसे उसको नीचे जाना पड़ता है।

य एषां पुरुषं साक्षाद् आत्मप्रभवमीश्वरम्।
न भजन्त्यवजानन्ति स्थानाद् भ्रष्टाः पतन्त्यधः॥

(भागवत 11.5.3)

लोग कहते हैं—परिवारमें एकता रहनी चाहिए, परिवार सङ्गठित रहता है, धनवान रहता है। फिर लोग कहते हैं गाँव सङ्गठित रहना चाहिए। प्रान्त, जिला, सङ्गठित रहना चाहिए। एक आचार्यको माननेवाले राष्ट्र नहीं, विश्व मात्र मानवता सङ्गठित रहनी चाहिए। एकताका बड़ा महत्त्व है। पर उस एकताका आधार क्या है? प्रान्त, राष्ट्र भौगोलिक हैं। आचार्यका आधार साम्प्रदायिक है। राष्ट्रीयता दूसरे राष्ट्रका विरोध करती है। एक ईश्वर ही ऐसी वस्तु है जो हम लोगोंका अन्तर्यामी, स्वामी, शिक्षक, पिता है; हम सब एक पिताकी सन्तान हैं। यह संघठनका सबसे बड़ा आधार है। अपनी पिताकी सेवाके लिए, पतिकी सेवाके लिए, गुरुकी सेवाके लिए ईश्वरकी सेवा आवश्यक है और ईश्वरको पहचानते हैं, वे **बुधा भावसमन्विताः।**

भाव शब्दका अर्थ आप समझते तो हैं ही पर भावकी आवश्यकता तब पड़ती है जब दीखता हो कुछ और उसमें भावना की जाय कुछ—जैसे शालिग्रामकी शिला है। वैज्ञानिक रीतिसे आप उसकी परीक्षा करेंगे, तो वह भी एक खास तरहका पत्थर ही निकलेगा। परन्तु उसमें भाव किया जाता है कि यह साक्षात् विष्णु है। पति, गुरु, पिता भी मनुष्य दिखते हैं—और उसमें भाव किया है परमेश्वरका। जब आप यहे जाँच करने जायेंगे कि यह परमेश्वर है कि नहीं तो कुछ हाथ नहीं लगेगा—ठन-ठन गोपाल। लेकिन हमारे हृदयमें ईश्वरका भाव है। जिस हृदयमें ईश्वरका भाव है उस हृदयका अत्यन्त उत्तम कोटिका निर्माण होता है; शालिग्रामकी शिला ईश्वर हो तो या न हो, चतुर्भुज मूर्ति ईश्वर हो या न हो, पति, गुरु ईश्वर हो या न हो। जिसके हृदयमें ईश्वरका भाव होगा वह भाव ही ईश्वरका निर्माण कर लेगा।

यह बात समझनी है कि कोई वस्तु ज्यों-की-त्यों दिखेगी तो भाव बनानेकी क्या जरूरत है? वह तो आँख ही देख रही है। आँखसे दीख रहा है, दूसरी तरहका और हमारा हृदय बन रहा है—उत्तम-से-उत्तम सर्वोत्तम। यह अध्यात्म-विद्या, हृदयके निर्माणकी विद्या है, वस्तुके निर्माणकी विद्या नहीं है। आप लोहा

बनाइये, आप कपड़ा बनाइये, आप सीमेंट बनाइये, जो मौज हो सो बनाइये। बाहरकी चीजोंको बनाना दूसरा है और अपने हृदयको बनाना दूसरा है।

यह जो हमारी आत्म-विद्या है, यह हृदयको बनानेकी विद्या है—वस्तुओंको बनानेकी नहीं। इसलिए विद्वान् पुरुष अपने हृदयमें भाव करते हैं। दीख रहा है पीपलका पेड़ और हम भाव करते हैं कि यह साक्षात् वासुदेव हैं। पीपल तो पीपल ही रहेगा और हमारा हृदय वासुदेवाकार हो जायेगा। हम अपने हृदयमें भगवान्का दर्शन कर सकते हैं। यही भाव जब याद होता है तब हृदयमें परमात्माका दर्शन होता है। इस भावका व्याख्यान दें—इसे विस्तार कर सुनावें।

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥ (10.9-11)

शीशेमें जो आप अपनेको देखते हैं वह आपका स्वरूप नहीं है। **यो यत्श्रद्धः स एव सः।** आपकी श्रद्धा किसपर है? आपका प्रेम किसपर है? आप किसकी याद करके तन्मय हो जाते हैं? आपका स्वरूप वही है।

मुखड़ा क्या देखे दरपनमें तेरे दया धरम ना मनमें।

एक गुप्त रहस्य आपको सुनाता हूँ—वह यह है कि आपके मनमें क्या है? यदि आपका मन सूअरका ही चिन्तन कर रहा है तो मन शूकराकार हो गया है और आपका मन ही जब शूकर हो गया तो आपका बाहर जो वेश है, भूषा है, उसकी क्या कीमत है? सबसे बड़ी बात है अपने हृदयको बनाना। अपने हृदयका निर्माण। और हृदयका निर्माण करनेके लिए भावकी आवश्यकता है।

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥

गीतामें चित्तकी व्याख्या है। वैसे एक सन्तने हमको गीतापर दो टीका दी थी। एकका नाम था 'स्वयंविमर्श' और एकका नाम था 'स्वप्रकाश टीका'। अपनेको कहीं फिर बादमें देखनेको नहीं मिली। स्वयं विमर्शका अर्थ है कि गीताके शब्दका अर्थ ढूँढ़ो। उसमे ढूँढ़-ढूँढ़कर बताया गया। 'मच्चित्ताः' चित्त किसको कहते है? गीतामें ढूँढ़ते हैं।

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥
अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय॥ (12.8-9)

भगवान्ने कहाकि मुझमें अपना मन रख दो और मुझे अपनी बुद्धि दे दो। और फिर बादमें कहा कि 'अगर तुम अपना चित्त मुझमें समाहित नहीं कर सकते तो'—इसका अर्थ हुआ कि मनका प्यारऔर बुद्धिका विचार, दोनों जब भगवान्में लगेगा तब हम यह कहेंगे कि हमारा चित्त भगवान्में लग गया। 'मच्चित्ता'में जो चित्त शब्द है उसकी व्याख्या बारहवें अध्याय में मिल गयी। चित्त माने प्यार भी भगवान्से और विचार भी भगवान्का। थोड़ी देरके लिए हम आपको कुरुक्षेत्रके युद्धसे हटाके दूसरी ओर ले चलते हैं।

श्रीकृष्ण-अर्जुनका संवाद है। वैसे भागवतमें तो यह शैली अपनायी गयी है कि भीष्म पितामह शरशय्यापर सो रहे हैं और उनका मन है श्रीकृष्णकी रासलीलामें (दे०भा०1.9.32-42) शरशय्यापर पड़े-पड़े भीष्म सोच रहे हैं—क्या ललित-ललित चाल है! क्या विलासपूर्ण चेष्टा है! क्या मधुर मुसकान है! क्या प्रेम-पूर्ण चितवन है। गोपियोंके सामने आये और बोले पागल हो गयीं? ऐसी प्रेमान्ध हो गयीं गोपियाँ कि श्रीकृष्ण जैसी चेष्टा करते थे वे भी वैसी चेष्टा करने लगीं। वे भी चलने लगीं। वैसे ही बोलने लगीं। वैसे मुस्कराने लगीं। मनमें कृष्ण ऐसे भर गये कि इनका शरीर भी कृष्णके अनुकरणमें लग गया। वह गाँवकी गँवार थीं। लेकिन श्रीकृष्ण हो गयीं। श्रीकृष्णकी जो प्रकृति थी वही प्रकृति गोपियोंकी हो गयी।

शरशय्यापर पड़े हुए भीष्म गोपियोंकी तन्मयताका स्मरण कर रहे हैं। उस समय भीष्म क्या हैं? उस समय भीष्म कृष्ण हैं। उस समय भीष्म गोपी हैं? मन ही सब कुछ है। **मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः**। बन्धनका कारण मन है। मुक्तिका कारण मन है। जिसके मनमें जो भरा है,वह वही है। बाहरके खोलका महत्त्व नहीं है। सारा महत्त्व है मनका। उसीमें सुख है, उसीमें दुःख है। उसीमें प्रेम है, उसीमें द्वेष है। बाहरकी बातें आपके मनको कितना प्रभावित कर लेती हैं, इसपर ध्यान दें। हम 'मच्चित्ताः' की बात करते हैं—भागवतमें शुकदेवजीने गोपियोंका वर्णन किया। आप लोग सुन तो रहे हैं—गीता, पर अब मैं सुनाने लगा हूँ भागवत। कभी-कभी स्वाद बदल जाना चाहिए। कभी करेलेका साग मिलता है खानेको तो कभी सेवका हलवा मिलता है। शुकदेवजीने गोपियोंका वर्णन किया—

तन्मनस्कास्तदालापास्तद्विचेष्टास्तदात्मिकाः ।
तद्गुणानेव गायन्त्यो नात्मागाराणि सस्मरुः ॥ (10.30.44)

गोपियोंका मन हो गया कृष्ण; गोपियोंकी वाणी हो गयी कृष्ण; गोपियोंकी चेष्टा हो गयी कृष्ण; गोपियोंकी आत्मा हो गयी कृष्ण; कृष्णका गुम गाते-गाते अपने शरीरको भूल गयीं, अपने घरको भूल गयीं। उनका मन कृष्णाकार हो गया। शुकदेवजीने गोपीका वर्णन ऐसा किया।

गोपियोंके मनमें कृष्ण है, प्राणमें कृष्ण है, कृष्णके लिए उन्होंने सब कुछ छोड़ दिया है। और अपने मनसे कृष्णके पास आगया है और अपने आत्माके रूपमें कृष्णका अनुभव करती हैं। इसीको बोलते हैं 'गोपी'। 'गो' माने इन्द्रियाँ और 'प' माने होता है, पीनेवाला। इन्द्रियोंसे जो भगवद्रसका पान करके बोलते हैं गोप—**गोभिः पिबन्ति इति गोपाः तेषां पत्न्यः गोप्यः**। योगी ध्यानमें ईश्वरका आनन्द लेते हैं और ब्रजवासी इन्द्रियोंमें ईश्वरका आनन्द लेते हैं। गोकुल माने सब इन्द्रियोंसे—कानसे कृष्णको सुनें, त्वचासे कृष्णको छूएँ,

आँखसे कृष्णको देखें, नाकसे कृष्णको सूँघें, जीभसे कृष्णको चाटें—हृदयसे श्रीकृष्णका आलिंगन करें। ब्रजवासियोंकी समग्र इन्द्रियाँ, सम्पूर्ण इन्द्रियाँ श्रीकृष्णमें लग गयी हैं।

मच्चित्ताः—गोपी देखती है हरिणीको—तो उसका ध्यान होता है, इसको ये बड़ी-बड़ी आँखें, कृष्णको देखनेके लिए हैं। वे देखती हैं गायको प्रसन्न—श्रीकृष्णका स्मरण करके प्रसन्न हो रही हैं। वे देखती हैं धरतीपर दूर्वा—श्रीकृष्णके चरण-स्पर्शसे यह रोमाञ्च हो रहा है। वे देखती हैं वृक्ष और स्मरण करती हैं कृष्णको जो वृक्षके नीचे लटक रहा है। इससे मधुधाराका क्षरण हो रहा है। यह कमल खिल रहा है—कमलनयन-कमलनयन-कमलनयन। कृष्ण-कृष्ण-कृष्ण! मच्चित्ता मद्गतप्राणाः—यह एक सृष्टि ही दूसरी है! यह भक्तकी सृष्टि है। यह कमाईका सुख नहीं है। यह संग्रहका सुख नहीं है। यह भोगका सुख नहीं है। यह अपने बड़प्पनका सुख नहीं है। यह अपने भावका सुख है। एक बार अपने भावमें मग्न हो जायँ। गोपी देखती हैं गिरिराजमें झरना बह रहा है। बोले—श्रीकृष्णका पाँव पखारनेके लिए देखती हैं—यहाँ खड़िया मिट्टी है कि गेरू है— तो श्रीकृष्ण जब नटका वेष बनाते हैं, तो यह है उनका शरीर रँगनेके लिए। फूल खिले हैं। वे उनके शृङ्गारके लिए हैं। ये मणि हैं—उनके शृङ्गारके लिए। ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिसको देखकर गोपीका मन कृष्णकी ओर न जाता हो।

जब वह जमुनाका तट देखती हैं—मन वही हो जाता है। आपको न आता हो तो हम कहते हैं कभी-कभी आप पिकनिक भी तो करते हैं न! आप अपने घरमें रहिये—अपने ढंगका खाइये, पीजिये, मौज कीजिये, पर कहीं कभी जंगलमें भी हो आइये। कभी पहाड़में भी हो आइये। कभी अपने मनको भी पिकनिक करा दीजिये। ले चलिये 'मन वे जात अजौं...वा जमुनाके तीर'—अपने मनको वर्तमान शृङ्खलाओंसे—वर्तमानमें जो जँजीरें हैं, उनसे थोड़ी देरके लिए निकालिये। गोपीका मन कैसा है? श्रीकृष्णको हृदयसे निकाल देनेके लिए योग कर रही है गोपी। योगी लोग चाहते हैं कि हमारा मन भगवान्‌में लग जाय और योगाभ्यास करते हैं; गोपी योगाभ्यास करती है—घरका काम नहीं हुआ—इस कारे कृष्णको अपने मनसे निकाल दें। आओ प्राणायाम करके निकाल दें। मयूरकी पाँख कहीं पड़ी हुई मिल गयी—शरीर काँप गया। घूमचीका दाना कहीं दिख गया, आँखोंसे आँसू बहने लगे। यह क्या चमत्कार है? यह चमत्कार है कि हमारा चित्त कृष्णमय हो गया।

मच्चित्ता मद्गतप्राणाः बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।

मत्प्राणाः—गोपियोंका प्राण कहाँ है? उनका जीवन क्या है। गाँधीजीसे किसीने कहा—मरनेका समय आरहा है, रामका नाम ज्यादा लो। गाँधीजीने कहा राम-नाम तो हमारी खुराक है। उसके बिना तो मैं जी नहीं सकता। राम-राम तो हमारी साँसमें भरा है। हमारा प्राण है। जैसे भोजनके बिना मनुष्य नहीं रह सकता, वैसे राम-नामके बिना मैं नहीं रह सकता। गोपी कहती है—देखो तो सही, हमारा प्राण तो तुममें रहता है, तुम्हीं हमारे जीवन-सर्वस्व हो, गोपी बोलती है—तुम्ही हमारी आयु हो— तुम्ही हमारे जीवन हो—

चित्तं सुखेन भवतापहृतं गृहेषु यन्निर्विशत्युत करावपि गृह्यकृत्ये। (10.29.34)

तुमने हमारा मन चुरा लिया, लूट लिया और आसानीसे लूट लिया। कोई परिश्रम नहीं करना पड़ा। नूपुर बजाकर लूट लिया। बाँसुरी बजाकर लूट लिया। अपना सौन्दर्य दिखाकर लूट लिया। अपनी सुगन्धसे लूट लिया, तुमने हमारा मन।

कृष्ण, कृष्ण, कृष्ण नाम सुना—'कृष्ण नाम जब तें श्रवण सुन्यो री आली, भूलीरी भवन हौं तो बाबरी भई री।' रोज गीता सुनते हो—यह गीता है **मच्चित्ता मद्गतप्राणाः।** गोपी कहती है हम तुम्हें ढूँढ़ लेंगे। तुम हो हमारे प्राण! हमारा प्राण खो गया—साँस बाहर निकलती है और निकलकर फिर आती है। प्राणका नियम तो यही है। निकल जाये और लौटकर आवे नहीं तो मृत्यु हो गयी न! अरी गोपियों, तुम हमारे विरहमें भी इस प्रकार ढूँढ रही हो, बोल रही हो, रो रही हो, हमसे अपना प्राण तुम्हारे पास तुम्हारे शरीरमें रख दिया है, अब मौत आती है ढूँढ़ने, विरहिणीको—इस विरहिणीको मार डालें। हमारे शरीरमें ढूँढ़कर देखती है मौत—प्राण तो मिलता ही नहीं। क्योंकि इस शरीरमें हो तो मौत निकालकर ले जाय। इस शरीरमें तो हमारे प्राण हैं ही नहीं। तुम्हारे शरीरमें हमारे प्राण रखे हुए हैं और हम तुम्हें वन-वनमें ढूँढ़ें—

दयित दृश्यतां दिक्षु तावकास्त्वयि धृतासवस्त्वां विचिन्वते। (भाग० 10.31.1)

हमारी आँख हमारी आँख नहीं है। तुम्हारी आँख है। हमारा मन हमारा मन नहीं है—तुम्हारा मन है। जैसे अपने प्राण अपनेको प्रिय होते हैं। ऐसे जब तुम रातमें घूमते हो—हम तुम्हें अपने हाथसे छूती हैं तब डर लगता है कि हमारी कठोर उँगली तुम्हारे शरीरमें गड़ न जाय! गुलाबकी पंखड़ी तुम्हारे सुकुमार शरीरमें लगकर कष्ट न पहुँचावे और तुम काँटेपर घूम रहे हो? कंकड़पर घूम रहे हो? हमारा माथा चकरा रहा है; क्योंकि हमारी आयु, हमारे प्राण हमारे सर्वस्व तुम हो!

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।

जब चार भक्त बैठते हैं तो एक वक्ता बन जाता है, बाकी श्रोता बन जाते हैं—आप चार मित्र कभी बिना कामके भी मिलकर बैठते हैं तो क्या बात करते हैं? मौसमकी बात करते हैं। रशियाकी बात करते हैं, अमेरिकाकी बात करते हैं, चाइनाकी बात करते हैं। आपको यह नहीं लगता कि हम बेकार बोल रहे हैं? कभी आपके मनमें यह बात नहीं आती कि न तो हम चाइनापर आक्रमण करने जा रहे हैं, न तो रशियाकी शासन-पद्धति अपने देशमें चलाने जा रहे हैं। और न अमेरिकाके राष्ट्रपति होने जा रहे हैं। किस बातकी चर्चा? किस बातकी चर्चा करते हैं आप? एक दूसरेसे ऐसी चर्चा कीजिये कि उसका हृदय भी पवित्र हो, आपका हृदय भी पवित्र हो।

आप अपने कपड़ेका ख्याल रखते हैं कि कोई दाग न पड़े। देखा है—एकके कपड़ेपर एक बूँद चाय गिर पड़ी, मेरे सामने। हमको पता नहीं वे श्रीमतीजी यहाँ है कि नहीं? वे बोलीं कि दस रुपये हमारे खराब हुए। आप इस सभामें अपने कपड़ेका तो इतना ध्यान रखते हैं और शरीरपर कितना साबुन, कितना स्नो, कितना पाउडर लगाते हैं। एक जगह गया था वहाँ शरीरको दिव्य बनाया जाता था। मैंने देखा—पूछा कि आपके

शरीरपर महीनेमें कितना साबुन खर्च होता है? जो साबुन लगाते हैं, उसीमें रंग होता है। उसीमें चिकनाई होती है। उससे सारा-का-सारा शरीर रंग जाता है। आप शरीरके लिए कितना समय, कितना श्रम, कितनी बुद्धि खर्च करते हैं, पैसेकी बात जाने दें। उसमें क्या रखा है? पैसा तो जहाँसे आता है वहीं जाता है। कोई हीरा-मोती लेकर आजतक न गया है, न आया है। धरतीमें ज्यों-के-त्यों रहता है—'मेरा-मेरा' मानते हैं चले जाते हैं। शरीरको अच्छा बनानेके लिए आप ध्यान देते हैं न! ध्यान रखना चाहिए। हम मना नहीं करते हैं।

आप अपने मनको अच्छा बनानेके लिए कितना ध्यान रखते हैं? आपका शरीर आप अच्छा रखिये। आपका कपड़ा आप अच्छा रखिये। पर आपके जीवनमें मन भी तो एक चीज है। और वह बहुत महत्त्वपूर्ण है। अच्छे कमरेमें अच्छे पलङ्गपर सो रहे हों—रातको नींद टूटे और आपका मन बिगड़ जाय—सब कुछ बिगड़ जायगा। न कमरा अच्छा लगेगा, न पलङ्ग अच्छा लगेगा, न कपड़ा अच्छा लगेगा।

आपको सच्ची बात सुनाते हैं—एक लड़कीके शरीरपर हीरे फिट करनेके लिए कि कौन-सा आभूषण उसको ठीक बैठेगा, अमेरिकासे उसका जानकार बुलाया गया था मुम्बईमें। उसके बाल ठीक करनेके लिए लन्दनसे बाल ठीक करनेवाला बुलाया गया था। यह मैं कल्पनाकी बात नहीं कर रहा हूँ। बनाया हुआ बाल मैंने हाथ लगाकर देखा। मैंने कहा—भाई, नाईके आने-जानेमें दस हजार खर्च हुए हैं लन्दनसे, तो उसने बाल कैसा बनाया है वह मैं देखूँ तो सही! मैंने उस लड़कीको बुलाकर उसके सिरपर हाथ रखकर देखा कि उसका बाल कैसा बना है? शरीरका इतना ख्याल और आपका जो रत्न है, रत्नोंका रत्न है, हीरोंका हीरा है आपका मन, उसका ख्याल नहीं?

चार दीवाने इकट्ठे हुए। भगवान्‌की चर्चा चलने लगी। वे सुनते हैं, एक बोलते हैं। वे बोलते हैं, एक सुनते हैं। गोपियाँ इकट्ठी होती थीं—क्या बढ़िया, दो तीन जगह। गोपियाँ जो परस्पर बात करती हैं—उसकी चर्चा श्रीमद्भागवतमें है।

वामबाहुकृतवामकपोलो वल्गितभ्रूरधरार्पितवेणुम्।
कोमलाङ्गुलिभिराश्रितमार्गं गोप्य ईरयति यत्र मुकुन्दः॥

(भाग. 10.35.2)

बायें भागकी ओर उनका कपोल लटकता है। बाँहें फड़कती हैं। अधरोंपर बाँसुरी रहती है। हाथ बाँसुरीके छेदपर चलते हैं। उसमें-से स्वरलहरी निकलती है—तो ऐसे लगता है कि सम्पूर्ण विश्वका आलिङ्गन करते हैं। अपने हृदयसे सम्पूर्ण विश्वको लगा लेते हैं। भागवतमें दशम स्कन्धमें ऐसे प्रसंग बहुत हैं, जहाँ चार गोपियाँ इकट्ठी होकर कृष्णके विषयमें बात करती हैं। जैसे—गोपियाँ वीणा लेकर बैठ गयीं और उसपर श्रीकृष्णकी माधुरी, उनकी चातुरी, उनकी निपुणता, उनकी प्रेमभरी चितवन, उनकी अनुग्रह-भरी भौंहें, उनकी वह मन्द-मन्द मुसकान देखती जाती हैं और वीणापर गाती जाती हैं। *'लखी जिन लालकी मुसकान'—'मनमोहन जाकी दृष्टि परत ताकी गति होत हैं—और, और न सुहात भवन, तन, असन, बसन, वन हीको धावत दौर-दौर मनमोहन जाकी दृष्टि परत।'*

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
...............कथयन्तश्च मां नित्यम्॥

भागवतमें लिखा है कि भगवत्प्राप्तिका यही साधन है। वक्ता मिल जाय तो भगवान्‌को सुनो और श्रोता मिल जाय तो भगवान्‌को सुनाओ और दोनों न मिलें तो स्वयं गुनगुनाओ—सिनेमाका गीत नहीं। *'ग्वालिनी प्रकट्यो पूरन नेहु। दधि भाजन सिर पे लिए कहति गोपालहिं लेहु।'* उसके सिरपर है दहीका मटका और बोल रही है कोई गोपाल ले लो। कोई गोपाल ले लो। कोई दही लेगा—दही लेगा भूल गयी। 'दधिको नाम बिसर गयी ग्वालिन'। कोई कृष्ण लेगा, कृष्ण, कोई गोपाल लेगा-गोपाल—ऐसा बोलने लगी। इस प्रकार श्रीकृष्णके चरित्रमें, रामके चरित्रमें, भगवान्‌के चरित्रमें अपने मनको डुबो दो।

कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च।

आप अपने सन्तोषको, होशको, सुखको दूसरोंके अधीन मत करो। आप अपने सुखका, सन्तोषका, ऐसा साधन रखो जो आपके अधीन हो। यही सुखकी परिभाषा है। हम सुख चाहते हैं। किसके लिए? सुख हम चाहते हैं सुखके लिए। एक बार पत्र-पत्रिकाओंमें एक चर्चा चली थी, कला, कलाके लिए। कला, कलाके लिए नहीं होती—कला सुखके लिए होती है। धन सुखके लिए होता है। परिवार सुखके लिए होता है। जगह-जायदाद सुखके लिए होती है। परन्तु सुख किसके लिए होता है। सुख धन पानेके लिए नहीं होता, धन सुख पानेके लिए होता है। सुख पाकर हम किसी और चीजको पाना नहीं चाहते हैं और चीज जब पाते हैं तब वह सुखके लिए पाते हैं। इसलिए दूसरी वस्तुकी इच्छाके अधीन सुखकी इच्छा नहीं है। बल्कि सुखकी इच्छाके अधीन दूसरी इच्छाएँ हैं।

दोष देखकर प्रेम घटता नहीं। गुण देखकर प्रेम बढ़ता नहीं। प्रेम गुणके अधीन नहीं है। दोष प्रेमको काट नहीं सकता। और गुण प्रेमको बढ़ा नहीं सकता। दूर जानेसे न प्रेम घटता है, न बढ़ता है। देर होनेसे न प्रेम घटता है, न बढ़ता है और पराया हो जानेपर भी न प्रेम घटता है, न बढ़ता है। तुम उन ही-के रहो। यह जो स्वाधीन, स्वावलम्बन, स्वातन्त्र्य, परमसुख परमात्माके चिन्तनमें—परमात्माके ध्यानमें होता है, उसमें कोई पराधीनता नहीं। इसमें कुरसीकी जरूरत नहीं, पदकी जरूरत नहीं, धनकी जरूरत नहीं। अपने स्वयंमें अपने प्रेममें मगन हैं।

तुष्यन्ति च रमन्ति च। आपका आनन्द कहाँ है? आपका सुख कहाँ है? पहले हमारी नानी कहानी सुनाया करती थी—एक दैत्य था उसकी जान तोतेमें रखी हुई थी। वह दैत्य मरता नहीं था। जब पता लग गया कि उसकी जान कहाँ है—तोता मारा गया, तब दैत्य मरा। आपका सुख कहाँ है? आपने तो अपना सुख ही दूसरेके घरमें रख दिया। चाँदीमें रख दिया। सोनामें रख दिया। नोटके बण्डलमें रख दिया। आओ, भगवान्‌में रखकर देखो तो—'तुष्यन्ति'। भगवान्‌का स्मरण आवे और आनन्द आ जावे। शरीरमें रोमाञ्च हो रहा है। भक्तिसे मन आनन्दित हो रहा है। आँखमें प्रेमके आँसू आरहे हैं। कण्ठ गद्‌गद हो रहा है। हृदय आनन्दसे भर

रहा है। हमको तो एक क्षणका भी अवसर नहीं है कि हम किसीसे मिलें कि हम किसीसे जुलें कि किसीसे बात करें। कृष्ण, कृष्ण, कृष्ण!

चलो तुम्हें मुक्तिके पास ले चलें। बोले, हमको फुरसत नहीं है। हमको मुक्तिमें जानेकी फुरसत नहीं है। हमें तो यहीं मुक्तिका परमानन्द मिल रहा है। यह जो भक्ति और वेदान्त है, यह मरनेके बादकी चीज नहीं है। इस विषयमें लोगोंको भ्रम है। यह तो मौलवी, पादरी, पुरोहित जो मजहबी मुल्ला लोग होते हैं—उन लोगोंने यह बताया कि मरनेके बाद स्वर्ग, बहिश्त मिलता है। हमारा कोई आध्यात्मिक गुरु मरनेके बादकी चर्चा नहीं करते हैं। यहीं लो, जीवन-मुक्ति। भक्ति तृप्त आनन्द है—तृप्त माने इसी जीवनके आनन्दका नाम भक्ति है। इसी जीवनके आनन्दका नाम ज्ञान है। परन्तु ऐसा आनन्द जिसमें पराधीनता बिलकुल नहीं—जिसमें समयकी जरूरत नहीं, स्थानकी जरूरत नहीं, वस्तुकी जरूरत नहीं, किसीके अनुग्रहकी जरूरत नहीं—यह तो साक्षात् आनन्द है। **तुष्यन्ति च रमन्ति च**। इसीमें रम जाते हैं। इसीमें सन्तोषका अनुभव करते हैं।

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

तेषां सततयुक्तानां—मनकी वीणा बजाओ। यह बात सबको मालूम न हो। 'तत्' शब्दका संस्कृत भाषामें अर्थ होता है—वीणा, ताना-बाना जैसे कपड़ेमें होता है—तार-तन्त्री, तत् उसी धातुसे बनता है जिस धातुसे तन्त्री शब्द बनता है। 'सततम्' माने 'ततेन संहितम्' वीणासहित। उठाओ वीणा। मनकी वीणापर हृत्तन्त्रीके तार बज रहे हैं—उसमें कौन-सा स्वर बोल रहा है? उसमें सारा स्वर कृष्णका स्वर है। उनकी बाँसुरीसे मिलकर बोल रहा है। हमारी वीणा, कृष्णकी वंशीके साथ मिलकर बज रही है। देखो-देखो बादल ठिठक गये। तुम्बरु गन्धर्व सी-सी करने लगे। सनन्दन-सनकादिका ध्यान टूट गया। ब्रह्मा आश्चर्य चकित हो गये कि हो क्या रहा है। यह बज रही है श्रीकृष्णकी बाँसुरी और उसमें मिल रही है हमारी हृदय-वीणा। हमारी हृदय तन्त्रीके तार मिल रहे हैं उसके साथ। क्या आनन्द है, आनन्द ही आनन्द है!

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।

प्रीति चाहिए। बोलें तो शब्दोंमें थोड़ी-सी प्रीति भरदें। हाथसे छूयें तो हाथमें थोड़ी प्रीति भर दें। आपके हृदयकी प्रीति घटेगी नहीं। कम नहीं होगी। कुएँ जैसे जितना पानी निकालोगे, उतना ही नीचेसे और आता जायगा और भी पवित्र। देख-देखकर प्रीति मत दो। जो सामने आजाय, पेड़-पौधेको भी प्रीति दो। कुत्ते बिल्लीको भी प्रीति दो। धर्मात्मा लोगोंको छोड़ दो—वे कुत्ता नहीं छूते, कोई बात नहीं। प्रीति देनेमें छूनेकी भी क्या जरूरत है? पशु-पक्षीको भी प्रीति दो—पेड़-पौधेको भी प्रीति दो। जो तुम्हारे सामने आजाय, तुम्हारी आँखोंमें-से प्रेम बरस पड़े। जिसको तुम छूओ वह आनन्दसे भर जावे। जिसकी ओर देखो, अपने हृदयकी प्रीति उसके ऊपर उँडेल दो। कञ्जूस बनाकर तुम्हें नहीं भेजा गया है। तुम्हें हृदय दिया गया है। तुम्हारे हृदयमें सद्भाव दिया गया है। सब परमात्माका स्वरूप है। सूर्य परमात्मा है। चन्द्रमा परमात्मा है। ग्रह नक्षत्र, तारे, परमात्मा हैं। ये वृक्ष-लता परमात्मा हैं। ये स्त्री, पुरुष परमात्मा हैं।

भजतां प्रीतिपूर्वकम्।

अपने हृदयको, अपने नेत्रको, अपने इन्द्रियको खूब पवित्रसे पवित्रतम् रसमय, मधुमय, लास्यमय बना दो। प्रेम करने लगें तो महाराज, जिन्दगी भर बेवकूफ ही रहेंगे? बोलते हैं—नहीं भाई, तुम करो प्रेम, मैं देता हूँ बुद्धि, बँटवारा कर लो। भगवान्‌ने कह दिया—

भजतां प्रीतिपूर्वकम् ददामि बुद्धियोगम्।

प्रेम तुम्हारा, बुद्धि मेरी। आओ, हो गया दोनोंका योग। जब तुम मुझसे प्रेम करोगे तो तुम्हारे लिए और सारी दुनियाके लिए बुद्धिकी जितनी जरूरत पड़ेगी, वह मेरा खजाना खुला है, लो हमसे बुद्धि—

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।

महाराज, कैसी बुद्धि देंगे? भोग करनेकी बुद्धि देंगे, संग्रह करनेकी बुद्धि देंगे—कर्म करनेकी बुद्धि देंगे? कौन-सी बुद्धि देंगे? देखो, मैं वह बुद्धि दूँगा—

ददामि बुद्धियोगं तं येन बुद्धियोगेन माम् उपयान्ति।

मेरे अधिक-से-अधिक निकट तुम आजाओगे। मन्त्रीकी निकटता और सेठोंकी निकटता प्राप्त करनेके लिए कितनी चापलूसी करनी पड़ती होगी और सेठ लोग तो चापलूसीसे खुश भी हो जायँ, मिनिस्टर लोग तो आजकल चापलूसीसे खुश नहीं होते हैं। उनको कलदार चाहिए। कौन-सी बुद्धि दोगे? बोलो तो? बोले—येन मामुपयान्ति—जिससे मेरे निकट आजाओगे। आना चाहते हैं मेरे पास! तो मेरे पास आनेकी बुद्धि मैं दूँगा। 'कदम्ब तरे आजइयो'—यह तो ब्रजकी भाषा है। आप लोगोंको शायद अच्छी न लगे। भगवान्‌ने कहा—तुम मुझसे मिलना चाहते हो तो उस कदम्ब वृक्षके नीचे आजाना। मैं वहाँ मिल जाऊँगा। यह बुद्धियोग है। कहाँ जानेसे भगवान् मिलते हैं? जरा बाहरकी जगह आँखमें आजाओ न! आँखकी जगह दिलमें आजाओ। दिलकी जगह चेतनमें आजाओ और चेतनको ब्रह्मसे एक कर लो।

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।
तेषामेवानुकम्पार्थं अहमज्ञानजं तमः॥
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता।

मैं तुम्हारे रास्तेमें ऐसी मशाल लेकर खड़ा हो जाऊँगा—बुद्धि देनेवाला मैं, मशाल दिखाकर रास्ता बतानेवाला मैं, और मिलानेवाला मैं।

तेषामेवानुकम्पार्थं अहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्ति

●

प्रवचन : 7

(16-11-80)

अम्ब त्वाम् अनुसन्दधामि। गीता माता—अम्ब—वर्णमयी। अम्ब शब्दका अर्थ है शब्दमयी-वर्णमयी, वाङ्मयी माँ,त्वाम् अनुसन्दधामि—तुम्हारा अनुसन्धान करती हूँ। माँका अनुसन्धान क्या है? जैसे बच्चा माँका दूध पीता है, वैसे गीता माँका जो दूध है—गोपालके द्वारा दुहा हुआ, अर्जुन बछड़ेने जिसका पान किया— यही माँका अनुसन्धान है। 'अविकम्प योग' विभूति योगकी जगह स्वयं भगवान्ने दसवें अध्यायको 'अविकम्प योग' नाम दिया है।

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः॥

ऐसा योग जो सुषुप्तिमें भी रहे। स्वप्नमें भी रहे, जगत्में भी रहे, समाधिमें भी रहे। ऐसा योग हो। पेड़-पौधा देखते समय भी रहे, पति-पत्नीमें प्रेम करनेके समय भी रहे; घरका काम करते समय भी रहे। बालकोंसे हँसते-खेलते भी रहे। इस अविकम्प योगकी विचित्रता यह है कि वह व्यवहारमें भी रहता है, और समाधिमें भी रहता है। अविकम्प योग वह है, जो शान्तिमें भी रहे और विक्षेपमें भी रहे। कभी विकम्पित न हो। एक सरीखा योग।

एक भक्त है, रोता है भगवान्के लिए। तब भी भगवान्से योग है, और हँसता है भगवान्को देखकर तब भी भगवान्से योग है, क्योंकि उसका चित्त भगवान्के साथ लगा हुआ है। भगवान् ज्ञान है, भगवान् प्रेम हैं। आप चाहे घड़ा देखो, चाहे कपड़ा, चाहे मेज देखो चाहे कुरसी—ज्ञान आपको छोड़कर कहीं गया? यह बात दूसरी है कि सूर्यकी रोशनी किस चीजपर पड़ रही है, पर सूर्यकी रोशनी तो रोशनी ही है। ज्ञान तो ज्ञान है। वह चाहे मेज-कुर्सी देखे, चाहे मन्दिरमें मूर्ति देखे। मूर्ति अलग है और कुर्सी-मेज अलग है, परन्तु ज्ञान तो वही है जो आपके भीतरसे, आँखके झरोखेसे झाँक रहा है।

श्री उड़िया बाबाजी महाराजसे एक बार किसीने पूछा—महाराज, एक साथ कइयोंसे प्रेम हो सकता है? बोले कि माँ अपने बच्चेसे प्रेम करती है कि नहीं—अपने भाईसे, पितासे, पतिसे प्रेम करती है कि नहीं? सबसे सच्चा करती है कि झूठा-झूठा करती है। उसका पितासे भी सच्चा प्रेम है, भाईसे भी सच्चा प्रेम है, माँसे भी सच्चा प्रेम है, पतिसे भी सच्चा प्रेम है।

यह ज्ञान है, यह प्रेम है। और यह अपना जीवन है, यह तो सबके साथ जुड़ा हुआ है। आकाशसे जुड़ा हुआ ही वायुसे जुड़ता है। वायुसे जुड़ता हुआ ही तेजसे जुड़ता है। तेजसे जुड़ा हुआ ही जलसे जुड़ता है। जलसे जुड़ा हुआ ही पृथिवीसे जुड़ता है। जीवन एकाङ्गी नहीं होता है। न जीवन एकांगी होता है, न प्रेम एकाङ्गी होता है और न ज्ञान एकाङ्गी होता है। जीवन सबका हित करनेके लिए है। प्रेम सबको सुख पहुँचानेके लिए है। ज्ञान सबको प्रकाश देनेके लिए है। आपका ज्ञान सबको प्रकाशित करे। आपका प्रेम सबको सुख दे। आपका जीवन सबकी सेवा करे। सोये भी उसीके लिए, जागे भी उसीके लिए। जो सबके जन्मका कारण है, वह सबमें भरा हुआ है।

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥

अहं सर्वस्य प्रभवः में गायत्रीका पहला अंश है। **सवितुर्देवस्य**—सबका सृष्टि कर्त्ता वही प्रभु है। **अहं सर्वस्य प्रभवः**। प्रभवः माने सविता—'प्रभवति अस्मात् इति प्रभवः',जिसमें सबका जन्म हुआ, सबकी उत्पत्ति हुई, जो सबका कारण है और **मत्तः सर्वं प्रवर्तते**। गायत्रीका जो तीसरा पाद है **धियो यो नः प्रचोदयात्**। **मत्तः सर्वं प्रवर्तते**। गायत्री ही तो हुई न! वेदान्ती लोग इसमें एक चीज और जोड़ देते हैं। वह क्या है? जो सारी सृष्टिका कर्त्ता है, कारण है, प्रभव है, उद्भव है वही बुद्धि-प्रेरकके रूपमें वह त्वं-पदार्थ है और समानाधिकरण्य होनेसे दोनों एक हैं। इसका अर्थ हो गया, जो परमात्मा है सो आत्मा है—जो आत्मा है सो परमात्मा है।

गायत्रीमें महावाक्य आगया—हमारी नाकसे बाहर आने-जानेवाली साँस वायुसे अलग कहाँ हैं? जो वायु है सो साँस है। जो साँस है सो वायु है। **अहं सर्वस्य प्रभवः**। भगवान् सबकी उत्पत्ति, स्थिति, गतिके हेतु हैं—वही सबके जीवनके मूल तत्त्व हैं। वही सम्पूर्ण ज्ञानके रूपमें प्रकाशित हो रहे हैं। वही सबके अन्दर परमानन्द हैं। **इति मत्वा भजन्ते मां बुधाः**। ज्ञानी पुरुष इस बातको समझते हैं। समझते हैं माने—खिलौना चाहे कुछ भी हो मशाला एक है। ज्ञान चाहे कुछ भी, किसी-किसीका भी हो, कुछ-कुछका भी हो, पर ज्ञान एक है।

रस एक है—वह चाहे राधा-कृष्णसे हो, चाहे सीतारामसे हो, रस एक है। ज्ञान एक है। तब फिर भूतने समझा, विद्वान्ने समझा कि सब कुछ वही है। अब वह जहाँ देखता है, वहीं उसका भाव लग गया। **भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः**। यह भी भगवान् है, वह भी भगवान् है। यह राजनैतिक नेताका जीवन नहीं है। यह महात्माका जीवन है। यह पार्टीबन्दीवाली बात नहीं है। पार्टी तो बहुत संकीर्ण होती है। यह सम्प्रदाय नहीं है, यह मजहब नहीं है। यह जाति नहीं है। यह लिङ्ग भेद नहीं है। यह भगवान् है। जो सब लिङ्गोमें है, सब जातियोंमें है, सब सम्प्रदायोंमें है, सब राष्ट्रोंमें है।

आप अपने मनको छोटा क्यों बनाते हैं? सबमें वही है तो 'भावसमन्विताः' का अर्थ हुआ—यह देखो श्याम, वह देखो श्याम। राजा परीक्षितके जीवनका भागवतमें वर्णन आया है कि गर्भमें उन्होंने

भगवान्‌का दर्शन किया था। तो वह ध्यान बना रहता था—जिसको देखत झट मनमें आता—कहीं वही तो नहीं है जो गर्भमें मुझे दर्शन दे गया—कहीं वही तो नहीं आ रहा है? परन्तु संशय भी होता तो भगवान्‌के लिए होता। कहीं यह रावण तो नहीं आरहा है, कहीं यह कंस तो नहीं आ रहा है—यह संशय नहीं होता। संशयमें भी भगवान् है।

भागवतमें आया **विकल्पः ख्यातिवादिनाम्** (11.16.24) जितने सत्‌ख्यातिवाले हैं उनमें आप कौन हैं? बोले—विकल्पः ख्यातिवादिनाम्—ऐसा भी मैं, वैसा भी मैं। यह भी मैं, वह भी मैं। यहाँ भी मैं, वहाँ भी मैं। जितने विकल्प आप बना सको सब मैं ही हूँ। जो कुछ जाहिर हो रहा है और तरह-तरहसे जाहिर किया जा रहा है उसमें एक ही भगवान् भरा हुआ है। विद्वान् वह जिसका भाव सममें है। गीतामें आया—

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥ (5.18)

बुधा भावसमन्विताः बुधका भाव क्या है। स्वपाक, चाण्डाल, गाय, कुत्ता और हाथी कौन है? वही-वही परमेश्वर। भागवतमें इसको खोलकर बताया है। पण्डित कौन है? पण्डित वह है जिसको ब्राह्मणमें, कसाईमें, चोरमें, भक्तमें, सूर्यमें, चिनगारीमें, अक्रूरमें, क्रूरमें सर्वत्र सम भाव हो। 'भले बने हो लम्बक नाथ!' नामदेवका है—सबके रूपमें, 'जोजन भरि-भरि हाथ, क्या भूतका रूप धारण करके आये!' हम पहचानते हैं तुमको **मृत्युः सर्वहरश्चाहम्** (10.34) **अमृतं चैव मृत्युश्च** (9.19)।

जहाँतक दो वस्तु है, वहाँतक एक विज्ञानसे सब विज्ञानका जो पाण्डित्य है, वह आया नहीं। अब यह भाव आवे कहाँसे? बोले भाई थोड़ा तुम दिखाओ, थोड़ा हम दिखावेंगे। दोनो मिल-जुलकर देखें। जैसे आँख कहे मैं देखूँगा, सूर्य कहे मैं दिखाऊँगा—तो आँख न हो तो सूर्य किसको दिखायेगा? और सूर्य न हो तो आँख किसको देखेगी? आँख और सूर्य दोनोंने आपसमें सलाह कर ली। आओ हम लोग मिल-जुलकर दिखावें, देखें। आँख हो गयी अध्यात्म, सूर्य हो गया अधिदैव और दिखने वाली वस्तु हो गयी अधिभूत।

इन तीनोका जो साक्षी है, वह आत्मा है। वह सूर्यमें रहकर सूर्यसे विलक्षण है। वह रूपमें रहकर रूपसे विलक्षण है। वह आँखमें रहकर आँखसे विलक्षण है।

मच्चित्ता मद्‌गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

तेषामेवानुकम्पार्थम्—यह देखो दया बरस रही है। **तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः। नाशयामि**—यह प्रकाश बरस पड़ा। **नाशयाम्यात्मभावस्थः**—प्रेमी और प्रियतम एक हो गये। ज्ञानदीपेन भास्वता। मच्चित्ता मद्‌गतप्राणा—हम देखते हैं जगत् और देखते हैं अपनेको और देखते हैं भागवान्‌को । है तो एक ही। परन्तु हमारी बुद्धिमें अन्तर होता है। वस्तुमें अन्तर नहीं होता। भगवान् तीन नहीं बनते। एक

भगवान्, भगवान् है—एक भगवान् मैं बन जाये—एक भगवान् जगत् बन जाये। भगवान् तीन नहीं होता। हमारी बुद्धि ही तीन तरहकी हो जाती है। जैसे रस्सी साँप नहीं बनती, बुद्धि ही साँप बन जाती है। ऐसे परमात्मा जगत् या अहं नहीं बनता है। हमारी बुद्धि ही बिखर जाती है। तीन बनकर बिखर जाती है। हमारी बुद्धि ठीक होनी चाहिए।

भागवत्में एक विलक्षण लीला है। कृष्ण गोपियोंके साथ नृत्य कर रहे हैं। एक श्रीकृष्ण अनेक गोपी—रासमण्डल बना और नृत्य हो रहा है। उसमें क्या हुआ? उसमें गोपियोंका यह ख्याल हुआ कि हम बहुत सुन्दर हैं, हम बहुत मधुर हैं, वे कृष्णको देखनेके स्थान पर अपने मैं को देखने लगीं। क्यों भाई तुम्हें अपना गुणगान करना है कि भगवान्का। अपना सौन्दर्य निहारना है कि भगवान्का। भगवान्से अलग कर क्यों अपनी सुन्दरता देखने लगे, अपनी मधुरता देखने लगे—यह तो उन्हींका सौन्दर्य है, उन्हींका माधुर्य है, उन्हींका प्रेम है। गोपियाँ अपनेको देखने लगीं । और जब अपनेको देखने लगी तब श्री कृष्ण अन्तर्धान हो गये। जहाँ परिच्छिन्न अहं पर दृष्टि गयी, पूर्ण अहं छिप गया। प्रान्त पर दृष्टि गयी तो राष्ट्रका लोप हो गया। राष्ट्रपर दृष्टि गयी तो विश्व व्यापकताका लोप हो गया। पन्थमें फँस गये तो गन्तव्य भूल गया। 'मैं'में फँस गये तो ईश्वर भूल गया।

एक प्रकाशकी हमारे जीवनमें जरूरत है। हम पन्थाईयोंकी बात नहीं करते। मौलबी अपना काम करे, पुरोहित अपना काम करे, पादरी अपना काम करे। आचार्य लोग अपने-अपने पंथको लेकर जावें, लड़ लें — हम भगवान्को देखें सूरदासने कहा—*'मो सम कौन कुटिल खल कामी।'* बल्लभार्चायने कहा—नहीं-नहीं, यह नहीं तुम अपने गीत क्यों गाते हो? गीत गाना हो तो भगवान्के गाओ।

मच्चित्ता मद्गतप्राणाः। आपका चित्त कहाँ गया? यह आपके बड़े कामकी बात है। क्योंकि भगवान्में संयोगका अनुभव—कि हमारे साथ भगवान् हैं या हमारी आँखोंके सामने भगवान् हैं यह जरा मुश्किल है, कठिन है लेकिन भगवान् हमारे साथ नहीं हैं—यह तो बहुत आसान है। सबको ऐसे ही लगता है कि भगवान् हमारे साथ नहीं हैं। भगवान्की याद नहीं आती। साथकी तो बात क्या? विरहमें जो भगवान्का वर्णन है, भागवतमें विरहका बहुत वर्णन है। विरहमें भगवान्की स्फूर्ति होती है। किसका विरह ? जब हम गोपियोंका पिरह, ग्वालोंका विरह, यशोदा मैया नन्दबाबाका विरह देखते हैं, सुनते हैं तब हमारी मनोवृत्ति विरहके साथ बहुत जल्दी मिल जाती है। क्योंकि जब हम दशरथजीकी मृत्यु सुनते हैं, हमारे बापकी मृत्युका स्मरण आजाता है। रोनेमें दोनों रहता है—दशरथजीकी मृत्युके लिए रोना और अपने पिता, पितामहकी मृत्युके लिए रोना। दोनो मिल जाता है, तो भाव विरहका और मिल गया भगवान्से—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥ 10.9
चलसि यद्व्रजाच्चारयन् पशून् नलिनसुन्दरं नाथ ते पदम्।
शिलतृणाङ्कुरैः सीदतीति नः कलिलतां मनः कान्त गच्छति॥ (भागवत 10.31.11)

जब तुम गोचारणके लिए प्रात:काल गायोंके पीछे-पीछे चलते हो तो तुमको क्या मालूम कि यह कहाँ काँटोमें, कहाँ कुशमें कहाँ-कहाँ घास चरनेको जायेंगी और उनके पीछे-पीछे तुम चलते हो। कितनी सुकुमार, कितनी सुन्दर, नलिनादति सुन्दर, नलिन-सुन्दर, हिन्दीमें किसीको कहें—कमल सुन्दर, नलिन-सुन्दर तो, उसका अर्थ होगा नलिनके समान सुन्दर, परन्तु संस्कृतमें नलिनादतिसुन्दरम् नलिन-सुन्दरम्—कमलसे भी अधिक सुकुमार, कोमल, आपके चरणाविन्द हैं।

कहीं कोई धान, कहीं कोई कङ्कड़ पाँवके नीचे पड़ जावेगा, कहीं कुशका अंकुर पड़ जावेगा और वह आपके पाँवमें गड़ जायेगा। जब हमको यह ख्याल आता है —हमसे अलग, हमारी आँखोसे अलग तुम वन-वनमें भटक रहे हो तो हमारा मन गड़ने लगता है। मलिन हो जाता है हमारा मन। अरे रास्तेसे चलेंगे तुम क्यों दु:खी हो रही हो? क्या गौएँ रास्ते-रास्ते चलती हैं? गौओके पीछे-पीछे जायेंगे। अरे बाबा काँटा, कुश जहाँ नहीं होगा वहींसे जायेंगे। नहीं-नहीं; वे गायोंकी ओर देखेंगे कि काँटा, कुश देखेंगे? नहीं बाबा देख-देखकर चलेंगे—देख-देखकर तो चलेंगे, लेकिन कहीं कोई असावधानीमें गड़ गया तो। देखो कृष्ण गये गोचरणको और गोपियोंका मन गया कृष्णके पीछे। इसको बोलते हैं कलिलता। जैसे एकके बाद एक, एकके बाद एक, कृष्णके बारेमें हमारा मन सोच रहा है।

कलिलता मनः कान्त गच्छति। (भागवत 10.31.11)

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥

आपके चित्तमें कौन है? क्या भगवान्‌का विरह है? विरहके भी दो रूप होते हैं। एक अयोग एक वियोग। पहले मिले ही नहीं है और मिलनेकी आशा टूट जाती है तब करुण हो जाता है। भगवान्‌के बारेमें आप सोचो, आपके चित्तकी स्थिति क्या है? कब देखेंगे, भगवान्‌के दर्शन कब होंगे? इसके लिए अपने चित्तमें कितनी व्याकुलता है, धनके लिए व्याकुलता है, सम्बन्धिके लिए व्याकुलता है, शरीरके लिए व्याकुलता है, लेकिन जो सबके प्राणोंका प्राण है, उसके लिए कोई व्याकुलता नहीं है। जो सबकी आँखोंकी आँख है, कानोंका कान है, वाणीकी वाणी है, प्राणोंका प्राण है, उसके लिए कोई व्याकुलता नहीं। श्री ब्रजधाममें ललिता सखी रोती हुई आयी श्री राधारानीके पास। कुछ बोल नहीं, बोले नहीं। राधारानीने कहा मत बोल, मैं समझ गयी—श्रीकृष्ण नहीं आये न! बस इतनी सी बात तो है—**मद्गतप्राणाः**—नहीं आये कोई बात नहीं।

यदि श्री कृष्णके हृदयमें करुणा नहीं है, दया नहीं है तो उसमें तुम्हारा क्या अपराध है? व्यर्थमें रोवे मत। रोने-गानेसे क्या वे आजायेंगे? आगेकी बात देखो—आगे क्या करना है? मेरी प्यारी सखी! अब ऐसा प्रबन्ध कर दो, यह जो काला-काला श्याम तमाल है—मेरे इस शरीरको प्राण निकल जानेके बाद उसके साथ चिपका देना और हमारी दोनों बाँहे उसके साथ लपेट देना। ये हमारी भुजाकी लता तमाल वृक्षके साथ लिपटा देना और मेरे शरीरको श्याम तमालके साथ लगा देना। जीवन कालमें नहीं मिले कृष्ण तो क्या हुआ ? मरनेके बाद यह

शव तो उस साँवरे तमालके साथ बहुत दिनों तक लिपटा रहेगा। श्रीकृष्णने सखीसे पूछा, क्यों री सखी। उनकी क्या दशा है? बोली—जी रही है। हाँ जी रही है। अरे मैं पूछता हूँ क्या दशा है और तू बताती है—जी रही है। हाँ, जी रही है। दशा क्या है? आप क्यों बार-बार पूछते हैं—अभी उसकी साँस चल रही है तो मैं कैसे कह दूँ कि मर गयी। श्रीकृष्ण ही हमारे प्राण हैं। श्रीकृष्ण ही हमारे चित्त है। **मयि चित्तम् येषाम्**—जिनका चित्त मुझमें लग गया है और **अहमेव चित्ते येषाम्**—मैं जिनका स्वयं चित्त हूँ। आँख बन्द करके देखें तो हृदयमें भगवान्, खुली आँखोंसे देखें तो मनमें भगवान्। चित्तका अर्थ है—प्यार और विचार। जब हम सोचते हैं तो भगवानके बारेमें और जब प्रेम करते हैं तो भगवान्से। जिसके जीवनमें विरह नहीं जगा उसको संयोगका सुख नहीं आसकता।

आपके हृदयमें कभी भगवान्के न मिलनेकी व्याकुलता आयी है? कभी आपके हृदयमें ईश्वरके लिए व्याकुलता आयी है? विरहका दु:ख हुआ है? जब यह विरहका दु:ख आता है, दोनों तरफसे—विरहसे भी आता है, संयोगसे भी आता है। सबके लिए दु:ख आता है—सबके लिए रोये। परन्तु वह तो पूर्ण परमात्मा है। भले अभिमान कर लो, मैं ही हूँ। आत्मा ही है। हृदयकी रुक्षता नहीं मिटेगी। हमारे हृदयमें रूखापन, सूखापन है, भूखापन भी है। भूखापन क्या है? इधर दौड़ते हैं वहाँ स्वाद मिलेगा। उधर दौड़ते हैं वहाँ रस मिलेगा। उस मधुरताकी ओर मन खिंच गया, उस सुन्दरताकी ओर मन खिंच गया। उस गन्धकी ओर मन खिंच गया। उस संगीतकी ओर मन खिंच गया—बाबा, यह भूखापन नहीं तो क्या है? यहाँ यह खाना मिलेगा, वहाँ वह खाना मिलेगा—यह जो हमारा मन यहाँसे वहाँ, वहाँ से यहाँ भटकता रहता है।

भले अभिमान करो कि मैं अपने आपमें सन्तुष्ट हूँ, भले अभिमान करो कि हमारा प्रेम एक जगह है, स्थिर हो गया है। लेकिन यह मनकी रुक्षता है। यह जो सूखा हुआ मन है—यह जो भूखा हुआ मन है, क्षुधा-पिपासासे व्याकुल है—कहीं उसको तृप्ति नहीं मिलती है। यही दशा हमारे मनकी है। भाई, मन लगानेकी जगह यह है और व्यवहार करनेकी जगह सारी है। इस लीलाकी उत्तमता ही यह है कि इसमें समाधिके समान तो व्यवहार-त्याग करनेकी जरूरत नहीं है। समाधि मत लगाओ; यह तो विक्षेप है—ठीक है, पर विषय-विक्षेप नहीं है। व्यवहार और समाधिके बीचमें ऐसी कड़ी है—यह भगवान्का प्रेम है—**मच्चित्ता मद्गतप्राणाः।** जीते भगवान्के लिए हैं—**मद्गतप्राणाः।**

जब पीड़ा होती है भगवान्के न मिलनेकी तब गरलको,जहरकी जो कटुता है, उसका गर्व टूट जाता है और जब मिलनका सुख आता है तो ऐसा आनन्द प्रवाहित होता है कि अमृतका गर्व चूर-चूर हो जाता है। यह भगवत्प्रेम है। **मच्चित्ता मद्गतप्राणाः।** कहो कि मौन हैं—बोलते नहीं है! **बोधयन्तः परस्परम्**—एक दूसरेसे भगवान्की चर्चा कर रहे हैं।

आओ, महात्माओंके पास। वहाँकी विशेषता क्या है? बाबाजी पहले मौनी था, हिमालयमें रहता था—गङ्गाकिनारा छोड़कर कहीं जाता ही नहीं था। परन्तु जब भगवान्के चरित्रामृतका आस्वादन करने लगे तो पहले कोशिश की कि पच जाये-पच जाये; अब किसीके सामने क्या बोलें? मन मस्त हुआ तो क्यों बोलें?

बोलनेकी क्या जरूरत! लेकिन लीलाने ऐसा कुरेदा उसके हृदयको, मन मुखर हो गया। बड़े-बड़े महापुरुष भी मुखरित हो गये, बोलने लग गये। महात्मा लोग बोलते ही हैं भगवान्की लीला।

मधुसूदन भगवान्के चरित्रका जो शेष है माने हृदयमें पचा लेनेके बाद जो बच गया है वह उनके मुखसे निकलता है। नदियाँ बहती हैं। जहाँ बोलेंगे—भगवान्की लीला, भगवान्का चरित्र। उनको पीनेके लिए दो चीज चाहिए—एक तो प्यास बुझे नहीं और कान दूसरी ओर जायँ नहीं। न आपके मनमें भय आवेगा, न शोक आयेगा, न मोह आयेगा। भविष्यमें मन जायेगा तब न भय आवेगा! भूतमें मन जाय तब न शोक आयेगा! वर्तमानके चारों ओर मन जाये तब न मोह आयेगा? भय, शोक, मोह, वासना अशना, पिपासा, सब-के-सब दूर हो जायेंगे। आओ, भगवान्के चरित्रमें एक बार गोता लगाओ। क्या स्थिति होती है—

मच्चित्ता मद्गतप्राणाः बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥

कहानी भी कहो तो भगवान्की। ऐसी-ऐसी कहानियाँ हैं जो मनको खींच लेती हैं। कहानी माने भगवान्के चरित्रकी, भगवान्के गुणकी, भगवान्के स्वरूपकी, लीलाकी, चेष्टाकी, तत्त्वकी व्याख्या।

भगवान्ने ऐसा क्यों किया? आओ, कहानी कहो तो भगवान्की ओर देखो और रम जाओ। जब कोई भगवान्को देखता है, उसमें रम जाता है, सन्तुष्ट हो जाता है तो उसके बाद उसका कर्तव्य नहीं होता। कर्तव्य किसका है? भगवान्का। बेटा सुस्त पड़ जाये तो बाप उसको अपनी गोदमें उठा लेता है और बाप सुस्त पड़ जाय तो बेटा उसको अपनी गोदमें उठा लेता है—**बोधयन्तः परस्परम्।** एक दूसरेको जगाते हैं। हमारा भाई सो जाय तो हमने जगा दिया। हम सो जायें तो हमारे भाईने जगा दिया। हम लोग एक बार साथ-साथ यात्रा कर रहे थे। कहो गुरुभाई—कैसा है? क्या बतावें भाई, कुछ हुआ ही नहीं। वेदान्ती लोग ऐसे बोलते हैं।

न कछु हुआ, न है कछु, न कछु होवनहार।

भक्तोंसे पूछो तो अभी तो भगवान् सोकर उठे हैं—आँखमें काजल फैल गया है, उसको धो रहे हैं। वे ऊँ-ऊँ कर रहे हैं—अभी तो अँगड़ाई ले रहे हैं। उनके लिए मैया माखन-मिश्री ला रही है—क्या हो रहा है? भगवान् अभी माखन-मिश्री खा रहे हैं—अभी मैया गोरोचनाका तिलक लगा रही है। करधनी-कंगन पहना रही है—बोधयन्तः परस्परम्। क्या हो रहा है? भगवान् इस समय क्या कर रहे हैं? आसमानमें बादल बहुत हो रहे हैं—ना-ना, बादल नहीं, वे तो श्यामघन हैं—क्या आनन्द है भगवच्चर्चाका—न राग न द्वेष।

भगवान्की चर्चा करो तो संसारमें किसीकी मोहब्बतमें फँसोगे नहीं। भगवान्की चर्चा करो, किसीसे नफरत नहीं होगी। और दुनियाकी चर्चा करोगे तो किसीसे मोहब्बत हो जायगी, किसीसे नफरत हो जायगी। काम सब करो—सेवा करो लेकिन किसीसे मोहब्बत-नफरतसे बचनेके लिए, राग--द्वेषसे बचनेके लिए यह जरूरी है कि हमारे हृदयमें उस वस्तुसे प्रेम हो, जो दोनोंमें है। जो दोनोंमें है वही प्रेम करने योग्य है। जो एकमें है, एकमें नहीं है, वह प्रेम करने योग्य नहीं है। शून्य-मन्दिरमें भी वही रहता है योगाभ्यास करते हुए जब ऊपर

बढ़ते हैं! एक शून्य-शिखर पड़ता है, ऐसा योगाभ्यासी लोग बताते हैं। सहस्रार है, हृदयकमल है—नाभिकमल है, मूलाधार है—हृदयकमलमें इष्टदेव बैठे हैं। सहस्रारमें गुरुदेव बैठे हैं। शून्य-शिखरवाले मन्दिरमें कुछ नहीं=मन्दिर तो है पर मन्दिरमें कुछ नहीं। जो साकारमें है, वही निराकारमें है। जो मूर्तिवाले मन्दिरमें है, वही बिना मूर्तिवाले मन्दिरमें है। अब भगवान् कहते हैं—

मर्त्यो यदा त्यक्तसमस्तकर्मा निवेदितात्मा विचिकीर्षितो मे।
तदामृतत्वं प्रतिपद्यमानो मयात्मभूयाय च कल्पते वै॥

(भाग० 11.29.34)

एक बार हाथ जोड़ खड़े हो जाओ। भगवान् कहते हैं अच्छा, तुम समर्पित हो गये तो तुम्हारी सारी जिम्मेवारी मेरे ऊपर आगयी। मैं अब तुमको विशिष्ट बना रहा हूँ, क्योंकि अब मुझे सँवारना है, मुझे सजाना है।

मैंने कभी सुनाया होगा, एक लड़की मुझे पूरी परोसनेके लिए ला रही थी। रसोइयेने पूरी जरा मोटी-मोटी बना दी थी। उसने सोचा बाबाजी लोग हैं, इनको चाहे जैसा खिला दो। वह लड़की जब लेने गयी तो बोली कि यह पूरी लेकर मैं जाऊँ? मैं और ऐसी पूरी लेकर जाऊँ? दूसरी दो। जब एक अच्छे घरानेकी लड़कीपर जिमानेकी जिम्मेवारी आयी तो उसने कहा मैं अपने हाथसे ऐसी पूरी लेकर नहीं जा सकती। जब हमारे सँवारने, सजानेकी जिम्मेवारी भगवान्पर आजाती है, भगवान् कहते हैं कि 'मैं उसको विशिष्ट बनाना चाहता हूँ'—जब मैं सँवार रहा हूँ, तो 'उसको ऐसा सँवारूगा कि ऐसा दूसरा कोई होगा नहीं।' अब भगवान्की अनुकम्पा बरसी न! हम तो रंग गये उनके चरित्रमें, उनकी कथामें, उनके प्रबोधमें, उनके गुणमें, उनके रूपमें, उनकी लीलामें और वे बैठकर हमको सँवारने लगे।

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥

उनके उपर हमारी अनुकम्पा है— अनुकम्पाका अर्थ है दिल काँपने लगे—कम्पन-अनुकम्पन; एक आदमी दुःखसे काँप रहा है और भगवान्का हृदय उसका दुःख दूर करनेके लिए काँप रहा है। अनुकम्पा माने भगवान् व्याकुल होगा। अरे—मेरे रहते, मेरा भक्त इस तरह दुःखी हो रहा है। इस दशामें पड़ा है! मेरा भक्त, मेरी याद कर रहा है और उसका शरीर ऐसा है! उसका मन ऐसा है! मेरी याद कर रहा है, उसका जीवन ऐसा है! काँप गये भगवान्! लोग क्या कहेंगे! भक्ति सम्प्रदायका दोष हो जायगा। कोई दुनियामें मेरा नाम नहीं लेगा। डर गये भगवान्! अब दुनियामें मेरा कौन नाम लेगा! मेरा नाम लेकर, मेरे पास आकर, मेरी ओर इसकी मनोवृत्ति बह रही है। मुझमें रम जाता है। मुझमें सन्तुष्ट है। फिर भी—कहीं इसके अन्दर एक भी दाग नहीं रहना चाहिए। अज्ञानर्ज तमः।

अरे तुमको रास्ता नहीं दीख रहा है। भास्वता ज्ञानदीपेन। प्रज्वलित ज्ञान, उल्लसित ज्ञान लेकरके भगवान् आये और बैठे कहाँ? उसके हृदयमें—धियो यो नः प्रचोदयात्। भगवातमें लिखा है—चुम्बकके पास लोहा

नाचता है वैसे भगवान् हृदयमें बैठे हैं। भगवान् बीचमें बैठे हैं और हमारी चित्तवृत्तियाँ उनके चारों ओर नाच रही हैं। धियो यो नः प्रचोदयात्। हजार-हजार वृत्ति रूप गोपियाँ नृत्य कर रही हैं और बीचमें एक नट। ऐसा नट जो सबके साथ नाचता है। सबके हाथ-में-हाथ मिलावे और गरबा नाच कर रहे हैं। गोपियाँ तो नाचनेवाली हैं अनेक, लेकिन बीचमें एक ऐसा है जो दोनों हाथमें लकड़ी लेकर खड़ा है। सबकी लकड़ीपर उसकी लकड़ी गिरती है।

अङ्गनामङ्गनामन्तरा माधवो माधवं माधवं चान्तरेणाङ्गना।

रोशनी कर दी—जहाँ रास हो रहा है वहाँ पहले **ज्ञानदीपेन भास्वता**—परम प्रकाशमय एक दीपक प्रज्ज्वलित किया और वहाँ अन्धकार दूर हो गया, तब सब देखने लगे भगवान्‌को और भगवान् देखने लगे सबको। एक गोपी, एक कृष्ण, एक गोपी, एक कृष्ण—इस प्रकार एक गोपीके बाद एक कृष्ण विराजमान होकर नृत्य करने लगे। बाँसुरी बज रही है और बाँसुरीकी स्वर-लहरीपर हमारी वृत्ति गोपियाँ नृत्य कर रही हैं—भागवतमें ऐसा ही वर्णन है।

वेदान्ती कहते हैं कि दो वृत्तियोंकी सन्धि, सन्धिमें सामान्य चेतन और वृत्तिमें विशेष चेतन, गोपियोंके भीतर प्रवेशकर भी वही नाच रहे हैं, गोपियोंके बीचमें खड़े होकर भी वही नाच रहे हैं। वही वृत्त्यारूढ़ चेतन और वही संधिस्थ चेतन। गोपियोंका नाम कृष्ण-वधू है। 'वहन्ति इति वध्व:'। वे श्रीकृष्णको तो अपनी गोदमें उठा लेती हैं। अपने ऊपर—वहन्ति-बध्नन्ति इति बध्व:। जो अपने भुज-पाशमें बाँध ले उसका नाम वधू। वधू माने जो अपने पतिको अपने भुज-पाशमें बाँध ले। वधू माने जो अपने पतिको अपनी गोदमें उठा ले। कृष्णवध्व:—ये कृष्णको बाँध लेती हैं। ये कृष्णको उठा लेती हैं। ये हमारे हृदयकी प्रेममयी वृत्तियाँ हैं—कृष्ण, कृष्ण, कृष्ण!

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

●

प्रवचन : 8

(17-11-80)

भगवान् श्रीकृष्णने भजन करनेवालोंके बारेमें दो बात कही। एक तो **भजतां प्रीतिपूर्वकं ददामि बुद्धियोगम्।** जो प्रीतिपूर्वक भजन करते हैं, उन्हें मैं बुद्धियोग देता हूँ और दूसरी बात कही **तेषामेवानुकम्पार्थम् अहमज्ञानजं तमः।** उनके ऊपर मैं कृपा करता हूँ। बुद्धियोग दिया उससे जीव स्वयं परमेश्वरके पास पहुँच गया। उसीके हाथमें साधन दे दिया और तीसरा बताया कि मैं ऐसी कृपा करता हूँ कि उनके हृदयमें स्वयं बैठ जाता हूँ और उनके अज्ञानान्धकारका नाश करता हूँ। जीवके बुद्धियोगसे भी परमात्माकी प्राप्ति होती है और भगवान्‌की कृपासे भी परमात्माकी प्राप्ति होती है। यह दो विभाग हो गये। जो पौरुषवान् हैं, प्रयत्नशील हैं, उनके हाथमें भगवान्‌ने साधन दे दिया—तुम आजाओ—**येन मामुपयान्ति।** और एक स्वयं दीपक लेकर मशाल लेकर रास्ता दिखाते हैं। रास्ता दिखानेवाले भी वही और मिलनेवाले भी वही।

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥ (12.6-7)

एकको नदीके पार जाना था। पार जाकर किसीसे मिलना था, उससे पहचान नहीं थी। नदीके तटपर जाकर खड़ा हुआ। व्याकुल हुआ कि नदीके पास कैसे जायँ? जिससे मिलना था उस मित्रको पता चल गया कि वह हमसे मिलनेके लिए आया है और नाव न मिलनेपर व्याकुल हो रहा है। स्वयं नाव खोली, लंगर उठाया और डाँड़ देता हुआ पहुँच गया—उसको लेनेके लिए। अब वह तो इतना निर्बल था कि नावपर चढ़ भी नहीं सकता था। वह नावसे उतरा, उसको दोनों हाथसे उठाया।

हमारे गाँवके पास जो मल्लाह लोग थे वे हमको ऐसा किया करते थे। हम जब बच्चे थे तो नावपर चढ़नेको जाते थे तो नावपरसे हमको उठाके छातीसे चिपका लेते तथा प्यार भी करते और नावपर बैठाकर पार कर देते। अब तो मल्लाह लोग ऐसा करते हैं कि नहीं, हमको मालूम नहीं—पर हमारा पाँव कीचड़में नहीं पड़े, हमको जूता नहीं निकालना पड़े, इसके लिए वे अपनी गोदमें उठा लेते थे।

भगवान् नाव लेकर आते हैं और देखते हैं कि यह निर्बल है तो उसको अपनी गोदमें उठा लेते हैं। नावमें बैठा देते हैं। अब भक्तने भगवान्‌को पहचाना तो है नहीं—कहता है आप डाँड चला रहे हैं, हम भी थोड़ी आपको मदद करें। नहीं भाई, तुम चुपचाप बैठे रहो, नाव तो मैं चलाऊँगा। इतने कृपालु तुम कौन हो? बोले, जिससे तुम मिलने जा रहे हो— वही हम हैं। तुम मुझे निहार-निहारकर प्रेमभरी दृष्टिसे देखो। तुम आनन्द हो, मैं नावको खेकर ले चलता हूँ।

लाद दे, लदा दे लादनवारो साथ दे।

भगवान् ऐसे हैं—रास्ता भी दिखाते हैं, जो कठिन काम हो। उसको आसान भी बना देते हैं और उन्हींसे मिलना है तो वे स्वयं आकर मिल भी लेते हैं।

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥ (10.11)

एक बात है कि कृपा भगवान्‌की सबके ऊपर बरसती रहती है। सोते हुएको जगानेमें भी कृपा है। जागे हुएका हाथ-मुँह धुलानेमें भी कृपा है। उसको खिलानेमें, सुलानेमें भी कृपा है। काम लेनेमें भी कृपा है—कृपाके सिवाय तो और कुछ नहीं है। भक्त लोग कहते हैं कि सबसे बड़ा कृपा-पात्र मैं ही हूँ।

श्रीयामुनाचार्यजीका एक श्लोक है—जिसका भाव यह है कि मैं बहुत दिनोंसे भवसागरमें डूब रहा था—इसके थपेड़े खा रहा था। बहुत दिनके बाद—जैसे डूबते हुएको किनारा मिल जाय वैसे तुम मुझे मिल गये हो। पर मुझे तुम मिले हो यही प्रसन्नताकी बात नहीं है, तुम्हें भी प्रसन्न होना चाहिए कि तुम्हें मैं मिल गया हूँ। अरे बाबा, तुम मिले तो कौन-सी ऐसी बात मिल गयी? बोले—दयाका ऐसा उत्तम, बढ़िया पात्र आपको कभी मिला नहीं होगा। आप भी खुश हो जाइये कि आनेवाली दया सार्थक हो जायेगी। यह दयाका अत्युत्तम पात्र, जिससे उत्तम पात्र कभी मिल ही नहीं सकता, वह मिला है। आप भी मुझे पाकर प्रसन्न हो जाइये। दयाका पात्र वह होता है, जिसमें किसी प्रकारका अभिमान न हो। दयाका भी अधिकारी होता है।

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

मैं धर्मनिष्ठ नहीं हूँ। आत्मज्ञानी भी नहीं हूँ, आपके चरणारविन्दमें मेरी भक्ति भी नहीं है। अकिंचन हूँ—मेरे पास कोई सम्बल नहीं है। कोई सामग्री नहीं। कोई साधन नहीं। आपके अतिरिक्त और किसी दूसरेका सहारा नहीं। अब तो तुम्हारे चरणारविन्दके सिवाय और कोई भी आश्रय हमारे पास नहीं है। जब भक्त निरभिमान होकर भगवान्‌की ओर देखता है तो भगवान्‌की शक्तिका आश्रय भी अपना सारा काम करने लगता है। भगवान्‌की शक्ति तो और बढ़ना चाहती है—और बढ़ना चाहती है। निरभिमान स्थल मिलते ही उसमें भगवान्‌की शक्ति प्रवेश करती है और वहाँसे अपना सारा काम करने लगती है। जबतक हम अपनी शक्ति लगाते हैं—तबतक वह थोड़ी रहती है और जब हमारी शक्ति क्षीण हो जाती है, तो भगवान्‌की शक्ति प्रकट हो जाती है।

एक महात्माने बताया कि भगवान्‌के टेलीफोनका नम्बर जोड़नेके लिए 'शून्य' है—अपने हृदयको अभिमानसे रहित करो—भगवान्‌का टेलीफोन जुड़ गया। कहते हैं कि ऐसा टेलीफोन बननेवाला है जिसमें बात करनेवालेकी शकल भी दिखेगी—यह भगवान्‌का ऐसा नम्बर है कि भगवान्‌से बात भी हो और भगवान्‌की शकल-सूरत भी दिखायी पड़े।

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

भगवान् बुद्धि देते हैं और ऐसी बुद्धि जो भगवान्‌के साथ जाकर मिल जाती है। जैसे पति-पत्नीका संयोग होता है, ऐसे बुद्धि और भगवान्‌के संयोगका ही नाम बुद्धियोग है। हमारी बुद्धिका विवाह किससे हुआ? आप लोग इसको कोई छोटे दर्जेकी बात मत समझना। वेदोंमें जो ऋचाएँ, श्रुतियाँ है उनमें कोई अग्निदेवताका वर्णन करती हैं, कोई इन्द्र देवताका वर्णन करती हैं, कोई वरुण देवताका वर्णन करती हैं, कोई पूषा देवताका वर्णन करती हैं, कोई वृहस्पति देवताका वर्णन करती हैं। ये सब वैदिक देवता हैं और भिन्न-भिन्न ऋचाओंके द्वारा उनका प्रतिपादन होता है।

ऐसे कहते हैं कि इन वेदकी ऋचाओंका विवाह-अमुक-अमुक देवताओंसे हो गया है और सब अपने-अपने देवताका, इन्द्रका, अग्निका, वायुका, वरुणका प्रतिपादन भी करती हैं। उन्हींके साथ रहती हैं, उन्हींका प्रतिपादन करती हैं। लेकिन ये सब ऋचाएँ वस्तुतः परमात्माका प्रतिपादन करती हैं। उनका विवाह तो हुआ है, इन-इन देवताओंमें गुप्तरूपसे रहनेवाले भगवान्‌के साथ। उनका परम तात्पर्य तो है भगवान्‌में और उनका वाचनिक प्रयोग है देवताओंके लिए। इसी तत्त्वका वर्णन गोपियोंके जीवनमें किया हुआ है। बाहरसे उनके पति गोप हैं और भीतरके सब गोपोंके हृदयमें रहनेवाले भगवान्। वे पतिके शरीरसे नहीं, केवल अन्तःकरणसे नहीं, उनकी अन्तरात्मासे प्रेम करती हैं—क्योंकि सबको अन्तरात्मा स्वयं परमात्मा है। यह बात भागवत्‌में इतनी स्पष्ट है कि कोई असावधानीसे भी पढ़ता जाय तो उसको मिलेगा।

गोपीनां तत्पतीनां च सर्वेषामेव देहिनाम्।
योऽन्तश्चरति सोऽध्यक्षः क्रीडनेनेह देहभाक्॥ (10.33.36)

ये कोई 'मन्ये' नहीं है, 'जन्ये' नहीं है। जानो-मानो नहीं है, यह जनो-मनो नहीं है। यह स्पष्ट वर्णन है कि गोपियोंके हृदयमें जो अन्तरात्मा है, गोपीके पतिके हृदयमें अन्तरात्मा है, सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदयमें जो अन्तरात्मा है वही यहाँ श्रीकृष्णके रूपमें क्रीड़ा कर रहा है, वही सबका अन्तरात्मा है। तब बुद्धियोगका अर्थ क्या हुआ? बुद्धिके भीतर बैठा हुआ—धियो यो नः प्रचोदयात्। बुद्धिका प्रेरक, जो परमात्मा है, उस परमात्माके साथ बुद्धिका संयोग।

यह बात आपको थोड़ा खुलासा करके सुनाते हैं। जैसे आप गीता किसी पण्डितसे पढ़िये—उसमें व्याकरण कैसे है, पदच्छेद कैसे है? कहाँ व्याकरणके अनुसार ठीक है, कहाँ गलत है? अन्वय कैसे है? एक-एक शब्दका अर्थ आप अलग-अलग सीख लीजिये। तो आपका अध्ययन हुआ, आपका स्वाध्याय हुआ। हमलोग वे गीता पढ़ानेमें वैसे इतने निपुण नहीं हैं। हम गीताका रसास्वाद करते हैं। रसगुल्ला बनाना दूसरी चीज है। रसगुल्ला बनाना सीखना दूसरी चीज है, और उसको मुँहमें लेकर उसका स्वाद लेना दूसरी चीज है। हमारे महात्माओंके सम्प्रदायमें इसके लिए अध्ययन शब्द नहीं चलता, स्वाध्याय शब्द भी नहीं चलता। आस्वादन शब्द चलता है। हम गीताका, गीताके रसका आस्वादन कर रहे हैं।

साहित्यिक लोगोंने तो 'रस-चर्वण' शब्दका प्रयोग कर रखा है—चर्वण करते हैं। होगी कोई कठोर वस्तु जिसका वे चर्वण करते हैं। हम चर्वण नहीं करते। हम तो रसास्वादन करते हैं। यह है गीताका रसास्वादन।

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।

प्रीतिपूर्वक भजन, भजन माने रसास्वादन होता ही है।

किं नाम भजनं, भजनं नाम रसास्वादनम्।

भजन माने रसन—स्वाद लेना। कहाँ स्वाद लेते हो? भगवान्का स्वाद ले-लेकर हम भगवान्की चर्चा करते हैं। हम भगवान्की चर्चा करते हैं। एक बार प्रेमभरी आँखसे,चितवनसे भगवान्ने हमारी ओर देख लिया। अब चलो गीतामृतका आस्वादन करें। एकबार उन्होंने मुस्कराकर देख लिया। एकबार कह दिया वाह-वाह—बहुत बढ़िया। सिरपर हाथ रख दिया—आओ रसास्वादन करें।

भजतां प्रीतिपूर्वकम्।

प्रीति चाहिए। हम भी तृप्त हो रहे हैं और हमारा मालिक भी तृप्त हो रहा है। सेवा करनेका आनन्द सेवकको भी आ रहा है और जिसकी सेवा की जा रही है उसको भी आनन्द आ रहा है। यह स्वादका व्यापार है। स्वादका लेना, स्वादका देना। स्वादकी अनुभूति, स्वादकी वर्षा—यह रस है। भवभूतिने कहा कि प्रीति वह चीज है जहाँ हृदयको विश्राम मिलता है। बुढ़ापा आनेसे रसमें कोई कभी नहीं आती। भवभूतिके 'उत्तर रामचरित नाटक' का वचन है—

अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगतं सर्वास्ववस्थासु यत्।
विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः॥ (1.39)

यह प्रीति—चाहे अपना प्यारा सुख दे कि दुःख दे, इससे क्या मतलब है? हमें सुखसे, दुःखसे मतलब नहीं है। हमें तो प्यारसे मतलब है। वह सुख दे, तब भी देनेवाला वही, दुख दे तब भी देनेवाला वही। सुख-दुःखको नहीं देखते हैं, देनेवालेको देखते हैं। कितना प्यार है उसके दिये हुए दुःखमें, जब वह डाँटता है।

एक महात्मा थे। वे कभी किसीपर नाराज नहीं होते थे। एक दण्डी स्वामीने आकर शिकायत की कि आपके यहाँ जो सेवा करनेवाला और झाड़ू लगानेवाला है, इसने मेरा अपमान किया है। बहुत पुराना था वह झाड़ू लगानेवाला;दण्डी स्वामीजीसे भी बहुत पुराना था और बहुत प्रेमी था। बाबाने उसको बुलाया और हाथमें लिया डण्डा और उसको 1-2 डण्डा लगाया। बाबाको कभी क्रोध ही नहीं आता था, उस समय भी क्रोध नहीं था। अब वह जिसको डण्डा लगाया वह तो महाराज, नाचने लगा खुशीमें नाच गया! उसका नाम रामसिंह है, अभी जिन्दा है। बोला कि इतना प्रेम तो बाबाने कभी किसीसे किया ही नहीं। यह सौभाग्य तो जीवनमें केवल हमको मिला है।

अपने प्यार-डाँट, अपने प्यारेको फटकार, अपने प्यारेको टेढ़ी नजर, अपने प्यारेकी कड़वी बात—आप

प्यारेको देखते हैं कि कड़वाहटको देखते हैं। प्रेम वह है कि जिसमें तृप्तिका लेना, तृप्तिका देना, और कभी पेट न भरना। 'नूतनं-नूतनं पदे-पदे'। पद-पदपर नया। यह प्रीतिकी रीति है। आली, प्रीतिकी रीति निराली, प्याली भरे खाली होय।' यह हृदयका प्याला न कभी भरता है न कभी रिक्त होता है। और-और-और! **भजतां प्रीतिपूर्वकम्।**

सततयुक्तानां—जो है वह तो अनुराग है। वह विधान नहीं है। अनुराग है। जिसके हृदयमें प्रीति होती है, वह तो घूम-फिरकर वहीं पहुँच जाता है। भागवतमें लिखा है कि श्रीकृष्ण बारम्बार नारदजीसे कहते थे कि जाओ, जरा स्वर्गका पता लगा लाओ क्या हाल है? जरा हस्तिनापुर भी आओ। ब्रजमें हो आओ। नारदजी आये और भगवान्ने उन्हें कहीं-न-कहीं भेजा। लेकिन वे तो मिनिटोंमें काम करके फिर आजाते थे।

कहीं भी गये घूमकर वहीं आगये। हम देखते हैं—दूसरा कोई जब अपने बच्चेकी चर्चा करने लगता है तो सुननेवाला उसके बच्चेकी चर्चापर ध्यान नहीं देता। तुम्हारा अपने बच्चेकी चर्चा करने लगता है। क्योंकि दिलमें तो अपना ही भरा हुआ है। बारम्बार मन धूम-फिरकर वहीं आजाता है, जहाँ प्रेम हो। मनका यही स्वभाव है। सततयुक्तानाम्का अर्थ है—घूम-फिरकर वहीं-का-वहीं इसका कारण बताया है भागवतमें—

को नु राजन्निन्द्रियवान् मुकुन्दचरणाम्बुजम्।
न भजेत् सर्वतो मृत्युरुपास्यममरोत्तमैः॥ (11.2.2)

कौन कृष्णसे प्रेम करे, भगवान्से प्रेम कौन करे, रामसे प्रेम कौन करे? बड़े ब्राह्मण,वाजपेयी, वृहस्पति, वेदवादी? बोले—ना-ना, केवल उनके लिए भगवत्-प्रेम सीमित नहीं है। तो राजसूय यज्ञ करनेवाले, अश्वमेध यज्ञ करनेवाले, क्षत्रिय? बोले—राजसूय यज्ञ करनेवाले, अश्वमेध यज्ञ करनेवाले क्षत्रिय? नहीं, उनके लिए नहीं। बड़े-बड़े वैश्य स्तोम करनेवाले (वैश्य स्तोम एक यज्ञ होता है) व्यापारी? बोले—ना-ना, उनके लिए भी सीमित नहीं है। शूद्र? बोले कि उनके लिए भी सीमित नहीं है। यज्ञ सबके लिए होता है। बोले तब—

को नु राजन् इन्द्रियवान् मुकुन्दचरणाम्बुजं न भजेत्?

भगवान्के भजनके लिए केवल इन्द्रिय होना जरूरी है। आँखसे हमें दीखना चाहिए। कानसे सुनना चाहिए। इसमें ज्ञानकी जरूरत नहीं है, ध्यानकी जरूरत नहीं है। पूजा, उपासनाकी जरूरत नहीं है। यदि हमारे आँख है तो उससे बढ़िया देखनेकी कोई वस्तु नहीं है—

अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदामः (10.21.7)

गोपी कहती है—आँख मिलनेका फल यह है—इन आँखोंसे श्यामसुन्दरको निहारें।

रुक्मिणी कहती है—इन आँखोंके लिए, आँखवालोंके लिए—सबसे बड़ा लाभ यह है कि श्यामसुन्दरकी जो मधुर मूर्ति है उसको देखें। भजतां प्रीतिपूर्वकम्, सततयुक्तानाम्—इससे व्यवहारमें कोई बाधा पड़ेगी? बिलकुल नहीं। प्रीतिकी एक रीति है। हम तो प्रेमके राज्यमें रहते हैं। यहाँ तो बड़े-बड़े बुद्धिमान लोग इकठ्ठे होते हैं—इनके बीचमें बुद्धिकी बात करनी होती है। प्रीति एक रीति है। अपने प्रियतमसे भी एक चीज बड़ी होती है। जिससे हम प्यार करते हैं, उससे भी एक चीज बड़ी होती है। यह प्रेमशास्त्रियोंने निश्चय

किया है। प्रेमीके लिए प्रियतमसे बढ़कर दूसरी कोई वस्तु हो नहीं सकती। लेकिन प्रीतिकी रीति ऐसी विलक्षण है, निराली है कि प्रियतमसे भी बढ़कर होती है—प्रियतमकी सेवा।

यशोदा मैया कृष्णको छोड़कर दूध उतारने जाती हैं। क्योंकि दूध ठीक नहीं पकेगा, जल जावेगा तो हमारा लाल कैसे पियेगा? वे कृष्णको छोड़कर दही जमाने जाती हैं, क्योंकि ऐसा बढ़िया दही जमे कि हमारे लालको प्यारा लगे। लालाको छोड़कर अपने हाथसे दहीको मथकर माखन निकालती हैं। क्यों?
क्योंकि वह माखन लालाके लिए है। व्रज तो प्रेमकी राजधानी है न! कहते हैं—ब्रह्मलोकमें तो दास्यरस रहता है। बैकुण्ठ लोकमें ऐश्वर्य रहता है। ईश्वर-स्वामी व्रजभूमिमें वात्सल्य रस रहता है और वृन्दावनमें मधुर प्रेम रहता है। वृन्दावन मधुर प्रेमकी राजधानी है।

भजतां प्रीतिपूर्वकम्।

प्रियतमसे भी प्यारा कौन? बेटा, सोते रहो—क्यों? बोलीं हम चाय तो तैयार कर लें। हम तुम्हारे लिए चाय तैयार कर लेते हैं तुम लेट जाओ। हम झट लाते हैं। अपने प्रियतमसे बड़ा कौन? अपने प्रियतमको जिससे सुख मिले वह सेवा—तब फिर तो आप सेवा करते रहिये—हर समय प्रियतमसे चिपके रहनेकी जरूरत नहीं है।

सततयुक्तानाम्का अर्थ है—काम करो उसके लिए और उस प्रियतमके लिए जरा सोचो जो सबमें है और सर्वरूप है। उसकी सेवा करनेमें प्रियतमसे योग-विच्छेद कहाँ होता है? जो सबमें है, उसको सुख पहुँचाना है, उसकी सेवा करनी है—तो रोटी बनाते हैं किसके लिए? घरकी सफाई करते हैं किसके लिए? घरका श्रृंगार करते हैं किसके लिए?

अर्जुनने पूछा कि कृष्ण, एक बात तो हमको सच्ची-सच्ची बता दो। तुम्हारा सच्चा, सबसे बड़ा गुप्त प्रेमी कौन है? श्रीकृष्णने कहा अर्जुन! गोपियाँ अपना बाल सँवारती हैं मेरे लिए, तेल फुलेल लगाती हैं मेरे लिए, साड़ी पहनती हैं मेरे लिए, दही बेचने निकलती हैं मेरे लिए, उनका रोम-रोम मेरे लिए है। वे कहती हैं ये हाथ कृष्णका है, इसे सुन्दर रहना चाहिए। यह मुख कृष्णका है इसे खिला हुआ रहना चाहिए। ये आँख कृष्णकी है, यह कभी कुम्हलानी नहीं चाहिए। कभी मुरझानी नहीं चाहिए। क्योंकि यह उनकी हैं। अब बताओ आपके व्यवहारमें बाधा कहाँ पड़ेगी? कृष्णसे व्यवहार करेंगे तो न आपका कोई सम्बन्धी छूटेगा, न आपकी कोई वस्तु छूटेगी, न आपका व्यवहार छूटेगा। बात तो केवल इतनी ही है कि उनके लिए।

धर्मका विचार दूसरा है और प्रेमका दूसरा। दो शब्द इसके बारेमें सुनाता हूँ। धर्म कौन करता है—एक, और क्या करता है दो, और किसके लिए करता है तीन,—कौन करता है? क्या करता है? किसके लिए करता है? और प्रेम—कौन करता है? इससे कोई मतलब नहीं, क्या करता है इससे कोई मतलब नहीं। किसके लिए करता है—किससे प्रेम करता है, बस—भक्ति केवल उद्देश्य प्रधान होती है ईश्वरके लिए। एक चण्डाल भी और एक सर्वोत्तम ब्राह्मण भी ईश्वरके लिए कर्म करता है। क्या करता है? झाड़ू लगाता है कि वेद पढ़ता है—इससे कोई मतलब नहीं। किसके लिए करता है माने अपने लिए करता है? अपनेको कुछ पानेके लिए करता है क्या? नहीं किसके लिए करता है। धर्ममें और भक्तिमें बड़ा भारी अन्तर है। इसमें करने वाला कौन है इसका

विचार नहीं है। किसलिए करता है यह विचार भी नहीं है। किसके लिए करता है? आप जब अपने प्यारके लिए कर रहें हैं तो आपका सारा कर्म, धर्म हो रहा है। फिर तो आप सततयुक्त रहेंगे।

प्यारेके लिए रोटी बेलें और वह गोल न हो! तिकोनी क्यो हो जायेगी? उसको सेकें और किनारा बिना सेंका रह जावें, ऐसा कैसे हो सकता है? बीचमें जल जावें ऐसा कैसे हो सकता है? आपकी सारी सावधानी तो उसको सुख पहुँचानेके लिए है। न वह कहीं मोटी-पतली होगी, न कहीं जलेगी और न टेढ़ी होगी। सारा काम, सिर्फ रोटीकी बात नहीं है। आपका व्यापार, आपकी फैक्टरी, आपका सारा व्यवहार, सारा मिलना-जुलना जब उसके लिए होने लगेगा—

यत्करोषि यदश्नासि यत् जुहोषि ददासि यत्। (9.27)

आप हमेशा उसके साथ संयुक्त रहेंगे। संयुक्त रहने-का अर्थ है कि पति-पत्नीको परस्पर प्रेयसी-प्रियतम—आजकल युगमें पति-पत्नी न बोलकर, प्रियतम-प्रेयसी बोलना चाहिए। प्रेयसी-प्रियतमको परस्पर संयुक्त रहनेमें जो आनन्द आता है, वही आनन्द भक्तको प्रत्येक कार्य करनेमें आता है कि हम परमात्मासे आलिङ्गित हैं। हमने अपने हृदयसे परमात्माका आलिङ्गन कर रखा है और परमात्माने अपने हृदयसे हमारा आलिङ्गन कर रखा है। भजतां प्रीतिपूर्वकम्।

बोले भगवान् बुद्धि देते हैं—

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।
अहश्च कृष्णमहरर्जुनं च.........।

वेद भगवान् कहते हैं—भगवान्का दर्शन किसको हुआ? यह ऋग्वेद मन्त्र है। भगवान्को किसने देखा? बोले पनिहारिनोंने, जो यमुनाके तट पर पानी भरनेवाली हैं—गाय चरानेवालोंने भगवान्को देखा। आओ हम लोग उनका दर्शन करें।

भजतां प्रीतिपूर्वकम्, ददामि बुद्धियोगम्।

भगवान् बुद्धियोग देते हैं। कैसे मिलेंगे? कैसे मिलेंगे? यह कोई प्रश्न है? जब हमारे पास आये अभिमान टूट गया। देखो बिरहमें भी यह बात है। संयोगमें भी यह बात है। औ बिरह वाली बात जो है वह लोंगोके लिए बहुत उपयोगी है। संयोगका अनुभव तो किसी-किसीको ही होता है। सारे पाप भस्म हो जाते हैं। जिनको भगवान्के लिए व्याकुलता होती है, जिनके हृदयमें भगवान्के लिए रोना आता है, उनको संसारके लिए कभी रोना नहीं पड़ता। यदि आप भगवान्के लिए व्याकुल है तो संसारके लिए कभी रोना पड़ेगा ही नहीं। अद्भुत लिला है!

भागवतमें कहा है कि जो भगवान्की मायाका वर्णन करता है, उसको भगवान्की माया नहीं लगती। श्रीकृष्ण यशोदा मैयाके सामने रोते हुए आँखसे काजल बहा रहे हैं— एक हाथ मैयाने पकड़ रखा है और एक हाथसे अपनी आँख मल रहे हैं—जो ऐसे रोते हुए भगवान्का ध्यान करेगा तो उसको रोना नहीं पड़ेगा। अद्भुत है—रोनेका करो ध्यान, तुम्हें रोना नहीं पड़ेगा और नहीं तो तुम लगो रोने और देखो भगवान्को—दोनो अगूँठा

दिखाकर ली-ली-ली-ली करते हुए। आये—बस इतनेमें ही आ गयी हँसी। रोते हुएको आकर हँसा दिया ऐसे भजतां प्रीतिपूर्वकम् ददामि बुद्धियोगम्।

आगये पास जब पास आये तो भगवान्ने देखा, इसके पास तो कुछ है ही नहीं—प्रीतिकी रीति यह है। कुछ है नहीं तब—आओ कुछ बरस दें। बलिने वामनसे कहा कि मैं एक बार तुम्हें दूँगा, फिर क्या तुम दूसरेके पास माँगनेके लिए जाओगे? नहीं, जब तुम मेरे पास आ गये तो अब तुम्हें कहीं भी याचना नहीं करनी पड़ेगी। कहीं भी माँगना नहीं पड़ेगा। दुनियाँमें किसीसे माँगिये मत। और यदि माँगना हो तो जानकीके जो प्राणपति हैं, उनसे माँग लीजिए, क्योंकि उनसे माँग लेनेके बाद याचना ही जल जाती है।

जब भगवान् देखते हैं—उनके पास जाकर माँगनेका मन भी नहीं होता। उनसे श्रेष्ठ कोई भी नहीं है। जिस वरसे बढ़िया वर दूसरा नहीं है। ईश्वर है न! ईश्वरमें वर तो है ही। वरेण्य है। जिस वरसे बढ़िया वर दूसरा नहीं है—उसके पास हम गये और वह कहे कि हम तुम्हारा व्याह किससे करवा दें? अरे बाबा, जो सबसे बढ़िया वर है, उसके सामने तो हम आ गये। अब तुम दूसरेसे व्याह करानेकी बात करते हो?

तेषामेवानुकम्पार्थम् अहमज्ञानजं तमः।

अनुकम्पा बरस पड़ी; क्योंकि प्रेममें अभिमान नहीं होता है। अनुकम्पाका अर्थ कम्पन है। दया पात्रका हृदय जो थरथर-थरथर काँप रहा है, उसके पीछे भगवान्का हृदय भी वैसे ही काँपने लगता है। क्योंकि भगवान्का अपना हृदय नहीं है। भगवान्का हृदय ही अपना हृदय है। इसके लिए हम वेदान्तियों की गवाही दे सकते हैं। वे कहते हैं—कार्योपाधि ज़ीवमें है। कार्योपाधि परमेश्वरमें है ही नहीं।

कार्योपाधिः जीवः, कारणोपाधिः ईश्वरः।

भगवान्के पास अपना दिल नहीं, भक्तके दिलको ही भगवान् अपना दिल मानते हैं, और जब भक्तका दिल काँपने लगता है जो भगवान् स्वयं काँपने लगते हैं। यही उनकी अनुकम्पा है। भक्तके काँपनेके पीछे काँपनेका नाम अनुकम्पा है। प्रेम बरस पड़ा, रस बरस पड़ा, आनन्द बरस पड़ा।

अब दो बात सुनाता हूँ—गोपियोंके सारे बन्धन टूटकर गिर गये। कर्मका बन्धन, वासनाका बन्धन, अज्ञानका बन्धन सब-के-सब टूटकर गिर गये। कैसे गिरे? जब श्री कृष्णके बिरहका अनुभव करती हैं, गोपियोंमें इतना ताप होता है, इतना ताप होता है कि उस बिरह नादको देखकर त्रिलोकीका त्रैकालिक ताप—तीनों लोकोंमें कभी बड़ा-से-बड़ा दुःख हुआ हो, वह दुःख थरथर काँपने लगा—अरे कृष्णके बिरहमें इतना दुःख! सारे पाप भस्म हो गये। अब हम उनको और क्या दुःख देंगे? ये तो कृष्णके बिरहमें ही इतनी दुःखी है और उनका कर्म जल गया। उनकी वासना जल गयी। उनका अभिमान जल गया। उनका अज्ञान जल गया।

कृष्णके साथ आया आनन्द, ध्यानमें मिला आलिङ्गन—श्री कृणने अपने हृदयसे लगा लिया, इतना आनन्द हुआ गोपियोंको। इतना आनन्द हुआ कि त्रिलोकके जो त्रैकालिक पुण्य हैं, तीनों लोकमें जितने जीव हुए हैं और उन्होंने जितना पुण्य कभी किया है, कर रहे हैं, करेंगे—सबने देखा—बोले सब मिला सकें जो क्या जीवको इतना आनन्द दे सकेंगे? बोले नहीं—हम तो इतना आनन्द नहीं दे सकते। तो सबका अभिमान टूट

गया। सारे पुण्य क्षीण होकर गिर गये। सारा मंगल, सारा पाप, सारा पुण्य क्षीण हो गया और भगवान् मिल गये।

विरहमें अभिमान नहीं रहता है, विरहमें तो अभिमान हो ही नहीं सकता। संयोगमें भी अभिमान नहीं हो सकता। यह है प्रीतिकी रीत निराली। भगवान्की अनुकम्पा, भगवान्की कृपा, भगवान्की दया! अब क्या करते हैं? बल्ब जलाते हैं, मसाल जलाते हैं, दीपक जलाते हैं। भगवान्ने कहा किसलिए? तो तुमको देखनेके लिए। अन्धेरेमें तुम दिखते नहीं हो, मैं रोशनी जलाकर तुम्हें देखूँगा और बोले तुम बैठे रहो, पलंग पर लेटे रहो—मैं अपने आप ही रोशनी कर देता हूँ। मैं बटन दबा दूँगा, मैं मशाल जलाऊँगा, मैं दीपक दिखाऊँगा।

अहम् अज्ञानजं तमः नाशायाम्यात्मभावस्थः।

यह अज्ञानजनित जो तमः है, अन्धकार है, इस अन्धकारको मिटानेके लिए तुमको कुछ नहीं करना पड़ेगा। न कर्म, न उपासना, न योग, न विवेक, न वैराग्य, न समाधि—तुमको कुछ नहीं करना पड़ेगा। मधुसूदन सरस्वतीने गीताके श्लोककी व्याख्यामें कहा है कि बिना कर्मके, बिना उपासनाके, बिना योगके जब कृपा आयी, अनुकम्पा आयी तब यह देखना धर्म है कि कोई विवेकी है कि नहीं—वैराग्यवान् है कि नहीं?

कृपा-पात्रकी योग्यता यही होती है कि वह निःसाधन है। कृपा-पात्रकी योग्यता साधनाकी नहीं होती है, कृपा-पात्रकी योग्यता तो उसकी निःसाधनता है। नहीं तो आप कुब्जाके पूर्वजन्मकी कथा ढूँढें। कुब्जाने पूर्व जन्ममें कौन-सी ऐसी साधनाकी थी कि कुब्जा हो गयी और भगवान्ने उसको अपना लिया। अत्यन्त निःसाधन ही नहीं, कु-साधन-सम्पन्न थी कुब्जा। अजामिल था, कु-साधन सम्पन्न। परन्तु नामने उसका उद्धार किया। कुब्जा थी अत्यन्त कु-साधन-सम्पन्न किन्तु भगवान्के रूपने उसका उद्धार किया। भगवान्के नाम और रूपकी यही महिमा है। जैसा नाम वैसा रूप।

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः। नाशयाम्यात्मभावस्थः।

कहाँ बैठकर मसाल दिखाते हो? 'आत्मभावस्थः।' उसके हृदयमें उसके आत्माके रूपमें ही बैठकर और वहींसे अपने ज्ञानका प्रकाशमय दीप लेकर मैं दिखाता हूँ। अज्ञानका नाश हुआ। 'तमः'का नाश हुआ। परमात्माका प्रकाश हुआ। इसमें विभूति भी है और इसमें योग भी है। इसमें अज्ञानका जो नाश है यह विभूति है और इसमें जो नाश करनेवाला आत्मभावस्थ है वह योग है। भगवान्का हमारे हृदयमें बैठ जाना, यह योग है और बैठकर हमारे अज्ञानान्धकारका नाश करना, यह विभूति है।

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः॥ 10.7

यह संसार भगवान्की विभूति है और हमारी आत्माके रूपमें भगवान्का योग है, चाहे जहाँ रहो, चाहे जब रहो, चाहे जिस रूपमें रहो, चाहे जो करते रहो। प्रेमसे करो, उसके लिए करो।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

प्रवचन : 9

(18-11-80)

भजतां प्रीतिपूर्वकम्।

प्रेमसे भगवान्‌का भजन करो। अभी आप लोगोंने स्वरके साथ, संगीतके साथ वेद-मन्त्रोंका पाठ सुना। श्रीकृष्णकी महिमा, उनका सौन्दर्य उनका माधुर्य श्रवण किया। आनन्द आया। शास्त्रमें तो ऐसा लिखा है कि कोई जानकर हो, न-हो अपनी समझमें आवे-न-आवे ईश्वरका नाम संगीतमें सुनकर आनन्द आता है। न समझा हुआ भी संगीत जब कानोंमें पड़ता है हृदयमें आनन्दका झरना बहने लगता है। बड़ा आनन्द आया, प्रसन्नता हुई। फिरसे सुननेको मिलेगा। अब आपको गीताकी बात सुनाते हैं। आप कहोगे कि श्लोक एक ही बार-बार दुहरा देते हैं।

मच्चित्ताः माने हमारा अध्यात्म भगवान्‌में लगा गया है। हमारा मन हमारी बुद्धि भगवान्‌में लग गयी। **मद्‌गतप्राणाः** माने हमारा जीवन और हमारी क्रिया—प्राणसे क्रिया, मतलब है—भगवान्‌को समर्पित है। **बोधयन्तः परस्परम्** माने एक दूसरेको बुद्धि दान कर रहे हैं। वह इनको समझा रहा है, यह उनको समझा रहा है, भगवान्‌के बारेमें। **कथयन्तश्च मां नित्यम्**—परस्पर नहीं समझा रहे हैं, अकेले ही कोई कथन कर रहा है। एक हुआ मन, बुद्धिका भगवान्‌में लगना, **मच्चित्ता**—अन्तरङ्ग हो गया। मद्‌गतप्राणा—जीवन भगवान्‌के लिए हो गया। क्रिया सारी भगवान्‌के लिए और **बोधयन्तः परस्परम्**—दो, तीन, चार मिलके एक दूसरेको समझाते हैं। सामूहिक हो गया और **कथयन्तश्च मां नित्यम्**—वक्ता एक है और श्रोता अनेक है। यह हो गयी भक्तिकी साधना। अब इसमें यह बात बतायी कि **तुष्यन्ति च रमन्ति च।**

जैसे संसारमें लोगोंको धनकी प्राप्तिसे सन्तोष होता है वैसा सन्तोष भगवान्‌में मन, बुद्धि लगानेसे, भगवान्‌के लिए जीवन व्यतीत करनेसे, क्रिया करनेसे, समझने-समझानेसे और भगवत्-सम्बन्धि चर्चा करनेसे प्राप्त होता है, और 'रमन्ति च' संसारमें जैसे कोई प्रेम हो—तो घण्टे-आध घण्टे चुप भी रहें तो जहाँसे प्रेमकी बात आरम्भ होती है, वहींसे फिर शुरू हो जाती है। अपना किसीसे प्रेम हो, उससे बात करें तो घण्टे-आध-घण्टे बाद उसकी चर्चा करेंगे। भीतरमें उसका ख्याल चलता रहता है। **रमन्ति च**—जैसे प्रेयसी, प्रियतम एक-दूसरेके साथ रम जाते हैं। वैसे भगवान्‌में वे रम जाते हैं। धनप्राप्ति अथवा कामप्राप्ति होनेपर जैसा आनन्द होता है; वैसा ही भगवान्‌में आनन्द आता है। गोस्वामीजीने कहा—'**कामी नारि पियारी जिमि**'—यह 'रमन्ते च'का अर्थ हो गया। और 'लोभी प्रिय जिमि दाम' यह 'तुष्यन्ति च'का अर्थ हो गया और **चरमन्ति च चरमादवस्थाम् अनुभवन्ति**—इसके आगे कुछ और नहीं है। बस, इसीसे सन्तुष्ट हैं।

अब भगवान्‌ने देखा कि ये तो प्रीति और प्रीतिपूर्वक भजनमें डूब गये। इनको कोई ज्ञान ही नहीं—न शरीरकी याद है, न घरकी याद है, न संसारकी याद है तो बोले भाई, इन्होंने तो अपना सर्वस्व हमको दे दिया। अब हमको भी कुछ करना चाहिए। भगवान् केवल ले ही लें—गोस्वामीजीने तो एकांगी प्रेमका बहुत महत्त्व गाया है। पर ब्रजमें एकांगी प्रेमका बहुत महत्त्व नहीं माना है। जैसा प्रेम हम भगवान्‌से करते हैं, वैसा ही प्रेम भगवान् भी हमसे करते हैं। जब हम भगवान्‌के लिए रोते हैं तो भगवान् भी हमारे लिए रोने लगते हैं। जब हमें भगवान्‌के लिए नींद नहीं आती तो भगवान्‌को भी हमारे लिए नींद नहीं आती। यह भागवतमें है—

तथाहमपि तच्चित्तो निद्रां च न लभे निशि।
वेदाहं रुक्मिणा द्वेषान्ममोद्वाहो निवारितः॥ (10.53.2)

जैसा रुक्मिणीका चित्त मुझमें लग गया है, वैसे ही मेरा चित्त भी रुक्मिणीमें लग गया है। रातको हमें नींद नहीं आती है। तारे गिन-गिनकर रात बिताता हूँ, रुक्मिणीके लिए। ऐसे भगवान् हैं। दूसरे मजहबमें ऐसे भगवान् नहीं है, जो अपने भक्तके लिए तारे गिनते हों। हम किसी मजहबपर आक्षेप नहीं करते हैं, पर यह निश्चित है कि भगवान् हैं ही नहीं ऐसे किसी मजहबमें!

झर-झर आँखोंसे आँसू गिर रहे हैं भगवान् कृष्णके। हमारा भगवान् प्रेमको एकाङ्गी रखने ही नहीं देता।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

जब कोई भक्त भगवान्‌का नाम लेने लगता है तो भगवान् भी भक्तका नाम लेने लगते हैं। आपने रामचरितमानसमें सुना होगा। रामचन्द्र 'भरत-भरत' का जप करते हैं। जग जपु राम-राम जपु जेही। जगत् राम-रामका जप करता है और भगवान् भरत-भरतका जप करते हैं। कौन बड़ा? 'राम-राम' बड़ा है कि 'भरत-भरत' बड़ा है? 'जग जपु राम-राम जपु जेही। जब भगवान् देखते हैं कि हमारा भक्त हमारे प्रेममें मग्न हो गया।

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

सततयुक्तानाम्—वह और किसीके साथ जुड़ता ही नहीं है, भगवान्‌के साथ निरन्तर जुड़ जाते हैं और प्रीतिपूर्वक भजन करते हैं। भजन करते हैं अर्थात् हमें रस देते हैं और हमसे रस लेते हैं। यह परस्परकी प्रीति है। ये जो सामान्य भक्त होते हैं, वे केवल भगवद्रसका आस्वादन करते हैं। और जो उत्तम कोटिके भक्त हैं वे भगवान्‌को रस देते हैं। पर जितना-जितना रस देते हैं, उतनी ही उनकी रसकी वृद्धि होती है।

श्रीराधारानीको देखकर श्रीकृष्णके बढ़ते हुए आनन्दको देखकर श्रीराधारानीका आनन्द बढ़ता है। श्रीराधारानीका बढ़ता हुआ आनन्द देखकर श्रीकृष्णका आनन्द बढ़ता है। दोनों अपने व्यक्तित्वको भूल जाते हैं, व्यक्तित्व आनन्दमें समा जाता है और आनन्द-ही-आनन्द, रस-ही-रस, प्रेम-ही-प्रेम। **भजतां प्रीतिपूर्वकम्।'**

अब भगवान्‌के मनमें आया कि इसने जो इतने प्रेमसे मेरा भजन किया—अब हम इसको क्या दें? प्रेमी लोगोंकी बुद्धिके बारेमें जरा शङ्का होती है। बुद्धिको रखकर प्रेम नहीं करते हैं। चितरञ्जनदासने बँगलामें एक पद लिखा था। हिन्दीमें उसका अनुवाद ऐसा हुआ—

चतुराई, चेतना सभी चूल्हेमें जावे।
बस मेरा मन एक ही आश्रय पावे॥
आग लगे आचार-विचारोंके उपचयमें।
उस प्रभुका विश्वास सदा दृढ़ रहे हृदयमें॥

जीवन भर नास्तिक रहे और जीवनकी अन्तिम सन्ध्यामें आस्तिक हो गये। भगवान्के भक्त हो गये। ये भक्त जब प्रेमके समुद्रमें डूबते हैं, तो उनका आचार-विचार भूल जाता है तो भगवान्ने कहा कि इनकी बुद्धिकी जिम्मेवारी हमारे ऊपर आगयी। **ददामि बुद्धियोगं तम्**। भगवान् बुद्धियोग देते हैं। यह दोनों तरहसे होता है। पहले बुद्धियोग आवे फिर मच्चित्तता आवे।

बुद्धियोगम् उपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव।

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि—जो बुद्धियोगी होगा, उसका मन भगवान्में जरूर लगेगा। और जो अपना मन प्रेमसे भगवान्में लगावेगा, उसको बुद्धियोगकी प्राप्ति होगी। उसको वह अक्कल आ जावेगी, वह बुद्धि आ जावेगी, जिससे वह भगवान्के पास पहुँच जाय। बहुत बढ़िया बात भगवान्ने कही। इसके बाद जो भगवान्ने बात उठायी वह और बढ़िया है—

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥

'तेषाम् एव भजताम् एव-'**तेषाम्**' पदका जो अन्वय है वह 'प्रीतिपूर्वकम् भजताम्' के साथ है और 'तेषां माम् उपयातानाम्। ददामि बुद्धियोगं तं येन माम् उपयान्ति ते। बुद्धियोग मां उपयातानाम् एव।' एक अर्थ ऐसे होगा और एक अर्थ होगा—**'प्रीतिपूर्वकम् भजतां एव तेषाम्। भजतां तेषाम् एव।'**

जो प्रेमपूर्वक प्रीतिसे तृप्त होकर भजन करता है, प्रीति माने तृप्ति। तो प्रीतिके दो अङ्ग होते हैं। एक प्यास और एक तृप्ति—जो प्यासे होकर भजन करते हैं—जैसे मरुस्थलमें। पानी,पानी, पानी—प्रभु, प्रभु, प्रभु। और एक बंगाली रसगुल्ला खाकर तृप्त होवे—बङ्गाली लोग तो बोलते भी इतना मीठा है जैसे उनके मुँहमें रसगुल्ला भरा हो—**'तेषामेव प्रीतिपूर्वकम् भजताम्'** जो प्रीतिपूर्वक भगवान्का भजन करते हैं—व्याकुलता और तृप्ति। तृप्ति होती रहे और प्यास लगी रहे। दोनों एक साथ चाहिए।

महात्माका स्वरूप क्या है? कृष्ण-तृष्णा मूर्तिमयी हो गयी। महात्मा है कृष्णकी तृष्णा—कृष्णविषया तृष्णा। कृष्णकी प्यास लगी है। हमको कौन चाहिए? कृष्ण चाहिए, कृष्ण चाहिए। शङ्कराचार्यने कहाकि जब कृष्णकी तृष्णा आती है तब संसारकी सारी तृष्णा मिट जाती है। गङ्गाजीकी स्तुतिमें शङ्कराचार्यने कहा—

भगवति तव नीरे नीरमात्राशनोऽहं
विगत-सकल-तृष्णाः कृष्णमादधामि।
सकलकलुषभङ्गे स्वर्गसोपानसङ्गे
तरलतरतरङ्गे देवि गङ्गे प्रसीद॥ (7)

सारी तृष्णाओंकी निवृत्ति हो गयी—**कृष्णविषया तृष्णा**—कृष्ण तृष्णा—कृष्णके लिए तृष्णा। अथवा महात्मा क्या है? कृष्णस्य तृष्णा। भगवान्‌के मनमें भी एक प्यास होती है। वह भगवान्‌के मनकी प्यास जब मूर्तिमती होती है। तो महात्माके रूपमें आजाती है। स्वयं पेय बन जाते हैं और स्वयं पाता बन जाते हैं। स्वयं रस्य, स्वयं रसिक—वही रस देते हैं, वही रस लेते हैं। भगवान्‌के रूपमें भक्त और भक्तके रूपमें भगवान् उलटी बात हो जाती है—भक्त भगवान् हो जाते हैं और भगवान् भक्त हो जाते हैं। भक्त हो जाता है आनन्दका खजाना और भगवान् हो जाते हैं प्यासे, आनन्दके खजाने और भक्त हो जाता है प्यासा। भगवान्‌के पास जब आगये तब—

तेषामेवानुकम्पार्थम् अहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥

भक्तकी तन्मयता देखकर भगवान्‌के हृदयमें अनुकम्पाका उदय हुआ। जो अचल था वह चलित हो गया। जो निःस्पन्द था वह स्पन्दित हो गया। भगवान्‌का हृदय थर-थर-थर थिरकने लगा—नाचने लगा। भगवान्‌के हृदयमें भक्तके लिए नर्तन है, नृत्य है, स्पन्दन है।

थोड़ी '**तेषामेव**' की बात करते हैं। भगवान्‌की कृपा सबके ऊपर क्यों नहीं होती? उनके लिए तो सब हैं, सबपर कृपा होनी चाहिए। इस प्रश्नका उत्तर दूसरे मजहबोंमें नहीं है। हम सब मजहबोंको मानते हैं। और सबकी प्रशंसा करते हैं और सब मजहबवालोंको आदरकी दृष्टिसे देखते हैं। लेकिन जब दोनोंका विश्लेषण करना पड़ता है, तब अलग-अलग करके बताना पड़ता है।

भगवान्‌ने किसी एकपर कृपा क्यों की? एकको सुखी बना दिया, एकको दुःखी बना दिया। एकको धनी बना दिया, एकको गरीब बना दिया। एकको काला बना दिया, एकको गोरा बना दिया। यह विषमता भगवान्‌में क्यों? जैन और बौद्ध तो ईश्वरकी चर्चा नहीं करते हैं। वे तो अपने अनेक तीर्थङ्करोंको और अपने बुद्धोंको ही परमेश्वरके स्थान पर रखते हैं, अनेक होते हैं तीर्थंकर और अनेक होते हैं तथागत। ये तो इस विषयमताको कर्ममूलक मानते हैं। अनादि कालसे यह सृष्टि चल रही है और कर्मके अनुसार कोई सुखी कोई दुखी, कोई काला कोई गोरा, कोई धनी कोई गरीब होता है। जैन और बुद्ध दोनों धर्मोंमें कर्ममूलक विषमता मानी जाती है।

ईसाई और मुसलमान इस विषमताको खुदाकी मौज मानते हैं। मौज माने तरङ्ग—मूड! यह ईश्वरका मूड है कि चाहे जिसको गरीब बना दे। चाहे जिसको धनी बना दे और चाहे जिसको सुखी बना दे, चाहे जिसको दुःखी बना दे। यह मौज है—तरङ्ग है—उसके चित्तका उल्लास है। लगता है जैसे खुदा बहुत मूडी हो। सनातन, वैदिक धर्मने इसकी व्यवस्था ऐसे बैठायी कि—

वैषम्य नैघृण्ये न सापेक्षत्वात् तथा हि दर्शयति। (ब्रह्मसूत्र 2.1.34)

कहनेका अभिप्राय यह है कि ईश्वरमें विषमता और निर्दयता नहीं है। वह किसीका पक्षपात करे और किसीके साथ क्रूरता करे, ऐसी उस परमेश्वरकी मौज नहीं हो सकती। जिस जीवने कभी कुछ किया ही नहीं,

उसको बिना किये सुख-दुःख भोगनेको मिल रहा है और जो इन जन्ममें कर रहा है, उसका अगले जन्ममें नहीं मिलेगा तो उसके किये हुएका नाश हो जायेगा और बिना किये हुएका आगमन होगा। दोष तो प्राप्त होंगे जीवोंको, और ईश्वरने किसीका क्यों पक्षपात किया? किसीको क्यों दुःख दिया? किसीको क्यों सुख दिया? तो यह पक्षपात—क्या कोई अपने रिश्तेदार थे कि उनको सुख दे दिया? क्या कोई अपने दुश्मन थे कि उनको दुःख दे दिया? नहीं, भगवान्‌में पक्षपात और क्रूरता नहीं है। क्योंकि **'सापेक्षत्वात्'** कर्म तो जड़ है—स्वयं अपना फल नहीं दे सकता। न अपने कर्ताको पहचान सकता है और न क्या फल दें यह उसको ज्ञान हो सकता है—इसलिए युक्तिसंगत मत यही है कि कर्मका फलदाता ईश्वर होवे। जिसका जैसा कर्म होता है, उसको वैसा फल देता है।

हमारे जो भक्त हैं, उनका कर्म क्या है? **भजतां प्रीतिपूर्वकम्**—प्रेममें भगवान्‌का भजन करना। जो प्रेमपूर्वक जन करते हैं, मैंने उसको बुद्धियोग दिया और बुद्धियोगके द्वारा मेरे पास पहुँचे। यह बुद्धियोग तो बहुत बढ़िया वस्तु है। यह जो तीसरी बात बता रहा हूँ वह किसी भी मजहबमें नहीं ऐसा बुद्धियोग होता है कि पाप-पुण्य दोनों यहीं नष्ट हो जावेंगे। न आगे नरकमें जाना पड़ेगा, न स्वर्गमें जाना पड़ेगा। यहीं 'बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।' जिसको बुद्धियोग प्राप्त हो जाता है वह सुकृत-दुष्कृत माने पाप और पुण्य लेकर अपने साथ नहीं जाता। मुक्त हो जाता है। ऐसी मुक्ति और कहीं नहीं है। अद्‌भुत है। जिसने भजन किया वह भी कयामतके दिनतक कब्रमें रहे और फिर वहाँसे निकले तो स्वर्गमें जावे—ना बाबा यहीं लो! पाप-पुण्य दोनों और पापका फल और पुण्यका फल—दोनों यहीं छोड़नेकी रीति गीतामें है।

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्॥ (2.51)

तो यह बुद्धियोग है। बुद्धियोग भगवान् देते हैं। ठीक है, अब इन्हींके ऊपर भगवान्‌की कृपा उतरी—दो विभाग कर दिये—एक तो बुद्धियोग प्राप्त करके भगवान्‌को प्राप्त कर लेते हैं और जिनको बुद्धियोग पसन्द नहीं आया और चित्त द्रुत नहीं हुआ—अद्रुत चित्त है, उनको तो बुद्धियोगने ठीक कर दिया। लेकिन जिनका चित्त द्रुत है और बुद्धियोगको स्वीकार नहीं करते, उनको भी कुछ नहीं चाहिए।

मैं चाहे अन्नमय कोश हूँ या प्राणमय कोश हूँ—इससे हमारा कोई मतलब नहीं—हमारे ऊपर सद्‌गुण है कि दुर्गुण हैं, इससे कोई मतलब नहीं—मैं जैसा था, हूँ, होऊँगा वह सब आज अभी आपके चरणोंमें समर्पित है। भगवान्‌ने कहा—यह तो हमारी चीज है, हमारी वस्तु है, इसमें कोई दोष होगा तो सेवकका दोष तो स्वामीका दोष माना जाता है। मैं ही दोषी हो जाऊँगा।

श्रीरामचन्द्र भगवान्‌ने कहा—

परं ममैव मरणं मद्‌भक्तो हन्यते कथम्।
भृत्यापराधे सर्वत्र स्वामिनो दण्डयिष्यते॥

यदि भृत्यसे, सेवकसे, अपराध हो जावे तो स्वामीको दण्ड देना चाहिए। विभीषणसे अपराध हुआ—

रावण मर गया तो इसका दण्ड मुझे मिलना चाहिए। पद्मपुराणमें कथा है। भक्तने तो अपने आपको भगवान्के प्रति समर्पित कर दिया तो भगवान् अनुकम्पा करेंगे ही। भागवतमें जहाँ ऐसा कहा गया है—वहाँ उसका दो अर्थ किया जाता है—श्रीधर स्वामीने जगह-जगह दो अर्थ किये हैं। **'अनुकम्पाये अर्थाय च—अनुकम्पार्थम्'**—अनुकम्पा और अर्थ दोनों। दोनोंका मतलब क्या हुआ? अनुकम्पा परम-प्रेमाविर्भाव: अर्थ: मत्प्राप्ति:—मेरे परम ज्ञानका आविर्भाव हो जावे—उसके हृदयमें इसके लिए मैं उससे मिल जाऊँ। दोनों—कृपा भी आया, और वस्तु भी आयी।

एक बार आनन्दमयी माँने विचित्र खेल किया। नैमिषारण्यमें मैंने श्रीमद्भागवत सुनाया, पूरा पन्द्रह दिनोंमें चार घण्टे रोज। वे एक सिंहासनमें शालिग्रामकी मूर्ति रखकर; अपने सिरपर लेकर आयी, बोलीं—पिताजी, मैं आपको यह दक्षिणा देनेके लिए आयी हूँ। दक्षिणा लीजिये—सिंहासन और शालिग्राम-शिला। मैंने अपने हाथमें सम्हालना चाहा तो माँने कहा कि पिताजी—इस दक्षिणाके साथ मैं अपने आपको भी देती हूँ। अब इससे बढ़िया और क्या होगा? यह भगवान् जब अपने भक्तको अपनी कृपा अर्पित करते हैं तो केवल कृपा ही अर्पित नहीं करते हैं।

तेषामेवानुकम्पार्थम् अहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥

उनके आत्मभावमें मैं स्थित हो जाता हूँ। आत्मभाव शब्दका दोनों अर्थ हुआ। उनके हृदयमें जो भाव है—उस भावमें भगवान् आकर बैठ जाता है। आत्मभावस्थ—भावमें भगवान् बैठ गये। भाव स्थायी भाव हो गया और जहाँ स्थायी भाव हुआ वहाँ हृदय रस हो गया। यह भावमें स्थायित्व न होनेसे ही रसानुभूति नहीं होगी। साहित्यिक लोग इस बातको जानते हैं।

खूब कोमल हृदय हो, मक्खनकी तरह कोमल हृदय हो—और ममत्वातिशयसे अंकित हो, उसमें अतिशय ममत्वकी रति हो और बहुत गाढ़ा भाव हो तो उस भावका नाम है प्रेम। ये प्रेम ही स्थायी भाव है। जहाँ भाव स्थायी हुआ वहाँ रस आया—आपके जीवनमें जो भजन करनेपर भी रस नहीं है—उसमें स्थायी भावकी न्यूनता है। भावमें स्थायित्व नहीं है।

हमारे एक महात्माने कहा—वृन्दावनमें तो रसका अनुभव होता है—जब श्रीकृष्ण और बलराम मथुरामें गये तो ग्वालवालोंकी मण्डलीके साथ नृत्य कर रहे थे। मथुरामें प्रवेश कर रहे थे। मथुराकी स्त्रियाँ—आगयीं—छज्जेपर—सड़कपर—दरवाजे पर—निकलकर जब राम-श्यामकी मण्डली नृत्य करती थी—तब वे श्यामको देखें, तब वे कहें यह हमारा प्यारा है, बहुत प्यारा है, बहुत मधुर है। हमको तो यही चाहिए। परन्तु जब नृत्य करते हुए श्रीकृष्ण दूसरी ओर जायँ और उधरसे गौर सुन्दर नीलाम्बरधारी राम आजायँ सामने तो कहें—अरे यह हमारा प्यारा है। तो स्थायी भाव ही न हो। न श्याममें स्थायी हो, न राममें स्थायी भाव हो। रसानुभूति कहाँसे होगी?

जब चित्त इतना चञ्चल होगा तो रसकी अनुभूति कहाँसे होगी? स्थायी भाव आगया—भक्तको मेरे

सिवाय कुछ सूझता ही नहीं है। अज्ञानान्धकार कैसे दूर होगा? तो बोले हमको मशालची बनना पड़ता है। क्या बढ़िया है? जिसके घरमें हम जाना चाहते हैं। जिससे मिलना चाहते हों—जिसके लिए व्याकुल हो रहे हों, जिसके स्मरणसे तृप्ति हो रही हो, जिसके देखनेके लिए हमारी यह यात्रा है, वही यदि हमें रास्ता दिखानेके लिए हमारे सामने आजाय तो इससे बढ़कर और क्या आनन्द होगा? **आत्मभावस्थः**—ज्ञान दीपक दिखाते हैं—परन्तु कहाँ बैठकर दिखाते हैं—आत्मरूपमें बैठकर दिखाते हैं—आत्मभाव माने भावना नहीं—आत्म सत्ता—आत्मरूपसे बैठकर ज्ञानदीपक दिखाते हैं। भागवतमें इसकी व्याख्या है—

यदा यमनुगृह्णाति भगवानात्मभावितः।
स जहाति मतिं लोके वेदे च परिनिष्ठिताम्॥ (4.29.46)

जब आत्मभावसे भावित भगवान् अनुग्रह करते हैं तब हमारा ही ग्रह उनका ग्रह हो जाता है। अनुग्रहका अर्थ यह होता है कि हमारे भक्तका जो ग्रह है, वही हमारा ग्रह है। ग्रह माने ग्रहण। हम एक ही राशिके हैं भाई! एक ही तरहके हमारे ग्रह हैं। यज्ञ-यागमें सोमपान करते हैं। जिस प्यालेमें लेकर सोमपान करते हैं, वह ग्रह होता है—तो अनुग्रहका अर्थ यह हुआ कि जिस प्यालेमें भक्त पी रहा है, उसी प्यालेमें भगवान् पी रहे हैं। क्या अद्भुत ग्रह है।

ग्रह माने हमारा मतलब आकाशके ग्रहोंसे नहीं है। ये तो ज्योतिषियोंके लिए होते हैं। हमलोगोंको तो धरतीपर पाँव रखकर चलना है न! अपनेको हम ऐसा बना सकते हैं—जैसे आकाशसे वर्षा होती है तब हम छाता लगा लेते हैं—बरसाती पहन लेते हैं। तो वर्षा बन्द नहीं होती है, हम वर्षासे बच जाते हैं। जो ग्रहोंकी पूजा-पाती होती है वह यह नहीं कि ग्रहकी स्थिति या गति बदल जाय और दुनियापर जैसा उसका प्रभाव पड़ रहा है वह न पड़े। हम अपनेको सुरक्षित कर लेते हैं। उस ग्रहके प्रभावसे अपने आपको मुक्त कर लेते हैं।

भगवान्ने कहा कि तुम्हारे साढ़े साती शनैश्चर है—हमारे भी साढ़े साती शनैश्चर है। माने तुम नरकमें रहोगे तो हम नरकमें रहेंगे। तुम वनमें रहोगे तो हम वनमें रहेंगे। तुम भूखे रहोगे तो हम भूखे रहेंगे। तुम्हारे दुःखमें हम भी दुःखी रहेंगे। तुमको हम छोड़कर कहीं जानेवाले नहीं है। यह लो अनुग्रह। जब भगवान् अनुग्रह करते हैं—कैसे? आत्मामें बैठकर। तब फिर वेद-निष्ठा, लोक-निष्ठा इन दोनोंको कोई जरूरत ही नहीं रहती है। यह भागवतका श्लोक है।

स जहाति मतिं लोके वेदे च परिनिष्ठिताम्।

सब निष्ठा छूट गयी। एक निष्ठा आगयी। **'अनुकम्पार्थम्'**—अब भगवान्ने क्या किया? बोले—भगतराज, चले आओ—चले आओ!

एक बात सुनाता हूँ—हमको किसीसे मिलने जाना था। लम्बी यात्रा थी 24 घण्टे रेलगाड़ीमें रहना था। पहचान बिल्कुल नहीं थी। चिट्ठी-पत्री बहुत थी। चिट्ठी-पत्रीमें तो खूब-खूब प्रेम था। पर देखा-देखी नहीं थी। दिल्लीमें मैंने थर्डक्लासके डब्बेमें चढ़नेकी कोशिश की तो एक सज्जन बोले आइये-आइये और अपने पास

बैठा लिया। उन्होंने पूछा—आप कहाँ जा रहे हैं। मैंने उन्हें शहरका नाम बताया—बोले अच्छा आप वहाँ जा रहे है, मैं भी वहीं जा रहा हूँ। अच्छा, वहाँ किसके पास जा रहें हैं? मैंने नाम बताया—बोले हाँ-हाँ मैं खूब जानता हूँ। आइये बैठिये! महाराज चौबीस घण्टेकी यात्रा—हमको पानी पिलावें। हमको वे खानेको दें। हमारे सोनेका प्रबन्ध करें। जब उनके स्टेशन पर गाड़ी पहुँची तो उनको लेनेके लिए लोग आये—बड़ा आदर-सत्कार हुआ। मैनें लोगोसे पूछा ये कौन हैं? नाम बताया—वही जिनसे मैं मिलनेके लिए जा रहा था।

जहाँसे हमारी यात्रा प्रारम्भ हुई—वहीं तो हमको मिल गये और हमको प्रेमसे सुलाया, खिलाया, हमको पिलाया, हमसे बातचीत की, प्रेम किया पर यह नहीं बताया कि मैं वही हूँ। यह भगवान्—**अहमज्ञानजं तमः नाशयात्म्यात्मभावस्थः**—हृदयमें आ कर बैठ जाते हैं, हमारे साथ हो जाते हैं। हमारी आत्माके रूपमें ही हो जाते हैं और **ज्ञानदीपेन भास्वता**। परम प्रकाशस्वरूप ज्ञानदीपक लेकर **अज्ञानजं तमः** अज्ञान जनित अन्धकार जिसके कारण हम भगवान्‌को देख नहीं पाते हैं, पहचान नहीं पाते हैं, उस अन्धकारको भगवान् स्वयं ही नष्ट कर देते हैं।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

प्रवचन : 10

(19.11.80)

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥

इतनी बात कहकर श्रीकृष्ण चुप हो गये। इसमें यह कहा गया कि भगवान्‌की बड़ी कृपा होती है तब वे हमारे अज्ञानजन्य अन्धकारको, भ्रमको नष्ट करते हैं। यह बात बड़े-से-बड़े वेदान्तियोंने स्वीकार की है। दो ग्रन्थोंका नाम लेता हूँ, एक तो खण्डन खण्ड-खाद्य जो श्री हर्षकी रचना है। वेदान्तके उच्च-कोटी शिखर ग्रन्थोंमें उसकी गणना है। और एक अवधूत गीता, फक्कड़ोंकी पुस्तकमें, फकीरोंकी पुस्तकमें वह सर्वोपरि मानी जाती है। दोनोंमें यह बात आयी कि—

ईश्वरानुग्रहादेव पुंसामद्वैतवासना।
महद्भयपरित्राणा द्वित्राणामुपजायते॥

ईश्वरके अनुग्रहसे ही मनुष्यके हृदयमें अद्वैत वासनाका उदय होता है। यह ईश्वरके अनुग्रहकी पहचान है। अभिज्ञान है। हमारे ऊपर ईश्वरकी कृपा हो रही है? हाँ हो रही है। कैसे हो रही है? हमारे हृदयमें अद्वैतकी भावनाका उदय हो रहा है। **महद्भयपरित्राणा**—इससे जो संसारका जन्म, मरणका महान भय है, उससे रक्षा हो जाती है। परन्तु **द्वित्राणामुपजायते**—केवल दो-तीन व्यक्तियोंकी होती है। किसी-किसीके हृदयमें अद्वैत भावनाका उदय होता है, नहीं तो अधिकांश किसी-न-किसी संङ्कीर्ण भावनाके वशमें हो जाते हैं। अद्वैत वासना संङ्कीर्ण वासना नहीं है, उर्दीण वासना है। जिसमें अपने-परायेका कोई भेद ही नहीं होता। यह भगवान् सबको नहीं देते हैं, किसी-किसीको देते हैं।

मन्मया मामुपाश्रिताः बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः। (4.10)
तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः॥ (5.17)

भगवान् स्वयं कहते हैं कि अपुनरावृत्ति, माने मुक्ति—जन्म-मरणसे छुटकारा—**ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः**। ज्ञानके द्वारा जो कल्मषको धो डालता है, जिनका हृदय शुद्ध होता है, उन्हींको तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति होती है। अब आओ—**तेषामेवानुकम्पार्थम्**। एक बार फिर दुहरा लें। **तेषामेव**—जो भगवान्‌की भक्ति करते हैं, भजन करते हैं—बड़े प्रेमसे भगवान् उनको पहले बुद्धियोग देते हैं। मानो ऐसी बुद्धि देते हैं, जो भगवान्‌की ओर ले जाय। नहीं तो मनुष्यकी बुद्धि मायाकी ओर जाती है, भगवान्‌की ओर नहीं जाती। भगवान् ऐसा करें तो बुद्धि उनकी ओर जाती है।

जैसे जादूका खेल देखकर आते हैं, जादूगरको पहचानते ही नहीं। नाटक देखकर आते हैं— नटसे पहचान नहीं होती है। नटके अनेक रूप देख लेते हैं। अनेक क्रियाएँ देख लेते हैं, परन्तु नटसे पहचान नहीं होती है। नट कौन है? सिनेमाके परदे पर रोशनीमें जो नाच रहा है। माने एकके बाद एक, एकके बाद एक सैकड़ो चित्र जिसके उभर रहें हैं, वह नट है।

हमारे एक फकीरने जैसे अश्लील भाषामें बोलें वैसे कहा—

वेश्या किया सिंगार है बैठी बीच बाजार,
नजारा सबको मारे। ले खसम को नांव,
खसम सौं परिचय नाहीं।।

वह अपने पतिका नाम तो लेती है, पर पतिको पहचानती नहीं है। यह जिसका नाटक है वह सब परम पति है, परमेश्वर हैं, प्रभु है, उससे पहचान नहीं हुई, तो यह सारा ज्ञान, ये सारी पुस्तकें,ये सारी विद्या, ये सारी बुद्धि—किस काम आयी? उस परम दानशीलको देखे बिना हृदयमें सन्तोष कैसे हो? जो प्रेमसे भगवान्का भजन करता है, उसको ऐसी बुद्धि देते हैं कि वह उनके साथ जुड़ जाय—बुद्धियोगी हो जाय। वह बुद्धियोग भगवान्के पास पहुँचा देता है। यह अवरज्ञान है।

जब अवरज्ञान प्राप्त हो जाता है, बुद्धि भगवान्के साथ जुड़ जाती है, तब भगवान्का सिंहासन डोलता है—**तेषामेवानुकम्पार्थम्।** कहते हैं भगवान् अपनेसे मिलनेकी बुद्धि देते हैं, और वे भगवान्के पास पहुँच जाते हैं जब भगवान्का हृदय द्रुत होकर बह जाता है। **अनुकम्पार्थं तेषामेव नान्येषाम्**—केवल उन्हींपर भगवान्की कृपा होती है, सबपर नहीं।

एक आदमी जेलमें कैद है। उसके आचरणसे राजा प्रसन्न हुआ। प्रसन्न होकर उसने आज्ञा दी कि इसको जेलसे छोड़ दो। उसने कहा— हम सिर्फ जेलसे छूटना नहीं चाहते। हम तो आपके महलमें, आपके रनिवासमें रहकर आपकी सेवा करना चाहते हैं। बोल ना भाई—जेलसे तो हम छोड़ दें लेकिन अभी हम तुमको अपने महलमें नहीं रख सकते। रनिवासमें नहीं रख सकते। जेलसे छूटना दूसरी बात है और महलमें रहकर खास-खवासी विशेष सेवाका पात्र बनाना—दूसरी बात है। यहाँ भगवान् बोलते हैं—मैं अनुकम्पा करता हूँ—कृपा करता हूँ, दया करता हूँ। एक दया होती है, मनुष्यको दुःखसे छुड़ा दे। यह छुड़ानेकी दया है। हम रास्ता चलते किसीको दुःखी देखते हैं तो उसको दुःखसे छुड़ाते हैं। दुःख इसको क्यों हुआ?

इसने कोई बुरा काम किया है, पाप किया है—अच्छा आओ पापसे भी छुड़ा दें। देखो बेटा, अब चोरी मत करना, जूआ मत खेलना, अब नशा मत करना—इससे बुद्धि भ्रष्ट होती है—दुःखसे बचा देना और दुःखके कारण बुरे कामसे बचा देना यह पापसे मुक्ति है, दुःखसे मुक्ति है, यह भी मुक्ति है। पापसे मुक्ति तो प्रायश्चित करके भी होती है, परन्तु पापके फल तापसे जो मुक्ति है, वह तो बिना भगवद्-कृपाके नहीं होती। क्योंकि वह तो हुकुम हो चुका है—दण्ड भोगनेकी आज्ञा दी जा चुकी है, अब उस आज्ञाको वापिस करना—राष्ट्रपति क्षमा

कर दे, यह बात दूसरी है। भगवान् क्षमा करें यह बात दूसरी है और सुप्रीम कोर्टका ओर्डर हो गया यह बात दूसरी है। जो पाप करता है उसको ताप मिलता है।

उपदेशक लोग उपदेश करके पापसे छुड़ा देते हैं और भगवान् कृपा करके तापसे छुड़ा देते हैं और दुःख और पाप दोनोंकी हेतु है वासना—वह अपने चित्तमें रहती है। हम बाहर किसीकी वजहसे पाप करते हैं, यह बात गलत है। हमारा मन ही ऐसा आकृष्ट हो जाता है, खिंच जाता है, प्रलोभनमें फँस जाता है कि उससे हम पाप करने लगते हैं। वासनासे भगवान्‌की भक्ति बचाती है। पापसे शिक्षा देनेवाले लोग बचा सकते हैं। तापसे भगवान् कृपा करके बचा सकते हैं।

परन्तु जो वासनाएँ अपने हृदयमें आती हैं, वे तो भगवान्‌की सत्तामें तो आती ही हैं, भगवान्‌के प्रकाशमें तो आती ही हैं। उनके देखते-ही-देखते आती हैं। उनसे बचाती है भक्ति। भगवान् भी वासनाओंके उदयको नहीं रोक सकते। क्योंकि सारी विश्व सृष्टि उनकी बनायी हुई है। कालिय नागको जब पीटने लगे पाँवसे तो उनकी पत्नियोंने छुड़ाया। स्त्रियोंका आदर पहले भी बहुत अधिक था। कालिय नागको ऐसे नहीं छोड़ा, लेकिन जब उनकी श्रीमती आकर बोली 'छोड़ दो महाराज' तब छोड़ दिया। छोड़ दिया तब कालिय नागने पूछा—

त्वया विश्वमिदं सृष्टम्......

तुमने यह सारी दुनिया बनायी और उसमें ब्राह्मण बनाया, क्षत्रिय बनाया, प्रकृति, महतत्त्व, सबकी सृष्टि तुमनेकी तो तुमने साँप बनाया कि नहीं? कृष्णने कहा—हाँ, साँप मैंने ही तो बनाया है। अच्छा, तुमने साँपके अन्दर विष दिया कि नहीं? दिया। उनका क्रोधी स्वभाव बनाया कि नहीं? हाँ, बनाया। अच्छा तो, साँप भी तुमने बनाया, जहर भी तुमने दिया, क्रोधी स्वभाव भी तुमने दिया—यह मानते हो न? हाँ मानते हैं। तब—बस, अब हमको कुछ नहीं कहना है!

आपकी मर्जी हो तो अनुग्रह करो, आपकी मर्जी हो तो निग्रह करो। कृष्णने कुछ जवाब नहीं दिया। उसके सिरपर पाँव रखकर अपनी मुहर लगा दी। बोले—अब जाओ तुम्हारी मर्जी हो वहाँ रहो, अब गरुड़ तुमको सतावेंगे नहीं, क्योंकि मेरी मुहर है। **मत्पादलाञ्छितम्**—मेरे चरणोंकी मुहर तुम्हारे सिरपर लग गयी, जाओ आजाद हो तुम!

वासना छुड़ाती है। क्योंकि भक्ति भी एक वासना है, वह भगवद् वासना है—शान्त होकर भगवान्‌से एक होना, भगवान्‌की सेवा करना, भगवान्‌से मित्रता करना, भगवान्‌से स्नेह करना—जैसे अपने पतिसे अपने यारसे प्रेम करते हैं, वैसा प्रेम करना। अनेक रूप धारण करके—हमारे हृदयमें भक्ति देवी क्रीड़ा करने लगती हैं तो सारी वासनाएँ भगवान्‌के साथ जुड़ जाती हैं। इससे व्यवहारमें कोई बाधा नहीं पड़ती।

व्यवहार तो शारीरिक है। सारी वासनाएँ भगवान्‌से जुड़ जाती हैं। आप चाहे स्वामीके पाँव दबा लो, चाहे उनके कन्धेपर हाथ रखकर चल लो—चाहे उनको अपनी गोदमें लेकर दूध पिलाओ—चाहे पति-पत्नीके समान उनसे प्यार कर लो—वेदोंमें इन सभी भावोंके मन्त्र आते हैं। भगवान्‌के साथ यह सम्बन्धवाली बात भी वैदिक है।

अभारतीय सम्प्रदायोंमें पुत्रके रूपमें या पतिके रूपमें या मित्रके रूपमें भगवान्से प्रेम करनेकी विधि नहीं है। सूफी लोग भगवान्से प्रेम करते हैं। पर उसमें सम्बन्ध नहीं है। सम्बन्ध रहित प्रीति है, निर्मल प्रीति है। हमारी भारतीय संस्कृतिमें, वैदिक संस्कृतिमें भगवान्के साथ सम्बन्ध जोड़कर प्रेम कर सकते हैं। सम्बन्ध जुड़नेसे एक भाईसे जो प्रेम करना चाहिए, एक पुत्रसे जो प्रेम करना चाहिए—वह भगवान्से हो जाता है।

तात मात, गुरु सखा तुम सब विधि हितु मेरो।
तोहि मोहि नाते अनेक, मानिये जो भावे॥

छुट्टी हो गयी! हम सब कुछ नहीं। हम तो मोमकी पुतली होकर तुम्हारे सामने खड़े हैं। मोम हैं—***'मानिये जो भावे।'*** तुम्हारी मर्जी हो—बेटा बना लो। तुम्हारी मर्जी हो मित्र बना लो। तुम्हारी मर्जी हो—अपना प्रियतम बना लो, पत्नी बना लो। ***'मोहि तोहि—नाते अनेक—मानिये जो भावे।'*** सारे रिश्ते भगवान्से हैं, उनके हाथमें यह जीवन समर्पित है। गोस्वामीजीने कह दिया—'मानिये जो भावे।' हमको तो चाहिए तुम्हारा सान्निध्य! हम तुम्हारे पास रहना चाहते हैं।

ज्यों-त्यों तुलसी कृपालु चरन सरन पावे।

वासनाओंके जो विविध रूप हैं—सभी रूपोंमें हम भगवान्के साथ जोड़ सकते हैं। यहाँ तक कि भागवतमें तो शत्रुता करनेवाले भी भगवान्को प्राप्त करते हैं। ऐसे दृष्टान्त अनेक हैं। वेदके मन्त्रोंको और गोपियोंको जिस भगवान्की प्राप्ति होती है, उसी भगवान्की प्राप्ति शिशुपाल आदिको भी होती है। क्यों होती है? बोले—**स्मरणात्**। स्मरण तो सामान्य ही है—जैसे भक्त स्मरण करता है वैसे शत्रु भी स्मरण करता है।

शिशुपाल स्मरण करता है द्वेषसे तो जिन्दगीभर जलता रहता है और मित्र स्मरण करता है प्रेमसे तो रसास्वादन करता है और मरनेके बाद स्मरण तो एक चमत्कार दिखाता है। वह यह है कि जिसका स्मरण किया उसके साथ एक हो जाओगे। वासनाओंपर विजय भक्तिसे होती है। पापसे छुड़ाना एक बात, दुःखसे छुड़ाना दूसरी बात, वासनासे छुड़ाना तीसरी बात और यह सब होता कैसे है? जब भगवान् बुद्धियोग देते हैं।

सबके ऊपर बुद्धि बैठी हुई है। स्मरण होता है। चरित्र होता है, अन्नमय कोशमें। क्रिया होती है, प्राणमय कोशमें। वासनाएँ हैं मनोमय कोशमें। बुद्धि है विज्ञानमय कोशमें। यही सबका नियन्त्रण करती है। जिसको हम अच्छा समझते हैं, उसको पानेका मन हो जाता है। जिसको बुरा समझते हैं, उसको छोड़नेका मन हो जाता है और छोड़ने-पानेका मन होता है, तब कुछ करनेका मन हो जाता है और जब कुछ करनेका मन होता है तब मिल जाते हैं—वही हो जाते हैं।

भगवान् बुद्धियोग देते हैं। बुद्धियोगके बाद एक अहम्की ग्रन्थि होती है—वह जो अहम्की ग्रन्थि है वह झूठी है। लेकिन पड़ गयी। अहम् और इदम्की—चेतन और जड़की ग्रन्थि होती है। हमको एक जादूगर मिला था—एक ही नावपर बैठ गये थे—उसने मेरे सामने पचीस गाँठ लगायी। मैं देख रहा था बिल्कुल ठीक गाँठ

थी। हमको गाँठ मालूम पड़ रही थी। हाथमें लेकर देख लिया। पर उसने जो खींचा तो सब-की-सब गाँठ— मानो कुछ थी ही नहीं—लगती नहीं थी। गोस्वामीजी बोलते हैं—

जड़ चेतनहि ग्रन्थि परि गई। जद्यपि मृषा छूटत कठिनई॥

'मुधा भेद जद्यपि कृत माया।'—यह भेद बुद्धि जितनी है वह माया है—माया माने जादूका खेल। आप माया शब्दके चक्करमें न पड़ें—संस्कृतमें न जाने किभूत, किमाकार माया होती होगी। माया शब्दकी परिभाषा ही है कि जो है उसका दीखना बन्द कर दे और जो नहीं है, उसको दिखाने लग जाय—उसका नाम माया है—माया माने जादूका खेल। यह एक जादूका खेल दिखायी पड़ रहा है। ग्रन्थिको अध्यास बोलते हैं—अध्यास माने दो चीजकी गाँठ—जरासन्ध। जरासन्धका नाम आपने भागवतमें पढ़ा ही है। दो टुकड़े उसके अलग-अलग थे। जरा राक्षसीने, अविद्याने—चेतन और जड़ दोनोंको जोड़कर एक बना दिया और भीमसेनने श्रीकृष्णके संकेतसे—ज्ञानसे—जरासन्धके दो टुकड़े किये।

भागवत पढ़नेकी भी एक रीति है। भगवान्से प्रेम हो और भगवान्की कृपा उतर आवे और कृपा कर दें भगवान्! यह जो मायाका चक्कर है न—हम प्रेम करना चाहते हैं तुमसे और तुम हमें उँगलीसे दिखा रहे हो दूसरेको। यह कोई प्रेमकी बात हुई! हम तो चाहते हैं भगवान्को देखना चाहते हैं और भगवान् ही हमको दिखें और अपनेको दिखावें—यह बात चाहिए। वह जो ग्रन्थि है—छूटत कठिनई। यदि सत्य मानकर इस गाँठको खोलना चाहोगे और उलझ जायेगी।

हमारे जनेऊ रखनेका एक ढङ्ग है। हम उसको इस ढङ्गसे रखते थे कि मालूम पड़ेगा कि बिलकुल सजाके-सँवारके गाँठ लगाके रखा हुआ है—यदि हम उसको खोलें तो बिलकुल सीधा, बिना गाँठके खुल जाय और अनजान आदमी उसको खोले तो एकदम उलझ जाय। जनेऊको रखना और खोलना भी एक कला है। यह जो जड़ चेतनकी ग्रन्थि है, यह बिलकुल झूठी है और अज्ञानके कारण ही मालूम पड़ती है।

इसको हम ज्यादा खोलकर इसलिए नहीं बताते हैं कि कोई यह न समझे कि हमारी घर-गृहस्थीमें, हमारे व्यवहारमें बाधा डालना चाहते हैं। धन छोड़नेमें आदमीको तकलीफ होती है न! लेकिन आप बताओ धनके साथ आपकी गाँठ कहाँ है? कहीं ग्रन्थि है? क्या धनके मनमें है कि मैं इनका हूँ। क्या धन तुम्हारा है? तुम्हारे मनमें यह गाँठ बन गयी है—तुम अलग, धन अलग और मनमें गाँठ बन गयी कि धन मेरा। यह तो, *'जड़ चेतनहि ग्रन्थि परि गई।'*

'जदपि मृषा छूटत कठिनई।' वह गाँठ रहेगी तो नहीं! गाँठ तो सच्ची है नहीं। दुनियामें कोई चीज किसीकी नहीं है। कहीं कोई बन्धन नहीं है। बन्धनके नामपर लोग इसको कबूल नहीं करते। बन्धन खुले मुँह लोगोंके सामने आता नहीं। नहीं, हमको बन्ध नहीं चाहिए—तो ब्रह्माजीने उसके मुँहपर एक सम्की चादर दे दी। सम्की टोपी लगा दी। जहाँ बन्धके मुँहपर सम् लगा— बोले हम भी 'सम्बन्ध' चाहते हैं। अरे वह सम्की आड़में है तो बन्धन ही न!

बन्धनपर एक झूठा परदा सम्का लगा दिया—उपसर्ग माने जो मूल धातुके अर्थमें परिवर्तन दिखा दे।

आहार, प्रहार, विहार, संहार—बहुत खुला है—एक ही तो हार है। संहारका हार पहनोगे? नहीं पहनेंगे। प्रहारका हार पहनोगे? नहीं पहनेंगे। आहार? हाँ-हाँ आहार तो चाहिए—विहार तो चाहिए। हार तो वही है। यह बन्धन जो है वह झूठा है, कल्पित है और यह अन्धेरेमें मालूम पड़ता है कि मैं बँधा हुआ हूँ। असलमें कहीं बँधे हुए नहीं हैं। कहीं भी, कोई भी, बन्धन, इस आत्माके लिए नहीं है। स्वतन्त्र देश, देशान्तरमें नहीं—काल, कालान्तरमें नहीं, रूप, रूपान्तरमें नहीं—कहीं भी बन्धन नहीं—एक अज्ञान आपके बीचमें पड़ गया है—**अज्ञानेनावृतं ज्ञानम्** गीतामें भगवान् कहते हैं—

अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः।

इस अज्ञानने ज्ञानको ढँक दिया है। ज्ञानके अभावमें ज्ञानको ढँक दिया है? नहीं, अभाव किसीको ढँकता नहीं है। यह अद्भुत है—किसी वस्तुका अभाव, किसीको आवृत नहीं कर सकता। तब! अज्ञानेनावृतं ज्ञानम्का क्या अर्थ है? वहाँ ज्ञान विशेषका अभाव है। जो ज्ञान भगवान् देते हैं, वह ज्ञान तुमको अभी प्राप्त नहीं हुआ और जो ज्ञान है—तुम्हारे जैसा राजनीतिका ज्ञान और किसीको नहीं है। तुम्हारे जैसा भूगोलका ज्ञान और किसीको नहीं है। ठीक है, तुम्हारे जैसा किताबी ज्ञान और किसीको नहीं है। बड़े भारी विद्वान हो—ऐसी अक्कल निकालते हैं कि सात-तालेमें रखी हुई चीजको देख लेते हैं।

ठीक, आपको सब ज्ञान प्राप्त है, परन्तु वह ज्ञान प्राप्त नहीं है, उसीको अज्ञान कहते हैं। और सारे ज्ञान प्राप्त हैं—आप न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा, बौद्ध, जैन सारे शास्त्र आप जानते हैं, परन्तु वह ज्ञान प्राप्त नहीं है। कौन-सा ज्ञान? जिस अज्ञानके अन्धकारके नीचे यह जीव दब गया है। अपने आपको नहीं देख पाता। ऐसा अन्धेरा होता है, जिसमें अपना हाथ अपनेको नहीं दीखता, अपनी उँगली नहीं दीखती, अपना शरीर नहीं दीखता है।

यह वह अन्धकार है जिससे अपने आपका दर्शन बन्द हो गया है। हम अपने आपको नहीं देख पाते। अज्ञान माने ज्ञानका-विशेषभाव। क्योंकि ज्ञानका अभाव तो कभी हो नहीं सकता, इसलिए अज्ञान ज्ञानाभावरूप नहीं होता है, ज्ञान विशेषाभावरूप होता है। खास तरहका ज्ञान नहीं है—कोई खास तरहका ज्ञान माने परमात्माका ज्ञान, आत्माका ज्ञान, ब्रह्मका ज्ञान, ज्ञाता-ज्ञेयके भेदसे रहित ज्ञान। वह सच्चा ज्ञान नहीं मिलता है। **अज्ञानेनावृतं ज्ञानम्**—आओ-आओ, श्रीकृष्ण भगवान्ने बड़े प्रेमसे पुकारा—एकसे कहा आओ, हम तुम्हें ज्ञान देते हैं। महाराज, मैं बड़ा पापी हूँ! हाथ जोड़कर गिड़गिड़ाने लगा—मैं पापी आदमी—हमको आप ज्ञान क्या देंगे? मैं ज्ञानका पात्र नहीं हूँ। बोले—नहीं, डरो मत—मेरी बात सुन—

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि॥

साफ कह दें, इतना बड़ा आश्वासन आपको किसी उपनिषद्में नहीं मिलेगा। किसी वेद-वेदान्तमें नहीं मिलेगा। वे तो कहेंगे अन्तःकरण शुद्ध करके आओ। गुरुजी कहेंगे—चेलाजी, पहले अन्तःकरण शुद्ध करो—पाँव दबाओ हमारा, तब अन्तःकरण शुद्ध होगा। हाथ जोड़ो, सेवा करो—तब। पहले अन्तःकरण शुद्ध करके

आओ। अभी तुम्हारे हाथ गन्दे हैं। सत्रह बार माटी हाथमें लगाओ तब शुद्ध हो जाओगे। यह देखो, यह कृष्णका ज्ञान है—

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तम्ः।

दुनियामें जितने पापी हैं सब पापियोंको इकट्ठा करलो—सर्वेभ्यः पापेभ्यः और उसमें भी पापकृत्तमः—तीन पापी सबसे बड़े छाँटो। पापकृत, पापाकृत्तर, पापकृत्तम्। जिससे बड़ा दुनियामें और कोई पापी न हो, यदि वही तुम हो—भगवान् कहते हैं, आजाओ हमारी गोदें आजाओ।

सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि।

क्या करेगा पाप, क्या करेगा तुम्हारा वर्ण, क्या करेगी तुम्हारी जाति, क्या करेगा सम्प्रदाय—मैं हूँ न इस नावको खेनेवाला! 'सर्वं ज्ञानप्लवेनैव'—प्लव माने नाव-जहाज। आसमानमें प्लव चले उसको 'प्लेन' बोलते हैं। बिल्कुल वही धातु है—प्लवन—पानीपर चले तो बोलते हैं नाव और यह आकाशकी नाव है। संस्कृतमें तरी, तरणी शब्द है नावके लिए।

यह आपको जो मोटर है वह मृत्तरी है। यह माटीपर चलनेवाली नाव है। पानीपर जो चलती है वह पानीपर चलनेवाली नाव है। मेढक जैसे उछलकर एक जगहसे दूसरी जगह जाता है उसको मण्डूकप्लुति बोलते हैं। धातु बिलकुल वही है—प्लवन आओ, हमारी नावपर बैठो। ब्राह्मणोंके लिए और नाव होगी—क्षत्रियोंके लिए और होगी। वैश्योंके लिए और होगी। शूद्रोंके लिए अन्य होगी। पुण्यात्माओंके लिए और होगी?

श्रीकृष्ण बोले, हम तो ऐसी नाव लेकर आगये, जिसपर ब्राह्मण भी बैठें, क्षत्रिय भी बैठें। पुण्यात्मा भी बैठें और पापीसे पापी भी बैठ जायँ। ढूँढ लो शास्त्रको, ऐसी नाव लेकर अबतक कोई आया है कि नहीं? यह जेलमें पैदा होनेवाला जानता है कि जेल कैसी होती है? यह ग्वालेके घरमें रहनेवाला बोला—पुण्यात्माओंके लिए जो लोग नाव लेकर आते हैं, उनको आने दो! हमारी नावपर तो पतित-से-पतितके लिए भी जगह बनी हुई है। **सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनम्।** विदुलोपाख्यान है न महाभारतमें (उद्योगपर्व 133-136)।

विदुलाका बेटा हारकर आकर घरमें सो गया था। विदुलाने कहा अरे, यह क्या करता है? नयी सेना बना। किसकी सेना बनावें? जो समाजमें बहिष्कृत हैं, जिसको कोई पूछनेवाला नहीं है। जो दीन हैं, जो हीन है—उनकी सेना बना।

उत्थातव्यं, जागृतव्यं, योक्तव्यं भूति कर्मसु।
भविष्यतीत्येव मनः कृत्वा सततमव्यथै॥ (135.29-30)

उठो, जागो—अच्छे काममें लग जाओ। और उसमें जो तकलीफ पड़ती है, उसका अनुभव मत करो। और निश्चय करो कि तुम्हें सफलता मिलेगी। **भविष्यतीत्येव मनः कृत्वा। सततमव्यथैः**—पीड़ा आती है, आने दो। तुम कहो, हमको सफलता मिलेगी। चले चलो। **चरैवेति-चरैवेति।** यह गीता ही ज्ञानकी नौका है—

कोई ज्ञानकी नौका लकड़ीकी या आल्युमोनियमकी या स्टीलकी या प्लास्टिककी नहीं है। यह जहाज है—गीता। आओ-आओ, **सर्वं ज्ञानप्लवेनैव**—इस ज्ञानकी नावपर बैठ जाओ **सर्वं वृजिनं संतरिष्यसि।** **वृजिनम्**के साथ **सर्वम्** और जोड़ दिया। सारे पाप-तापसे पार हो जाओगे। ऐसा खेवैया, अगर जेलमें पैदा न होता—अगर ये ग्वालोंके घरमें न रहता, अगर इसको जहर पिलानेवाली पूतना आकर तकलीफ न देती, तो शायद ऐसी नाव उसके पास न होती!

सब तरहसे **अपि चेत्सुदुराचारो भजते माम्** भक्तिका मार्ग दुराचारीके लिए भी खुला है। ज्ञानका मार्ग पतित-से-पतितके लिए भी खुला है। जातिहीनके लिए भी खुला है। हमारे गीताका ज्ञानी ऐसा ज्ञानी है कि जो **विद्या-विनय-संपन्ने ब्राह्मणे गवि-हस्तिनि। शुनि चैव श्वपाके च**—सबमें परमात्माको देखनेवाला। तो ज्ञानकी नाव लेकर वह खेवैया—वह कन्हैया—वह दाऊजीका भैया आया। **सर्वं वृजिनम्**—अनादि कालसे अबतक जो तुमने स्वर्ग-नरकमें पुनर्जन्ममें आने-जानेके लिए भी भी कर्म किये हैं, उन सब कर्मोंसे छुट्टी **सम्यक् तरिष्यसि**—बिलकुल पार हो जाओगे। आओ, ज्ञानकी नौकापर आकर बैठ जाओ।

कैदकी स्त्रियोंको छुड़ाकर अपने घरमें पटरानियोंकी बराबरीका स्थान देना—यह है किसीके बूतेकी बात? यह है कृष्णका जीवन, इन्द्रकी पूजा छुड़ाकर पहाड़की पूजा करवाना—यह क्या आजके भी किसी पण्डितके दिमागकी बात हो सकती है जो कि इन्द्रकी पूजा छुड़ा दे और पहाड़की पूजा करवा दे। यह धरती स्वर्गसे बड़ी है—स्वर्गकी दिव्य भूमिसे उत्तम है—यह माटीकी भूमि आप लोगोंको शायद अच्छी न लगे!

कई लोग कहते हैं कि हमको गोपियोंकी चर्चा और प्रेमकी चर्चा पसन्द नहीं है। हम आपसे पूछते हैं—कुब्जाका उद्धार करनेवाला सृष्टिमें है कोई दूसरा? जातिहीन, आचारहीन कंसके शरीरमें मालिश करनेके लिए सामग्री लेकर जा रही थी कंसके घर, क्या उसकी सुन्दरतापर श्रीकृष्ण रीझ गये? क्या उसकी जातिपर रीझ गये श्रीकृष्ण? क्या वह जिसकी सेवा करनेके लिए जा रही थी—उसके उद्देश्य ऊँचे हैं? कंसकी सेवा बड़ा पवित्र उद्देश्य था? वह कुबड़ी देखनेमें बड़ी सुन्दर थी? आप कहेंगे—यह क्या किया? जो दुनियाका कोई नेता, कोई सुधारक, कोई उद्धारक नहीं कर सकता, वह किया। यह हैं श्रीकृष्ण, अनुकम्पाकी, कृपाकी मूर्ति लेकर, दयाकी मूर्ति लेकर पतितोंका उद्धार करने, दीनोंका उद्धार करनेके लिए, जो साधनहीन हैं, उनका उद्धार करनेके लिए, जो कुसाधन है उनका उद्धार करनेके लिए।

कृष्ण कहते हैं—बाबू, हम तुम्हारे मशालची बननेको तैयार हैं। आप देखते हैं—भगवान्‌का मशालची रूप है।

तेषामेवानुकम्पार्थम् अहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥

मशाल छोटी-मोटी नहीं है। **भास्वता**—सूर्यके समान। भास्वान संस्कृतमें सूर्यको कहते हैं। भास्वान् सूर्यका एक नाम है और उसकी तृतीया विभक्तिके एक वचनमें 'भास्वता' प्रयोग बनता है। हमारा यह ज्ञान-

दीपक; दीपक नहीं है—यह सूर्य है। यह वह सूर्य है जिसने कभी अन्धकार देखा नहीं। रात-दिनका हम लोग भेद देखते हैं न! भागवतमें बहुत बताया है—विचार्यमाणे तरणा-विवाहनी—आप विचार करके देखो कि सूर्यमें दिन-रातका भेद होता है क्या?

अज्ञानसंज्ञौ भवबन्धमोक्षौ द्वौ नाम नान्यौस्त ऋतज्ञभावात्।
अजस्रचित्यात्मनि केवले परे विचार्यमाणे तरणाविवाहनी॥ (10.14.26)

यह भव, बन्ध, मोक्ष, यह जन्म, यह मृत्यु—यह मोक्ष क्या है? बोले, अज्ञानके नाम हैं—भला, शुद्ध-शुद्ध, मुक्त, अद्वितीय परमात्मामें—ये जन्म-मरण, ये बन्धन-मोक्ष क्या हो सकते हैं? केवल अविचारसे मालूम पड़ते हैं। तब? **विचार्यमाणे तरणौ**—सूर्यके बारेमें विचार करो। उसमें कभी रात-दिनका भेद होता है? क्या उसने देखा कि यह रात है, यह दिन है? तो भगवान्ने कहा—लो, हम तुम्हें एक नया सूर्य देते हैं। ज्ञानदीपेन भास्वता—यह ज्ञानका नया सूर्य और यह तुम्हारे ज्ञानको प्रदीप्त करनेवाला सूर्य, हम देते हैं—इस नये सूर्यकी रोशनीमें देखो।

बाबा, कुछ भी दिखाओ—यह अज्ञानान्धकार हमारा तो जाता नहीं है। यह तो हमारे पीछे ही पड़ गया। बोले नहीं **आत्म-भावस्थ: नाशयामि**—अज्ञानान्धकारका नाश तुमको नहीं करना पड़ेगा। **नाशयामि** क्रियाका कर्ता कौन है? **अहम्**—भगवान् कहते हैं—मैं नाश करूँगा। तुम्हारे अज्ञानको मैं मिटाऊँगा। कैसे मिटाओगे? जब आत्माको आत्मज्ञान होता है तब अज्ञानकी निवृत्ति होती है। बोले, मैं ही तुम्हारा आत्मा हूँ न! तुम्हारे आत्मभावमें स्थित हो जाऊँगा। अपना अज्ञान अपने मिटाये मिटता है। दूसरेके मिटाये नहीं मिटता। एक बात आपको वेदान्तियोंकी सुनाते हैं, पर हम दूसरी भाषामें बोल देते हैं। क्योंकि भाषापर हमको कुछ ज्यादा आग्रह नहीं है।

हम ज्ञानका आदर करते हैं। भाषाके बन्धनमें थोड़े ही हैं?

ब्रह्मवेद आदि ब्रह्मविदताकी वाणी वेद।
भाषा अथवा संस्कृत करत भेद भ्रम छेद॥

वह 100 वर्ष पुराना दोहा जब भाषाका झगड़ा नहीं था—तबका विचार-सागरका (निश्चलदासजी कृत) दोहा है। जो ब्रह्मको जानता है, वह ब्रह्मज्ञानी है। वह जो बोलता है, उसका नाम है वेद—वह चाहे भाषामें हो या संस्कृतमें हो—वह तो ब्रह्मको छिन्न-भिन्न कर देता है। तुलसीदासजीने कहा—'भाषा बद्ध करब मैं सोई'—मैं उसी रामायणको भाषामें बोलूँगा। भाषाका ख्याल मत करो।

वेदान्तियोंकी बात है। वे कहते हैं कि रूप देखनेके लिए आँखकी जरूरत होती है। यदि आपके आँख हैं तो आप देख लेंगे कि यह हरा है कि लाल है—आँख चाहिए—माने प्रमाणसे प्रमेयका ज्ञान होता है। प्रमेयका ज्ञान होनेके लिए प्रमाण चाहिए। (यदि ब्रह्मविद्या आपके हृदयमें आगयी)—काशीमें ऐसे उदाहरण मिलते हैं। पण्डितजी पढ़ा रहे हैं। हम जानते हैं। दो-पाँच रुपयेकी भी लालच करते हैं वे—और पढ़ाते हैं वेदान्त।

कोई-कोई साधु ऐसा पढ़नेवाला आता है—कोई-कोई ऐसा जिज्ञासु आता है कि पण्डितजी तो रह जाते

हैं 'गुड़' और वह जिज्ञासु चेला ऐसी चीनी होकर निकलता है कि देखते ही बनता है। गुरु जब महावाक्यका अर्थ उसको समझाने लगते हैं—पण्डितजी खुद नहीं समझते हैं और चेला समझकर महान् अनुभवी हो जाता है। इसीसे इसे बोलते हैं कि ईश्वरसे जब सिद्ध महात्मा पैदा होते हैं तब उनको गुरुकी जरूरत नहीं होती—ज्ञान अपने आप आता है।

हिरण्यगर्भमें जब विराट् पैदा होते हैं तब विराट्को गुरुकी जरूरत नहीं होती—ज्ञान अपने आप आता है। विराट्में जब नारायण प्रकट होते हैं तब उनको भी गुरुकी जरूरत नहीं होती। जब सनकादि पैदा होते हैं, तो उनके भी कोई गुरु नहीं। तब—जो प्रमाणके अधीन विद्या होती है, वह बतानेवालेकी अपेक्षा नहीं रखती है। वहाँ केवल प्रमाण, वह ब्रह्मविद्या चाहिए—इसीसे जनकादिको ऐसी अवस्थामें ज्ञान होता है, जहाँ ज्ञानकी कोई सामग्री नहीं है।

यह महाराज, श्रीकृष्ण कहते हैं—मैं बोलकर ज्ञान नहीं कराता हूँ—**नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता।** मैं बोलकर, उपदेश देकर ज्ञान नहीं देता हूँ। मैं तो जिसके ऊपर कृपा करता हूँ, उसके आत्म भावमें स्थित हो जाता हूँ—उसकी आत्मा—जो मैं देखता हूँ सो वह देखता है—जो वह देखता है सो मैं! देखनेवालेमें किसी प्रकारका भेद नहीं होता। अज्ञानका नाश मैं करता हूँ।

भाई मेरे, धन्यवाद देने लायक तो कोई बात नहीं है। हमारे सारे श्रोताओंको जब मैं देखता हूँ कि मेरी ओर देख रहे हैं, किसीसे आँख मिल जाती है। किसीको देखता हूँ कि उनके चेहरेपर मुसकान आगयी, खुश हो गये! बस, और क्या चाहिए—आपकी एक मुसकान। आपकी एक चितवन हमारे लिए सबसे बड़ी दक्षिणा है। आप लोगोंने इतनी शान्तिसे, इतने प्रेमसे, इतने हृदयसे श्रवण किया। आपने तो हमको कृतज्ञ बना दिया क्योंकि आप अगर प्रेमसे नहीं सुनते तो मैं बोलता क्यों? अभी देखो मञ्जूश्री बेटी—कैसा बढ़िया स्वागत-सत्कार कर रही थी और आयोजन करनेवालोंका आभारी होना—धन्यवाद देना, यह सब शिष्टाचारकी बात है, संन्यासियोंका एक शिष्टाचार भी आपको सुना देता हूँ, साधु लोग कैसा शिष्टाचार करते हैं—

आगच्छ गच्छ तिष्ठेति। स्वागतं सुहृदोऽपि वा।
सम्माननं च न ब्रूयात् यतिधर्म-परायणाः॥

धर्मनिष्ठ संन्यासीको चाहिए कि किसीको यह न कहे कि आइये-आइये और किसीको यह भी न कहे कि जाइये-जाइये और किसीको यह भी न कहे कि रहिये-रहिये। अपना बड़ा-से-बड़ा मित्र आजावे—उसका भी सम्मान करनेकी जरूरत नहीं होती है। जैसे, आप लोगोंका शिष्टाचार होता है—15 मिनिट पहले जाकर सड़कपर खड़े हो गये और आनेवालोंको नमस्कार और हाथ मिलाना। जाने लगे तो **आगतं स्वागतं कुर्यात्। गच्छतं पृष्ठतोऽनुयात्।** कोई आवे तो उनका स्वागत करो और जाय तो उसको विदा करो—उसके पीछे-पीछे थोड़ी देर चलो। यह मनुस्मृतिका स्वागत है। गृहस्थोंके लिए यह शिष्टाचार है।

शिष्टाचारमें भी फर्क होता है। सबके लिए एक ही शिष्टाचार नहीं होता। अपने तो संन्यासी केवल गेरुआ कपड़ाके संन्यासी हैं। एक दिन भी मनमें यह बात पैदा नहीं हुई—एक क्षणके लिए भी—जिस दिन

दण्ड ग्रहण किया, उस दिन भी कि मैं संन्यासी हूँ, जिस दिन हमको दण्ड दिया गया और जिस दिन हमारे सिरपर गुरुजीने पूजा की, उस दिन भी मेरे मनमें यह नहीं आया कि मैं संन्यासी हूँ। इसलिए मैं संन्यासियोंके शिष्टाचारका पालन नहीं करता। लेकिन धन्यवाद तो मैं अपनेको देता हूँ कि मेरे द्वारा आप लोगोंको थोड़ी बहुत खुशी—प्रसन्नता, सुख मिलता है।

हम यह मङ्गलाशासन करते हैं कि अगले दिनोंमें भी हम और आप ऐसे ही सुखसे, हँसते-खेलते मिलें और मङ्गल्में मिलें, कल्याणमें मिलें। भगवान्की कृपामें, उनकी भक्तिमें, उनके ज्ञानमें—जैसे हम लोग मिलते रहें हैं—वैसे मिलते रहें—और आयोजको नाम ले तो क्या यही लोग आयोजक हैं—मैं भी आयोजक हूँ। इस आयोजनमें जितना आयोजक और कोई हो सकता है, उससे अधिक मैं हूँ। इससे अपनेको क्या धन्यवाद देना, क्या आशीर्वाद देना। आशीर्वाद भी देतें हैं तो ऐसे देते हैं—

धर्मे मतिरस्तु, कृष्णे रतिरस्तु।

धर्ममें मति हो—कृष्णमें रति हो!

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

गीता-दर्शन

(४)

गीता अध्याय-10

स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

संकलनकर्त्री

श्रीमती सरला बसन्तकुमार बिरला

शुभाशंसा

भगवद्गीतामें जिस सिद्धान्त और कर्त्तव्य-पालनका उपदेश है, वह किसी आचार्यमूलक या सङ्घमूलक नहीं है, वह सर्वकारण-कारण परमेश्वरका हृदय है। सर्वजनहितकारी है। मानवमात्र ही नहीं, पशु-पक्षी एवं सर्पादिमें भी भगवान् का दर्शन करनेवाला है। कर्मयोगी उद्योगपति श्रीघनश्यामदास बिरलाकी प्रेरणासे श्रीमती सरला एवं श्रीबसन्त कुमार बिरला जो गीताका वार्षिक आयोजन करते हैं उसका यह अष्टम पुष्प जनता-जनार्दनकी सेवामें समर्पित है।

यह परिवार अधिकाधिक मानव जातिकी सेवामें तत्पर रहे, यही शुभ कामना है।

अखण्डानन्द सरस्वती

चि० कुमारमंगलम्‌का

स्वागत-भाषण

पूज्य श्रीस्वामीजी महाराज तथा श्रद्धेय सज्जनवृन्द!

एक वर्षकी प्रतीक्षाके बाद भगवान् श्रीकृष्णकी असीम अनुकम्पासे, पूज्य श्रीस्वामीजीकी अमृत वाणीसे, गीताका अमर सन्देश सुननेका सुअवसर, हमलोगोंको पुनः प्राप्त हुआ है। आप सबकी ओरसे तथा मेरी ओरसे पूज्य स्वामीजीका हार्दिक स्वागत तथा आभार प्रदर्शन करते हुए मुझे बड़ी प्रसन्नता है। ईश्वरसे प्रार्थना है कि स्वामीजीकी दीर्घायु तथा अच्छा स्वास्थ्य प्रदान करें जिससे पूज्य स्वामीजी जनताको मार्ग प्रदर्शित करते रहें।

अब मैं पूज्य श्रीस्वामीजीसे प्रार्थना करूँगा कि वे गीता-प्रवचन—दसवें अध्यायका निरूपण आरम्भ करें। पूज्य श्रीस्वामीजी महाराज, स्वामी प्रबुद्धानन्दजी तथा आप सबको अनेक-अनेक हार्दिक धन्यवाद!

पूज्य स्वामीजी महाराज,

लम्बी एवं तीव्र प्रतीक्षाके बाद पूज्य स्वामीजीको हमारे बीचमें देखकर हम सब हर्षित हैं। मैं आप सबकी तरफसे उन्हें प्रणाम करती हूँ। पूज्य महाराजजी प्रतिवर्ष यहाँ पधारकर हमें आशीर्वाद देते रहें, यही उनसे विनम्र प्रार्थना है।

स्वामी प्रबुद्धानन्दजी तथा स्वामी विमलानन्दजीका मैं सत्कार करती हूँ। पूज्य स्वामीजीके स्वास्थ्यके लिए हम सब प्रार्थना करते रहें। सब सत्सङ्ग-प्रेमियोंको अनेक धन्यवाद!

—श्रीमती सरला बसन्त कुमार बिरला

गीता अध्याय -10

प्रवचन : 1

(31-10-1989)

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखापद्माद्विनिःसृता।। भीष्मपर्व 43.1

गीतामें चार मुख्य व्यक्ति सामने आते हैं, उभरते हैं—उनमें सबसे पहले धृतराष्ट्र हैं। धृतराष्ट्र अन्धे हैं, ममतासे ग्रस्त हैं। अज्ञान, अविवेक फिर ममता। दस दिनका युद्ध हो जानेपर और भीष्मपितामहका पतन हो जानेपर, शरशय्यापर गिरनेके बाद धृतराष्ट्रने सञ्जयसे यह प्रश्न किया कि, धर्मक्षेत्र, कुरुक्षेत्रमें, युद्धकी इच्छासे एकत्र मेरे और पाण्डुपुत्रोंने क्या किया? दस दिनका युद्ध होनेके पश्चात् प्रश्न हुआ—युद्धके प्रारम्भका। तब सञ्जयके मनमें यह बात आयी कि ये दस दिन युद्ध सुन चुके हैं, फिर पूछते हैं कि युद्धके प्रारम्भमें क्या हुआ? इस प्रश्नका आशय सीधा-साधा नहीं होना चाहिए। कोई गूढ़ आशय होना चाहिए। इसका अर्थ है, वहाँ कोई विशेष घटना घटित हुई क्या? सामान्य युद्धके अतिरिक्त वहाँ और कौन-सी विशेष बात हुई? ऐसा धृतराष्ट्रका प्रश्न है। नहीं तो, पूछे कोई युद्ध-भूमिमें क्या हुआ और कही जाय गीता—पूछे कुछ और जवाब दे कुछ! ऐसा तो नहीं होना चाहिए।

तो सञ्जयकी बुद्धिमें आया कि धृतराष्ट्र कोई विशेष प्रश्न कर रहे हैं। इसका उत्तर देना चाहिए। धृतराष्ट्रकी संसारकी पकड़ मजबूत है—'धृतं राष्ट्रं येन यः।' विश्व मानवताको छोड़कर केवल एक सीमित परिवारमें आसक्त रहकर विवेकशून्य, ममतापूर्ण हृदयसे यह प्रश्न निकला—विशेष क्या हुआ? तो इसका ऐसा उत्तर देना चाहिए, जिससे इनका अविवेक नष्ट हो, अज्ञान नष्ट हो, ममता कम हो, उनके मनमें सुख-शान्ति आये और सच्चे ज्ञानका उदय हो। करुणापूर्ण हृदयसे सञ्जयने धृतराष्ट्रको गीता सुनायी। सञ्जयका अर्थ है, जिसने अपने मनपर इन्द्रियोंपर, दोषोंपर, अज्ञानपर जय प्राप्त कर ली हो 'सम्यक् जयति।' सञ्जय जीवन्मुक्त पुरुष हैं। अज्ञानी धृतराष्ट्र—जीव, और जीवन्मुक्त पुरुष हैं सञ्जय। और कर्मी—'धनुरुद्यम्य पाण्डवः' धनुष-बाण हाथमें लेकर उपस्थित हैं अर्जुन। और सारथि जिनके सान्निध्यसे, जिनकी सहायतासे सब कुछ होता है, वे सारथिके रूपमें सहायकके रूपमें अपने सान्निध्य मात्रसे प्रेरणा देनेवालेके रूपमें—'श्रीकृष्ण।'

जब हम गीतापर दृष्टि डालते हैं कि—धृतराष्ट्रको क्या मिला? उन्होंने गीता सुनी कि नहीं सुनी, समझी कि नहीं समझी, उससे कोई लाभ उठाया या नहीं उठाया, इसकी तो कोई चर्चा ही नहीं है। एकबार उन्होंने प्रश्न किया और सञ्जयने अपने आनन्दके लिए पूरी गीता सुना दी। गीता सुनाते वक्त सञ्जयको बड़ा आनन्द आया।

.......संवादमिममद्भुतम् केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ।। 18.76

यह केशव और अर्जुनका परम पवित्र, परम पावन संवाद है। मैंने स्वयं अपने कानोंसे सुना है—'व्यासप्रसादात् श्रुतवान्'। हमारे गुरुजी व्यासजीकी कृपा। मैं बैठा था धृतराष्ट्रके पास और सुन रहा था कुरुक्षेत्रमें होनेवाला संवाद और संवाद ही नहीं सुना, श्रीकृष्णका वह विराट् रूप भी देखा—

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः।
विस्मयो मे महान्राजन्हृष्यामि च पुनः पुनः ।। 18.72

वह विराट् रूप देखकर मेरे मनमें विस्मय हुआ। विस्मय हुआ माने अहंकारकी निवृत्ति हो गयी। 'स्मय' शब्दका अर्थ संस्कृतमें अहंकार होता है। अतः विस्मयका अर्थ होगा—विगत-स्मयः। मैंने सब देखा है, सब जाना है परन्तु ऐसा रूप तो कभी नहीं देखा था, नहीं सुना था, नहीं जाना था। एक अकल्पित अननुभूत पदार्थके दर्शनसे जैसे आश्चर्य होता है, वैसे सञ्जयको आश्चर्य और आनन्द हुआ है। महापुरुष अपनी शान्ति, अपने आनन्दमें मग्न रहकर ही सब काम करते हैं। अर्जुनको क्या मिला? धृतराष्ट्र जो अज्ञानसे ग्रस्त है, ममतासे ग्रस्त है, अविवेकसे ग्रस्त है, बाहर-भीतर दोनोंकी फूटी है, अन्धा है, एक पदार्थको पकड़कर-जकड़कर बैठा है, उसे कुछ नहीं मिला। सञ्जय जीवन्मुक्त महापुरुष हैं। इसलिए उन्हें कुछ चाहिए नहीं। उनके मनमें कुछ इच्छा नहीं है। भगवान्‌की गीता दुहरा-दुहराकर उसका आनन्द लेते हैं। 'संस्मृत्य संस्मृत्य'—बारम्बार-बारम्बार श्रीकृष्णका रूप आता है और अर्जुनका संवाद आता है।

जब हम दृष्टि डालते हैं तो अर्जुनको ही बहुत कुछ मिला। मोहका नाश हुआ, स्मृतिकी प्राप्ति हुई, सन्देहकी निवृत्ति हुई और आज्ञाकारी—'करिष्ये वचनं तव' हो गये और कर्ममें लग गये। केवल आज्ञाके लिए 'जी हाँ, जी हाँ' नहीं किया—स्वयं कर्ममें संलग्न हो गये। युद्धभूमिमें आगये। यह अर्जुनके जीवनकी उपलब्धि है। सञ्जयका आनन्द अन्तरंग है और अर्जुनको अन्तरंग-बहिरंग दोनोंकी उपलब्धि है और श्रीकृष्णको क्या मिला? श्रीकृष्ण भी व्याकुल रहते हैं कि हमको कोई रक्षणीय मिल जाये। कोई ऐसा मिले जिसके ऊपर हम अपने वात्सल्यकी वर्षा करें। किसी दुःखीको सुखी बना दें! यही करुणामय भगवान्‌का स्वरूप है।

अपारसंसारसमुद्रमध्ये निमज्जतो मे शरणं किमस्ति। मणिरत्नमाला 1

मैं तो बहुत दिनोंसे संसार-सागरमें डूब रहा था—आप मिले, किनारा मिल गया। लेकिन मुझे किनारा मिल गया इतना ही नहीं है—'त्वयापि लब्धं भगवन्निदानीम्।' प्रभु आपको भी मिल गया, आपको मिल गया, बहुत कुछ मिल गया। क्या मिल गया? जैसा कभी नहीं मिला था वैसा मिल गया। 'अनुत्तमम् पात्रमिदं दयायाः ।।' आपको मेरे जैसा कोई दयाका पात्र नहीं मिला था। आप भी चाहते थे कि कोई ऐसा मिले जिसके

ऊपर पूरी दया करें। आज मैं आपके सामने आपका पूर्ण दयापात्र होकर उपस्थित हुआ हूँ। भगवान् आनन्दमें आते हैं जब उनका कोई प्रेमी और उद्धार्य—अपनी गोदमें लेनेके लिए कोई मिल जाता है; तो भगवान् अपनेको कृत्य-कृत्य मानते हैं। भगवान्को मिला अर्जुन—अर्जुनके अज्ञानका नाश हुआ, विस्मृतिका नाश हुआ और आज्ञाकारित्वका उदय हुआ। सञ्जय परमानन्दमें मग्न हो गये। और इतने मग्न हुए कि उन्हें याद भी नहीं रही कि एक बार धृतराष्ट्रसे पूछ तो लें कि हमारी कही हुई गीता तुमने सुनी कि नहीं सुनी? श्रोताको ही भूल गये सञ्जय कि किसने प्रश्न पूछा था और किसको मैंने यह गीता सुनायी।

चार प्रकारके अधिकारी होते हैं। एक तो पामर और एक जीवन्मुक्त भगवान्का सान्निध्य तो सबको ही प्राप्त है। अपनी-अपनी स्थिति, गतिके अनुसार सभी लाभ ले रहे हैं। अब अर्जुन हैं श्रीकृष्णके सामने। पहले तो अर्जुन हैं श्रीकृष्णके सामने। पहले तो अर्जुनने धनुष-बाण उठानेके बाद वापिस रख दिया—रख नहीं दिया—फेंक दिया 'विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः' (1.46)। चला था वह धनुष-वाण लेकर शत्रुओंपर विजय प्राप्त करनेके लिए और हुआ क्या? धनुष-बाण फेंककर, हाथपर सिर रखकर रोता हुआ 'रथोपस्थ उपाविशत्' (1.46) बैठ गया। धर्मसे प्राप्त था युद्ध और उसमें प्रतिबन्धकी उपस्थिति हुई—रुकावट आगयी, अड़चन आगयी—शोक और मोह, ममता और मोह—आप कुछ भी करो, चाहे त्याग करो, चाहे संग्रह करो, परन्तु ममतासे, मोहसे, शोकसे, न त्याग करना उचित है और न संग्रह करना उचित है। जो कुछ भी करना हो वह विवेकसे ही करना चाहिए।

धनुष-बाण धारण करके जब युद्ध करनेका प्रयोग उपस्थित हुआ तो शोक-मोहने आकर उसको रोक दिया। और जब भगवान् श्रीकृष्णने उपदेश दिया तो शोक-मोह भाग गये। शोक-मोह भाग गये तो पहली जो युद्धकी प्रवृत्ति थी वह अपने आप उदय हो गयी। भगवान् अर्जुनको युद्ध करनेके लिए आज्ञा नहीं देते हैं, बल्कि पहलेकी आज्ञा पालनकी प्रवृत्तिमें जो बाधा आगयी थी, उस बाधाको दूर कर देते हैं। इसलिए केवल अपनी प्रवृत्तिमें बाधा डालनेके लिए जो ममता, शोक मोह आते हैं, उनकी निवृत्तिमें ही गीताका तात्पर्य है—ऐसा आचार्य लोग कहते हैं। रुको मत, चलते चलो। चाहे कितना भी विघ्न आवे, कितनी भी बाधा आवे। अर्जुनको भगवान्ने संक्षेपमें अपनी विभूतियोंका वर्णन किया; विभूति शब्दका अर्थ है 'विशिष्ट भवन।' अनेक रूपमें भगवान्। 72 तो नाम लिये—आलस्य बिल्कुल नहीं है। गीताके दसवें अध्यायमें 72 नाम लेकर भगवान् श्रीकृष्णने अपना वैभव बताया—विभूति बतायी। यह भी मैं—यह भी मैं। संसारमें जो कुछ विभूतिमान् है, प्रशस्त है, शक्तिशाली है, वह सब भगवान्का तेज और भगवान्का अंश ही प्रकट हुआ है। दसवें अध्यायके अन्तमें जो उपसंहार है, वह है—

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंशसंभवम्।। 10.41

जो भी वस्तु विभूतिसे युक्त है, वैभव है, श्रीमान् है और अर्जित है, वह मेरे तेजके अंशसे बना है—ऐसा जानना चाहिए।

श्री रहती है अपने पास, विभूति फैल जाती है। और ऊर्जासे क्रियाशक्ति आती है। श्री स्वनिष्ठ है—अपने पास रहती है। विभूति विशेष रूपोंमें हो जाती है और ऊर्जा अपने क्रियाशक्तिको, बलको—शरीरके, मनके, बुद्धिके बलको—आत्मबलको पूर्णरूपसे प्रभावित करती है। भगवान् कहते हैं, शक्ति मैं हूँ, श्री मैं हूँ, विभूति मैं हूँ। अब रहा क्या? उसमें ह्री, श्री—सब आगया। श्रीमत्से श्री और उर्जित से ह्री और विभूतिसे सावित्री। सावित्री, लक्ष्मी और महामाया—महाशक्ति। जहाँ कहीं इनका विलास दीखे वह सब मैं ही मैं हूँ। यह है अन्तमें उपसंहार। इसके लिए अर्जुनका प्रश्न है। प्रश्न करनेवाला भी दाव-पेंचवाला न हो। जो जानता हो और परीक्षा लेनेके लिए प्रश्न करे या दूसरोंको नीचा दिखानेके लिए प्रश्न करे, पराजित करनेके लिए प्रश्न करे तो उसके प्रश्नका उत्तर नहीं दिया जाता।

नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयात् न चान्यायेन पृच्छतः। मनु. 2.110

अन्यायसे कोई प्रश्न करे तो उसका उत्तर नहीं देना चाहिए।

जानन्नपि हि मेधावी जडवल्लोकमाचरेत्॥ मनु. 2.110

जानता हो तब भी उसका उत्तर न दे। उनके सामने मूर्ख ही बन जावे। जैसा तुम समझते हो वैसा समझो। अर्जुन—ये दाव-पेंचवाले प्रश्न नहीं करते। अपने दिलकी बात दो टूक भगवान्से बोलते हैं। जब मनमें आया कि नहीं लडूँगा तो नहीं लडूँगा—'न योत्स्य इति' (2.9) जब मनमें आया कि श्रीकृष्ण कुछ दुविधाकी बात कर रहे हैं तो कह दिया कि तुम दुविधाकी बात कर रहे हो। साफ क्यों नहीं बोलते?

तत् किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव।
व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे। 3.1-2

और जब वस्तुओंको जाननेकी इच्छा हुई तो स्पष्टरूपसे पूछ लिया।

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम। 8.1

दाव-पेंचसे रहित रहनेका प्रमाण है।

अब आया कि विभूतियोंका ज्ञान प्राप्त करें। किसीसे कोई पूछे कि तुम्हारे पास कितना धन है, कितनी संपत्ति है? सबको नहीं बताया जाता। अपनी पूँजी सबको थोड़े ही बताते हैं। विभूति माने पूँजी है। यह तो जब कोई अपना बहुत आत्मीय, बहुत प्रेमी होता है, उसके सामने यह बात खोलकर रखी जाती है। हमारी एक धनीसे बात हुई तो कहने लगे—स्वामीजी हमको तो मालूम नहीं है कि हमारे पास कितनी संपत्ति है। भगवान् भी कह देते हैं—हमारे पास विभूतियोंका हिसाब-किताब नहीं है। बताया तो उन्होंने यही—कि बहुत बतानेसे क्या लाभ है—कहा तो अन्तमें यही, लेकिन पहले बताकर। ऐसी बात किसीसे पूछनी हो तो पूछनेवाला भी तो निकटका होना चाहिए न! अर्जुन माने सीधा—अर्जुनने पूछ लिया—महाराज, हम तो किससे पूछने जावें? आप ही बता दें। दूसरेकी बतायी हुई बात तो गलत हो सकती है। पर आप अपने मुँहसे बतावेंगे तो बिल्कुल ठीक होगी। लेकिन विभूति जब पूछनी हो तो ऐसे सामान्य रूपसे तो नहीं पूछनी चाहिए। स्तुति भी चाहिए कि मैं जानता हूँ आप कैसे हैं!

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्।।
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे।। 10.12-13

परं ब्रह्म—यह बात उन्होंने बतादी—

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्। 1.18
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।। 6.30
अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते। 10.8

साफ बता दिया कि तुम परम ब्रह्म हो। हमको योग्य शिष्य समझा आपने—**शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।** (2.7) कोई ऐरे-गैरेको तो यह बात बतायी नहीं जाती कि मैं ब्रह्म हूँ। महाराज, आपमें ही सारी दुनियाँ है—**मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः** (9.4) 'परमधाम' भी अपनेको बता दिया। परम तेजोमय, ज्योतिर्मय धाम माने घर जैसे होता है। जैसे चार धाम हैं। तो यह भी बता दिया कि मैं परम धाम हूँ। मुझमें सबकुछ रहता है। सारी सृष्टिका आधार मैं हूँ और अद्वितीय मैं हूँ। मेरा घर नहीं—मैं सबका घर। मैं किसीकी रोशनीमें नहीं देखा जाता, सब मेरी रोशनीमें दिखता है। अब कहते हैं—बताओगे तो सच-सच—झूठ तो नहीं बोलोगे! अर्जुन ऐसे बोलते थे।

विश्वनाथ चक्रवर्तीने टीकामें कहा कि जब भगवान्ने कहा कि **'मामेवैष्यसि'** (8.7) मुझे प्राप्त हो जाओगे। तो अर्जुनने कह दिया कि 'ग्वालिया, तुम्हारी बातका क्या ठिकाना?' झूठ-मूठ सौगन्ध खानेवाले! दिनभर तेरी सौं-मेरी सौं करनेवाले=कहीं झूठ बोल गया तो?—भगवान् बोले ''सत्यम्'' मैं सौगन्ध खाकर तुमसे प्रतिज्ञा करता हूँ। ये शपथ खानेकी क्या जरूरत पड़ी? जब किसीके मनमें शंका होती है तब शपथ खाकर बताना पड़ता है।

महाराज, एकबात हमें मालूम है कि आप बड़े पवित्र हैं। पवित्र माने माया, छाया न होना—कपट ही सच्ची अपवित्रता है। आपमें माया नहीं है, कपट नहीं है। परम पविल हैं आप! पवित्रताकी परासीमा और धामका अर्थ है आश्रयकी परम सीमा। ब्रह्मका अर्थ है अद्वितीयता। सबमें भरपूर हैं। 'पुरुषं-शाश्वतं'—कालमें भी आप नित्य हैं। कालकी दाल आपमें नहीं गलती। देशमें, कालमें परिपूर्ण हैं। वस्तुमें परिपूर्ण हैं। व्यक्तियोंके हृदयमें परिपूर्ण हैं। परम और पवित्र हैं। पवित्र माने पावन। जिनका नाम लेनेसे, जिनके रूपका ध्यान करनेसे, जिनके गुणोंका स्मरण करनेसे मनुष्य पवित्र हो जाते हैं, उसका नाम है—पवित्र माने पावन—दूसरेको पवित्र करनेवाला।

जब चोरकी याद करोगे तो चोरी याद आयेगी, दिल अपवित्र हो जायेगा। व्यभिचारीको याद करोगे व्यभिचार याद आयेगा, हृदय अपवित्र हो जायेगा। जब शुद्ध वस्तुका स्मरण किया जाता है तो हृदय शुद्ध हो जाता है।

ये परमात्मा—जिनको हम देखते हैं, जिनके बारेमें सुनते हैं, ये दिव्य हैं। दिव्यका अर्थ है, कि लौकिकताकी कल्पना मत करो। संसारमें जैसे छली, कपटी, मरनेवाले लोग पैदा होते हैं, वैसे ये नहीं हैं। और 'आदिदेवम्'। सारी सृष्टिके आदि प्रकाशक ये ही हैं। इनका जन्म कालमें नहीं हुआ है। और 'विभु' माने सर्वत्र—व्यापक ऐसे हैं श्रीकृष्ण भगवान्। अर्जुनकी भक्ति प्रीति इससे प्रकट हुई। अर्जुनका ज्ञान प्रकट हुआ कि श्रीकृष्णके प्रति उसकी कितनी श्रद्धा, कितनी भक्ति, कितनी भावना है? भगवान् अपने रहस्यकी बात अर्जुनको बतावेंगे।

बोले—अर्जुन, यह क्या चापलूसीकी बात करते हो! दुनियाँमें लोग खुशामद करके चाटुकारितासे बहुत लाभ उठाते हैं। तुम्हारे ऊपर भी इसका कुछ असर है क्या? नहीं, मैं अपनी बात आपसे नहीं कह रहा हूँ—

'आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा' 10.13

एक शब्दमें अर्जुनने कह दिया कि—सारे वेद, सारे मन्त्र, सारे ऋषि—आपको ऐसे ही कहते हैं। ऋषि शब्दका अर्थ मन्त्र भी होता है और ऋषि भी होता है। तो तपस्यासे सिद्ध हो, ज्ञानसे सिद्ध हो, वेदमन्त्रोंका द्रष्टा हो, उन महात्माओंको ऋषि कहते हैं। और वेदके मन्त्रोंको भी ऋषि कहते हैं। हमलोग कहते हैं—मन्त्र यह कह रहा है, क्योंकि मन्त्र ऋषि है। मन्त्रावच्छिन्न जो चैतन्य है, वह मन्त्रमें बैठकर अपनेको देखता है, इसलिए जितने भी ऋषि हैं, वे श्रीकृष्णको ऐसे ही कहते हैं— 'वेदमन्त्र भी उनका प्रतिपादन करते हैं'। देवर्षि नारद उसमें प्रमाण हैं। श्रीकृष्णके सम्बन्धमें नारदका प्रामाण्य सर्वोपरि है। चूँकि वे देवताओंके ऋषि, पुरोहित हैं, अतः वह जो श्रीकृष्णके सम्बन्धमें बताते हैं वह बहुत प्रामाणिक रहता है। फिर और ऋषियोंका नाम लिया।

असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे। 10.13

'असित-देवल'—देवल। काश्यप देवलको असित देवल कहा जाता है। असित विशेषण है। असित एक ऋषिका नाम भी है। इसकी विशेषता यह है कि वे कहीं आबद्ध नहीं होते। जैगीषव्य ब्राह्मणने एक अतिस ऋषिको बाँध लिया। जैगीषव्य मजा लेने लगे उस बन्धनमें। कभी छोटे-से बनकर उस बन्धनसे निकलकर ऊपर चले जायें और कभी बड़े-से बनकर आकर बन्धनमें बँध जायें। उसने तो उसको बाँधा था और वे उसका मजा लेने लगे। बढ़िया बात यही है कि हम जहाँ रहें—बन्धनमें रहें तो, मुक्त रहें तो—जेलमें भी रहें तो हँसे, गावें और बाहर रहें तो वहाँ भी हँसें, गावें, मजा लें। हर समय आनन्द बना रहना चाहिए। इसीसे असितको असित कहते हैं। सित माने बद्ध और असित माने जो कभी बद्ध न हो। जहाँ है वहाँ उसका ज्ञान बना है। उसका आनन्द बना है, उसका जीवन बना है। जीनेकी कला यही है कि यदि हम अपने आनन्दको खो न दें। जब हम अपने आनन्दको खो देते हैं तो ज्ञानको भी खो देते हैं और जब ज्ञान और आनन्द जीवनमें न रहा तो जीवन क्या रहा? सत् माने जीवन चित् माने ज्ञान और आनन्द—ये तीनों अपने स्वरूप हैं।

महात्माका स्वरूप यह है कि वह उनसे कभी रहित नहीं होगा। हर समय उसके आनन्दकी धारा बहती रहती है। हर समय उसके ज्ञानका प्रकाश फैलता रहता है और हर रूपमें उसकी जीवनसत्ता अपना काम करती रहती है। घड़ा फूटे कि टूटे, माटी ज्यो-की-त्यों। ऐसा है महात्माका जीवन। इसीको बोलते हैं 'असित'—

कहीं, किसी भी अवस्थामें आबद्ध न होनेवाले। न प्रान्तमें बँधे, न राष्ट्रमें बँधे, न जातिमें बँधे, न मजहबमें बँधे। समय-समयपर जितनी धाराएँ आती हैं, चली जाती हैं।

बौद्धोंके बाद हमारे दर्शनशास्त्रपर एक ऐसी काली छाया पड़ गयी कि जब लोग अपनी-अपनी डफली, अपना-अपना राग बजाने लगे। मुसलमानोंके बाद ऐसा आहार-विहारका चक्कर चला, ऐसी जाति-पाँति, ऐसे झगड़े खड़े हो गये। किसी परिस्थितिमें, चाहे वह देशकी हो चाहे कालकी, पर उसमें आबद्ध नहीं होना चाहिए और ऐसा बन्धनहीन पुरुष जब भगवान्, ईश्वरके बारेमें बोलता है तो वह 'देवल' है। देव माने जो परमात्मा उसको देनेवाला!

और व्यासजी महाराजके बारेमें क्या पूछना, जो वेदोंके विभाग करे, ब्रह्मसूत्रका निर्माण करे, अठारह पुराणोंकी रचना करे। स्पष्ट बोलते हैं कि व्यास भगवान्के सिवाय महाभारतकी रचना करनेवाला कोई नहीं हो सकता। जिसने महाभारत नहीं पढ़ा, उसको तो मानव-संस्कृतिका मूल ही नहीं मालूम कि क्या है? मानव कैसे होते हैं? मनुष्यका मन कैसा होता है? जीवनमें क्या-क्या आता है? कितनी तरहके मनुष्य होते हैं और कितनी तरहकी दुर्घटनाएँ जीवनमें घटित होती हैं। उनमें एकरस, शान्तिका अनुभव करनेके लिए व्यासने महाभारतकी रचना की है। महाभारत शान्त-रसका ग्रन्थ है। उसमें अन्तमें निर्वेद स्थायी होकर शान्ति देनेवाला ग्रन्थ है। ऐसे व्यास भी यही कहते हैं कि श्रीकृष्ण ही भगवान् है। असित देवल, व्यास, देवर्षि नारद—ये सब महात्मा, सारे वेद, पुराण, सारे ऋषि यही कहते हैं कि तुम ही भगवान् हो।

अरे बाबा, औरोंकी तो बात ही क्या—

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम। 10.15

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव। 10.14

हम यह सब सच मानते हैं। मेरे मनमें तुम्हारे परमात्मा होनेमें कहीं असम्भावना नामकी चीज नहीं है। हमारे सामने सब परमात्मा बैठे हैं। न कोई विपरीत भावना है। हमारा हृदय असम्भावना और विपरीत भावनासे मुक्त है! हमारे मनमें यह नहीं आता कि तुम परमात्मा कैसे हो सकते हो? साढ़े तीन हाथके शरीरवाले, हमारे सारथिके रूपमें बैठे हुए, हमारे सम्बन्धी तुम परमात्मा हो सकते हो? ऐसी बात मेरे मनमें कभी नहीं आती। तुम परमात्मा हो; और फिर तो तुम कहते हो उसको भी सच मानता हूँ। तुम वस्तुतः केशव हो।

केशव शब्दका सीधा अर्थ होता है—जिसके बाल बहुत सुन्दर हों। पाणिनीने इसी अर्थमें केशव शब्दका निर्माण किया है। जिसके बाल बहुत सुन्दर हों उसका नाम होता है—केशव। अर्जुनके बाल भी कम सुन्दर नहीं थे। इसलिए अर्जुनको 'गुडाकेश' कहते हैं। गुडाकेश माने घुँघराले बालवाला। अर्जुनको भी अपने बाल बहुत पसन्द हैं। इसलिए श्रीकृष्णके बाल भी बहुत पसन्द करते हैं। महाभारतमें केशव शब्दकी व्युत्पत्ति दूसरी है। वह यह है कि जिसके मुखारविन्दसे रश्मियाँ, स्वर्ण वर्णकी किरणें निकलती हों, उसको केशव कहते हैं और पण्डितोंने केशव शब्दका अर्थ और निकाल लिया। 'क' माने ब्रह्मा 'ई' माने विष्णु और 'ईश' माने शंकर इन तीनोंका जो प्रशासक है, इस प्रशासकको, अन्तर्यामीको ईश्वर कहते हैं।

यन्मां वदसि केशव, न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः। 10.14

कोई भी देव, दानव, मानव आपके व्यक्तित्वको नहीं समझ पाता। इतना गम्भीर व्यक्तित्व है। कोई कहे चोर, कोई कहे व्यभिचारी, कोई कहे पलायनवादी, कोई कहे कूटनीतिज्ञ, कोई कहे बड़े ज्ञानी, कोई कहे साक्षात् भगवान्! अरे बाबा, इतनी तरहकी बातें लोग तुम्हारे बारेमें क्यों बोलते हैं—असलमें तुम्हारी जो असलियत है, उसे कोई जानता नहीं। जिसके दो बाप और माँ हैं। दो माँ देवकी-यशोदा—कौन जानेगा असलमें किसके बेटे हैं? आपसमें लड़ते हैं वसुदेवनन्दन हैं कि नन्दनन्दन हैं। इसके लिए सम्प्रदायोंका शास्त्रार्थ है। बल्लभ-सम्प्रदाय और चैतन्य महाप्रभुका सम्प्रदाय-नन्दनन्दन ज्यादा मानते हैं और रामानुज सम्प्रदायमें वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णको मानते हैं। जिसके बापके बारेमें लड़ाई, माँके बारेमें लड़ाई, 'न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवाः।' बड़े-बड़े देवताओंको भी यह पता नहीं कि तुम्हारा यह जो प्राकट्य है—जो अभिव्यक्ति है, यह क्या है? किसीको मालूम नहीं है। तुम्हीं तुमको जानते हो। आठ श्लोकोंमें तो प्रश्न है।

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम। 10.15
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया। 10.17

तुम स्वयं अपने आपको जानते हो। हमें बता दो कि हम किस-किस रूपमें तुम्हारा चिन्तन करें। यह उपासना नहीं है, भक्ति नहीं है। हम अपने हृदयमें किस-किस रूपमें तुम्हारा चिन्तन करें। पशु, पक्षी, पेड़, पौधा सबके रूपमें अपनेको श्रीकृष्ण बताते हैं। 'ऐष तूद्देशतः प्रोक्तः' वह तो केवल नाममात्र है। उसका मतलब यह है कि सब भगवान्का स्वरूप है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

●

प्रवचन : 2

(1-11-1981)

पाणिनीय व्याकरणकी दृष्टिसे अर्जुन शब्दका अर्थ होता है=अर्जन करनेवाला—उपार्जन करनेवाला। जैसे आपलोग धनार्जन करते हैं—अर्जनका अर्जुन हो गया है। धनञ्जयका पर्यायवाची है अर्जुन। ज्ञानार्जनमें भी उसका अर्थ संगत हो जाता है। ज्ञानोपार्जनमें बड़ा निपुण है। जैसे व्यापारी धन-उपार्जनमें निपुण होता है, वैसे अर्जुन ज्ञानोपार्जनमें निपुण है। 'अर्जनात् अर्जुनः'। दूसरा अर्थ होता है जो सीधा-सादा सरल स्वभावका है उसको अर्जुन कहते हैं। इस प्रसंगमें अर्जुनने श्रीकृष्णके अनेक सम्बोधन दिये हैं—

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः।।
स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते।। 10.14-15

अर्जुनका कहना है कि जो कुछ आपके बारेमें ऋषियोंने कहा है, मन्त्रोंने कहा है, वेदोंने कहा है, देवर्षि नारदने कहा—असित-देवलने कहा, व्यासने कहा—**सर्वमेतदृतं मन्ये**। मैं सबको सत्य मानता हूँ। सब चीज ठीक है। हमारे मनमें कोई शंका नहीं है। श्रद्धा है, आत्मबल—निर्बलता नाम श्रद्धा नहीं है, एक अदृष्ट पदार्थ जिसका हमको साक्षात्कार नहीं हुआ है, और जिसको मान करके अपने जीवनका संचालन करना है—यह बिना दृढ़ आत्मबलके नहीं हो सकता। इसलिए श्रद्धा करना, जो आत्मबलसे दरिद्र हैं, उनका काम नहीं है। आत्मबलके जो धनी हैं उनका काम है कि वे अदृश्य-अदृष्टपर श्रद्धा करें।

न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः।

आपकी जो व्यक्ति है उसके स्वरूपको देवता-दानव कोई नहीं जानते। क्योंकि न तो बलसे जान सकते हैं, न तो इन्द्रियोंसे जान सकते हैं। यहाँ दोनोंका निषेध हो गया। देवता प्रज्ञासे जानते हैं। और दानव प्राणसे, बलसे जानते हैं। कम्प्यूटरसे किसीकी गिनती कर लेना यह दूसरी बात है और लेबोरेटरीमें गलाके किसी वस्तुको जान लेना यह दूसरी बात हो गयी। दैत्य लेबोरेटरीमें रासायनिक क्रिया करके वस्तुको जाननेका प्रयास करते हैं और देवता गणितके द्वारा प्रयत्न करते हैं। ये दो पद्धतियाँ हैं। संख्या करलें तो सांख्य हो गया और निर्माण करलें तो धर्म हो गया, कर्म हो गया। कोई भी कर्मबल अथवा बुद्धिबलसे परमात्माको नहीं जान सकता है। व्यक्ति माने अव्यक्तका व्यक्त होना। व्यक्त माने जाहिर होना। व्यक्ति माने जो व्यंजित हुआ है। परमात्माकी अभिव्यंजनाका नाम यहाँ व्यक्ति है। गीतामें यह बात कही गयी कि जो लोग परमात्माको व्यक्तिभावको प्राप्त मानते हैं, वे बुद्धिमान् नहीं हैं।

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।। 7.24

मैं हूँ अव्यक्त—अव्यक्त माने किसी भी रासायनिक प्रक्रियाके द्वारा या किसी भी प्रमाणके द्वारा जो ज्ञात न हो। प्रमाण-प्रधान होते हैं देवता और क्रिया -प्रधान होते हैं—देवतासे जो इतर लोग हैं। हम आँखसे देखते हैं यह प्रमाण हुआ। कानसे सुनते हैं यह प्रमाण हुआ—बुद्धिसे सोचते हैं यह प्रमाण हुआ। अपने आपमें अनुभव करते हैं यह प्रमाण हुआ और किसी वस्तुको सड़ाकर, गलाकर, कुछ मिलाकर—उसको जानना यह एक प्रक्रिया हुई। अब परमात्माका जो व्यक्तित्व है वह क्या जैसा सबका व्यक्तित्व है, वैसा ही है? अद्भुत लीला है इस व्यक्तित्वके बारेमें। कोई लोग कहते हैं कि जैसा कर्म होता है, उसके अनुसार व्यक्तिका निर्माण होता है। कोई कहते हैं जैसा कारण होता है उसके अनुरूप व्यक्तिका निर्माण होता है। कोई कहते हैं जैसा निमित्त होता है उसके कारण व्यक्तिका निर्माण होता है।

व्यक्तिके निर्माणके लिए बीज भी आवश्यक होता है। बीजमें संस्कार होता है और उपादान भी आवश्यक होता है। वस्तुमें संस्कार रहता है, वहाँ निमित्त भी होता है। जैसे पञ्चभूतका उपादान है और उसमें बीजका वंशानुगत संस्कार है और मालीने उसकी कलम बाँध दी। एक दूसरी वस्तुका निर्माण हो गया। उपादान भी है, संस्कार भी है, निमित्त भी है। इमलीके बीजसे आम पैदा नहीं हो सकता। आमके बीजसे इमली पैदा नहीं हो सकती। ये बीजगत संस्कार हैं और पञ्चभूतरूप उपादान दोनोंमें हैं। अब दोनोंकी कलम करके अगर तीसरी चीज बनानी हो तो माली उनका संकर बनायेगा—मिश्रण करेगा।

यह जो श्रीकृष्णका, ईश्वरका, व्यक्तित्व है यह क्या वैसे ही है? पञ्चभूत उपादान है और जीवके पूर्व संस्कार हैं। माता-पिता निमित्त हैं—और एक जीवका व्यक्तित्व उदय होता है—एक मनुष्य प्रकट होता है। अब बताओ वह चिद्वस्तु चेतन, जिसमें साक्षी होनेसे उपादानता नहीं है, अकर्ता होनेसे जिसमें संस्कार नहीं है, अदृश्य होनेसे जिसमें कोई क्रियाका प्रयोग नहीं है, जो सच्चिदानन्दघन चेतन है, वह श्रीकृष्ण व्यक्तिके रूपमें कैसे आया? मनुष्यको व्यक्तिके रूपमें आनेके लिए माता-पिताका बीज भी है, पञ्चभूत भी है, उसके कर्मरूप निमित्त भी हैं। एक जीव मनुष्यके रूपमें व्यक्त हुआ तो उसके पास तो सारी सामग्री थी। परन्तु ईश्वरको व्यक्ति बननेमें, एक मनुष्यके रूपमें आनेमें क्या कारण है? पञ्चभूतके उपादानसे शरीर बना नहीं, पूर्वजन्मके संस्कार हैं नहीं, इनके वास्तविक माता-पिता कोई है नहीं। किसीने उनको संकर बनाया नहीं। फिर श्रीकृष्णका व्यक्तित्व क्या है? उन्होंने कहा कि मैं तो अव्यक्त ही हूँ—व्यक्ति-भावको कभी प्राप्त हुआ नहीं।

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः । 7.24

कभी कोई दर्शन-शास्त्रकी बात भी सुना दें। कभी कथा भी सुना देंगे। पण्डितोंमें जब इसकी चर्चा होती है—उसका नमूना आपको सुना दें—आपको श्लोकके साथ सुना दें। जैसे आप व्यापारमें पैसेके साथ खेलते हैं, वैसे हमलोग शब्दोंके साथ खेलते हैं।

भगवान्‌ने कहा—जब मैं प्रत्यक्ष व्यक्तिके रूपमें प्रकट हूँ—ये साँवरा सलोना, ये पीताम्बरधारी, ये

मन्दमन्द मुसकान, ये प्रेमभरी चितवन, मैं तुम्हारे सामने हूँ तो फिर निराकारका चिन्तन कौन करेगा? बोले— 'अबुद्धयः'—

अव्यक्तं सन्तं माम् अबुद्धयः व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते।
व्यक्तिमापन्नं मां अबुद्धयः अव्यक्तं मन्यन्ते।

मैं हूँ बिलकुल निराकार लेकिन जो हमको साकार मानते हैं—वे कौन हैं? बोले—'अबुद्धयः'।

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं च माम् अबुद्धयो मन्यन्ते।

भगवान् निराकार है कि साकार है? इस झगड़ेमें मूर्ख लोग फँसते हैं। न भगवान् साकार है, न निराकार है—यह शब्दलीला है। यह पौराणिकोंका काम नहीं है और कवियोंका काम भी नहीं है। ये हमारे दार्शनिक और वैयाकरण—दोनोंका काम है।

अवजानन्ति मां मूढाः मानुषीं तनुमाश्रितम्। 9.11

हमको मनुष्य समझकर मूढ़ लोग हमें अपमानित करते हैं। हम मनुष्य नहीं हैं, देवता भी नहीं, दानव भी नहीं। क्या हैं—विलक्षण—साक्षात् परब्रह्म, परमात्मा हैं। देखनेमें मनुष्य हैं और हैं साक्षात् परब्रह्म, परमात्मा। व्यक्तिकी जानकारी कैसे होगी? एक बालक अपने पितासे एक दिन लड़ाई कर बैठा—पिताजी जब मेरा विवाह होगा तब मैं आपको आमन्त्रित नहीं करूँगा। उसने पूछा—'क्यों बेटा?' ऐसा क्यों करोगे? बोला, 'तुमने अपने व्याहमें हमको आमन्त्रित नहीं किया था। हम तो बदला लेंगे।' अपने बापके जन्म-कर्मको पुत्र कैसे जान सकता है? क्योंकि जब पुत्र नहीं था तब पिताका जन्म हुआ। अब यह भगवान्‌की जो अभिव्यक्ति है— भगवान्‌का जाहिर होना, यह भगवान्‌के बाद पैदा हुआ और जिसके पहले भगवान् थे वे अगर जानना चाहें कि हम भगवान्‌के जन्मको जान लें तो कैसे जानेंगे?

न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः।

क्रियाशक्तिसे भी नहीं, ज्ञानशक्तिसे भी नहीं—और व्यक्ति जो है वह सच्चिदानन्दकी अभिव्यक्ति है। सत्‌में आवृत्ति कैसे बनी? चित्‌में विशेष ज्ञानकी उत्पत्ति कैसे हुई? आनन्दमें भोगका सम्बन्ध कहाँसे हुआ? न आनन्दमें भोगका सम्बन्ध होता है, न ज्ञानकी वृत्तियाँ बनती हैं और न सत्‌में आकृतियाँ बनती हैं। तब यह सच्चिदानन्द परब्रह्म परमात्मा जो है, वह व्यक्तिके रूपमें कैसे आया? कोई इस बातको नहीं जानता। सबके ऊपर पानी फेर दिया। किसीको यह बात मालूम ही नहीं है कि भगवान् अव्यक्तसे व्यक्त कैसे हुए? निराकारसे साकार कैसे हुए? निर्गुणसे सगुण कैसे हुए? अजन्मासे जन्मवान कैसे बने? यह बात किसीको मालूम नहीं है। जो लोग बताते हैं कि हमको मालूम है वे अललटप्पू गप्प हाँकते हैं। भगवान् निराकार भी हैं, साकार भी हैं। पर निराकारसे साकार कैसे हुए, इसको जाननेवाला कोई नहीं है। सब अज्ञानके चक्करमें फँस गये। अपनी-अपनी कल्पना-जल्पनासे यह बात बोलते हैं कि भगवान् ऐसे प्रकट हुए, भगवान् ऐसे प्रकट हुए। बोले, कोई तो जाननेवाला चाहिए न! बोले, हाँ, जाननेवाला तो है। अर्जुनने कहा हम जाननेवालेको जानते हैं, हम उसको पहचानते हैं।

न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः।
स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।।

अपने आपको, अपने आपसे, आप स्वयं जानते हैं। 'स्वयमेव आत्मना आत्मानं वेत्थ'। तुम स्वयं ही अपने आपको जानते हो। माने तुम्हारा ज्ञान और तुम्हारी व्यक्ति एक है—दो नहीं। जो ज्ञान है वही व्यक्ति है और जो व्यक्ति है वही ज्ञान है। श्रीरामानुजाचार्यसे किसीने पूछा—महाराज, आपकी यह व्यक्ति क्या है? और आप क्या हैं? श्रीरामानुजाचार्यने उत्तर दिया—'किमात्मिका भगवतो व्यक्तिः? यदात्मको भगवान्'।

भगवान्‌की जो अभिव्यक्ति होती है, अभिव्यञ्जना होती है, जाहिर होना होता है—उस अव्यक्त स्वरूपको प्रकट करनेवाली व्यक्ति, वह क्या होती है? बोले 'यदात्मको भगवान्' अभिव्यक्ति क्या है? स्वयं भगवान् ही अभिव्यक्ति है। उसमें दूसरे कुछका मिश्रण नहीं है। 'किमात्मको भगवान्'? भगवान् क्या है? 'यदात्मिका अभिव्यक्तिः'—जैसी उनकी अभिव्यक्ति है। जैसे जाहिर हैं वैसे ही वे अनजाहिर भी हैं। जैसे प्रकट हैं वैसे ही गुप्त भी हैं। जैसे गुप्त हैं वैसे प्रकट भी हैं। भगवान् बिल्कुल एक सरीखे हैं और उनको जाननेवाला कोई दूसरा नहीं है।

अब देखिये क्या युक्तिसे यह बात बतायी है! 'स्वयमेव', स्वयमेवका अर्थ हुआ-अपने आप जानते हैं। कोई गुरु नहीं है। 'स्वयमेव'का अर्थ है कि भगवान्‌को किसीने नहीं कहा हो कि 'तत्त्वमसि'। भगवान् 'निगुरे' हैं। उनका गुरु कोई नहीं है। उनको किसीने बताया नहीं कि तुम प्रभु हो। जीवको बताना पड़ता है कि तुम ब्रह्म हो। ईश्वरको बताना नहीं पड़ता। अभी अध्यात्म रामायणमें मैंने देखा। ईश्वरके लिए 'निरीश्वर' शब्दका प्रयोग है। ईश्वर आस्तिक होता है कि नास्तिक? ईश्वर यदि अपना ईश्वर किसी औरको मानता है तो छोटा ईश्वर हो गया न? दो नम्बर का। ईश्वरका ईश्वर नहीं होता, इसलिए ईश्वरको 'निरीश्वर' कहते हैं। भागवतमें प्रयोग है-ईश्वरका आत्मा कोई दूसरा नहीं है। वह स्वयं आत्मा है।

आगे जाननेकी प्रक्रियाका खण्डन करते हैं। 'आत्मना आत्मानं वेत्थ'। हम जब किसी चीजको जानते हैं, तो प्रत्यक्षादि प्रमाणके द्वारा जानते हैं। आँखसे रूपको देखते हैं-काला है, गोरा है। आकृतिको भी आँखसे जानते हैं? कानसे शब्दको जानते हैं। त्वचासे स्पर्शको जानते हैं। आत्मना नहीं जानते। करणेन-किसी इन्द्रियके द्वारा हम संसारको जानते हैं। मनके द्वारा जानते हैं, बुद्धिके द्वारा जानते हैं और परमात्माको जाननेके लिए इन्द्रिय, मन और बुद्धिका तिरस्कार करना पड़ता है। जाओ इन्द्रियो-तुम संसारको देख सकती हो-देखो। पति पत्नीपर नाराज हुआ, बोला दिनभर तुमको बाजार ही अच्छा लगता है। जाओ बाजारमें। वैसे स्त्री भी पुरुषको कह सकती है कि दिनभर तुम्हें पैसा, पैसा, पैसा-हम भी तो घरमें कुछ हैं।

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूः। कठ० उप०

इन्द्रियाँ तो बाहरकी वस्तु देखनेके लिए जाती हैं। आत्माके अस्तित्वसे ही सबकी प्रवृत्ति हो सकती है। परमात्माको देखनेके लिए, आँखसे देखें, कि कानसे सुनें, कि त्वचासे स्पर्श करें, कि नाकसे सूँघें कि जीभसे चक्खें कि मनसे कल्पना करें तो बोले 'आत्मना'। यह तो सब अनात्मा है। इनके द्वारा परमात्माका ज्ञान नहीं होता। इनका निषेध करके परमात्माका ज्ञान होता है। किसको जानते हैं?

एक बात और है। जैसे हमें दूसरेके कन्धेपर चढ़ना हो तो चढ़ सकेंगे । लेकिन अपने कन्धेपर चढ़ना हो तो कोई स्वयं अपने कन्धेपर नहीं चढ़ सकता। इसलिए यदि आत्मा परमात्माको अन्य रूपमें जाने तो कर्तृ-कर्म विरोध हो जायेगा। जाननेवाला और, जाना जानेवाला और। परमात्मा जब अपनेको जानता है तब जाना जानेवाला और, जाननेवाला और, ऐसा नहीं होता। 'स्वयमेव बुद्धम् स्वयं च तत्त्वम्'। अपने आप ही उसका बोध होता है। माने आत्माका ज्ञान दूसरेका ज्ञान नहीं है। आत्माका ज्ञान, दूसरोंके द्वारा इन्द्रियोंके द्वारा नहीं होता और स्वयमेवका अर्थ है-स्वयं ज्ञान-स्वरूप है। अभिव्यक्तिमें और ज्ञानमें कोई फर्क नहीं है।

अब सम्बोधन दे दिया 'पुरुषोत्तम'। आप जानते ही हैं गीतामें तो पुरुषोत्तम शब्द पारिभाषिक है। एक खास मतलबसे पुरुषोत्तम शब्दका प्रयोग होता है। ऐसे तो व्यवहारमें किसीको भी पुरुषोत्तम कह सकते हैं। अरे भाई, ये तो प्रधान मन्त्रीके नाकके बाल हैं-हो गये न पुरुषोत्तम! राष्ट्रपति इनकी सलाहसे काम करते हैं। डॉक्टरोंके लिए कहते हैं-ये राष्ट्रपतिके खास चिकित्सक हैं-'पुरुषोत्तम' हो गये। महात्मा लोग भी जिनकी प्रशंसा करें, विद्वान् भी जिनकी प्रशंसा करें। हजार गवाही देकर लोग किसीका बड़प्पन सिद्ध करते हैं। 'राजानो यं प्रशंसन्ति यं प्रशंसन्ति पण्डिताः । साधवो यं प्रशंसन्ति स पार्थ पुरुषोत्तमः ।' दुनियाँमें पुरुषोत्तम कौन है? बोले राजा, विद्वान् और साधु तीनों जिसकी प्रशंसा करते हों। यह तो लौकिक पुरुषोत्तम हुआ और श्रीकृष्ण कैसे पुरुषोत्तम हैं? आपने गीतामें पुरुषोत्तम शब्दकी व्याख्या पढ़ी है। जो जड़-सृष्टि है और जो जीव-सृष्टि है, इन दोनोंका सञ्चालक, अन्तर्यामी, प्रेरक, प्रकाशक जो प्रभु है, क्षराक्षर विलक्षण है; क्षर अर्थात् जड़-सृष्टिसे विलक्षण और अक्षर अर्थात् जीव-सृष्टिसे विलक्षण! उसको बोलते हैं-'पुरुषोत्तम'!

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः।। 15.17
यस्मात्क्षरमतीतोहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः।। 15.18

लोकमें भी मेरा नाम पुरुषोत्तम है और वेदमें भी मेरा नाम पुरुषोत्तम है। क्योंकि क्षर पुरुष और अक्षर पुरुष, अष्टधा प्रकृति और परा प्रकृति दोनोंसे परे मैं हूँ। ये उलाहना मत देना कि भगवान्ने अपनेको पुरुषोंसे ही उत्तम बताया-स्त्रियोंसे भी उत्तम क्यों नहीं बताया? संस्कृत भाषामें स्त्री-पुरुषके लिए भेद नहीं है। पुरुष शब्दका प्रयोग दोनोंके लिए होता है। क्योंकि जीवको देखकर वे बोलते हैं, शरीरको देखकर नहीं बोलते। स्त्रीके शरीरकी बनावट दूसरी है और पुरुषके शरीरकी बनावट दूसरी है। पर शरीरकी बनावट दूसरी-दूसरी है, आत्मामें, जीवात्मामें कोई फर्क नहीं है। न पञ्चभूतमें कोई फर्क है, और न चेतनमें कोई फरक है।

इसलिए संस्कृत भाषामें दोनोंके लिए प्रकृति शब्दका प्रयोग भी आता है। अष्टधा प्रकृति , परा प्रकृति , आपरा प्रकृति -परा प्रकृति रूप अक्षर-पुरुष और अपरा प्रकृति रूप ये पञ्चभूत। इन दोनोंसे विलक्षण है पुरुषोत्तम। क्षेत्रसे भी विलक्षण है और क्षेत्रज्ञसे भी विलक्षण है। तेरहवें अध्यायमें क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ। सातवें अध्यायमें

परा प्रकृति, अपरा प्रकृति। पन्द्रहवें अध्यायमें क्षर और अक्षर पुरुष-इन दोनोंके लक्षणोंसे जिसका लक्षण अलग है विलक्षण है। विलक्षण कहनेमें कभी निन्दा भी होती है, कभी स्तुति भी होती है। भाई, यह तो विलक्षण पुरुष है। माने पता ही नहीं चलता कि क्या है? न इसमें पूरा-पूरा साधुका लक्षण मिलता है, न पूरा-पूरा दुष्टका लक्षण मिलता है। तब कहेंगे 'विलक्षण' है। साधु-लक्षणसे भी विपरीत है और दुष्ट-लक्षणसे भी विपरीत है।

अब भगवान्‌के बारेमें क्या कहेंगे? भागवतमें तो ऐसा लिखा है कि जब दो आदमी परस्पर वाद-विवाद करने लगते हैं, उसके पास भी वे धीरेसे बैठ जाते हैं। एक काटता है और एक उसका समर्थन करता है। काटनेवालेके भीतर बैठकर उसे धीरेसे काटनेकी युक्ति बताते हैं और समर्थन करनेवालेके भीतर बैठकर धीरेसे उसे समर्थन करनेकी युक्ति बताते रहते हैं।

यच्छक्तयो वदतां वादिनां वै विवादसंवादभुवो भवन्ति। भागवत 6.4.31

एक वकील वादी और प्रतिवादी दोनोंको सलाह दे तब उसे क्या कहें? पर ये भगवान् ऐसे विलक्षण-पुरुषोत्तम हैं। उनके लिए कोई अपना-पराया है ही नहीं-जो उनकी सन्निधिमें है उसको अपना ज्ञान देते हैं, अपनी शक्ति देते हैं, अपनी प्रेरणा देते हैं। यह देव-दानवका झगड़ा संसारमें है, भगवान्‌में नहीं है। अपने-परायेका व्यामोह बिल्कुल संसारी है। भगवान्‌में अपने-परायेका कोई भेद नहीं है।

यह जो पुरुषोत्तमत्व है उसका विवरण देनेके लिए-यदि पुरुषोत्तमपनेको समझनेमें कोई परदा पड़ा हो तो आओ इसका खुलासा कर देते हैं। अभी मैंने वाल्मीकि रामायणमें एक बढ़िया सूक्ति देखी। जब सीताजीको विभीषण लेकर पालकीमें आने लगे श्रीरामचन्द्रके पास-उन्हें वानर देखनेके लिए दौड़े। वहाँ छड़ीदार मार-मारकर वानरोंको दूर भगाने लगे, बोले पालकीके पास मत आओ। वे रक्षक कपड़े भी पहने थे। साफा भी बाँधे थे। उनके हाथमें छड़ी भी थी, रामचन्द्रने देखा क्या कोलाहल हो रहा है? सीताजीके दर्शनके लिए हल्लागुल्ला हो रहा है। बोले सीताजीको कह दो कि पालकीसे नीचे उतरकर पैदल आवें। वहाँ ऐसा बढ़िया वचन कहा है कि स्त्रीके लिए घरका परदा नहीं है कि वह चहार दीवारीके भीतर ही रहे। उसके लिए पालकीका परदा भी नहीं है। उसके लिए कपड़ेका परदा भी नहीं है।

'वृत्तमावरणं स्त्रियाः' (रामा० युद्ध० 114.27) जो आचरण है-वही उसका परदा है। क्या बढ़िया सूक्ति है-'वृत्तं चरित्रम् आवरणं अवगुण्ठनं स्त्रियाः' स्त्रीका परदा क्या है? उसका आचरण। यदि उसका आचरण ठीक है तो वह परदेमें है। पुरुषके लिए भी ऐसा ही वर्णन है। 'छन्दांसि यस्य पर्णानि' (15.1) यह जो अश्वत्थ वृक्षमें वेदका छन्दस् है, आच्छादन है, यही पत्ता है। इस अश्वत्थ वृक्षका पर्दा क्या है? पत्ता क्या है? छन्दस्-वेद। शास्त्रके अनुसार, संविधानके अनुसार, मर्यादाके अनुसार जो जीवन व्यतीत होता है, उसी जीवनको बोलते हैं कि वह पवित्र जीवन है। भगवान् सबमें रहकर सबको ज्ञान दे रहे हैं। अब उसका हम विवरण कर रहे हैं। पुरुषोत्तम-विवरण माने खुलासा। भगवान्‌को-पुरुषोत्तमको परदा हटाकर देख रहे हैं, अनावृत्त करके देख रहे हैं।

भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते।-ये पुरुषोत्तम हैं। 'भूतानि भावयति'। सब भूतोंको-'भवन्ति इति भूतानि'। संस्कृत भाषामें केवल भूत-प्रेतके लिए भी भूत शब्दका प्रयोग नहीं होता। और केवल भूत कालके लिए भी भूत शब्दका प्रयोग नहीं होता। 'भवन्ति इति भूतानि'। जो इस समय हो रहे हैं। बच्चा हो रहा है-भूत है। बच्चा जवान हो रहा है-भूत है। इन सबको बनानेवाले-'भूतानि भावयति।' जो सबको रसीला बना देता है। जो मुर्देमें जान फूँक देता है। उसका नाम है भूतभावन। मूर्खको पण्डित बना दिया, इसका नाम हो गया भूतभावन। जड़को चेतन बना दिया, इसका नाम हो गया भूतभावन। दुःखीको सुखी बना दिया, इसका नाम हो गया भूतभावन, जैसे वैद्य लोग किसी वस्तुको भावना देते हैं। एक कुचिला जो कड़वा होता है-उसको भावना देते हैं-गोबरमें रखते हैं। फिर दूध, दही, घी, शहदमें रखते हैं। अब वह कड़वा कुचिला जो है, वह भावना देते-देते एक रसायन बन जाता है।

इसी प्रकार इस विश्वसृष्टिमें जिसने भावना दे-दे करके अपने प्राणोंसे जीवित किया, अपनी आवाज भर दी, चिड़ियामें कितनी मधुर, कितनी सुरीली आवाज! अपनी हरियाली भर दी वृक्षोंमें, अपना रस भर दिया फलोंमें-वह है भूत-भावन। कोयलमें जिसने मीठी आवाज भर दी वह भूत-भावन है। जिसने सुरीली, वीणाके तारमें मीठी आवाज भर दी-उसका नाम भूतभावन है। जिसने जलको रसीला बना दिया 'रसोऽहमप्सु कौन्तेय' (उसका) नाम भूत-भावन है। सबमें भावना भर रहा है। सब जीवित रह रहे हैं। सब जान रहे हैं। सब मजा ले रहे हैं। ये कौन हैं? यह वही है। यह हमें दीखता नहीं है। यह जादूका खेल तो दिखाता है पर जादूगर नहीं दिखता। न तं विदाथ य इमा जजान। (ऋग्वेद 10.82.77)। लोग बगीचा तो देख रहे हैं पर यह बगीचा है किसका? उसको नहीं देखते-वह है भूतभावन, माने सारे जगत्का माता-पिता है, पालक-पोषक है।

कोई-कोई लोग ऐसे भी निकल जाते हैं, जिनका माता-पितासे प्रेम नहीं होता है। वे केवल माता-पिता ही नहीं है। डंडा मारकर भी ठीक करनेवाले हैं। भूतेश-भूतोंके ईश्वर हैं-स्वामी हैं-ईशनशील हैं। ईश हैं-नियन्ता हैं। माता-पिताके काबूमें बालक भले ही न आवे; किन्तु ये तो ऐसे हैं कि सबको अपने नियन्त्रणमें कर लेते हैं। भूतेश-कोई-कोई स्वामीसे भी विद्रोह करते हैं। भले कोई छोटे-मोटे स्वामीसे विद्रोह करे-ये तो देव-देव हैं। देव-देवका अर्थ है-सूर्यमें, चन्द्रमामें, ग्रहमें, नक्षत्रमें, तारामें जो चमक, जो प्रकाश है, ये इन सब प्रकाशोंके प्रकाशक, देवताओंके देवता—'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' उस परमात्माके प्रकाशसे ही यह सृष्टि प्रकाशित हो रही है। सबमें एक चमक है, उस चमकको, प्रकाशको, उस रश्मिको, उस रौनकको देखो जो सबमें भरी हुई है।

स्त्रीमें वही है, पुरुषमें वही है। परमात्मा वह तत्त्व है, जो नाम-रूपके भेदसे अलग-अलग नहीं होता। परमात्मा वह प्रेम है जिसमें प्रेमी और प्रियतमका भेद नहीं होता। परमात्मा वह धर्म है जिसमें मजहब नहीं होता। आचार्यमूलक जितने धर्म होते हैं सब पीछेसे चलते हैं-इन्होंने चलाया, उन्होंने चलाया। आदमीकी लिखी हुई किताब-आदमीके द्वारा चलाया हुआ मजहब-ये सब-की-सब पीछेकी चीजें हैं। परमात्मा वह धर्म है जिसको चलानेवाला कोई आचार्य नहीं है-जो किसी समयमें नहीं चलाया गया। परमात्मा वह धर्म है जो भूगोलके

किसी हिस्सेमें नहीं चलाया गया। वह सार्वदेशिक, सार्वकालिक है। सम्पूर्ण देवताओंका-सूर्य, चन्द्र आदिका भी-देवता है।

वह है देव-देव। 'देवानामस्मि देव:'। देवताओंका भी देवता है। सारी केनोपनिषद् देव-देवोंसे भरी हुई है। 'श्रोत्रस्य श्रोत्रम्' (केन० 1.2) देव माने कान-का-कान है। 'चक्षुष: चक्षु' (केन० 1.2) आँख-की-आँख है। वह प्राण-का-प्राण है, वह मन-का-मन है, वह वाणी-का-वाणी है। देव-देव वही है। कहाँ है परमात्मा? 'हमको क्या तू ढूँढ़े बंदे हम तो तेरे पास हैं'। हमको कहाँ ढूँढ़ने जाता है? हम तो तेरे दिलमें हैं।

हम माँकी ओर न देखें पर हैं उसकी गोदमें। हम सूर्यकी ओर न देखे पर देखते हैं उसकी रोशनीमें। हम हवाको न पहचानें यह ठीक है, पर हम साँस लेते हैं हवामें। इसी प्रकार प्रत्येक शरीरमें जो चेतन है, चैतन्य है, वह अपने मूलभूत चैतन्य रूपको जाने या न जाने, वह उससे अलग होकर कभी रह नहीं सकता। वह देवताओंका भी देवता है। देवता मान लेते हैं कि जीत हमारी हुई-हमने यह चीज देखी है। दैत्य मान लेते हैं हमने यह चीज बनायी है। कर्मके द्वारा विजय प्राप्त करना और ज्ञानके द्वारा विजय प्राप्त करना। देव ज्ञानको लेकर लड़ें, दैत्य कर्मको लेकर लड़ें और दोनोंको अभिमान हुआ—हमने जीत लिया। दोनोंमें ज्योति आयी? कहाँसे रोशनी आयी? 'देव-देव जगत्पते!' आप जगत्के स्वामी हैं! पति शब्दका अर्थ केवल मालिक नहीं होता। पति शब्द भी स्त्री-पुरुषके लिए एक सरीखा ही चलता है।

एक बार एक सभा हो रही थी। उमा नेहरूजी उसकी अध्यक्ष थीं। हमारे गाँवके पास हो रही थी। सम्पूर्णानन्दजीने उन्हें सम्बोधन किया—सभापत्नीजी! स्त्रीके लिए सभापत्नी शब्द नहीं हो सकता। सभापति शब्द ही होगा। हँसी हो गयी। उन्होंने जान-बूझकर मजाक किया था। उनके साथ कृष्णकान्त मालवीय आये थे। पति शब्द जो है, यह पाति इति पति:-जो सबकी रक्षा करता है, उसका नाम होता है पति। और पत्नी उसको कहते हैं जो धर्मकार्यमें अपने पतिकी सहचारिणी हो। 'पत्युर्नो यज्ञसंयोगे (अष्टाध्यायी ४.१.३३)।' पत्नी जप करे तो पतिको उसका फल मिले। औ र पति कोई कर्म करे, दान-पुण्य करे तो पत्नीको उसका फल मिले। यह पति, पत्नी दोनों मिलकर धर्मके रथका सञ्चालन करते हैं। इसलिए पति शब्दका अर्थ केवल पुरुष नहीं होता-पति शब्दका अर्थ धर्मरक्षक होता है।

आप जगत्के पति हैं-जगत् माने परिवर्तनशील। जितना भी पदार्थ है, उसको जगत् कहते हैं—दुनियामें सभी वस्तुएँ चल रही हैं, हिल रही हैं, उनमें परिवर्तन हो रहा है, ऐसा कुछ नहीं है—जो अचल है। एक परमाणुको यदि विखण्डित कर दें-तब भी गति रह जाती है, तब भी शक्ति रह जाती है। गति और शक्तिका लोप कभी नहीं होता। प्रलयमें भी गति रहती है, परन्तु साम्यावस्थापन्न रहती है। सत्त्व, रज:, तम:की विषम परिणति-विषम गति रहती है सृष्टि कालमें और प्रलय कालमें सम गति रहती है, परन्तु गति रहती है। 'गच्छति इति जगत्'। जो व्यवहार-कालमें भी और प्रलयकालमें भी चल रहे उसका नाम होता है-जगत्। उसको मिट जाना चाहिए। क्षण-क्षण-क्षणमें मिट जाना चाहिए। परन्तु एक ऐसी वस्तु है जो अनादि कालसे अबतक प्रवाह कालमें नित्य इस जगत्की रक्षा करती है। जिसकी सत्ता, ज्ञान, आनन्दसे यह विश्व-सृष्टि बनी हुई है, उसको

जगत्पति कहते हैं। पुरुषोत्तम किसको कहेंगे? तो भूतभावन होगा, भूतेश होगा, देवदेव होगा और जगत्पति होगा-उसको कहेंगे कि पुरुषोत्तम है। और उसको कौन जानता है? बोले-स्वयं जानता है।

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते।।
वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि।। 10.15.16

अब अर्जुन कहते हैं कि जब आपके सिवाय कोई जानता ही नहीं तो आप ही बताइये। 'वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः'। आप अपने आपको जानते हैं, तो अपनी विभूति बताइये। क्योंकि आपकी विभूतियाँ भी दिव्य हैं। असलमें अलौकिक क्या है? जहाँ लोक नहीं है वहाँ क्या है? सम्पूर्ण निवृत्त होकर-अन्यका निषेध करके-स्वरूपमें स्थित होकर स्वयं अपनेको अलौकिक रूपमें अनुभव किया जा सकता है। यदि उस अलौकिकका वर्णन करना हो तो उसकी विभूतिका भी वर्णन किया जा सकता है।

यस्यावतारकर्माणि गायन्ति ह्यस्मदादयः।
न यं विदन्ति तत्त्वेन तस्मै भगवते नमः।। भाग० 2.6-37

भागवतमें बताया कि हम लोग केवल अवतार-कर्मका ही गान कर सकते हैं। उस परमतत्त्वका सम्यक् वर्णन करके गान करें-यह शक्य नहीं है। 'न तं विदाथ न इमा जजान' ऋग्वेद (10.82.7)में यह मन्त्र आता है कि देखो भाई, उसको तुम नहीं जानते, जिसने यह सृष्टि बनायी है। जब-जब वह अवतार लेकर आता है, व्यक्त होकर आता है, विभवनशील होता है, उसको देखो। विभूतियाँ, जिन बहत्तर विभूतियोंका आगे वर्णन है। इसमें भगवान्का अजन्मा-रूप नहीं है, विभव-रूप है। भगवान्का एक रूप होता है अजन्मा और एक रूप होता है प्राकट्यवाला-जो सामने दिखायी पड़ता है। 'अशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः।' भगवान्की विभूति-भगवान्की संभूति। विभूतियोंका, बृहदारण्यक उपनिषनमें, संभूतिके नामसे वर्णन है-ईशावास्य उपनिषद्में भी संभूतिके नामसे वर्णन है।

भगवान् की अपनी विभूति हैं ये नैमेत्तिक नहीं हैं मायिक नहीं है। 'मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः। न च मत्स्थानि भूतानि' (9.4)। कहनेका अर्थ यह है कि एक दृष्टिसे ये हैं और एक दृष्टिसे नहीं हैं। यह देखो हमारा वैभव, ये देखो चमत्कार, ये देखो जादूका खेल—अच्छा, आपका जादूका खेल, महाराज! आप ही समझाइये। पूरा-पूरा समझाइये—अशेषेण—अधूरा नहीं। एक बात और है—शेषसे प्रारम्भ करके मत सुनाइये—आत्मविभूति। शेष माने जब सृष्टिका प्रलय होता है तब बीज जो है वह शेष रह जाता है। बीजमें-से सृष्टि-वृक्ष कैसे हुआ और वृक्षमें-से बीज कैसे निकला—वह जो कार्य-कारण परम्परा है, इसके द्वारा मत समझाइये। स्वयं आत्मरूपमें ही अपना वैभव समझाइये। यह बताइये कि इस समय आप किन-किन रूपोंमें दीख रहे हैं? 'याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि' (10.16)। 'इमांल्लोकान्' ये जो दुनिया दीख रही है इसमें भगवान् क्या है? इसमें भगवान्की विभूति क्या है? भिन्न-भिन्न रूपोंमें भगवान्का दर्शन इस सृष्टिमें

कैसे हो रहा है? पहले कभी आपको सुनाया होगा। मैं बालक-अवस्थामें गया अयोध्याजीमें, एक महात्माके पास। उनसे बोला—हमको भगवान्‌का दर्शन कराओ—उन्होंने पूछा कहाँसे आ रहे हो? मैंने कहा—कनक-भवनसे, सीतारामका दर्शन करके आया हूँ। तो बोले कि तुमने वहाँ क्या देखा? लाखों जिसमें भगवान् होनेपर श्रद्धा करते हैं, हजारों आदमी जिसके लिए सर्वस्व समर्पित करते हैं, सैकड़ों आदमी जिसकी सेवामें लगे रहते हैं, उसको पत्थर समझकर—देखकर आये हो और हम अब क्या भगवान्‌का दर्शन करावें? डाँट दिया।

दूसरे महात्मासे कहा तो वे बोले—तुम क्या देख रहे हो? यह सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र ये तारे, ये धूल जिससे पृथिवी बनी है यह क्या है? यह जल है, जिसमें रस है, यह क्या है? अग्नि है, जिसमें तेज है, यह क्या है? यह वायु है, जिसमें प्राण है—वह क्या है? यह आकाश है, जिसमें सब रह रहे हैं—वह क्या है? तुम देख क्या रहे हो? कभी विचार किया है? जब 'इमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि'। जिन चीजोंको हम देख रहे हैं, उन चीजोंमें क्या है? यदि इनमें तुम्हें भगवान् नहीं दीखता है तो क्या सो जाने पर भगवान् दिखेगा?

समाधि लगानेपर भगवान् दिखेगा? खुली आँखोंसे भगवान् नहीं दिखता है तो बन्द आँखसे भगवान् क्या दिखेगा? इसका तो अर्थ हुआ कि आँखवालेको भगवान् नहीं दिखेंगे, अन्धेको भगवान् दिखेंगे। भगवान् है, भगवान् दीखता है और इन्हीं आँखोंसे दीखता है। और दीख रहा है। परन्तु हम भगवान्‌को पहचानते नहीं हैं। अर्जुनने कहा कि हमको वह विभूति बतावें जिनके द्वारा तुम इस लोकमें—माने इसी जीवनमें,—इन्हीं आँखोंसे, इसी नाकसे तुम देखे-सूँघे जाते हो। इसी जीभसे तुम चखे जाते हो, सो बताओ। इन्हीं त्वचासे छूये जाते हो, सो बताओ, हमारे रिश्तेदार, नातेदारके रूपमें बताओ। 'वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि'—ऐसे बोले। 'पाण्डवानां धनञ्जय'—ऐसे बोलो। हमको यहीं-यहीं इसी जीवनमें इसी व्यवहारमें तुम अपने आपका दर्शन कराओ।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

●

प्रवचन : 3

(2-11-1981)

नर-नारायण—श्रीकृष्ण-अर्जुन—एक रथपर बैठे हुए हैं। 'शरीरं रथमेव च'। यह शरीर रथ है और इस पर जीवात्मा और परमात्मा—नर और नारायण—दोनों इसी शरीरमें हैं। परमेश्वर ही शिक्षा देता है। गीतामें आप पढ़ते हैं—'आत्मैव आत्मनो बन्धुः आत्मैव रिपुरात्मनः'। आत्मा ही अपना मित्र है और आत्मा ही अपना शत्रु है। आत्मा ही आत्माको शिक्षा देता है और आत्मा ही आत्मासे शिक्षित होता है। श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा 'यस्त्वां द्वेष्टि समां द्वेष्टि'। अर्जुन—जो तुमसे द्वेष करता है वह मुझसे द्वेष करता है। जो जीवात्मासे द्वेष करता है वही परमात्मासे भी द्वेष करता है। जीवात्मासे द्वेष करना ही परमात्मासे द्वेष करना है।

किसी जीवसे द्वेष मत करो। न अग्रज न अन्त्यज, न शैव न वैष्णव, न हिन्दू न मुसलमान। सबके हृदयमें वही साईं बैठा हुआ है। 'सबके हृदय में साईं बैठा कटुक वचन मत बोल रे। तोहे पीव मिलेंगे। घूँघटको पट खोल रे।' एक ही रथपर जीव और ईश्वर, अर्जुन और श्रीकृष्ण बैठे हैं और परमात्मा ही आत्माको शिक्षा दे रहा है। अर्जुनने कहा—'वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः। याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि'। आप अपनी दिव्य विभूतियोंका वर्णन करें। व्याकरणकी दृष्टिसे यहाँ थोड़ी-सी त्रुटि है। 'वक्तुम् अर्हसि'को कर्म होना चाहिए 'दिव्या आत्मविभूतीः कथयिस्यामि'।

व्याकरण तो ऐसे ही बनते-बिगड़ते रहते हैं। यह तो आर्ष वचन है। यहाँ पाणिनिको भी चुप होना पड़ता है। व्यासकी रचना माहेश व्याकरणके अनुसार है, पाणिनीय व्याकरणके अनुसार नहीं है। अर्जुनने प्रार्थना की—जैसे शिष्य गुरुसे प्रार्थना करते हैं। 'याः दिव्याः आत्मविभूतयः, ताः अशेषेण वक्तुमर्हसि'।

कृपा करके अपनी सम्पूर्ण दिव्य विभूतियोंका वर्णन कीजिये। श्रोताके हृदयमें कितनी उत्सुकता है, कितना प्रेम है कि वह भगवान्‌की विभूतियोंको पूर्ण रूपसे सुनना चाहता है। फिर बोले भगवान्‌की विभूतियाँ तो दिव्य हैं। परन्तु विशेष, विशेष सुनावें। बड़े विनयसे 'वक्तुमर्हसि' आप वर्णन करनेकी कृपा कीजिये। आज्ञा नहीं है, आदेश नहीं है। पूरा शिष्टाचार है। विभूति क्या है? जल है, बरफ हो गया जमकर। जल है योग—भगवत्स्वरूप और उसमें जो बरफ जमा, वह है उसका वैभव। जल है—वह दूधके साथ मीठा है, दहीके साथ खट्टा है, नींबूमें वही दूसरा खट्टा है, आममें दूसरा खट्टा है, इमलीमें दूसरा खट्टा है—यह जलका वैभव है।

जल आमके बीजसे मिलकर कैसा हो गया, इमलीके बीजसे मिलकर कैसा हो गया, नींबूके बीजसे मिलकर कैसा हो गया, यह है जलकी विभूति अपनी विशेषताको छोड़े बिना दूसरेकी विशेषताके साथ मिल

गया। यह आपको पता है। यह देखो भगवान्‌की रचना। सबके साथ मिल गये, लेकिन उन्होंने अपनी भगवत्ता छोड़ दी—नहीं, भगवान् रहते हुए ही सबके साथ मिल गये। कह दिया मैं रस हूँ, जलमें रस हूँ—कौन-से रस हो? खट्टे हो, मीठे हो, चरपरे हो, तीखे हो, कौनसे रस हो। नहीं यह सब नहीं—मैं रस हूँ। चाहे वह खट्टा हो, चरपरा हो, मीठा हो—मृत्युका रस हो कि जीवनका रस हो। रस है भगवान्—इसीको विभूति बोलते हैं। यह है उनका वैभव। विशेष, विशेषरूपमें भवन—होना। यह होना ही विभूति है।

हमारे एक शंकरजीका लिङ्ग है —हमारे पुजारीजी कभी-कभी उनका श्रृंगार करते हैं। है तो वह लिङ्ग परन्तु जब वे भस्मका श्रृंगार करते हैं, तो उसमें नाक अलग, कान अलग, मुँह अलग, कुछ जोड़ते नहीं हैं, केवल विभूति ही ऐसी लगाते हैं कि वह लिङ्ग साकार हो जाता है। उसमें आँख-भौं हो जाती है। विच्छित्ति इसको बोलते हैं। संस्कृत भाषामें इसका नाम विच्छित्ति है। विच्छित्ति माने शोभा। जैसे स्त्रियाँ अपना बाल सँवारती हैं न! तो एक लट इधरको छोड़ देती हैं, एक आँखके ऊपर छोड़ देती हैं तो दो भागमें हो जानेसे सुन्दरता और बढ़ जाती है। इसी प्रकार भगवान् अपनी शोभा दिखाते हैं। कालिख लगाना सुन्दरताकी बात थोड़े ही है। लेकिन भौंहोंमें कालिख और आँखोंमें कालिख लगानेसे आँख बड़ी-बड़ी लगने लगती हैं। इसीका नाम विभूति है, भस्म है। वह कोई चीज नहीं है-भस्मके द्वारा शोभा बढ़ गयी है।

भगवान्‌का जो सौन्दर्य है, उनका जो माधुर्य है, उनका जो ऐश्वर्य है, अनेक रूपमें प्रकट होकर हम लोगोंके सामने जो झलक रहा है, उसका नाम है विभूति। भगवान् शंकर अपने शरीरमें विभूति लगा लेते हैं। यह है ईश्वरकी विभूति। ईश्वरने अपने ऊपर जो भस्म लगाया है, विभूति लगायी है, जो नाना रूप धारण किया है, उसको विभूति कहते हैं। अब देखो, मिट्टी तो मिट्टी है, पृथिवी है और जो ताँबा है, वह मिट्टी ही तो है। पीतल है, चाँदी है, सोना है यह सब पृथिवीकी विभूति है। पृथिवी एक तत्त्व है, उसके साथ आप मिल सकते हैं। लेकिन पृथिवी अपना वैभव कितने रूपमें प्रकट कर रही है और जब तप जाती है तब तो और वैभव प्रकट करती है।

जब ज्वालामुखी फूटता है, जब बहुत ताप मिलता है, तब मिट्टी कोयला और कोयलेका चूरा कैसे बन जाती है? उसको कैसे छानकर निकालते हैं? मशीनपर, कोयलेपर कोयला जा रहा है-तब इसमें-से हीरा छाँट लेते हैं। हीरा क्या है? यह मिट्टीका वैभव है, मिट्टीकी विभूति है। सोनाको पुराने लोग तेजस् मानते थे। अग्निकी विभूति है। अब सोनेको भी भस्म करनेकी विधि निकल आयी है। वह भी राखकी राख ही हो जाती है। वह भी मृत्तिकाकी ही विभूति है। विद्युत एक तत्त्व है। सर्वव्यापी। इसकी विभूति क्या है। पंखा चलाना विभूति है। बल्बमें-से प्रकाश देना विभूति है। गरम करना विभूति है। ठण्डा करना विभूति है। यह सब बिजलीकी विभूति है।

यह जो विश्व-सृष्टि है। इसमें किसीमें कुछ, किसीमें कुछ-सबमें एक विशिष्ट चीज विद्यमान है। कोई अयोग्य नहीं है। सबमें कोई-न-कोई योग्यता है। हमारे गाँवसे 14-15 मील दूरपर गंगा किनारे एक महात्मा रहते थे-वैसे तो वे 40-50 वर्षसे रहते थे-हमलोग उनके पास गये तो उन्होंने बताया-40 वर्षमें परमात्माके

विषयमें चर्चा करनेवाले केवल तीन आदमी मेरे पास आये। नहीं तो कोई रोगी होकर आता है, कोई कुछ लेने आता है। वे महात्मा घासपर नंगे बैठते थे। कोई आता तब जो भी घास उनके सामने होती उसको नोंचकर दे देते। जा, पीसकर पी जा। और बहुतोंका रोग दूर होता। मैंने एकदिन पूछा कि बाबा क्या करते हो? तो बोले- 'सर्वस्वं सर्वम्'। एक ही प्रकृति है वह सब रूपमें प्रकट होती है।

प्रकृतिके सब गुण सब चीजमें रहते हैं। हम संकल्प कर दे देते हैं कि भाई, इसमें तू प्रकट हो जा। इसमें रोग मिटानेवाली दवा प्रकट हो जा। इसमें टी. बी. मिटानेवाली औषधि प्रकट हो जा। तो है सबमें सब, संकल्पसे वह प्रकट होती है। जिसका संकल्प कमजोर होगा-उसके द्वारा तो प्रकट नहीं हो सकती। भगवान् सत्य-संकल्प हैं और अपनेमें ही जो सारी विशेषताएँ भरी हुई हैं, उनको विभूतिके रूपमें प्रकट किया है। बोले, बाबा प्रकट तो कर दिया पर हम पहचानते नहीं। अब हमको पहचान करा दो। 'वक्तुमर्हसि' माने पहचान करा दो। पहचान भगवान् केवल शिष्योंको ही करवाते हों, सो बात नहीं है। मनुष्योंको अभिमान है कि हमको ही बताते हैं।

हमने एक जगह हमारी कुटियाके सामने देखा-एक नेवला और साँप दोनों लड़ रहे थे। साँप नेवलेको डँसनेको और नेवला साँपको काटनेको तैयार थे। जब साँप नेवलेपर अपना फण मारता तब झट वह छोड़कर थोड़ी दूरपर चला जाता और वहाँ एक घास अपने मुँहमें लेकर फिर आकर भिड़ जाता। साँपके जहरकी दवा नेवलेको भी मालूम है। हमने देखा जब कुत्तोंका अपच होता है तो वे दूब खा लेते हैं क्योंकि उनको मालूम है कि पाचनकी औषधि है। सारिवाद्यारिष्ट जो आप लोग पीते हैं न! वह दूबका रस ही तो है? सारिवा माने दूब। सबमें यही विभूति है।

भगवान्‌की यही विभूति है कि भगवान्‌का जीवन, भगवान्‌का आनन्द, भगवान्‌का अभेद मबमें प्राप्त है। श्रीकृष्णने कहा-अर्जुन, हमको ही जान ले तो सब विभूति जान ली गयी। अलग-अलग विभूति जानकर क्या करना है? ना, महाराज-आप अपने स्वरूपमें हैं तो छिपे हुए हैं। 'याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि'। हमको तो इस लोकमें चाहिए। हम जो देखते हैं-उसमें चाहिए। इन दृश्य पदार्थोंमें ये जो दीखनेवाली वस्तुएँ हैं, इनमें-तुम कहाँ हो? हमको दीखनेवाली चीजोंको अपनेमें बताओ। अनदेखेसे हमारी क्या दोस्ती? अनमिला साजन और अनजाना रास्ता वह नहीं चाहिए। हमको यह चाहिए कि हम देखें-यह परमात्माकी विभूति है, यह वैभव है परमात्माका। हर जगह दिखायी पड़े।

'त्वं तिष्ठसि' तुम तो स्थिर हो-तुम अचल हो, सब जगह हो-सब समय हो-यह जो कहते हैं न कि सदा परमात्माका चिन्तन करो। यदि बहुत-सी चीजें होंगी और हम बहुत-सी चीजोंको देखेंगे तो बहुत-सी चीजोंकी याद आयेगी-सदा परमात्माकी याद कैसे आवेगी? सर्वत्र परमात्माकी याद कैसे आवेगी? यदि जगह अलग-अलग है और चीज अलग-अलग है और टाइम अलग-अलग है तो जो अलग-अलग चीजें हैं, उनकी भी तो याद आयेगी। जब उनकी आयेगी तो उनकी नहीं और उनकी आयेगी तो उनकी नहीं। जब सब परमात्मा होवे तो सदा, सर्वत्र और सर्वरूपमें परमात्माका स्मरण होगा। 'तद् विष्णोः परमं पदं सदा

पश्यन्ति सूरयः। दितीव चक्षुराततम्' (ऋग्वेद 1.22.20)। सूर्य है योग और उसकी जो रोशनी है यह उसकी विभूति है।

जब हम लाल, पीला, काला, नीला देखते हैं तो सूर्यकी रोशनीमें देखते हैं। और सूर्यकी रोशनी ही लाल, नीली, काली, पीली होकर दिखायी पड़ती है। अब देखते हैं-सूर्यकी रोशनी और कहते हैं-हरियाली देख रहे हैं, हरी, नीली साड़ी देख रहे हैं। यह सब क्या है? कभी याद आता है कि सूर्यकी रोशनीमें सब दीख रहा है। रोशनी न हो तो लाल, पीला, काला, नीला कहाँसे दीखेगा? असलमें हम देखते हैं प्रकाश, परन्तु उपाधिके रंगको प्रकाशमें जोड़ देते हैं।

हमको किसीने बताया था कि बिजलीसे जितनी भी रोशनी होती है-शुद्ध नहीं है; सूर्यका प्रकाश जितना शुद्ध होता है उतना शुद्ध बिना रंगका अन्य प्रकाश नहीं होता। रंग होता है वस्तुओंका और हम वस्तुओंका रंग देखते हैं और जो सूर्यका प्रकाश है वह नहीं देखते। क्या माया है भगवान्‌की जो असली चीज है उसपर तो नजर आती नहीं है और जो नकली चीज है उसको हम देख-देख करके मजा लेते हैं। ध्यान ही नहीं रहता कि सफेद कुरता देख रहे हैं कि हरी साड़ी देख रहे हैं-हरीमें हरियाली और सफेदमें सफेदी -सूर्यकी रोशनीकी है। सूर्यकी यह विभूति-एक चीजमें आकर सफेद, एक चीजमें आकर हरी दीखती है। यह जो वैभव है, इसपर हमारी दृष्टि नहीं जाती।

इसका व्यवहारमें बड़ा भारी उपयोग है। निर्द्वन्द्व हो जाओ। माने परमात्माके सिवाय और कोई ज्योति है नहीं। 'ज्योतिषां ज्योतिरेकम्' (यजुर्वेदमाध्यन्दिन 37.1) वही वेद बोलता है। गीता बोलती है-'ज्योतिषामपि तज्ज्योतिः' (13.17) जितनी भी चीजें चमक रही हैं उसमें एक ही वस्तु चमक रही है। जहाँ हो वहाँ परमात्मा तुम्हारे साथ है। जब हो तब परमात्मा तुम्हारे साथ है। परमात्माको देखो, परमात्माकी रचनाको देखो।

एक महात्मा लखनऊमें आये थे। उनके पास एक बंगली सज्जन अपने मनमें यह प्रश्न लेकर गये कि हम ईश्वरकी सेवामें लग जायें या जो संसारके काम हैं, उनको भी करते रहें। जब महात्माजीके पास गये प्रणाम किया और एक फूलोंका गुच्छा उन्होंने भेंट किया तब महात्माजी वह गुलदस्ता लेकर देखने लग गये। आहा, कितना बढ़िया गुलाबका फूल है -यह सफेद है, यह लाल है, यह गुलाबी है-कैसा बढ़िया है-बिना सीखे ऐसा सुन्दर सजाया नहीं जा सकता! क्या बढ़िया क्या बढ़िया!! दस मिनट वह गुलदस्ता ही देखते रहे, तो बंगाली बाबूने हाथ जोड़कर कहा कि महाराज-इससे तो अच्छा होता कि मैं गुलदस्ता आपके पास न लाता तो आप मुझे तो देखते!

अच्छा, लो तुम्हारा गुलदस्ता फेंक दें-ना-ना महाराज फेंकिये मत। मैं बड़े प्रेमसे बनाकर लाया हूँ। इसके बनानेमें बहुत समय लगा है। मैंने अपने हाथसे बनाया है। अच्छा तो तुम बताओ हम क्या करें? गुलदस्तेको देखते हैं तो तुम कहते हो-हमको नहीं देखा, और तुमको देखने लगे तो तुम कहते हो हमने बड़ी उत्तम रचना रची, इसको देखो। तो महाराज थोड़ी देर हमको देखिये, थोड़ी देर उसको देखिये। दोनोंपर आपकी नजर होनी चाहिए। महात्माजीने कहा यही तुम्हारे प्रश्नका उत्तर है—

ईश्वरकी ओर देखें कि ईश्वरकी रचनाकी ओर देखें। ईश्वरकी रचना भी देखो, काम भी करो और ईश्वरका ध्यान, स्मरण भी करो!

काम करनेसे प्रमाद दूर होता है, असावधानी दूर होती है और परमात्माका चिन्तन करनेसे बुद्धि प्रखर होती है-स्वच्छ होती है। जैसे आप अपने घरमें कोई रोशनी रखते हैं तो उसे स्वच्छ रखते हैं। नहीं तो कीड़े-मकौड़े भर जाते हैं। वृन्दावनमें रोशनी करते हैं तो उनमें कीड़े भर जाते हैं। बार-बार उसकी सफाई करनी पड़ती है। पर फिर उसमें कीड़े घुस जाते हैं। यह जो हमारी बुद्धि है न, यह हमारे जीवनकी रोशनी है। यह बल्ब है, उसको भी स्वच्छ रखना चाहिए।

एक बार जब संसारका चिन्तन छोड़कर भगवान्‌का चिन्तन करते हैं तब बुद्धि स्वच्छ हो जाती है, साफ हो जाती है। फिर इससे चाहे जो कुछ सोचो। धन कमानेकी बात सोच सकते हैं। यह मत सोचना कि बेवकूफ हैं। यदि हम अपनी बुद्धि धन कमानेमें लगावें तो ठीक-ठीक समझ सकते हैं। धर्म करनेमें बुद्धि लगाओ, भोग भोगनेमें बुद्धि लगाओ, मोक्ष प्राप्त करनेमें बुद्धि लगाओ—व्यवहारकी शुद्धिमें बुद्धि लगाओ। पर आपकी बुद्धि स्वच्छ होनी चाहिए। बार-बार जब लक्ष्यका बुद्धि स्पर्श करती है तब वह स्वच्छ हो जाती है और जब बुद्धिपर वासना का रंग चढ़ जाता है, तब वह अशुद्ध हो जाती है।

संस्कार भी इतने ही होने चाहिए जिसको हम धो सकें। यह संस्कृति, संस्कृति जो होती है—जैसे शरीरपर मैल लग गया—विकृति आगयी। अब साबुन लगाकर संस्कार किया। साबुनमें मैलको लिया और फिर उसको शुद्ध जलसे धो लो। यदि उस साबुनको लगा हुआ छोड़ दोगे—उसके धोये बिना तुम्हारे शरीरकी क्या दुर्गति होगी। एक बार तो उस पावडरके संस्कार तुम्हारे शरीरको चमका देगा। लेकिन फिर उसको धोना पड़ेगा न! ऐसे ही ये जो संस्कार, ये संस्कृतियाँ जो आती हैं—ये भी किसी विकारको धोनेके लिए आती हैं और फिर उनको धो देना पड़ता है, रोग अगर विकार है तो दवा संस्कार है। दवा जिन्दगीभर खानेकी नहीं होती—जबतक रोग मिट न जाय तबतक खानेकी होती है। रोगीकी निवृत्तिके पश्चात् दवाकी आवश्यकता नहीं होती।

ये जो संस्कार होते हैं ये भी विकारकी निवृत्तिके लिए होते हैं। कोई संस्कृति अनादि, अनन्त नहीं होती। आती है जाती है। अबतक कितनी संस्कृतियाँ आयीं और चली गयीं। हमारा जो लक्ष्य है वह विकार और संस्कार, दोनोंसे निराला है। वस्तु तत्त्व है, इसलिए जगह-जगह जब उस वस्तु तत्त्वका दर्शन होता रहेगा—नाम चाहे कुछ भी हो, रूप चाहे कुछ भी हो। एक तत्त्व है उसका साक्षात्कार होना चाहिए। और कहाँ होना चाहिए? इसी जीवनमें होना चाहिए।

मरनेके बादकी बात तो पादरियोंपर छोड़ो, मौलवियोंपर छोड़ दो, पुरोहितोंपर छोड़ दो। ये पुरोहित संस्कृति और मौलवी संस्कृति और पादरी संस्कृति, ये लामा संस्कृति, अरहन्त संस्कृति, शून्य संस्कृति—ये तो बीच-बीचमें आती हैं और चली जाती हैं। इनमें जो एक है उसपर ध्यान दो। लोग बदलते हैं पर वह नहीं बदलता। 'याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि'। सारी दुनिया बदल गयी।

एक बार नीरज आये थे वे कविता सुना रहे थे। 'सपने मिट-मिट जाते हैं—जीवन नहीं मिटता है'। यह विकृतियाँ, संस्कृतियाँ मिट जाती हैं, परन्तु जो सच्चा जीवन है—परमात्मा, वह कभी मिटता नहीं है। यह सब संस्कृति, विकृति सपनेकी है। इनमें कहीं फँसो मत। निर्द्वन्द्व होकर आगे बढ़ो। 'चरैवेति चरैवेति'।

जो छूटे उसको छूटने दो, जो टूटे उसको टूटने दो, चलते जाओ। आज भूखे हो, कल साग मिलेगा। निराश मत हो जाओ। परमात्मा सर्वत्र परिपूर्ण है। यह बात बतानेका अर्थ ही यह है कि हमारे जीवनमें कहीं नैराश्य, कहीं उदासीनता नहीं आनी चाहिए। सर्वत्र परमात्मा तुम्हारे साथ है। आगे चलो। पीछे लौटकर देखने की कोई जरूरत नहीं है। 'आगे बढ़कर पीछे हटना नहीं काम मर्दानोंका'। हमारे आल्हा गाते हैं न! हमारे गाँवमें गाते हैं—'छमछम-छमछम लेजा बाजे। चम-चम कूके परवा'। बढ़ते चलो, बढ़ते चलो। यह विभूतिका वर्णन आपको अटकानेके लिए नहीं, भटकानेके लिए नहीं है। ये आपको खटकानेके लिए नहीं है। इसका हमारे जीवनमें बहुत बड़ा उपयोग है। अच्छा बताओ महाराज—

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि।।
कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योसि भगवन्मया।।

अर्जुनको संबोधनका कुछ शौक है। जैसे कोई बात कहते हैं तो बार-बार सर-सर-सर बोलते हैं। बंगाली लोग बार-बार महाशय बोलते हैं। अर्जुनको श्रीकृष्णको पुकारनेका शौक है—कि कहीं दूसरी ओर न देखने लग जायँ, कहीं दूसरी बात न सोचने लग जायँ, कहीं हमारी बातपर ध्यान न दें, उपेक्षा कर दें। इसलिए बार-बार बुला लेता है। योगिन्—आप तो बड़े योगी हो—महायोगी हो 'कथं विद्यामहं—योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्'। योग शब्दका अर्थ है मिलना। ये परिवार हमारे अन्दर इतने घुल मिल गये हैं कि हम उनको देख नहीं पाते हैं। एक महाराजा हैं। वह अपने कर्मचारियों के साथ काम करने लगते हैं तो उनके साथ ऐसा हँसते हैं, ऐसा बोलते हैं कि कर्मचारी भूल जाते हैं कि यह तो महाराज हैं।

एक सेठ चुपचाप मुँह बनाये बैठे रहते थे खाटपर कई बार देखा वे बिलकुल चुप। मैंने उनसे पूछा तुम इतना मुँह बनाये क्यों बैठे हो? हँसते क्यों नहीं? तो बोले कि मैं हँसने बोलने, खेलने लगूँगा तो ये छोटे लोग जो हमारे साथ रहते हैं—ये माँगना शुरू कर देंगे। कोई माँगे नहीं, इसके डरसे वे हँसते नहीं थे। अरे भाई, माँगे तो तुम्हारी इच्छा हो तो देना। तुम्हारी इच्छा हो तो मत देना। इसके लिए चौबीसों घंटे मुँह बनाकर रखनेकी क्या जरूरत है? जरा बत्तीसी खिलने दो ना? योग माने जो सबसे मिल गया हो—आपने अपने आँखकी पुतली कभी देखी है? शीशेमें नकली पुतली देखी होगी।

लोग कहते हैं हम भगवान्‌को देखें नहीं तो मानें कैसे? आपकी आँखकी पुतली आपने कभी देखी है? है न? आप पुतली देखते नहीं हो पर आँखकी पुतलीकी वजहसे ही सबको देखते हो। भगवान् तो आपकी आँखोंके तारे हैं। ये प्यारे-प्यारे, ऐसे नन्ददुलारे, ये आँखोंके तारे, आँखकी पुतली हैं। लेकिन सब रूपके साथ

वह पुतली ऐसी मिल गई है कि हम रूपको तो देख लेते हैं और देखनेवाली पुतलीको नहीं देखते हैं। हम भगवान्को कैसे पहचानें? वे सबके साथ जुड़ गये। और इतने जुड़ गये—माँ बन गये, बाप बन गये, भाई बन गये, बेटा बन गये, पति बन गये—ऐसे बने वैसे बने। विभूतियोंका स्वरूप है। कोई सम्बन्धसे है, कोई निर्धारणसे है। कोई अपने उत्तमत्वसे है और कोई उत्तमत्व प्रयोजक है। जड़-चेतनका तो कोई विवेक ही नहीं है।

पर्वतोंका वर्णन करने लगे तो बोले—'पर्वतानां हिमालयः' (10.25)—मेरे बाबा, यह पत्थरकी बरफकी ढेर तुम हो? हाँ हम ही हैं। कुछ तो विचार करके बोलो बाबा, अपनेको पहाड़ बता रहे हो। बरफका ढेर बता रहे हो अपनेको? बोले—हम पीपल हैं—अपनेको पेड़ बताया। दूसरे कोई कह दे कि तुम पेड़ हो, तो आदमी नाराज हो जाता है। तुम पहाड़ हो—अगर मोटा आदमी हो तो जरूर चिढ़ जायेगा। 'पर्वतानां हिमालयः' मैं हिमालय हूँ। 'सर्पाणामस्मि वासुकिः 10.28—मैं साँप हूँ।

भला बताओ तो यह कोई बड़प्पनकी निशानी हुई? वे साँप भी हैं, वे पेड़-पौधे भी हैं, वे पहाड़ भी हैं—कहीं उत्तमताकी दृष्टिसे भगवान्ने अपनेको बताया, कहीं उत्तम बनानेवालेकी दृष्टिसे बताया? जितने जलजन्तु हैं, उनमें मैं वरुण हूँ। वरुणको तो किसीने देखा नहीं। मगरको तो देखा है, घड़ियालको देखा है, जल-जन्तु देखे हैं, चिड़िया देखी हैं। इनका जो अदृश्य नियामक है, वह मैं हूँ—ऐसा भगवान्ने कहा। यह जो भगवान्की विभूति है इसका अर्थ ही है कि आप किसीका तिरस्कार मत कीजिये। सबमें भगवान्, सब रूपमें भगवान्। अच्छा तो आओ, इनका ध्यान करें—**'सर्पाणामस्मिवासुकिः'**

आओ वासुकिका ध्यान करें—पीपलका ध्यान करें, हिमालयका ध्यान करें। नहीं, ये उपास्य नहीं हैं। ये उनकी विभूतियाँ हैं। ये जो मरने-जीनेवाले प्राणी हैं, उनमें परमात्माका ध्यान न करके नित्य रूपमें परमात्माका ध्यान किया जाता है। यहाँ विभूति बताते-बताते श्रीकृष्णने अर्जुनको भी विभूति बता दिया है। 'पाण्डवानां धनंजयः (10.37)—वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि (10.32)। मैं भी विभूति हूँ और तुम पाण्डुनन्दन भी विभूति हो। गुरुजी ही विभूति नहीं हैं, चेला भी विभूति है। ये सब आचार्य अपनेको भगवान् या भगवान्का रिश्तेदार बताते हैं। कोई अपनेको सुदर्शन या कोई अपनेको चक्र बताता है, कोई अपनेको शेष बताता है। लेकिन अपने चेलेको कोई अपनी विभूति नहीं कहता। यहीं आचार्यता अधूरी हो जाती है। हमको बोलनेमें किसीका डर नहीं है। असलमें आचार्यता वहाँ है—जो मैं सो ही तुम हो। अपनेसे छोटा करके किसीको देखना, इसका नाम आचार्यता नहीं है। 'वृष्णीनां वासुदेवः' ठीक है—'पाण्डवानां धनञ्जयः' यह भी ठीक है। जो मैं हूँ सो तुम हो।

जैसे मेरा व्यक्तित्व विभूति वैसे तुम्हारा व्यक्तित्व भी एक विभूति। 'कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्'। मैं चाहता हूँ कि सदा तुम्हारा 'परि' माने परितः, सब जगह और 'सदा' माने सब कालमें और 'परि' माने सब देशमें और 'त्वां' माने तुमको। चिन्तन करनेके लिए एक ही वस्तु हो—चाहे काम कोई हो, चाहे स्थान कोई हो चाहे नामरूप कोई हो। चिन्तन करनेके लिए वस्तु एक हो। मैं कैसे तुम्हें पहचानूँ? बड़ा भारी

परदा ढककर हमारे सामने आये हो। अनजाना बने बैठे हो। आपमें आप पिछे, परदा करके बैठे। वह कहो चाहे तुम कहो, यह कहो चाहे मैं कहो, वस्तु तो एक ही है। यह ऊपरकी खोल, अलग-अलग परदेके भेदसे दृश्यका भेद हो रहा है, यह मेक-अपके भेदसे व्यक्तिका भेद हो रहा है। कभी बाल मुड़ाकर आगये तो कभी बाल लगाकर आगये। आदमी तो वही है, कभी मूँछ लगा ली, कभी मूँछ उड़ा दी।

वस्तु बिलकुल एक ही तभी 'सदा' और 'परि'—उसका चिन्तन हो सकता है। जैसे एक योगी अनेक रूप धारण कर ले, अनेकमें व्याप्त हो जावे, परमात्मा भी वैसा ही विभिन्न रूपोंमें विद्यमान है। परमात्मा वह नहीं जो सातवें आसमानमें रहता है—जिसको मोहम्मदने भी नहीं देखा, वह निराकार सातवें आसमानमें रहता है। वे खुदा—केवल परचे लिख-लिखकर आये। जिसको ईसाने भी नहीं देखा कि वह वस्तुत: क्या है। जिस निराकारको किसीकी भी आँख नहीं देख सकी—हिन्दू हो, मुसलमान हो, शांकर हो, रामानुज हो—जिसको कोई दृश्य नहीं बना सका, उसका सब जगह सब समय हम चिन्तन कैसे करें? 'केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया'। किन-किन भावोंमें अधिकरणोंमें उनको देखें?

आप एक बात पर ध्यान दें। एक वस्तु है उसको सत् बोलेंगे परन्तु वही जब बदलती रहेगी—भवनशील होगी तव उसको भाव कहेंगे। भाव माने जो बदलता हुआ विद्यमान; जैसे फिल्ममें चित्र बदलता है, वैसे। एक चित्र एक मिनट नहीं रहता वह। इतनी शीघ्रतासे बार-बार नये-नये चित्र आते-जाते हैं कि मालूम पड़ता है कि एक हैं। भाव माने होनेवाला। 'है' एक होता है और 'भाव' अनेक होते हैं। 'अस्ति' है, भाव माने होना। जो है वह तो सत्य है और जो होना है, वह परिवर्तनशील है। वह दुनियाँ बदल रही है। किसीके रोके न रुकी न रुकेगी। बड़े-बड़े आचार्य हुए और बड़े-बड़े अवतार हुए। दुनियाँमें क्या रह गया?

भगवान् रामने जिस धर्मकी स्थापना की थी आज वह पोथियोंमें लिखा रह गया है। और श्रीकृष्ण जिस धर्म-स्थापनाके लिए आये थे, वह आज दुनियाँमें ढूँढनेसे कहाँ मिलता है? इसीको बोलते हैं 'भाव'—यह भवनशील है। 'भाव'—इस भाव शब्दमें प्रत्यय है अथवा अधिकरणें प्रत्यय है। जो चीजें होती हुई दिखती हैं इनमें एक है। आइये, उसका चिन्तन करें—

हमें अपना दिल बनाना है—वस्तु नहीं बनानी है। दुनियाँमें वस्तु बनाकर कोई पार नहीं पा सका है। ब्रह्माको भी सन्तोष नहीं होता था। एक सृष्टि बनायी। फिर, अरे गलती हुई; फिर बनानेवाले शरीरको—मानको—ही तोड़ दिया। भागवत्के तीसरे स्कन्धमें है—बहुत मजेदार है। एक चीज बनायी और छोड़ दी—फिर बनानेवाले भावको ही छोड़ दिया। फिर दूसरा भाव बना लिया। फिर उसमें भी संतोष नहीं; उसको भी छोड़ दिया। यह बहना है—इसमें भाव आता है, जाता है। अब कहो कि हम एक ही भावको बनाकर रक्खेंगे—तो पत्थर बनाा चाहते हो? भाव बदले, तुम मत बदलो। भाव बदले, परमात्मा न बदले। यह जड़ता जीवनमें आनेकी जरूरत नहीं है। जितना नया-नया आविष्कार हो, उसको स्वीकार करो। जितनी नयी-नयी सृष्टि बने उसको स्वीकार करते चलो। देखो, हम उसकी परम्पराके हैं, जिसमें नन्दबाबा जैसे बुड्ढे और कृष्ण जैसे सात वर्षके बालक हैं। और पीढ़ी-दर-पीढ़ीसे इन्द्रकी पूजा चली आयी।

भावको स्वीकार करना चाहिए। 'भावेषु'का अर्थ है 'परिणामेषु'। 'केषु -केषु भावेषु'। भाव बहुत हैं और एक-एक भाव भी परिवर्तनशील है। उनमें हम आपका चिन्तन कैसे करें? यह भी वही, यह भी वही। फिर कहीं रुकनेकी जरूरत नहीं, चलते-चलो, चलते चलो, देखते चलो। वही है—'केषु-केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया'। 'योगिन्'का अर्थ है, सबमें मिले हुए हो और 'भगवान्'का अर्थ है—बड़े ऐश्वर्यशाली हो और बड़े सुन्दर, बड़े मधुर हो। आप जहाँ देखोगे—वहाँ भगवान्की मुस्कान मिलेगी। जहाँ देखोगे वहाँ उनकी प्यारभरी चितवन मिलेगी। वहाँ तुम्हारे जीवनके लिए एक नया सन्देश मिलेगा, एक नयी प्रेरणा मिलेगी। विभूतिका अर्थ है—यह संसार भगवान्का वैभव है। आपके पास ऐसा कोई कम्प्यूटर है, जो गणना करके बता दे कि आगे सृष्टिमें कितने परिवर्तन होंगे और कितने परिवर्तन हुए हैं? परिवर्तन होते रहते हैं और उसमें जो एक सत्य है, एक परमात्मा है उसका चिन्तन होता रहता है।

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्।।

अमृत ही कथा—यह कौन-सा अलङ्कार है—साहित्यिक लोग इसका पता लगावें। 'शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्'—'अमृतं शृण्वतः मे तृप्तिः नास्ति'। मैं अमृतको सुन रहा हूँ और मुझे तृप्ति नहीं है। वाक्यका अर्थ क्या है? तृप्ति नहीं—अमृत सुन रहा हूँ। अमृत सुननेकी चीज नहीं होती, पीनेकी होती है। और सुनना वाक्यका होता है, अमृतका नहीं होता। तृप्ति नदारद, पीते रहे, पीते रहे, परन्तु प्यास ज्यों-की-त्यों बनी रही। आओ, थोड़ा विस्तारसे इसको सुनावें। योग है 'अस्ति' और विभूति है 'भवति'—है, होता है। है तो भगवान् है और होता है—उसका वैभव है और यह सब कौन होता है? वही एक था, द्विधा भवति, त्रिधा भवति—यह उसकी विभूति है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

प्रवचन : 4

(3-11-1981)

वक्ता संक्षेपमें बोलना चाहता है, श्रोता विस्तारसे सुनना चाहता है। इससे श्रवणमें जो रुचि है, वह प्रकट होती है। 'विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन। भूय: कथय।' फिरसे कहो और विस्तारसे कहो। इससे श्रवणमें श्रद्धा, श्रवणमें रुचि प्रकट होती है। श्रोताका यह विशेष गुण है। यदि वह कह दे बहुत लम्बा मत करो- अरे, तुमने तो दुहरा दिया-बारबार वही बात बोलते हो। उससे श्रोताकी अश्रद्धा और अरुचि प्रकट होती है। श्रोतामें तीन गुण होने चाहिए। एक तो वह श्रद्धालु हो, दूसरे चित्त एकाग्र हो और तीसरे मननशील हो। श्रवणके तीन अंग हैं। यदि सुनकर विचार न करे तो बैलने जैसे भूसा खा लिया, वैसे खा लिया उसने। वस्तुत: श्रवण ही मुख्य साधन है, ज्ञान-प्राप्तिका साधन है। सामने दीखती हुई चीज भी अगर बतायी न जाय कि वह क्या है तो उसका ज्ञान नहीं होता। लाल, काला, पीला आँखसे जान सकते हो और परोक्ष जो वस्तु है वह कैसे ज्ञात हो?

जैसे पूरबका आदि कहाँ है? पश्चिमका अन्त कहाँ है? यदि इसकी कल्पना करने लगो तब भी तुम्हें मालूम नहीं पड़ सकता। हमारे जीवनका प्रारम्भ कहाँसे और अन्त कहाँ है? आँख बन्द करके चाहे कितनी भी कल्पना करो, न इसका आदि-अन्त कभी मिला है, न मिलेगा। और खुली आँखसे देखो तो जहाँ तुम बैठे हो, वहींसे पूर्व-पश्चिम प्रारम्भ होता है और वहीं पूर्व-पश्चिमका अन्त है। जहाँ-जहाँ तुम रहोगे वहाँ पश्चिम आदि भी रहेगी और अन्त भी रहेगा। ऐसे जीवनका आदि और जीवनका अन्त यदि ढूँढ़ने जाओ तो ढूँढ़े नहीं मिलेगा। जहाँ तुम हो, वहीं आकृतियोंके बीजका आदि भी है और अन्त भी है। आत्मज्ञानसे जन्म-मरणकी निवृत्ति हो जाती है और आकृतियोंका आदि अन्त ढूँढ़नेसे अज्ञान ही मिलता है।

अब आओ मनन करें। मनन उत्पत्तिके द्वारा भी होता है और उपपत्तिके द्वारा भी होता है। किससे क्या चीज बनती है आप प्रयोगशालामें देखेंगे। हम लोगोंकी प्रयोगशाला हमारे साथ रहती है। शान्त बैठे। फिर हलचल हुई। गरमी हुई। पसीना आया। फिर माटी हो गयी। माटीके मूलमें पसीना-पसीनेके मूलमें गरमी, गरमीके मूलमें हलचल और हलचलके मूलमें शान्ति। यह है सृष्टिकी उत्पत्तिका मनन। पहले गाढ़ सुषुप्ति। फिर नींद टूटी, होश आया, इसी प्रकार परा प्रकृति और बुद्धिका जागरण-फिर मैं कौन हूँ-कहाँ हूँ? देश, काल, वस्तुका युक्तिके द्वारा, उपपत्तिके द्वारा, मनन किया जाता है। सारी वस्तुएँ अपने अभावमें ही दीखती हैं। दोनों उँगली दीखती हैं, जब दोनों उँगलीके बीचमें उनका अभाव है। शब्द, अक्षर तब सुनाई पड़ते हैं जब एकके बाद दूसरे अक्षरके उच्चारणमें थोड़ा अवकाश हो। कोई भी वस्तु अपने अभावसे ही दिखायी पड़ती है। इसलिए अपने आत्माको जाननेके लिए योग करना पड़ता है।

अर्जुन सरल बुद्धिसे प्रश्न करते हैं-आप अपना योग और विभूति बताइये। भगवान्‌ने अपने योग और विभूतिके ज्ञानकी बहुत प्रशंसा की-ललचाया। लोभ भी उत्पन्न करना चाहिए। हमारे एक महात्मा कहते थे यदि मनुष्यके मनमें लोभ न हो और भय न हो तो कर्ममें उसकी प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती। किसीको भी काममें लगाना

हो तो थोड़ा ललचाना पड़ता है। इससे तुम्हें यह लाभ होगा और नहीं करोगे तो-भय बताना पड़ता है तुम्हारी हानि होगी। हानिसे बचनेके लिए और अभीष्ट वस्तुकी प्राप्तिके लिए, भय और लोभसे, मनुष्यकी प्रवृत्ति होती है।

अर्जुनने प्रश्न क्यों किया? भगवान्ने ललचा दिया।

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः।। १०.७

अरे अर्जुन, मेरे योग और विभूतिको जो तत्त्वतः जान लेना है। वह योगसे युक्त हो जाता है। तत्त्व उसको कहते हैं जिसमें नाम-रूपकी कल्पना न की गयी हो। नाम-रूपकी कल्पनाके पूर्व जो स्थिति होती है उसे तत्त्व कहते हैं। जैसे ये कंगन हैं, ये हार हैं, ये कुण्डल हैं-जब अलग-अलग शक्ल नहीं बनायी गयी होगी और अलग-अलग नाम नहीं रखे गये होंगे, तो पहले सोना था और सोना क्या है-सिल्ली है-चूरा है, द्रव है। अन्तमें स्वर्णकी एक ऐसी अवस्था मिलती है जहाँ वह मुझसे अलग नहीं मालूम पड़ेगा। स्वर्णका, मृत्तिकाका तत्त्व क्या है?

अब अविकम्प योगकी चर्चा करें। इस योगका नाम गीतामें ही है।

सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः।

आओ, हमारी विभूतिको जानो और हमारे योगको जानो तो हमारा-तुम्हारा ऐसा योग होगा, ऐसा मिलन होगा, हम दोनों ऐसे मिल जावेंगे कि उसमें कभी विकम्प नहीं होगा, कभी भूकम्प नहीं आवेगा। कभी दोनोंकी धड़कन अलग-अलग नहीं चलेगी। हम दोनों एक हो जावेंगे। 'अविकम्पेन योगेन।' और योग वह होता है जो आता है और जाता है। आसन या प्राणायाम या प्रत्याहार किया, मनको एकाग्र किया। थोड़ी देरके लिए समाधि लग गयी। यह समाधि आती है और चली जाती है। इसलिए महात्मा लोग समाधिको पसन्द नहीं करते। हमें तो ऐसी चीज चाहिए जो अपना स्वरूप हो। न कहीं अलगसे आवे, न कहीं हमको छोड़कर जावे। तब अविकम्प योग, कम्पनरहित योग, अचल योग प्राप्त होगा।

भगवान्के मिलनेकी इच्छा बहुत बढ़िया है-जैसे भगवान् सृष्टि, स्थिति, प्रलयमें रहते हैं-ये चीज बना ली, इसकी स्थापना कर दी, इसको मिटा दिया। जैसे 'बैठा बानिया क्या करे? इस कोठेका धान उस कोठे करे।' ऐसे भगवान् हर समय काममें लगे रहते हैं कभी निकम्मे नहीं रहते। एक जगह सृष्टि हो रही है, एक जगह प्रलय हो रहा है। एक जगह ब्रह्माण्ड बन रहा है, दूसरा फूट रहा है। सूर्य-चन्द्रमा निरन्तर चल रहे हैं। अविकम्प योगका अर्थ होता है-सब कुछ करते हुए भी विचलित नहीं होता।

जिसने परमात्माके साथ अपना सम्बन्ध जोड़ लिया-जैसे हृदय एक बल्ब है-इसका मूलभूत विद्युत्से जो जोड़ना है-उसको योग बोलेंगे। पावरहाउसके साथ जो अपना रिश्ता है वह जब टूट जायगा तो हम निकम्मे हो जायेंगे। पावरहाउसके साथ कनेक्शन बना रहेगा तो हमें कभी कोई नीचा नहीं दिखा सकता। वह प्रदीप्त अन्तःदृष्टि बनी रहेगी। किसी देशमें रहो, किसी समयमें रहो, किसी परिस्थितिमें रहो, बिलकुल तार-से-तार मिला हुआ है। इसीको 'अविकम्प योग' कहते हैं। ईश्वरका ज्ञान अपने ज्ञानमें उतरता रहे। ईश्वरकी शक्ति अपनी शक्तिमें उतरती रहे। ईश्वरका अनन्त जीवन अपने जीवनके साथ सम्बद्ध रहे। इसका नाम है 'अविकम्प योग'।

यह जो दसवें अध्यायमें विभूति और योग दोनोंका वर्णन है वह हमारे इस व्यक्तिगत जीवनको-परिच्छिन्न जीवनको-जो कतरा हो रहा है-एक कतरेको दरियाके साथ एक करनेका नाम 'अविकम्प योग' है। एक बल्बको मूलभूत शक्तिके साथ जोड़ देनेका नाम अविकम्प योग है। काम करो परन्तु ईश्वरसे जुड़कर काम करो।

सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः।

ईश्वरका ऐश्वर्य, ईश्वरका वीर्य, ईश्वरका तेज, तुम्हारे जीवनमें प्रकट हो जावेगा। यह योग निकम्मेपनका नाम नहीं है। शुकदेवजीका वचन है-जब मैं बोलता हूँ तो भगवान् मेरी जीभपर आकर बैठ जाते हैं। जीभ तो होती है निमित्त और बोलती है वह अनन्त शक्ति। उसको हम छोटा बनानेका प्रयास तब करते हैं जब हम उसको किसी जातिमें, किसी मजहबमें, किसी भूगोलके एक हिस्सेमें, किसी परिस्थितिमें किसी मध्यकाल या वर्तमान्कालमें जोड़ देते हैं। तब हम उस शक्तिका जो विशाल रूप है, उसको सीमित बना देते हैं। अतः इसे परमात्माके साथ जोड़ दो। इसको योग कैसे बताया?

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यति तच्छृणु।। 7.1

दो ओरसे जोड़ो-एक आसक्ति और एक आश्रय। आपका एक मुनीम है-सेठका आश्रय लेता है। आश्रय है सेठका और आसक्ति है किससे? अपनी स्त्रीसे, पुत्रसे। उसका जीवन बँट गया-एक ओरसे लेता है, दूसरी ओर देता है।

'योगं युञ्जन्'का क्या अर्थ हुआ? जहाँसे लेना, उसीको देना।

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः।

भगवान्से ही प्रीति है-सर्वात्मा प्रभुसे प्रेम है और सर्वात्मा प्रभुका आश्रय है। योग जुड़ गया। भक्तने भगवान्से लिया और भगवान्को दिया। प्रीति है तो भगवान्से और आश्रय है तो भगवान्का। इसका नाम हो गया 'योग'। आप अपनी प्रीतिको भी तौलो और सहाराको भी तौलो। यदि दोनों एक होंगे तो आपका योग अविकम्प होगा। अविचल-योगका अर्थ हो जायेगा और अगर दो होंगे तो कभी दिल इधर जायेगा, कभी दिल उधर जायेगा। झूलेमें रहेंगे। झूलेका भी एक मजा होता है। वह दूसरा मजा है। लेकिन वह कभी दाँयें है कभी बाँयें है। कभी सामने है, कभी पीछे। और यह योग स्थिर है।

व्रजनाथ झुलाओ सारी रैन आओ प्यारे।

हमारे हृदयके झूलेपर बैठ जाओ और मैं दिनरात तुमको झुलाता रहूँ। यह 'अविकम्प योग' है। सारी रैन माने सारी रात-सम्पूर्ण जीवन। झुलाओ माने भगवान्के साथ खेलो। खेल उनसे खेल रे मन! एक योग यह है। दूसरा योग कहाँ है? दसवें अध्यायमें है-विभूति योगमें। सातवें अध्यायके अन्तमें यह बात बतायी गयी कि-

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः। 7.30

पहचान लो भगवान्को-सूर्य, चन्द्रमा आदि अधिदैवके रूपमें भी वही है। पृथिवी, जल, अग्नि आदि

अधिभूत रूपमें भी वही है और मन, बुद्धि आदि अध्यात्म रूपमें भी वही है। सब परमात्माका स्वरूप है, निर्द्वन्द्व है। कहीं हिचकनेकी कोई बात ही नहीं है। बेखटके चले चलो।

आप लोगोंको शायद सुनाया हो! एक बार हमने दिल्लीसे हरिबाबाके बाँधकी यात्रा की। सेकण्ड क्लासका टिकिट था-सेकण्ड क्लास उस ट्रेनमें था ही नहीं। हमने कहा 'हिचको मत' फर्स्ट क्लासमें चलकर बैठो। फिर उन दिनों हमारे साथ कोई थे, वे नलका पानी नहीं पीते थे। वे चले गये कूएँपर पानी लेने। गाड़ी चल पड़ी। मैंने कहा हिचको मत जंजीर खींच लो। न मेरे पास पैसा था, न कोई साथी था, न टिकिट था-क्या करते? टिकिट कलेक्टर आया-टिकिट लेकर चला गया। एक दो स्टेशन बाद आकर दे गया। ट्रेनसे उतरे तो कोई लेने ही नहीं आया और शाम हो गयी थी। हमने कहा-'हिचको मत' चलो।

बैलगाड़ी जा रही थी; उसके मालकिने आकर हाथ जोड़ा महाराज, आप बैठ जाइये। ना बाबा, तुमलोग स्त्री हो तुमलोग बैलगाड़ीसे चलो। हम पैदल चलते हैं। हमारा सामान तुम ले लो। फिर पीछेसे दूसरी अनजाने आदमीकी बैलगाड़ी आयी और उसने हमको पहुँचा दिया। वहाँ गया तो हमारे लिए जो कुटिया बनायी गयी थी, उसमें ताला लगा हुआ था। मैंने कहा 'हिचको मत'। रातमें बारह बजे ताला तोड़ दिया। हाथसे खींचा सो टूट गया। 'जाके मनमें अटक रही सो ही अटक रहा'। अटकोगे तो भटक जाओगे। 'चरैवेति-चरैवेति'-चलते जाओ। दूसरा भगवान्‌का योग क्या है?

मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः।
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः।। 9.4-5

योग क्या है? अद्भुत योग है। भगवान् कहते हैं—सब मुझमें हैं। जैसे सब घड़े माटीमें हैं। शक्ल-सूरत बननेपर भी घड़े माटी से अलग नहीं हो सकते। ये सब अलग-अलग शक्ल-सूरत बनी है। हमसे लोग पूछते हैं कि जन्म कैसे होता है? पादरी बताते हैं कि जीव स्वर्गमें कैसे जाता है, नरकमें कैसे जाता है? पुरोहित, मौलबी बताते हैं कि जन्म-मरण कैसे होता है। जन्म-मरणसे छूटें कैसे? हम जो जन्म-मरणकी कल्पनामें भटक गये हैं, अटक गये हैं। अपनेको तो देखा नहीं—आकृतिमूलक अनुमान करते हैं। सामने प्रश्न यह है कि इसी जीवनमें जन्म-मरणसे मुक्ति कैसे हो? हम जीते रहें, हर काम करते रहें, हम सुखी रहें, हम जानते रहें और जन्म-मरणसे मुक्त हों। मुक्त करने वाला हमारा 'सन्त-विभाग' 'फकीरी विभाग' विभूति-विभाग है। जन्म-मरणके बन्धनमें आपको डालनेवाले नहीं हैं, छुड़ानेवाले हैं।

हमने श्रीउड़िया बाबाजीसे पूछा—पुनर्जन्म किसका होता है? क्यों होता है नहीं पूछा। यदि तुम क्यों पूछोगे तो उसका जवाब दूसरा है। कैसे होता है, पूछोगे तो उसका जवाब दूसरा है। जन्म-मरण किसका होता है, इसका जवाब दूसरा होता है। श्रीरामसुखदासजी महाराज भी थे। मैं मौन था, इसलिए लिखकर पूछा—सन् 36 की बात है। मैंने कह दिया कि मुझे यह मत बताइये कि यदि जन्म नहीं होगा तो इस कर्मका फल क्या होगा? यह भी मत बताइये कि ईश्वरमें पक्षपात् या निर्दयता होगी, वह भी मत बताइये कि 17

तत्त्वका लिंग शरीर, वासनाके कारण जन्म होता है। हमको तो बताइये वह तत्त्व—वह चेतन वस्तु जिसका जन्म-मरण होता है।

बाबा बोले—बेटा, तुम्हारा काम लोगोंको जन्म मरणसे छुड़ानेका है, जन्म-मरण सिद्ध करनेका नहीं है। तुम तो यह कहो कि इस जन्मका बन्धन भी तुम्हारे नहीं है। पूर्व-पूर्व जन्मके बन्धन होंगे कि उत्तर-उत्तर जन्मके बन्धन होंगे। यह तुम्हारा विभाग नहीं है।

मत्स्थानि सर्वभूतानि—देखो यह ग्वालियेकी बात। बिलकुल ग्वाला, जैसे अनपढ़ बोल रहा हो। **मत्स्थानि सर्वभूतानि**—सब प्राणी मुझमें हैं। **न च मत्स्थानि भूतानि**। एक मिनट नहीं बीता—एकबार कहता है—सब मुझमें हैं और एकबार कहता है कि मुझमें कुछ नहीं है। 'न च मत्स्थानि भूतानि' वही 'भूतानि' है, जिनको पहले वाक्यमें कहा कि मुझमें सब भूत हैं और दूसरे वाक्यमें कह दिया—'न च मत्स्थानि भूतानि'—मुझमें कुछ नहीं है। ये सब अपने अधिष्ठानमें, आधारमें दिखायी पड़ रहे हैं। अधिष्ठान दृष्टिसे यह कुछ नहीं है। अनन्तमें कोई भी टुकड़ा नहीं होता। किसी भी गणितके द्वारा हम यह सिद्ध नहीं कर सकते कि कोई धरती और आसमान अनन्त अद्वितीय ब्रह्मके किस हिस्सेमें है। जब हम ब्रह्मको नहीं देखते तब मालूम पड़ता है कि यह सब अनन्तमें है। जब अनन्तमें देखते हैं तो अन्तमें कोई हिसाब-किताब, कोई हिस्सा, होता ही नहीं है। हमारी देहकी आँखसे सबकुछ है। हमारे ब्रह्मकी आँखसे कुछ नहीं। हम जन्मको भी जानते हैं और जन्माभावको भी जानते हैं। यह योग है।

कौन-सा योग बताया? 'न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।' ये ऐश्वर्य, आश्चर्य है; जादूगरकी दृष्टिसे जो चीज नहीं है, वही जादूमें फँसे हुए को दिखायी पड़ रही है। इस योगको यदि हम जान लेंगे—फिर तो हर हालतमें—सोते-जागते, 'सोवत-जागत पड़े उताने…' हर समय हम वही हैं। इसमें न जन्मका अन्तर है न मृत्युका। न बीमारीका अन्तर है न आरोग्यका। न इसमें भारतीय है, न पाकिस्तानी। न इसमें यूरोपी है, न अमेरिकन। न हिन्दू है, न मुसलमान। न इसमें प्राकृतिक जातियाँ हैं। (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ये सब कल्पित जातियाँ हैं।) और अकल्पित जाति मानव है। पशु-पक्षी ये प्राकृत जाति हैं।

मजहब किसी व्यक्तिके द्वारा कभी चलाये गये। वे पहले थे ही नहीं। अन्तमें रहेंगे भी नहीं। देखो आश्चर्य कि हम भूगोलके एक कोनेमें ही हैं—एशियाई हैं; भारतीय हैं—बंगाली हैं। एक बंगालीको भारतीय होनेका क्या प्रयास करना पड़ेगा? कौन-सी साधना वह करेगा तो भारतीय हो जायेगा? एक हिन्दूको मनुष्य होनेमें कौन-सी साधना करनी पड़ेगी? जैसे एक हिन्दूको अपनेको मनुष्य समझनेके लिए किसी साधनाकी जरूरत नहीं है—वह पहलेसे ही मनुष्य है। इसी प्रकार यह जो आत्मा है, यह पहलेसे ही परमात्मा है। हमारे मनमें जो भ्रम बैठ गया है—हम ये हैं-ये हैं—हम महाराष्ट्र हैं, हम भारतीय हैं, हम पाकिस्तानी हैं—उसे दूर करना है। भला बताओ, हमारे सामनेसे ही पाकिस्तान नाम पैदा हुआ। न बीचमें समुद्र आया, न नदी आयी, न पहाड़ आया, न कोई खाई खोदी गयी। किसने विभाग किया? दिमागने विभाग किया। हमारे मनमें—हमारे मानसिक मनमुटावने विभाग किया। ये जितने भेद हैं, अपनेको परमात्मासे अलग करनेवाले हैं, ये सब-की-सब मानसिक भ्रान्तियाँ हैं।

घड़ेको मिट्टीसे अलग किसने किया? दूधको पानीसे अलग किसने किया? चिनगारीको आगसे अलग

किसने किया? हमारी साँसको हवासे अलग किसने किया? बरफको पानीसे अलग किसने किया? इस तत्त्वको ठीक-ठीक समझ जायें तो इसका नाम हो गया 'योग'। अर्जुन कहते हैं—जरा विस्तारसे बताओ। अपना वैभव भी बताओ, विभूति भी बताओ। इन विशेष-विशेष रूपमें तुम कैसे हुए? 'भूति' माने भवन और 'विभूति' माने विशेष-विशेष रूपमें होना। 'विभूतिं च जनार्दन'।

भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्। 10.18

'भूयः कथय'—दुबारा कहो। संस्कृतके पण्डित लोग इसको ऐसे बोलते हैं—'द्विर्बद्धं सुबद्धं भवति'। यदि किसी चीजमें दो गाँठ लगा दी जाये तो वह भली प्रकार बँध जाता है। एक बात अगर दुबारा कहकर सुना दी जाय तो वह ठीक-ठीक समझमें आजाती है। 'भूयः कथय'—पुनः-पुनः और विस्तारसे कहो। 'भूयः कथय'में सुननेकी रुचि है और 'विस्तारसे' कहनेमें उस वचनमें, उस पदार्थमें रुचि है—पदार्थमें रुचि होना और समझमें रुचि होना। समझनेकी रुचि अपने भीतर होती है और बाहरवाले पदार्थके सम्बन्धमें हम श्रवण करते हैं। पदार्थ बाहर होता और श्रद्धा भीतर होती है।

फिर कहो! अरे अर्जुन, तुम शिष्टाचारवश तो नहीं बोल रहे हो। अर्जुन और श्रीकृष्णमें कोई शिष्टाचार नहीं है। बिलकुल साले-बहनोई जैसे बात करते हैं, वैसे ही बात करते हैं। श्रीकृष्ण साले हैं और अर्जुन बहनोई हैं। श्रीकृष्णकी बहन सुभद्रा अर्जुनसे ब्याही है। गीतामें सालेका भी वर्णन है—'स्यालासम्बधिनस्तथा'। खास सम्बन्धी होता है साला—'जिसकी बहन अन्दर उसका भाई सिकन्दर'। साफ-साफ अर्जुनने कह दिया कि तुम मुझे घोर कर्ममें क्यों लगाते हो? 'व्यामिश्रेणेव वाक्येन'—असंदिग्ध बात क्यों नहीं बोलते? दुहरी बात बोलते हो। तुम कहीं हमको झूठ-मूठ तो नहीं बोलते हो, जनार्दन!

जनार्दन शब्दका अर्थ होता है—लोग जिससे प्रार्थना करें कि हमको हमारी अभीष्ट स्थितिमें पहुँचा दो। 'जनैः अर्द्यते प्रार्थ्यते इति जनार्दनः'। लोग जिसे हाथ जोड़कर कहें—हे प्रभो, तुम हमारी नावके मल्लाह होकर खेओ। तुम हमारी मोटरके ड्राइवर हो। भगवान्‌की करुणापर भी एकबार विचार करो। सबका जो मालिक है, वह अर्जुनको रथी बनाकर रथपर बैठा देता है और स्वयं सारथि होकर, गौण होकर, मददगार होकर, ड्राइवरके स्थानपर बैठकर मोटर चला रहा है। भगवान् तुम्हारे ड्राइवर, तुम्हारे जीवन-रथके सारथि स्वयं भगवान् हैं। जहाँ किसीका हित करना हो और उसको ठीक-ठीक समझाना हो और हमको बड़ा बनाकर हमारा हुक्म न मानना चाहता हो, तो उससे छोटे बनकर ही उसका हित कर देना चाहिए। उसको समझा देना चाहिए।

हाँ, भाई! तुम बहुत समझदार हो, हम तुम्हारी समझका आदर करते हैं। लेकिन हमारी विनती तो सुन लो। हम बड़े विनयसे तुमसे निवेदन करते हैं। लोग जिनसे प्रार्थना करते हैं हमारी मदद करो, उनको 'जनार्दन' बोलते हैं। हमको आगे बढ़ावे और हमसे काम ले, यह ईश्वरका दोनों काम है—इसलिए उसको जनार्दन कहते हैं। जो हमारे जीवनमें प्रगति दे और उन्नति दे—उसका नाम है जनार्दन। जो जन्म-मृत्युके चक्करसे छुड़ा दे, उसका नाम है जनार्दन। क्या देखते हो कि कहाँसे पैदा हुए और क्या देखते हो कि मरकर कहाँ जाओगे? अपने जीवनको बिलकुल ठीक-ठीक सञ्चालित करना चाहिए। मरनेके बाद हम क्या होंगे, यह मालूम करना हो तो

मरे बिना मालूम नहीं पड़ेगा और हमारे जन्मके पहले क्या थे, यह सिवाय कल्पनाके और कुछ हाथ नहीं लगेगा। नयी-नयी कल्पना करते जाओ। ये थे, ये थे, ये थे।

योगदर्शनमें जो पूर्व जन्मके ज्ञानकी प्रक्रिया लिखी है, वह बड़ी मजेदार लिखी है। हमको यह शरीर क्यों मिला? और इनके पहले क्या शरीर था? अगर यह जानना हो किस प्रकारका ध्यान और किस प्रकारकी साधना करनी चाहिए—इसका उल्लेख योग-दर्शनमें मिलता है। एक महात्मा कहते थे कि हमको मालूम पड़ जाता है। मैंने उनसे पूछा कि कैसे मालूम पड़ता है? तो उन्होंने कल्पनाकी रीति बतायी।

बोले—जहाँतक तुम्हें बचपनका होश आता है, वहाँतक चलो। माँके पेटसे निकलनेके बाद तुम जब दूध पीते थे, उसकी याद आती है? बहुत कम। अच्छा; माँके पेटमें तुम्हारा कैसा रूप था, उसका ध्यान करो। अब जब ध्यान करने लगा तो और बच्चोंके बारेमें पढ़ते-सुनते हैं, जैसे कि पेटमें वे बड़े होते हैं, कैसे जीवन-प्राण आता है—उसकी कल्पना होने लग गयी। उसकी कल्पनाके पहले रज-वीर्यका मिश्रण याद आया। फिर उसके पहले वीर्यमें जीवन-शक्ति थी। वीर्यमें कहाँसे आया? तो इस तरहसे योगदर्शनमें प्रक्रिया बतायी है कि अगर अपने पूर्व जन्मका साक्षात्कार करना हो तो कैसे करना। तो उसमें तो कल्पना ही जुड़ती जाय—कल्पना ही जुड़ती जाय। इसके पहले यह होगा—इसके पहले यह होगा। अरे बाबा—यह कल्पना छोड़ो—यह देखो मैं कौन हूँ?

अर्जुन कहते हैं फिरसे सुनाओ। फिरसे सुनोगे तो ऊब जाओगे। एकबात बार-बार कही जाय तो वे बोर हो जाते हैं—जब देखो तब वही रट लगाये रहते हैं, ये तो और कुछ जानते ही नहीं। अर्जुन कहते हैं नहीं—मैं तो बार-बार सुनना चाहता हूँ, क्योंकि एकबार सुननेसे तृप्ति नहीं मिलती। अमृत कहीं सुना जाता है? अमृत तो पीया जाता है। पीनेके लिए अमृत चाहिए। वह भी सुना ही हुआ है? आप लोगोंमें-से किसीने अमृत पीया हो तो पीया हो। ऐसे वाक्यको रूपकालंकारसे अमृत बोलते हैं और वाक्यमें जो माधुर्य है, उसके लिए अमृतत्त्व अतिशयोक्ति है। यह अलङ्कारकी बात है और इसमें वाक्य शब्द छिपा दिया तो अपह्नुति हो गयी। तब यहाँ क्या है? अलङ्कारोंका सङ्कर हो गया। श्रीकृष्ण बड़े भारी साहित्यिक थे। अर्जुन बड़े भारी साहित्यिक थे। उन्होंने कहा—**अमृतं श्रृण्वतः मे तृप्तिः नास्ति।**

फिरसे सुनाओ। मैं अमृत सुन रहा हूँ। अमृत पी रहा हूँ। यह गीतारूपी अमृत है। श्रीकृष्ण स्वयं अमृत, उनकी वाणी अमृत और जो सुननेको मिल रहा है सो अमृत। अरे यह वाक्य नहीं है—अमृत है। अमृत क्यों बोलते हैं? जो जन्म और मृत्युसे छुड़ा दे उसका नाम अमृत होता है। 'मृतं मृत्युर्नास्ति यस्मात् तत् अमृतम्'—जिसके सेवनसे मौतका डर बिलकुल मिट जाय, उसका नाम अमृत है। अपने मरनेका तो मिट ही जाय, दूसरेके मरनेका भी मिट जाय।

यह गीता तो ऐसी है न! अर्जुनको अपने मरनेका डर नहीं है। दूसरोंके मरनेका बहुत डर था। बोले—बाबा मैं मर जाऊँ तो मर मर जाऊँ, लेकिन मेरे ये लोग न मरें। श्रीकृष्णने वह अमृत पिलाया अर्जुनको कि अपने मरनेका डर भी गया और दूसरोंके मरनेका डर भी गया। मृत्युसे निर्भय करनेवाली वस्तु यदि कोई है तो यह अमृत है सृष्टिमें। हमने देवताओंके अमृतको देखा नहीं है—न तो समुद्र-मन्थनके समय देखा, न

देवताओंको पीते समय देखा, न कहाँ वह घड़ेमें रखा हुआ है, यह देखा। हमें तो यह वचनामृत, वाक्यामृत देखनेको मिलता है, क्योंकि हमें मृत्युसे बचानेवाला तो यही है।

अरे भाई, बहुत बार सुन चुके हो—तृप्ति नहीं होती तो—यह भी एक प्रेमका लक्षण है। प्रेममें दो ही चीज होती है। एक प्यास और एक तृप्ति। पीते जायें और तृप्ति न हो—और चाहिए और चाहिए और मजा आता जाय उसको 'तृप्ति' बोलते हैं। मजा आता जाय और प्यास लगी रहे और प्यास लगी रहे और मजा आता जाय—इसको बोलते हैं 'प्रेम' यदि प्यास-ही-प्यास रहे तो प्रेमको कोई चाहेगा नहीं, जब देखो तब प्यास ही लगी रहती है और ऐसी तृप्ति रहे कि भूख-प्यास लगे ही नहीं, तब भी कोई तृप्ति नहीं चाहेगा। प्रेम वह वस्तु है जिसमें प्यास और तृप्ति दोनों एक साथ चलती है। श्रीकृष्ण प्यास हैं तो राधा तृप्ति हैं। राधा प्यास हैं तो श्रीकृष्ण तृप्ति हैं और कभी वे तृप्ति कभी वे प्यास। वे कभी प्यास कभी वे तृप्ति।

आओ गीताका अमृत पीने चलें और प्यासे भी रहें— **भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्।**

मैं पीता जा रहा हूँ—पर मेरा मन भरा नहीं। यह कोई हानिकारक शराब नहीं है। यह अमृत है। रस देनेवाली वस्तु है। 'नूतनम् नूतनम् पदे पदे'। पद-पद पर नूतन है। 'स्वादु स्वादु पदे पदे'—पदे-पदे संस्कृतमें बोलते हैं तो उसका दो अर्थ होता है। कदम-कदम पर स्वाद बढ़ता जाता है। 'पदे-पदे' माने एक-एक कदम पर और एक-एक पदमें, एक-एक शब्दमें एक-एक शब्द सुनते जाते हैं और हमको रस आता जाता है। अब भगवान् बोले—ऐसे श्रोताको नहीं बतावेंगे तो किसको बतावेंगे—श्रोता तो ऐसा ही चाहिए। कवि लोग श्रोता ढूँढते रहते हैं। लोग कविता सुनते-सुनते ऊब जाते हैं। लेकिन यहाँ तो ऐसा श्रोता मिला जो कहता है—'और और और' 'स्वादु स्वादु'-'नूतनम् नूतनम्'—और बोलो। खुशीकी बात है 'आश्चर्य है, हर्ष है।'

आश्चर्य है अर्जुन, तुम्हारे मनमें इस युद्धभूमिमें जब दोनों ओरसे शस्त्रास्त्रकी वर्षा होनेवाली है—'प्रवृत्ते शास्त्रसंपाते' (1.20) वहाँ तुम हमारा योग और विभूति सुनाना चाहते हो? आश्चर्य! श्रोता तो ऐसा चाहिए! सुननेमें अर्जुनको मरनेकी भी परवाह नहीं। चलता है शस्त्र तो चले। लोग मरते हैं तो मरें। लेकिन हम तो तुम्हारी वाणीका अमृत पीयेंगे। आश्चर्य! तुम ऐसे श्रोता हो? बड़ा हर्ष! अरे कहाँ तो तुम रो रहे थे और कहाँ तुम्हें सुनते-सुनते अतृप्ति हो रही है। माने, और-और सुनना चाहते हो!

'हन्ति'का अर्थ है विषाद; खेदकी बात है। क्या बात खेदकी है? यह कि इस युद्धभूमिमें मैं विस्तारसे तुमको कैसे सुनाऊँगा? तुम्हारे मनमें इतनी प्यास होनेपर भी मैं तुम्हें पूरी तरहसे सुना नहीं पाऊँगा।

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे।। 10.19

भगवान् कहते हैं कि अर्जुन, विस्तारसे नहीं कह पाऊँगा। किन्तु आश्चर्य यह है कि ऐसी परिस्थितिमें भी तुम सुनना चाहते हो! हर्षकी बात यह है कि अब तुम्हारा रोना छूट गया और तुम सुनना चाहते हो। सुनो, मैं अपनी दिव्य विभूति सुनाऊँगा। व्याकरणकी दृष्टिसे यहाँ अशुद्धि है। जब 'कथयिष्यामि' यह क्रिया पद बोल दिया तो 'दिव्या आत्मविभूतयः' कर्म होना चाहिए। अर्थात् 'दिव्या आत्मविभूतीः कथयिष्यामि' कहना चाहिए।

लेकिन गाँवके ग्वालियेको व्याकरण वगैरहकी कुछ परवाह नहीं है। बीसों जगह गीतामें ऐसी हैं जहाँ श्रीकृष्णको व्याकरणकी परवाह नहीं है। अपनी बात कहना चाहते हैं-भले अशुद्ध हो। भाषा अशुद्ध हो, पर हमारी बात तुम्हारी समझमें आजावे। भाषाके पक्षमें जाकर ज्ञानका अनादर कभी नहीं करना चाहिए। जिस भाषासे ज्ञान मिले, उससे ज्ञान ग्रहण करना चाहिए। बोली पर मत आओ; यह देखो कि अच्छी समझ मिल रही है कि नहीं? फिर इस वाक्यको इस प्रकार भी समझा जा सकता है-'या मे मम दिव्या आत्मविभूतय:, तास्ते कथयिष्यामि'। हमारी जो दिव्य आत्मविभूतियाँ हैं, उनको मैं तुम्हें कहूँगा। प्रतिज्ञा कर ली कि कहूँगा। क्या कहेंगे? दिव्य आत्मविभूतिका वर्णन करेंगे।

यह दिव्य शब्द भी बहुत विलक्षण है। दिव्य माने अनिर्वचनीय दिव् क्रीडाविजिगीषा-व्यवहारद्युतिस्तुतिकान्तिगतिषु (धातुपाठ) सबसे अधिक फैलाव-वाले जो धातु हैं उनमें एक 'दिव्' धातु भी है। 'जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वत:' गीतामें ही तो है (4.9)। 'जन्म कर्म च मे दिव्यम्'-मेरा जन्म भी दिव्य है-दिव्य है माने कर्मके अधीन होकर यह जन्म नहीं है, मैंने इस शरीरको धार लिया है। मेरे कर्म भी दिव्य हैं, उनमें कर्तापन नहीं है। देखो, कर्तापनका तो अभिमान न हो और मनमें, वासना न हो और फलकी उत्पत्ति होकर अपने साथ जुड़े नहीं-खेलते चलो। यदि तुम ठीकसे खेलो-उसमें भी जीत होती है, उसमें भी हार होती है, लेकिन खेल खेल ही है। उसमें दुश्मनी नहीं होती। आजकलके खिलाड़ी आपसमें दुश्मनी कर लें, वह बात दूसरी है।

दिव्य जन्मका अर्थ क्या है? जन्म-मृत्युके चक्करमें पड़नेके लिए नहीं है। दिव्य कर्म क्या है? फल भोगनेके लिए नहीं है। यह सब दुनिया क्या है? बिना कर्तापनके, बिना वासनाके और बिना फल-सम्बन्धके, यह भगवान् इस संसारमें क्रीडा कर रहे हैं, खेल रहे हैं। इसलिए इसको दिव्य बोलते हैं। हमारी ये विभूतियाँ दिव्य हैं।

यदि भगवान् विभूतयाँ या विभूति कह देते, तब भी एक दूसरी बात होती। 'आत्मविभूति' कहनेका अर्थ है-'आत्मरूपा विभूतय:'-यह सब मैं ही हूँ। 'माँ' तो 'तुमने पीछे मानी-बाप पीछे मान लिया' 'भाई पीछे मान लिया'। पुत्र पीछे मान लिया। ये सब माने हुए हैं। कहते हैं कि हम प्रयोगशालामें आँखसे देखेंगे, परीक्षा करेंगे कि हमारी माँके साथ हमारा खून मिलता है कि नहीं? हमारे पिताके साथ हमारा खून मिलता है कि नहीं? परीक्षा करके देखोगे? ना बाबा, माँकी बातपर विश्वास करो कि ये तुम्हारे पिता हैं और गाँववाले बड़े-बूढ़ोंकी बातपर विश्वास करो कि यह तुम्हारी माँ है। उस समय तुम्हारी आँख बन्द थी। तुमने देखा तो है नहीं। जो उपयोगी हो उसको रखना पड़ता है। वह सत्य है कि नहीं, यह प्रश्न दूसरा है और वह उपयोगी है कि नहीं, यह प्रश्न दूसरा है।

यह जमीन हमारी है। क्यों भाई, धरती तुम लेकर आये थे? धरती तो पहलेसे थी-तुमने अपने उपयोगके लिए उसे अपनी मानी। इसका अर्थ हुआ-उपयोगी। कोई लड़की लेकर लड़का आता है दोनोंका विवाह होता है। सत्य क्या है? वे पति-पत्नी पहलेसे ही रहकर आये हैं? नहीं पति-पत्नी होनेका बड़ा भारी उपयोग है। उसमें अनेक प्रकारके जो अनाचार-व्यभिचार हैं; उनकी निवृत्ति हो जाती है। कोई बात उपयोगकी दृष्टिसे मानी जाती

है, कोई बात प्रयोजनकी दृष्टिसे मानी जाती है और कोई बात सत्यकी दृष्टिसे मानी जाती है। सत्य यह है कि हमसे अलग रहकर कोई चेतन ही नहीं रह सकता।

'प्राधान्यत:'-प्रधान रूपसे हम वर्णन करते हैं। प्रधानका मतलब है-जैसे राजधानीमें 'धानी'-जैसे मसिधानी-जिसमें स्याही रखी जाती है। धानी माने 'धीयते अस्याम्'; प्रधानम्। 'प्रकर्षेण धीयते अस्याम्'-छोटी-सी बातमें बहुत बड़ी बात रख दी जाय। हमको प्रधानका अर्थ ऐसे समझाते थे-एकके घरमें दस पतीली-सबसे छोटी पतीलीको उससे बड़ीमें रखा और उसको उससे बड़ीमें रखा, और उसको उससे बड़ीमें रखा तो दस पतीली एक पतीलीके पेटमें आगयीं-एक पतीलीको उठाया तो दसों उठ गयीं। प्रधान उनमें कौन है? जिसके पेटमें सब आगयीं उसका नाम हो गया प्रधान? संस्कृत भाषामें शब्दोंकी माया ऐसी है कि उस शब्दमें उसका अर्थ भरा रहता है।

जिस एकके वर्णनसे अनेकका वर्णन हो जाये, उस ढङ्गसे मैं प्रधान-प्रधान विभूतियोंका वर्णन करता हूँ, क्योंकि तुम कुरुश्रेष्ठ हो, श्रोता बहुत अच्छे मिले थे—कुरुश्रेष्ठका अर्थ है कि तुम सुनकर करोगे। 'कुरु' माने करनेवाला। ऐसे आदमीको बताकर क्या करना जो कभी करे ही नहीं। हम बतावें प्राणायाम ऐसे किया जाता है और करनेवालेने एक मिनट भी प्राणायाम नहीं किया। आसन समझनेमें हमारा घण्टाभर गया और उसने एक आसन भी नहीं किया। बतायी हुई बातको जो करे उसको बोलेंगे-कुरुश्रेष्ठ। कर्मशील है, जो काम करना चाहता है।

अच्छा प्रधानरूपसे हम तुमको बताते हैं, क्योंकि तुम करना चाहते हो। विस्तारसे क्यों नहीं बताते? 'नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे'। मेरे विस्तारका अन्त नहीं है। यदि मैं अपना विस्तार बताने लगूँ तो उसका अन्त नहीं होगा। यह आसमान धरतीका कितना गुना है? आप बता सकते हैं। यह नहीं बताया जा सकता। धरती इतनी छोटी है कि आकाशके किस कोनेमें यह है-यह बताया नहीं जा सकता। अनिर्वचनीय होता है। दिक्तत्त्व धरतीका कितना गुना है? लाखगुना, करोड़गुना-नहीं; अनन्त दिक्में पृथिवी कहाँ है—मूलार्थरूपसे यह भी नहीं बताया जा सकता।

एक सेठके घरमें गये। उनके घरमें विश्वका गोल नक्शा था। उसे घुमा-घुमाकर वे बता रहे थे कि यह अमेरिका है। यह यूरोप है। हम भूगोल-इतिहास नहीं जानते—पर जिसको भूगोल-इतिहास मालूम पड़ता है, उसको जानते हैं। भारत वर्ष यह है। बम्बई कहाँ है? यह बिन्दी है—बम्बईकी जगहपर एक बिन्दी थी। मैंने कहा—सेठजी आपका महल कहाँ है? विश्वके नक्शेमें तो सेठजीका महल ही नहीं था!

यह जो अनन्त वस्तु, अनन्त तत्त्व है-इसमें वे चीजें जिसको हम बहुत महत्त्व देते हैं-प्रयोजनको दृष्टि भी देते हैं, अपने लिए देते हैं। अपनी जातिके लिए देते हैं, अपने धर्मके लिए देते हैं, वह सब ठीक है। परन्तु तत्त्वदृष्टिसे विश्वके नक्शेमें सेठजीका महल ही नहीं है!

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

प्रवचन : 5

(4-11-81)

यह है भगवान्‌की करुणा-अपने भक्तको यदि अपनेको छोटा बनाकर भी ठीक रास्ता बताना बताना पड़े तो छोटा बनकर भी रास्ता बताना चाहिए। रथी अर्जुन और सारथि भगवान्। रथी तो बड़ा होता है और सारथि छोटा। परन्तु यदि किसीका कल्याण करनेके लिए, भला करनेके लिए कभी अपने बड़प्पनको छोड़कर छोटा भी बनना पड़े तो उसको स्वीकार करना चाहिए। नरका हित करनेके लिए नारायण सारथि बने हैं। अर्जुन हैं नर और श्रीकृष्ण हैं नारायण।

नारायणो नरश्चैव तत्त्वमेकं द्विधा स्थितम्। उद्योगपर्व 49.21

एक ही तत्त्व दो रूपमें एक ही परब्रह्म परमात्मा जीव और ईश्वर दोनोंके रूपमें स्थित है। यह उसका उपलक्षण है। परब्रह्म परमात्मा है एक और जीव और ईश्वर ये दोनों उसके विभाग हैं।

हमारे एक मित्र थे वृन्दावनमें। वे कहते थे गीता कोई शास्त्र थोड़े ही है। यह तो दो मित्रोंकी बात-चीत है। एक मित्रको युद्धके समय विषाद हो गया और दूसरेने उसको प्रसाद दे दिया। गीता प्रसाद है। अर्जुनको हुआ विषाद और श्रीकृष्णने दिया उसको प्रसाद। जब उसने अपने बुद्धिकी जीभसे उसका आस्वादन किया तो वह भी हँस पड़ा। जैसे एक मित्र उदास हो रहा हो, विषण्ण हो रहा हो और दूसरा उसके कन्धेपर हाथ रखकर और बड़े प्रेमसे समझा दे कि यह समय विषण्ण होनेका नहीं है। इस समय तो तुम अपना पौरुष दिखाओ। पौरुषके लिए उत्साहित करनेवाले मित्र हैं-श्रीकृष्ण। वह प्रेरणा देते हैं, प्रेरक हैं। भक्तोसि मे।

श्रीकृष्ण अर्जुनको कहते हैं तुम हमारे इष्ट हो-तुम हमारे मित्र हो, तुम हमारे सखा हो और तुम्हारे रूपमें मैं ही हूँ। 'पाण्डवानां धनञ्जयः' (10.37)। इसलिए दोनोंकी बातचीत बड़े प्रेमसे सुनना और समझना चाहिए। 'यस्त्वां द्वेष्टि स मां द्वेष्टि'-श्रीकृष्ण अर्जुनसे कहते हैं कि जो तुमसे द्वेष करते हैं वह मुझसे द्वेष करता है। जो तुम्हारे पीछे चलता है वह मेरे पीछे चलता है। आओ; तुम हमारी विभूति और योग सुनना चाहते हो तो तुम्हें योग और विभूति सुनावें।

आप भागवतके साथ गीताको मिलाइये। भागवतमें मौतका पता चल जानेके बाद कि कब होगी, राजा परीक्षित सब कुछ छोड़कर गङ्गा-तटपर विराजमान हैं। और शुकदेवजी-जैसे अवधूत उनको भागवतका उपदेश दे रहे हैं। वहाँ प्रवृत्तिका प्रश्न नहीं है, वहाँ तो निवृत्तिका प्रश्न है, मरणोत्तर गतिका प्रश्न नहीं है यहाँ प्रश्न यह है कि कुरुक्षेत्रमें जहाँ कर्तव्य-पालन और कर्तव्य-त्यागका प्रश्न उपस्थित है युद्ध करें कि न करें? 'प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते' (१.२३)। दोनों ओरसे हथियार चलनेवाले हैं। वहाँ उस प्रवृत्तिके क्षेत्रमें, धर्मक्षेत्रमें श्रीकृष्ण अजुर्नको अपनी दिव्य विभूति बता रहे हैं। यहाँ यह नहीं है कि ऐसे प्राण-त्याग करो तो मुक्त हो जाओगे। यहाँ ऐसे हैं—इस प्रकार लड़ो तो मुक्त हो जाओगे। लड़कर मुक्ति पानेके लिए है गीता और मरके मुक्ति पानेके लिए हैं भागवत। दोनोंका क्षेत्र पृथक्-पृथक् है। अधिकारी श्रोता भी पृथक् हैं, वक्ता भी पृथक् है।

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे।। 10.19

आओ खुशी की बात है कि हमारी विभूति जानना चाहते हो। आश्चर्यकी बात है कि ऐसे कोलाहलमें भी तुम्हारी ऐसी जिज्ञासा है। और भगवान्ने बताया—

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः। 10.20

जब अँगूठे और तर्जनीको जोड़ देते हैं तो गुडा नामकी मुद्रा बनती है। ऐसे हैं केश जिसके अर्थात् घुँघराले बालोंवाले। यह प्रेमका सम्बोधन हो गया। रूपकी प्रशंसा, बालोंकी प्रशंसा तो कोई बहुत बड़ी बात नहीं हुई। उसका दूसरा अर्थ करते हैं—'गुडाका-निद्रा तस्य ईशाः'। गुडाका माने नीद। नींदपर जिसने विजय प्राप्त कर ली हो। निद्रापर विजय प्राप्त करना माने—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा, स्मृति इन पाँचों पर विजय प्राप्त करना। निद्रा तो उपलक्षण मात्र है। किसी बातपर विचार करना हो तो प्रमाणपूर्वक विचार करनेवाले तुम हो। तुममें प्रमाद नहीं है। विपर्यय कभी तुमको होता नहीं। विकल्पपर भी तुमने विजय प्राप्त कर ली है, दुविधा नहीं है। स्मृति तुम्हारी ठीक है, और जब सोना चाहो तब सो सकते हो, जब जागना चाहो तब जाग सकते हो।

अपनी अवस्थाएँ भी मनुष्यके अधीन होनी चाहिए। यह नहीं कि काम करना है और नींद आगयी। सोना है और नींद आवे ही नहीं। ऐसा नियन्त्रण चाहिए अपने शरीरकी अवस्थाओंपर भी कि मनुष्य उनके पराधीन न हो। इसीसे योगमें क्लिष्ट और अक्लिष्ट—दो प्रकारकी वृत्तियाँ हैं। एक तो क्लेश देनेवाली अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश। ये पाँचों वृत्तियाँ क्लेश देनेवाली हैं। हमारी नासमझी हमको दुःख देती हैं और अभिनिवेश—जब हम किसी वस्तुमें इतने तन्मय हो जाते हैं कि अपने आपको भूल जाते हैं—वह हमको दुःख देता है। दुःख देनेवाला दूसरा कोई नहीं है।

ईश्वर न किसीको दुःख देता है, न प्रकृति दुःख देती है, न प्रारब्ध दुःख देता है। घटनाएँ सब घटित हो सकती हैं, पर हम अपने अन्तःकरणको ऐसा बनाकर रख सकते हैं कि उनसे प्रभावित हुए बिना, हम अपने कर्त्तव्यका पालन करते रहें। यह जो अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेशसे अनुबिद्ध वृत्तियाँ होती हैं उन्हीं को क्लिष्ट कहते है। समयसे निद्रा आवे, समयसे दूर हो जावे। अपने सारे काम समय-समयसे होते रहें। उनमें अनवधानता न हो, प्रमाद न हो। उसको कहेंगे गुडाकेश। 'गुडाका निद्रा तस्य ईशः—गुडाकेशः'। अर्जुनने प्रमादपर विजय प्राप्त कर ली है। असावधान नहीं है—हर बातमें अर्जुन सावधान है, हर काममें सावधान है। जो अपने कर्म और भोगके परिणामका गणित नहीं जानता, वही दुःखी होता है। हम जो कर रहे हैं, उसका फल क्या निकलनेवाला है, इसके बारेमें हमेशा सावधान रहना चाहिए।

'प्रमादं वै मृत्युमहं ब्रवीमि'। (उद्योग. 42.4)—प्रमादका नाम है मृत्यु। 'न वै मृत्युर्व्याघ्र इवऽत्ति जन्तून्'। (उद्योग 42.5) शेरकी तरह आकर मौत किसीको नहीं झपटती है। जब हम असावधान हो जाते हैं, हमारे जीवनमें प्रमाद आ जाता है, तब मौत हमारे सिरपर छा जाती है। गुडाकेश अर्जुन। तुम सावधान हो—एक तो सौन्दर्यकी प्रशंसा हुई, और दूसरी प्रशंसा हुई उसके संयमकी, निद्रापर विजय की और तीसरा अर्थ इसका

होता है—शिवजीका कृपापात्र—टीकाकारोंने यह अर्थ भी किया है और ऐसा अर्थ होना सम्भव भी है। शंकरजीके प्रति तुम्हारी श्रद्धा बहुत है तो संहार-शक्तिको प्रधानता होनेसे जितने भी दोष-दुर्गुण हों तुम्हारे अन्दर, उनको मिटा देनेकी सामर्थ्य तुम्हारे अन्दर है। तुमने तपस्यासे शंकरजीको प्रसन्न नहीं किया। युद्ध करके शंकरजीको प्रसन्न किया। ऐसा प्रसन्न किया कि उन्होंने अपना पाशुपत-अस्त्र अर्जुनको दे दिया।

अर्जुन सुन्दर है, संयमी है और वीर है तथा श्रीकृष्णका मित्र है, उसको सम्बोधन करके श्रीकृष्ण बोलते हैं—

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च।।

अब अपना योग बताते हैं। क्योंकि प्रश्न यह है—

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।

एक विभूति है और एक योग है। और 'विभूतिं योगं च'—दोनोंके बारेमें अर्जुनका प्रश्न है। परमात्मा हमसे कहाँ मिला हुआ है? योग कहाँ है, हमारा और परमात्माका। हम परमात्माकी शक्तिको, प्रेरणाको, उनकी सत्ताको, उनके ज्ञानको, उनके आनन्दको कहाँसे ग्रहण करते हैं? वह कौन-सी वस्तु है, जहाँ परमात्माके सत्‌से अनन्त जीवन हम प्राप्त करते हैं—जहाँ परमात्माके चित्‌से अनन्त ज्ञान हम प्राप्त करते हैं। जहाँ परमात्माके आनन्दसे हम अनन्त आनन्द प्राप्त करते हैं। वह जो हमारे जीवन, ज्ञान और आनन्दका उत्स है, उद्‌गम है, मूल स्रोत है, वह कहाँ है? भगवान् ने बताया—

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।

पहले तो अपना अपना पता बताया। भगवान् कहाँ रहते हैं? एक तो हम मौन होते हैं तब भगवान् बोलते हैं। यह नहीं है कि जैसे सट्टा बाजारमें दस आदमी एक साथ बोल रहे हों—उसमें एक आदमी चिल्ला रहा है, तो हम भी चिल्लाते रहें, बोलते रहें—और कोई बड़े आदमी भी उसके बीचमें बोलना शुरू कर दें तो यह तो बड़ोंका स्वभाव नहीं है। जब और लोग बोलते हों तो वे कहेंगे—बोल लो भाई तुम—हम चुप हैं। जब एक चुप होता है तब दूसरा बोलता है। जब जीव अपने संस्कारके अधीन होकर, अपनी वासनाओंके अधीन होकर, सुने-सुनायेके अधीन होकर बोलने लगता है तब भगवान्‌की आवाज सुनायी नहीं पड़ती है। और जब जीव चुप हो जाता है तो वहाँ भगवान्‌की आवाज सुनायी पड़ती है। इसीसे अर्जुन हो गये चुप और भगवान् लगे बोलने।

उनका पता देखो—यदि हम सौन्दर्यका अभिमान छोड़ दें तो भगवान्‌का सौन्दर्य प्रकट हो जाता है। यदि हम अपनी बुद्धिमत्ताका अभिमान छोड़ दें तो भगवान्‌की बुद्धि हमारे जीवनमें प्रकट हो जाती है। यदि हम अपने सुखका, थोड़ेसे सुखका जो अभिमान हो लिये बैठे हैं, उस अभिमानको छोड़ दें तो अनन्त सुख हमारे जीवनमें प्रकट हो जाता है। भगवान्‌का पता कहाँ है? किसीने पूछा भगवन्‌का टेलीफोनका नम्बर क्या है? मालूम रहना चाहिए। बोले भाई—अपने दिलको खाली कर दो। शून्य कर दो। शून्य ही परमात्माके साथ बात करनेका

नम्बर है। जबतक अपने विचार, अपने संस्कार, अपना ढंग, अपनी वासना लेकर हम बैठे रहेंगे, तबतक परमात्माका साक्षात्कार कैसे होगा?

भगवान् मिलते कहाँ हैं? 'सर्वभूताशयस्थितः'। सम्पूर्ण भूतोंके, प्राणियोंके आशयमें भगवान् स्थित हैं 'आशेरते संस्कारा अस्मिन् इति आशयः।'

जिसमें संस्कार सोते रहते हैं, उनका नाम है आशय। हमने बचपनमें एक दृश्य देखा था। विश्वनाथजीकी गलीमें-से नीलकण्ठ महादेवकी ओर जा रहा था। ऊपरसे बन्दर कूदा और एक पत्थर गिरा। वह एक आदमीके सिरपर गिरा और वह वहीं मर गया। जरा-सी घटना—अबतक याद है। वह चीज क्या है? इसीको हृदय बोलते हैं—आशय। हरति संस्कारान् इति हृत्—जो संस्कारोंको इकट्ठा करके अपनेमें रख लेता है, उसका नाम होता है हृदय, जिसमें संस्कार सोये रहते हैं और समय-समयपर जाग जाते हैं। कौन-सा संस्कार पहले है, कौन-सा पीछे है और कितने संस्कार हमारे हृदयमें सोये हुए हैं। इसकी कोई गिनती नहीं है।

अभीतक ऐसा कोई यन्त्र नहीं बना जो हमारे हृदयकी परीक्षा करके बता दे कि इसमें क्या-क्या संस्कार हैं। यन्त्रकी पकड़में नहीं है। वे मालूम कब पड़ते हैं जब उभर आते हैं। जब उनकी वृत्ति उभर आती है तब मालूम पड़ता है कि ये संस्कार हमारे हृदयमें कहाँ बैठे हुए थे। हम पढ़ रहे थे। मैं बाँचता जाता था और हमारे गुरुजी लेटकर सुनते थे। एक शब्द हमसे छूट गया। गुरुजीने कहा एक शब्द छूट गया। महाराज, कौन-सा शब्द छूट गया? बोले—जो तुम हो वही शब्द छूटा? अब वह शब्द क्या था? 'उल्लू' शब्द था। यह बात आप समझो कबकी होगी। हम 10-11 वर्षके रहे होंगे। वह अबतक कहाँ बैठी है? आप किसी मशीनसे उसको बता सकते हो? है कोई आपके पास ऐसा यन्त्र, ऐसा गणित जिससे निकल आवे कि यह अमुक जगहपर बैठा हुआ है—कलेजेके अमुक हिस्सेका ऑपरेशन करके निकाल दिया जाय तो वह बात निकल जावेगी? इसीको बोलते हैं, सूक्ष्म संस्कार।

सूक्ष्म शरीर इसीका नाम होता है। वह शरीरके साथ बहुत अधिक सम्बन्ध नहीं रखता है, स्थूल शरीर। उसका नाम होता है—आशय। कभी-कभी ऐसी बातें याद आती हैं और कभी-कभी भविष्यकी ऐसी कल्पना उदय होती है कि देखकर आश्चर्य होता है। यह निश्चय है कि वह आत्मा नहीं है। आशय ईश्वरमें नहीं होता। योगदर्शनमें यह है—क्लेश, कर्म, विपाक और आशय ये चार बात ईश्वरमें नहीं होतीं। ईश्वरमें अविद्या-नासामझी, अभिमान, राग, द्वेष, अभिनिवेश ये नहीं होते। क्लेश नहीं होता। और कर्म के अनुसार ईश्वर सुखी दुःखी नहीं होता और आशय माने संस्कार उसमें जमा नहीं होते।

अपनेको अगर तत्त्व जानोगे तो न तुम्हारा जन्म है, न मरण है, न पवित्रता है न अपवित्रता है, न काला है न गोरा है। अब तुम मिट्टी हो कि घड़ा? मूल प्रश्न यहीं जाकर अटकता है कि हमारा 'मैं' कहाँ है? इसी आशयको अपना स्वरूप मानकर यह जीव बैठ जाता है। जैसे स्वप्न-कालमें, मनोरथ-कालमें, हम किसी दृश्य शरीरको अपना मैं समझकर बैठ जाते हैं— और उसके सुख- दुःख भोगने लगते हैं—वैसे ही हम इस शरीरको 'मैं' समझकर बैठ जाते हैं। यह जो द्रव्यके अनुभवका अन्तःकरणमें सामर्थ्य है, उस सामर्थ्यके साथ 'मैं' का

जुड़ना इसका नाम जन्म है। और उस सामर्थ्यके साथ जो 'मैं' जुड़ा है उसका छूट जाना, उसका नाम मुक्ति होगा।

यह जो जीवके साथ आशंय लगा हुआ है—मैंने यह काम किया, मैंने यह भोग किया, मैंने यह बात कही—ये हमारे अन्तःकरणमें इकट्ठा होता रहता है और यह आशय सब प्राणियोंके हृदयमें होता है। शरीर तो होते हैं सबके अलग-अलग और अन्तःकरण भी होते हैं सबके अलग-अलग। संस्कार भी होते हैं सबके अलग-अलग और उनमें जो अभिमान करनेवाली चेतना है, वह भी होती है अलग-अलग। लेकिन परमात्मा ऐसा है—

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।

भूत अलग-अलग—आशय अलग-अलग, लेकिन उनमें जो तत्त्व है वह सबमें एक है। यह है परमात्माका पता। जबतक अलगाव मालूम पड़े कि मैं तू अलग, वहाँतक तो हम विशेषणको देखते हैं। जिसके जीवनमें अलगाव जितना कम है—परिवारका अलगाव है, शरीरका अलगाव है, जाँत-पाँतका अलगाव, धर्मका, मज़हबका, अचार्यका अलगाव—वह उतना महान् होता है। ये जितना-जितना अलगाव जिसके मनमें ज्यादा है—वह संसारमें उतना फँसा हुआ है। और जिसके चित्तमें अलगाव जितना कम है वह उतना मुक्त है, उसको दुःख भी उतना ही कम होगा। आओ परमात्माको ढूँढ़ें—कहाँ है?

सब शरीरमें एक आशय है, अन्तःकरण है। शरीर अलग, अन्तःकरण अलग, संस्कार अलग और उसमें चेतना अलग और उनमें परमात्मा एक। घड़ा अलग—काले-गोरे घड़े अलग, उनकी बनावट छोटे-बडे अलग और उनमें शराब और गङ्गाजल अलग और उनका चलना-फिरना, उठना-डोलना अलग, उनमें चन्द्रमाकी ज्योति अलग, उनमें सूर्यकी ज्योति अलग, परन्तु सबमें एक चीज क्या है? जो आकाश है वह सभी घड़ोंमें एक है। इसी प्रकार जो चिदाकाश परमात्मा है, वह सबमें एक होता है। जबतक उस एक को नहीं पहचानेंगे तबतक न अज्ञानकी निवृत्ति होगी और न दुःखकी निवृत्ति होगी। अब प्रश्न होगा कि हमारे शरीरमें तुम क्या हो?

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।

इसमें भी आप देखो, एक चेतनाका वर्णन है और एक परमात्माका। 'भूतानामस्मि चेतना' (10.22) भूतोंमें जो चेतना है वह मैं हूँ। एक ओर बुद्धि पैदा होती है वह दूसरी चीज है। उसी परमात्माको लखानेके लिए यह विभूतिका वर्णन है। हमलोग संस्कृतके शब्दोंसे ही थोड़ा खेल लेते हैं। हमने ताश तो कभी छुई ही नहीं—हम गाँवके रहने वाले, वहाँ जिसके पास ताशके पत्ते हों उनको बड़े आदमी समझते थे। हम लोगोंका खिलौना शब्द है। हम उसके साथ खेलते हैं। भगवान्ने अपने लिए कहा—'अहम्'—अच्छा, आप हैं, ठीक है। पर कहाँ रहते हैं? 'सर्वभूताशयस्थितः' सबमें मैं हूँ—सबमें आप कौन हैं? आत्मा हैं। आत्मा माने उसकी जो स्वयंता है। वह जो खुद है। आत्मा माने स्वयं—खुद—जो वह है, वही है वह। 'अहमात्मा गुणाकेश : सर्वभूताशयस्थितः।' एक है, आत्म-अनात्म-विवेक है, वे विवेकी हैं। यदि जो लोग जिज्ञासापूर्वक श्रद्धासे, एकाग्र मनसे आत्माका

विचार करते हैं, मनमें जाननेकी इच्छा न हो तो ऊपर-ऊपरसे पढ़ सुनकर निकल जावेंगे। गम्भीरतामें प्रवेश नहीं करेंगे।

यह हमलोगोंका आत्मा क्या है? देखो हड्डी, मांस, चामका बना हुआ शरीर, मिट्टी, पानी, आग, हवा, आसमान—इसमें धातु जो है—क्या इसका नाम आत्मा है? इसका नाम आत्मा नहीं है। विवेक करके गम्भीरतासे जब चिन्तन करो तब अपने आपको देख सकोगे। हाथ उठाते हैं, हाथ उठता है, गिरता है। उठानेकी शक्ति क्या है? यह हाथ ही उठानेकी शक्ति है क्या? हाथमें उठानेकी शक्ति है जो पक्षाघात होनेपर नहीं रहती है और वह प्राणशक्ति जो है—क्रियाशक्ति जो है—वह क्या है? वह मिट्टी, पानी आगका बना हाथ है और इसमें जो शक्ति है, वह प्राण है। और इसको उठाने और गिरानेकी जो इच्छा है वह मन है और उठाने, गिरानेका जो अभिमान है, उसको बोलते हैं 'अहंकार'। उसमें जो सुख है उसको बोलते हैं—'आनन्दमय कोश'। यो पाँचों चीजें आती और जाती रहती हैं और अपना आत्मा साक्षीके रूपमें रहता है, इनके बदलनेसे बदलता नहीं है। यदि कोई अपनेको मिट्टीका ढेला ही मान ले तब भी उसको विचार करना चाहिए कि यह मिट्टीका ढेला एक बूँद पानीमें-से निकला।

पॉल ब्रन्टन उड़ियाबाबाके पास आया था। सन्तोंकी खोज करने आया था। बोला—बाबा, हमको कोई चमत्कर दिखाओ। वह चमत्कार ही ढूँढ़ता फिरता था। रमण महर्षिका पास गया। विशुद्धानन्दजीके पास गया। जगह-जगह जाता था, चमत्कार दिखाओ। उड़ियाबाबाने उससे कहा—देखो भाई, हमारे बापके शरीरमें एक बूँद पानी था। वह माँके शरीरमें आकर एक बच्चा बन गया। वह बच्चा छोटा-सा बाहर निकला और यह लम्बा-चौड़ा हो गया। यह चलता है, फिरता है, सोचता है, विचारता है, प्रेम करता है। कितनी वृत्तियाँ इसमें आगयीं? एक बूँद पानीसे ऐसी वस्तुका बन जाना—यह यदि तुम्हें चमत्कार नहीं मालूम पड़ता तो तुम्हें और क्या चमत्कार दिखावें। यह तो अद्भुत साक्षात् अपरोक्ष संस्कार है। चमत्कार है!

आओ बाबा, यह अपना आत्मा क्या है, इस शरीरमें, यह ढूँढ़ें। जो इस शरीरमें अपनी आत्माको ढूँढ़ लेता है वह विश्वका रहस्य, सृष्टिका रहस्य वहीं प्राप्त कर लेता है। जो अपने आपको ही नहीं जानता है, वह दूसरेका रहस्य क्या जानेगा? आपके हाथमें एक दूरबीन है, एक खुर्दबीन है। लेकिन आपको यह मालूम नहीं है कि यह खुर्दबीन किसी वस्तुको कितना गुना कम करके दिखाती है यह दूरबीन किसी चीजको कितना बड़ा करके दिखाती है। जब यह मालूम नहीं है तब आप उससे जब देखेंगे तो आपके मनमें गलत धारणा बनेगी। छोटी चीजको बड़ी मान लेंगे। बड़ी चीजको छोटी मान लेंगे। आपकी आँख ठीक है कि नहीं? वह खुर्दबीन ठीक है कि नहीं? आप सावधान होकर देख रहे हैं कि नहीं? यदि अपने बारेमें आपको मालूम नहीं है तो दूसरेके बारेमें जितनी धारणाएँ बनेंगी उनके गलत होनेकी सम्भावना तो बनी ही रहेगी।

भगवान्ने कहा आओ पहले देखो—अपने अन्दर देखो—मैं क्या हूँ? गीताके सातवें अध्यायमें पहले भूतप्रकृतिका वर्णन अलग है और परा प्रकृतिका वर्णन अलग है। जैसे तेरहवें अध्यायमें क्षेत्रका वर्णन अलग है और क्षेत्रज्ञका वर्णन अलग है। यहाँ आत्मा शब्दका अर्थ है पराप्रकृति । क्षेत्र तो है भूत। भूत जोहै वह क्षेत्र है।

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनोबुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।। 7.4

यह वह खेत है जिसमें हम पाप-पुण्यका बीज बोते हैं और उनके द्वारा सुख-दुःखका फल प्राप्त करते हैं। यह शरीर ही खेत है और क्षेत्रज्ञ माने किसान—यह जीवात्मा है, जो अपने खेतको पहचानता है—यह मेरा खेत है। पाप-पुण्यकी मनुष्य खेती करता है। पाप माने—जिससे रक्षा न हो सके। पा धातु रक्षाके अर्थमें होती है और प प्रत्यय होता है—उसका अर्थ होता है जिसमें रक्षा नहीं है। यदि पाप करोगे तो आज नहीं कल, कल नहीं परसों—तुम्हारी रक्षा कोई नहीं कर सकेगा और उसका फल भोगना पड़ेगा। और पुण्य उसको कहते हैं जो अपने हृदयको पवित्र कर दे—'पुनाति यः' जो हमारे हृदयको निर्मल बनावे, उज्ज्वल बनावे, प्रसन्न कर दे। उसका नाम है—पुण्य।

किसीने महात्माजीसे पूछा, महात्माजी ईश्वर हमारे ऊपर प्रसन्न है कि नहीं। कैसे मालूम पड़े? बोले—बेटा, तुम अपने ऊपर प्रसन्न हो कि नहीं? अपने कर्मसे तुम प्रसन्न हो? अपने भोगसे तुम प्रसन्न हो? अपनी भावनाओंसे तुम प्रसन्न हो? अपनी स्थितिसे तुम प्रसन्न हो? ना बाबा; ऐसा तो नहीं है। तुम स्वयं अपने ऊपर प्रसन्न नहीं हो तो ईश्वर तुम्हारे ऊपर प्रसन्न कैसे होगा? तुम्हें स्वयंको ही अपने जीवनसे संतोष नहीं है तो ईश्वर हमारे ऊपर संतुष्ट है, ऐसा सोचनेका तो कोई कारण ही नहीं है। क्योंकि ईश्वरसे अपने लिए कोई कुटिया बनायी नहीं, कोई महल बनाया नहीं। 'सर्वभूताशयस्थितः'। एक माँ है—बम्बईमें उनके सात बेटे हैं। वह एक महीना एक बेटेके घरमें—दूसरे महीने दूसरे बेटेके घरमें—अपना घर बदलती रहती है। ईश्वरको घर बदलना तो नहीं पड़ता, पर अपना घर अलग बनाना नहीं पड़ता। वह तुम्हारे घरमें ही रहकर अपनी गुजर कर लेता है।

'सर्वभूताशयस्थितः'। 'स्वे महिम्ने प्रतिष्ठितः'।

परमात्मा किसी दूसरे घरमें नहीं रहता। सब उसीमें रहते हैं। अपनी महिमामें वह प्रतिष्ठित है। अपने स्वरूपमें स्थित है। आपके हृदयमें ही परमात्मा रहता है। यही है उसका घर। नया घर बनाकर परमात्मा नहीं रहता। यदि आप अपने ऊपर प्रसन्न हैं तो आपके घरमें रहनेवाला, आपके हृदयमें रहनेवाला परमात्मा भी आपके ऊपर प्रसन्न है। यह जो परा प्रकृति है उसको कह दिया 'आत्मा' और अपरा प्रकृतिको कह दिया—'भूताशयस्थितः'। और परमात्मा जो स्वयं है उसके लिए आया 'अहम्' शब्द। भगवान् अपने लिए बार-बार 'अहम्' शब्दका प्रयोग करते हैं। 'अहम्' माने परमात्मा होता है। 'अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्'। मन्त्रोऽहमहमेवाज्यम् (9.16)। अहंकी झड़ी लगा दी। एकने गीतामें अनुसन्धान करके देखा । सर्वापेक्षा 'अस्मत्' शब्दका प्रयोग गीतामें ज्यादा मिलता है। अहम् मम मया—ये सब अपने आपके वाचक शब्द हैं। उनका प्रयोग गीतामें सर्वापेक्षा अधिक है। परमात्माने कहा अहम्, अहम्, अहम्।

एक महात्मासे किसीने पूछा कि परमात्मा क्या है? तो बोले कि देखो जब दाल पकती है तो उसमें खुदर-बुदर, खुदर-बुदर आवाज निकलती है। तो खुदर-बुदर आवाज तो अलग-अलग होती है लेकिन पानी

एक ही रहता है। इसी प्रकार ये सबके हृदयकी बटलोईमें जो 'अहम्-अहम्-अहम्' ये खुदर-बुदर हो रहा है। देखनेमें तो बिलकुल अलग-अलग हैं, लेकिन परमात्मा सबके अन्दर एक ही है। 'अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्। मन्त्रोऽहमहमेवाज्यम्। इस तरहसे सारी गीतामें भगवान्ने अस्मत्—शब्दका प्रयोग ज्यादा किया। 'अहम्' है परमात्मा और 'आत्मा' है परा प्रकृति। और दोनोंका यहाँ सामानाधिकरण्य है। माने जिस विभक्तिका अहम् है, उसी विभक्तिका आत्मा है। इसका अर्थ यह हुआ कि दोनों एक हैं।

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।

अब आपको शब्दका खेल सुनाते हैं। 'अहम्' माने जिसका हनन कभी न हो—'अ' माने नहीं है और 'हं' माने हत्या। जिसकी हत्या कभी न हो सके, उसका नाम है 'अहम्'। आप या हम कोई भी अपनेको मार नहीं सकता है, आत्महत्या नहीं कर सकता। कभी दुनियामें कोई यह अनुभव नहीं कर सकता कि मैं मर गया, यह अनुभवके क्षेत्रमें है ही नहीं। इस बातको निश्चय कर लो, 'न हित्कश्चित् सन्दिग्धे अहं वा नाहं वेति' (भामती, अध्यासभाष्य) किसीको यह अनुभव कभी हो ही नहीं सकता कि मैं नहीं हूँ। मैं मर गया। यदि यह अनुभव किसीको हो कि मैं नहीं हूँ—मैं मर गया तो जिसको अनुभव हो रहा है वही मैं है और वही रह रहा है। वह तो कभी मिटा ही नहीं है। विचार करके देखलो तुम्हारी मृत्यु कभी नहीं होती है। वह घड़ा फूट जाना दूसरी बात है और घड़ेका अभाव होना यह दूसरी बात है। वह तो बिलकुल मिट्टी है। मिट्टीके रूपमें तो घड़ा हमेशा रहेगा ही रहेगा।

महात्मा गाँधी बनारस आये थे तो एकने भजन गाया—'अब हम कबहूँ न मरेंगे।' अरे बाबा। कभी मरोगे नहीं सो बात नहीं है। कभी मरे नहीं हो। यदि अबतक कभी मर गये होते तो आज तुम कैसे होते? मृत्युकी कल्पना बिलकुल झूठी है। न अभी मरकर उसका स्मरण कर सकते हैं और न मरनेका अनुभव कर सकते हैं और जब अनुभव नहीं कर सकते तो मरनेकी कल्पना बिल्कुल झूठी है। ये तो कपड़े उतारनेको और दूसरे पहननेको—जैसे बच्चे रोनेका कारण मान बैठते हैं वैसे ही इस सृष्टिमें है। और 'अहम्' न हन्यते इति अहम्, न हन्ति इति अहम्, न हीयते इति अहम्, न जहाति इति अहम्—'ओहाङ्गतौ'—न कहीं जाता है, न मरता है, न कभी बदलता है—यह तो ज्यों-का-त्यों—यह अहं है। हमारा अहम्—उपाधियाँ बदलती हैं—छाया बदलती है, प्रतिबिम्ब बदलता है।

कोई अनजान बच्चा है—उसने प्रातःकाल देखा कि हमारी छाया बड़ी लम्बी है, तो बोला कि मैं बढ़ गया, लम्बा हो गया। और दोपहरमें जब छाया छोटी हो गयी, तब उसने कहा—हाय-हाय! मैं तो छोटा हो गया। अब परछाईं छोटी-बड़ी होनेसे जैसे मनुष्य छोटा, बड़ा नहीं होता, इसी प्रकार यह जो हमारा शरीर है, अन्तःकरण है, इसके छोटे-बड़े होनेसे हम छोटे-बड़े नहीं होते। और असलमें यह है क्या? 'न जहाति', 'न हीयते'—'न जिहीते'। न कहीं जाता है, न किसीको छोड़ता है, न मरता है। योगवासिष्ठमें 'अहम्' शब्दकी व्याख्या ऐसे की गयी है—वर्णमाला 'अ' से शुरू होती है और 'ह' पर शेष होती है। अ से ह तक जितने भी अक्षर हैं उन अक्षरोंके द्वारा, वर्णोंके द्वारा अकारादि स्वरोंके द्वारा और ककारादि व्यञ्जनोंके द्वारा, जितने भी

शब्द बनते हैं, जितने भी वाक्य बनते हैं—और जितना भी उनका अर्थ होता है वह सब-का-सब 'अहम्' है। 'अ' और 'ह' से लेकर जो कुछ बोला गया, बोला जा रहा है—बोला जायगा, वह सब अहम् है।

'अहमात्मा'; तुम्हारे इस शरीरमें, अन्तःकरणमें, मैं ही आत्माके रूपमें विराजमान हूँ। आत्मा अर्थात् जो जाग्रत-अवस्थामें बाहरके विषयोंको देखता है। स्वप्नावस्थामें भीतर विषयोंको बना लेता है और सुषुप्तिके समय सबका उपसंहार करके अकेला होता है। जैसे एक बाबूजी हैं, वह ऑफिसमें जाकर काम करते हैं, उसकी जाग्रत्-अवस्था है। प्रयोगशालामें जाकर प्रयोग करते हैं—बड़ी भारी प्रयोगशाला है—स्वप्नावस्था। उसकी शक्तियों पर विचार करो, देखो, तुम्हारे मनमें क्या अद्भुत सामर्थ्य है। यह कोई झूठ-मूठकी चीज नहीं है। तुम्हारा मन नये-नये आदमी बना लेता है। वह नयी धरती बना लेता है। नया पानी, नयी हवा, नया सूर्य-चन्द्रमा गढ़ लेता है। यह तुम्हारा मन कितनी बड़ी सृष्टि रचता है।

यह जो स्वप्नमें नवीन-नवीन वस्तुओंके निर्माणकी शक्ति है, वह जाग्रतमें कहाँ चली जाती है? कभी आपने इसपर विचार किया? सपनेमें तो आपके मनमें इतनी ताकत है कि वह नयी-नयी चीज बनाकर देख सके, भोग सके। जाग्रत्-अवस्थामें वह शक्ति उतनी नहीं रहती है। सच भगवान्ने हमको दिखा दिया है—तुम्हारे मनमें इतनी शक्ति है —तुम जैसे स्वप्नकी सृष्टि बना सकते हो, वैसे जाग्रतमें भी तुम वैसी ही सृष्टि बना सकते हो। तुम्हारा सामर्थ्य कम नहीं है। समेटनेका सामर्थ्य है--सुषुप्ति अवस्थामें। जो तुम चाहो—दुनियाकी वस्तुओंको छोड़ दो। जैसे सुषुप्तिमें सो जाते हो, वैसे तुम संसारकी किसी वस्तुको छोड़ सकते हो, किसी वस्तुको बना सकते हो। ये जीवात्मामें जो निहित शक्तियाँ हैं—उनका प्रदर्शन भगवान्ने हमारे सामने एक नुमाइश करके रख दी। रोज-रोज देख लो और अपनेको ठीक-ठीक ढंगसे सञ्चालित करो। आफिस जाग्रत्-अवस्था, प्रयोगशाला स्वप्नावस्था और विश्राम-कक्ष है सुषुप्ति-अवस्था। विश्रामकी भी सबको आवश्यकता होती है। परन्तु उसमें उपसंहारका सामर्थ्य किन्हीं लोगोंमें ही देखा जाता है। यह स्थिति, जाग्रत्-अवस्थामें, सृष्टि, स्वप्नावस्थामें और प्रलय, सुषुप्ति-अवस्थामें जो हमको दिखायी पड़ते हैं—ये सब क्या हैं? हमारे अन्दर यह सामर्थ्य है। यह कहाँसे आया? इसके अन्तर्हित होनेका कारण है—परमात्मा अलग हो गया और जीवात्मा अलग हो गया। शक्तिका लोप हो गया। परमात्मा और आत्मा एक हो गया तो सारी शक्तियाँ अपने काबूमें आगयीं।

'अहमात्मा गुडाकेश'—आत्मा माने जाग्रत्-अवस्थामें काम करनेवाला। हाथ काम नहीं करता, हाथमें आरूढ़ चेतन काम करता है। बुद्धि भी काम नहीं करती, बुद्धिमें आरूढ़ चेतन काम करता है। तत्त्वज्ञान भी अज्ञानको नहीं मिटाता है। यह जो हमारे जीवनमें सबकुछ हो रहा है, उसपर जरा ध्यान दें। उसीको बोलते हैं 'अत्ति इति आत्मा'। जो भोग करता है, उसे बोलते हैं आत्मा। 'अतति व्याप्नोति'—इसका नाम है आत्मा। 'आदत्ते इति आत्मा'—जो पुण्य-पापको ग्रहण कर लेता है उसका नाम आत्मा। जो सुख-दुःखका भोग करता है, उसका नाम आत्मा। जो तीनों अवस्थाओंमें चलता है, उसका नाम आत्मा और जो कभी नहीं थकता उसका नाम आत्मा। 'न ताम्यति इति आत्मा'—यह कभी थकानका नाम नहीं लेता। घर बदल-बदलकर कुछ-न-

कुछ समेटता रहता है। कुछ-न -कुछ फैलाता रहता है। कुछ-न-कुछ करता रहता है। थकान नामकी वस्तु आत्मामें नहीं है। इसलिए इसको बोलते हैं आत्मा। दर्शन पढ़ो, विज्ञान पढ़ो, इतिहास-पुराण पढ़ो, काव्य पढ़ो, कहानी पढ़ो कभी थकनेका नाम नहीं है। यह सोते समय भी टुकुर-टुकुर देखता रहता है।

यह जो तुम्हारे भीतर बैठा हुआ द्रष्टा है-सुषुप्तिका भी द्रष्टा है-यह कौन है? तो भगवान्‌ने बताया अहमात्मा। तुम और मैं ये दो चीज नहीं हैं। बिलकुल एक हैं। 'अहमात्मा' महावाक्य हो गया। 'अहमात्मा' 'अयमात्मा ब्रह्म।' 'अहं ब्रह्मास्मि।' यहाँ अहं माने ब्रह्म और आत्मा माने पराप्रकृति -अक्षर पुरुष। ये सब एक हैं। परमात्माके योगका वर्णन है। सबके हृदयमें परमात्मा हमसे जुड़कर, मिलकर रहता है। हम जब उसको अलग मान बैठते हैं, तब हमारी वे शक्तियाँ, वह ज्ञान और वह आनन्द सारा-का-सारा पीछे पड़ जाता है। हम व्यवहारमें जो भी काम करें, उसको पकड़कर करें। उसके साथ मिलकर काम करें। हमारा मददगार कौन है? सारथि कौन है? यही अहं जीवनका सारथि है।

जो अपने ज्ञानसे, अपनी शक्तिसे, अपनी सत्तासे, अपने आनन्दसे सर्वदा हमारे इस जीवनको अनुप्राणित करता रहता है, उस परमात्माके साथ हमारा योग हो जाता है तब फिर क्या पूछना? किसके लिए रोयेंगे? किसके लिए दुःखी होगे? किसके लिए शोक करेंगे? क्या खो जायगा? क्या मिल जायगा? कहाँ योग होगा और कहाँसे योग होगा? यह जो जीवन है, मरण है, गमनागमन हैं और स्वर्ग-नरक हैं और पाप-पुण्य हैं-उस परमात्माकी शक्तिसे मिलते ही ये सारे-के-सारे समाप्त हो जाते हैं और यदि देहसे मिले रहोगे तो जन्म हुआ ही है। जिसका जन्म होता है, उसकी मृत्यु भी होती है। जो आया है वह जायगा भी। जो ऊपर उड़ेगा वह नीचे गिरेगा भी। यह संसारका नियम है। इससे छूटनेका एक ही उपाय है। हम अपने आपका परमात्माके साथ जो योग है, उस योगको समझें और परमात्माके योगको समझ लेनेके बाद ये संसारके जितने विकार हैं, वे छूट जाते हैं।

अब देखो एक नयी बात आती है, वह यह कि-यह भूत क्या है? यह क्षेत्र क्या है? यह अपरा प्रकृति क्या है? असलमें परमात्मासे अलग ये सब भी कुछ हैं क्या? ये श्रीकृष्णका तत्त्वज्ञान यहाँतक कि उनको जब हम युद्धभूमिमें देखते हुए, युद्धभूमिसे पलायन करते हुए, उनको चोर-चोर लोग पुकार रहे हैं, वह भी देखते हैं-उनको छैल-चिकनिया कह रहे हैं-वह भी देखते हैं। उनको वीर-बहादुर कह रहे हैं, वह भी देखते हैं, उनको छली-कपटी कह रहे हैं, वह भी देखते हैं। श्रीकृष्णके जीवनमें यह निर्द्वन्द्वता कहाँसे आयी? क्योंकि सर्वात्म-बोध जो है, वह उनके अन्दर प्रतिष्ठित है। कोई भी सृष्टि, स्थिति, प्रलय कोई भी गति-अगति ऐसी नहीं है, जो श्रीकृष्णका स्वरूप न हो। 'अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च।' बताते हैं-सब मैं ही हूँ। केवल आत्मा ही हूँ सबके हृदयमें-ऐसा नहीं। बल्कि जो कुछ दिखायी पड़ रहा है, आदि, मध्य, अन्त-ये सब मैं ही हूँ।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

●

प्रवचन : 6

(5-11-81)

अर्जुनने प्रश्न किया—

कथं विद्यामहं योगिन्। 10.17

मैं आपकी कैसे जानूँ? भगवान्ने उत्तर दिया—

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च।। 10.20

पहले सबसे पास जो मैं हूँ तुम्हारे 'अपना आत्मा' उसके रूपमें मुझे जानो। और—

केषु-केषु च भावेषु चिन्त्योसि भगवन्मया। 10.17

उसका उत्तर है—

अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च। 10.20

'आदि मध्य अन्त राम साहिबी तुम्हारी' तुलसीदासजी-ने कहा है। 'कथं विद्यामहम्'का उत्तर है—'अहमात्मा गुडाकेश' और 'केषु केषु च भावेषु चिन्त्योषु भगवन्मया'—इसका उत्तर है—'अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च'। भगवान्की बात कभी टेढ़ी होती है, कभी सीधी होती है। भगवान् खुद भी टेढ़े हैं और सीधे भी हैं। श्रीकृष्ण भगवान् जरा टेढ़े-मेढ़े हैं। पाँव टेढ़ा, कमर टेढ़ी, ठुड्ढी टेढ़ी, आँख टेढ़ी। रामचन्द्र भगवान् सीधे-सीधे हैं।

चिन्तन कहाँ करना? भगवान्का दर्शन कहाँ करना? कैसे करना? 'कथं विद्यामहं योगिन्'। बोले—'सर्वभूताशयस्थितः'। 'सर्वेषां भूतानां आशयेषु परिवर्तमानेषु स्थितः अचलः आत्मा अहम्'। सम्पूर्ण प्राणियोंकी जो अन्तःकरण-वृत्ति है, आशय है, चित्तवृत्ति है, उसमें परिवर्तन होता रहता है। ऐसा किसीका मन नहीं होता, जो बदलता न हो। 'भूताशयेषु परिवर्तमानेषु'। मन बदलता रहता है लेकिन मैं एक ही रहता है। बचपनका मन बदल गया। जवानीका मन बदल गया। बुढ़ापेका मन बदल गया। कितनी स्मृतियाँ आयीं, कितने संस्कार आये। इसमें बहुत बखेड़ा है। भगवान्ने तो अपना ऑपरेशन ही कर दिया। आशयको निकालकर फेंक दिया। जैसे आजकल स्त्रियाँ गर्भाशय निकाल देती हैं, वैसे भगवान्ने अपने अन्दर आशय रखा ही नहीं—अद्भुत है!

जो लोग भगवान्के बारेमें कम सोचते-विचारते हैं—उनको शायद यह बात मालूम नहीं होगी—भगवान्को किसीकी स्मृति नहीं होती। स्मृति नामक वस्तु भगवान्में है ही नहीं। लोग तो नाराज हो जायेंगे। भगवान्को हमारी याद नहीं आयेगी? अरे भाई, याद उसको आती है जिसको वस्तु परोक्ष होती है। कलकी देखी आज याद आयेगी। वहाँ देखी यहाँ याद आयेगी। वह देखी यह याद आयेगी। अब भगवान्के लिए तो देश-कालका कोई भेद नहीं है। इसलिए उनको परोक्ष नहीं होता। और परोक्ष नहीं होता तो अपरोक्ष ही रहता है। तुम्हारे लिए जो भूत, वर्तमान और भविष्यका भेद है, वह तो भगवान्में है नहीं। जो सब देख रहा है, उसको

स्मरण करनेकी क्या आवश्यकता? इसीसे क्लेश, कर्मविपाक और आशय ये तीनों भगवान्‌में नहीं होते। यह बात योगदर्शनके प्रारम्भमें ही कही हुई है—

'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः'। (१.२४)

तो भगवान्‌में तो अपनेमें आशय रखा नहीं और जीवोंके साथ लग गया यह आशय। देखो जो बड़े लोग होते हैं वे अपने पास न नोट रखते हैं, न चाभी रखते हैं। सब मुनीमके पास होता है। भगवान्‌ने अपने खजानेकी चाभी अपने पास नहीं रखी। वह तो महात्माओंको दे दी। जब जरूरत हो तब खोल लेना, देख लेना। रजिस्टर भी महात्माओंके पास ही रहता है। एक चीज अपने पास नहीं रखी। अपने पास पैसा वे लोग रखते हैं जो जहाँ जा रहे हैं वहाँ यदि पैसा मिलनेकी सम्भावना न हो तो लेकर जाते हैं। जिनको सब जगह पलङ्ग मिल जाये, सब जगह बिस्तर मिल जाये, सब जगह खाने-पीनेको मिल जाय, नौकर-चाकर मिल जायें तो साथ क्यों रखें? हवाई जहाजमें जाते हैं तो लेकर थोड़े ही जाते हैं।

परमात्मा तो सब जगह है न! उनको न भूतकी स्मृति रखनी पड़ती है, न भविष्यकी कल्पना रखनी पड़ती है, न वर्तमानमें कोई चीज अपनी करके रखनी पड़ती—वह तो हैं बिलकुल ठन-ठनपाल-खाली। और यह जो जीवोंका आशय है—उसमें जीव पीछेकी लेकर भी आते हैं और आगेकी कल्पना भी रखते हैं और वर्तमानमें भी मैं, मेरा रखते हैं। इसीका नाम होता है आशय। यह बदलता है। कलकी स्मृति सम्भव है पचास वर्ष बाद आवे, और पचास वर्ष पहलेकी स्मृति आज आजावे। स्मृतियाँ बदलती रहती हैं। कल्पनाएँ बदलती रहती हैं। मैं-मेरा बदलते रहते हैं। पर इसमें एक अचल है, कूटस्थ है। उसको बोलते हैं—'प्रत्यगात्मा'।

परमात्माका चिन्तन करना हो तो बदलते हुए देशको देखनेवाला, बदलते हुए कालको देखनेवाला, बदलती हुई वस्तुओंको देखनेवाला, अन्तःकरणकी वृत्तियोंको बदलते हुए देखनेवाला, जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्तिको बदलते हुए देखनेवाला—जो स्थित आत्मा है, शास्त्रकी दृष्टिसे इसका नाम होगा कूटस्थ आत्मा-प्रत्यगात्मा-अपना आत्मा। यह कौन है? भगवान्‌ने कहा—मैं हूँ। यदि तुम्हें मेरा चिन्तन करना हो, मुझे जानना हो, तो अपनेको जानो। यहाँ बड़े-बड़े महात्मा प्रवचन करने आते होंगे—कभी रङ्गनाथानन्द आते होंगे। कभी चिन्मयानन्द आते होंगे। कभी जे. कृष्णमूर्ति भी आते होंगे—नेति-नेति करनेवाले। हम उस ढङ्गका गीताका अर्थ आपको नहीं सुनावेंगे जो आगे कट जायेगा।

इसलिए आओ सर्वभूत, सब प्राणी, सबका अलग-अलग अन्तःकरण—और बदलता हुआ—कभी काम आता है, कभी क्रोध आता है, कभी लोभ आता है, कभी मोह आता है, कभी शान्ति आती है, कभी प्रेम आता है, कभी परोपकारकी वृत्ति आती है। कभी निष्ठुरता आती है; कभी कोमलता आती है। सबके हृदयकी यह स्थिति है। उसमें एक चिर स्थित है, वह रहता ही है। चेतन है कि जड़ है? बोले आत्मा है। आत्मा है माने साक्षी है। द्रष्टा है—सबको देखता रहता है। भगवान् बोले कि वह मैं ही हूँ। 'अहमात्मा गुडाकेश।' एक महात्मासे किसीने पूछा कि परमात्मा कैसा है? महात्माने पूछा—तुम कैसे हो? सो तो नहीं मालूम है महाराज!

अरे भलेमानुष, साढ़े तीन हाथके शरीरमें तुम—अपनेको तो जानते नहीं तो सम्पूर्ण विश्वमें रहनेवाले परमात्माको तुम कैसे जान सकते हो?

कितनी मूर्तियाँ गढ़ी जाती हैं और कितनी तोड़ी जाती हैं। परन्तु वह जो निहाय है वह ज्यों-का-त्यों रहता है। यह हमारे अन्त:करणमें कितने अबतक आये और कितने गये। एक दिन एक चेलेपर गुरुजी नाराज हुए। चेलेको भी जोश आगया। उसने कहा जाओ-जाओ—तुम्हारे जैसे सैकड़ों गुरु बनाकर मैंने छोड़ दिये। इसीको बोलते हैं 'कूट' यह जो हमारी मनोवृत्तियोंकी स्थिति है, यह बदलती रहती है। एक सरीखी नहीं रहती है। जो आज प्यारा है वह कल दुश्मन हो जाता है, जो दुश्मन है वह प्यारा हो जाता है। जो अच्छा लगता है, वह बुरा लगने लगता है। जो बुरा लगता था वह अच्छा लगने लग जाता है। पहले हमको खीर बहुत अच्छी लगती थी। जब बड़ा हुआ तो खीरसे ऐसी ग्लानि हो गयी कि देखकर बमन आवे। हमारे गाँवमें एक हलुवा-पूरी खानेवाले ब्राह्मण थे। बुढ़ापेमें यदि अनजानमें भी घीकी चीज उनकी थालीमें आजाय तो उनको बमन हो जाता था। यह मनोवृत्तियाँ बदलनेवाली हैं। इनमें अचल है अपना 'आत्मा'। यही है ज्यों-का-त्यों।

हमको बचपनमें एक महात्माने बताया था—देखो अनित्यमें परमात्माको जब तुम ढूँढ़ने जाओगे—अनित्य माने जो बदलता रहता है—आज है कल नहीं है। कल था आज नहीं है। वह तो बदल गया। उसमें परमात्माको मत ढूँढ़ो। परमात्माको उसमें ढूँढ़ो जो नित्य है। इदम्-इदम्-इदम्—'यह यह यह'—इस प्रकार बदलता रहता है और मैं बिलकुल एक रहता है। परमात्माको ढूँढ़ना हो तो 'यह'में मत ढूँढ़ो 'मैं'में ढूँढ़ो। नहीं तो, अयोध्यामें जाओगे तो वृन्दावनीको बदल देंगे। और वृन्दावनमें जाओगे तो अवधूको बदल देंगे। काशीमें जाओगे तो अवध, वृन्दावनको बदल देंगे। ऐसी नहीं बनेगा। जो एक 'मैं' है वहाँ परमात्माको ढूँढ़ो। वह वहाँ मिलेगा।

अनित्यमें परमात्माको मत ढूँढ़ो। अनित्यको कर दो बाहर। नित्य है अपना आत्मा। 'अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थित:। अयमात्मा ब्रह्म' (माण्डूक्य उप०)। श्रुति कहती है—यह आत्मा ब्रह्म है। 'अहं ब्रह्मास्मि' (वृहदा. 1.4.10) 'प्रज्ञानं ब्रह्म' (ऐत. उप. 3.4) श्रीकृष्ण बोलते हैं—'अहमात्मा' और वसिष्ठजी बोलते हैं—'तत्त्वमसि'। वसिष्ठजी जब रामचन्द्रको उपदेश देते हैं तब कहते हैं—'तत्त्वमसि' राम, तुम्हीं ब्रह्म हो। और श्रीकृष्ण जब अर्जुनसे बोलते हैं तो—मैं ही ब्रह्म हूँ।' दोनोंका अर्थ एक ही है। दोनों परमात्माकी दृष्टिसे ही अपनेको ब्रह्म कहते हैं, परमात्माको ढूँढ़ना कहाँ? 'अयमात्मा ब्रह्म'। अब दूसरी बात बोलते हैं—'केषु केषु च भावेषु चिन्त्योसि भगवन्मया' (10.17)। यह कोई कहानी, उपन्यास नहीं है।

सभी प्रामाणिक आचार्योंने गीताको प्रमाण माना है। शांकर-भाष्य है गीतापर, रामानुजका श्रीभाष्य है गीतापर, निम्बार्काचार्यजी तभा बल्लभाचार्यजीकी टीका भी है। मध्वाचार्यका आनन्द भाष्य है। गीतापर सभी आचार्य शैव-शाक्त, गाणपत्य, सौर, वैष्णव—सभी गीताका आदर करते हैं। गीताको कहानीकी तरह नहीं—मन एकाग्र करके थोड़ी गम्भीरतासे इसका श्रवण करना चाहिए। दुर्गापाठ है; वह केवल पाठ करनेके लिए है, श्रवणके लिए नहीं। और उपनिषदें श्रवण करनेके लिए हैं, पाठ करनेके लिए नहीं हैं और यह गीता जो है—यह

श्रवण करनेके लिए भी है और पाठ करनेके लिए भी है। पाठ करनेसे पुण्य होता है और श्रवण करनसे ज्ञान होता है। कान ज्ञानेन्द्रिय है और जीभ कर्मेन्द्रिय है। जिह्वासे कर्म होता है और कानसे ज्ञान होता है। गीता ज्ञान और कर्म दोनोंको मिलाकर कल्याण करनेवाली है। अद्भुत लीला है भगवान्‌की—

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः। 10.18

आप देखें—

अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च। 10.20

ये जितने भूत हैं, माने जो कुछ पैदा हुआ है, 'भवन्ति इति भूतानि' जो हुए हैं, हो रहे हैं और होंगे—उनका नाम है भूत। जो पहले हुए और गिर गये—अब हो रहे हैं और मिटते जा रहे हैं और आगे होंगे और मिट जायँगे, उनका नाम है—'भवन्ति इति भूतानि'। केवल 'भवन्ति' कह देनेसे काम नहीं चलता है, उसको सोचना पड़ता है। 'अस्ति' और 'भवति' में क्या अन्तर है? यद्यपि धातुका अर्थ एक ही है और फिर 'अस्ति' और 'भवति' में अन्तर होता है। यह कहते हैं कि जो कुछ हु आ है, और होगा—उसका आदि मैं—मध्य मैं—अन्त मैं, मानो सभी पदार्थोंके आदिमें, मध्यमें, अन्तमें, हमारा चिन्तन करो—

केष केषु च भावेषु चिन्त्योसि भगवन्मया। 10.17

किस-किस पदार्थमें आपका चिन्तन करें तो सभी पदार्थोंके आदिमें, मध्यमें, अन्तमें मेरा चिन्तन करो। ये भगवान् बताते हैं। अब एक ऐसी बात है कि भूतोंका तो आदि, मध्य, अन्त है परन्तु जो भगवान् बता रहे हैं कि 'अहमादिश्च मध्यं च भूतानामहमेव च', उस 'अहम्'का आदि, मध्य, अन्त है कि नहीं। बस, यहाँ विवेककी आवश्यकता होगी।

गीता सब लोग पढ़ेंगे पर इस बातपर ध्यान नहीं जायेगा। वह कहते हैं कि भूतोंका आदि; मध्य, अन्त तो होता है, पर आदि, मध्य, अन्त मैं हूँ। मेरा आदि, मध्य, अन्त नहीं है। यह उसमें-से ध्वनि निकलती है कि भगवान्‌की न आदि है, न मध्य है, न अन्त है। और सबके आदिमें, मध्यमें, अन्तमें, भगवान् ही हैं। हम घरसे निकलें तो भगवान्‌का स्मरण करके निकलें और बीचमें कहीं बैठें तो भगवान्‌का स्मरण कर लिया और फिर लौटकर जब घरमें आये तब भी भगवान्‌का स्मरण किया। आदि, मध्य, अन्तमें सर्वदा भगवान् हैं।

मङ्गलादीनि, मङ्गलमध्यानि, मङ्गलान्तानि शास्त्राणि प्रथन्ते। महाभाष्य 1.1.1

आदि, मध्य, अन्त सबमें भगवान् हैं। अब आपको थोड़ी-सी वेदान्तकी बात सुनाते हैं। जो अपनी आदिके पहले नहीं था और जो अपने अन्तके बादमें नहीं होगा उसकी स्थिति क्या है? अनन्तमें वह क्या चीज है? लोग पूछेंगे, यह सब सुननेसे क्या फायदा है? फायदा यह है कि आप कहीं बँधोगे नहीं। आदि, मध्य, अन्तवाले पदार्थोंमें आप फँस जाते हो, आसक्ति हो जाती है; पाशबद्ध हो जाते हैं, फँस जाना माने पाशबद्ध हो जाना। यह जो जीवनमें फँसावट है, यदि संसारके रहस्यको केवल एक बार—बार-बार विचार करनेकी जरूरत नहीं है—एक बार संसारको समझ लो तो कहीं भी फँसावट नहीं रहेगी। बिल्कुल निर्द्वन्द्व

व्यवहार करो। यह चीज छूट गयी। उसके लिए कभी रोना नहीं पड़ेगा। छूटनेवाली चीजके लिए रोना नहीं पड़ेगा—आनेवाली चीजके लिए ललकना नहीं पड़ेगा। व्याकुल न हीं होना पड़ेगा और वर्तमान वस्तुसे मोह नहीं होगा।

आओ सुनो आदि, मध्य, अन्तमें कौन है? अब सृष्टिका विचार हुआ तब कहा गया 'आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा' (माण्डूक्यकारिका 2.6)। जो आदि, मध्य, अन्तमें नहीं है वह वर्तमानमें भी नहीं है। एक कहानी वेदान्ती लोग कहते हैं—एक कुम्हार गधा लेकर माटी लानेको जाता था। रोज-रोज जाता। दोपहरको गधोंको बाँध दिया करता था और खुद माटी खोदता था—खाता था, पीता था—लौटते समय गधोंपर लादकर ले आता था। बीचमें गधोंको बाँध देता था और चलते समय गधोंको खोल देता था। अब बन्धनके पहले गधे खुले होते थे। और अन्तमें भी खुले होते थे। बन्धन तो बीचमें आता था। भाग न जायँ इसके लिए बाँध दिया और माटी लेकर घर चलना है, इसके लिए खोल दिया। एक दिन एक रस्सी कम होगयी। एक गधा खुला रह गया। अब वह कान पकड़कर विचारा खड़ा, क्योंकि गधेके बारेमें आपको मालूम होगा कि वह एक बार जब घास चरने जंगलमें जाता है तो लौटकर स्वयं अपने मालिकके घरमें नहीं आता। उसको लाना ही पड़ता है—डण्डा मारकर, कान पकड़कर लाना पड़ता है, खदेड़कर लाना पड़ता है तब वह आता है।

एक गधेकी रस्सी नहीं—कैसे बाँधे? फिक्रमें पड़ा था; इतनेमें कोई सज्जन आगये। उन्होंने कहा भाई उसे जहाँ रोज बाँधते हो वहाँ ले जाकर झूठ-मूठ हाथसे बाँध दे। बाँध दिया, गधा खड़ा हो गया। उसको तो यह लगा कि हम बँध गये। उसने खाया, पीया—मिट्टी लाद दी—चलनेके लिए और सब गधोंको खोल दिया—उसकी नहीं खोली। उसको डण्डा मारे कि चल, तो चले नहीं। वहीं-का-वहीं बँधा समझे। फिर वह सज्जन मिले। उन्होंने कहा—जैसे झूठमूठ बाँधा है, वैसे झूठमूठ खोल दे। जाकर हाथ अपना घुमाया और खोल दिया। फिर चलने लगा। देखो बन्धन उसके पाँवमें पहले भी नहीं था और बीचमें भी नहीं था और बादमें भी नहीं था, लेकिन गधेके मनमें जो भ्रम हो गया कि मैं बँधा हुआ हूँ—उसीसे वह बन्धनमें है।

यह जो सृष्टिका, संसारका बन्धन है यह बन्धनकी उत्पत्तिके पहले नहीं था और बन्धनके बाद नहीं है। यह तो बीचमें है। अब हम अपने लोगोंको क्या बोलें? ईश्वरके घरसे आये, ईश्वरके भेजे हुए आये और लौटनेकी तो सुध है नहीं। आप लोग दृष्टान्तको अपने ऊपर मत घटावें। लेकिन ऐसा लगता है कि जबतक कान पकड़कर कोई ले न जाय, जबतक कोई डण्डा न मारे, जबतक कोई खदेड़े नहीं, इस जंगलमें भटकते रहते हैं। दुनियाँमें जब कोई खदेड़ता है, डण्डा मारता है, कान पकड़कर ले जाता है, सभी लोग ईश्वरकी ओर चलना चाहते हैं। यह जो सृष्टिका आदि, मध्य, अन्त है, यह कहाँ है? अद्भुत है। कोई सातवें आसमानमें कोई रस्सी होगी और उससे हम लोग बँधे होंगे! अच्छा; रस्सी सातवें आसमानमें नहीं होगी तो नीचे कहीं होगी? अगाड़ी-पिछाड़ी कुछ लगी होगी।

हम एकबार स्वामी ब्रह्मप्रकाशजी महाराजके यहाँ गये—उत्तरकाशीमें—एक महीना रहे—जब मैंने कहा

कि अब लौट जानेका मन है तो बोले—क्यों लौटते हो? स्वामी तपोवनजीने कहा—तुम क्यों लौटकर जाते हो? अब यहीं रहो। वे लोग माण्डूक्यका प्रवचन सुनते थे। स्वामी तपोवनजी, ब्रह्मप्रकाशजी, देवीगिरीजी सबलोग इकट्ठे होते थे। वे बोले—देखो भाई, पीछे कुछ छोड़कर आये हो, तब तो लौटना ही पड़ेगा; क्योंकि घोड़ेको बाँधते हैं तो एक रस्सी आगे लगती है और एक उसके पिछले पाँवमें बँधी रहती है। तो अगलीको तोड़ भी दे लेकिन पिछलीको नहीं तोड़ पाता है। यदि तुम्हारी पिछाड़ी लगी हुई हो तब तो लौट जाओ और नहीं तो यहाँसे जानेका क्या काम है? देखो, आनन्दसे सत्संग करते हैं!

हम जो बँधे हैं—कहाँ बँधे हुए हैं? ऊपरसे कि नीचेसे—रस्सी तो कहीं दिखती नहीं—अगलसे, बगलसे-इस सृष्टिमें जो बन्धन है वह कहाँसे हैं? ये केवल मानसिक बन्धन हैं। नहीं तो हिन्दूको कब किसने कहा था कि तुम मनुष्य नहीं हो, मुसलमानको कब किसने कहा था कि तुम मनुष्य नहीं हो। मनुष्य रहते हुए ही वह अपनी मनुष्यताको भूलकर हिन्दू, मुसलमान बन गया। मनुष्यता रहते हुए ही शैव और शाक्त बन गया। मनुष्यता रहते हुए ही शिया, सुन्नी बन गया। और मनुष्यता रहते हुए ही कैथोलिक और प्रोस्टेटंट बन गया। किसने मनुष्यको यह सब बनाया था?

यही भ्रम उत्पन्न हो गया—कैसे ? जैसे गधेको बन्धनका भ्रम पैदा होता है, वैसा ही यह बन्धन है। हम ब्राह्मण और तू अन्त्यज, दोनों मनुष्य हैं। मनुष्यताके रहते ही एकमें अन्त्यजपनेका बन्धन हो गया। एकमें ब्राह्मणपनेका बन्धन हो गया। मनुष्यता कहाँ चली गयी? एक ब्राह्मणको मनुष्य होनेके लिए क्या करना पड़ेगा? कौन-सा साधन? छूने-न-छूनेकी बात जुदा है—जब मासिक धर्म होता था तब अपनी माँको नहीं छूते थे। अपनी बहनको, अपनी पत्नीको, नहीं छूते थे। तो क्या हम उससे घृणा करते थे? घृणा नहीं करते थे। जैसे गधेका बन्धन पहले नहीं था बादमें झूठमूठ उसके मनमें बैठा दिया गया। और जैसे बन्धन नहीं था, खोल दिया गया। इसी प्रकार हम लोगोंने अपने मनमें, सुनके-सुनाके, बोलके अपने जीवनमें बन्धन समेटकर रख लिया है।

देखो सृष्टिके आदि, मध्य, अन्तमें कौन है? एक आठ वर्षका बालक अध्यात्म-रामायण सुननेके लिए रोज आता था। पूरा अध्यात्म-रामायण सुनाया और वह आकर पूरे समय बैठता था। एक दिन उसने पूछा—स्वामीजी, आप बीचमें बोलते थे तत्त्वज्ञान, ब्रह्मज्ञान—यह सब क्या होता है? आठ वर्षकी उम्र है। मैंने कहा—देख घड़ेमें जो माटी रहती है न, उसको तत्त्व बोलते हैं, माटी तत्त्व है और उसमें घड़ा गढ़ा हुआ है। समझ गये? हाँ समझ गया। अच्छा घड़ा जिसमें गढ़ा हुआ है उसका नाम माटी है और माटी जिसमें गढ़ी हुई है, उसका नाम ब्रह्म है, समझ गये? बोला—हाँ, समझ गया। माटीको समझना तत्त्वज्ञान है और माटी जिसमें गढ़ी हुई है, उसको समझना ब्रह्मज्ञान है। संतोष हो गया उसको। ये जो आदि, मध्य, अन्त दिखायी पड़ता है, यह किसमें गढ़ा हुआ है? यह मत समझना कि यह बन्धन पूरबसे आता है। हम अपनी शक्तिको समझते नहीं। यह जो सपना आता है, भगवान्ने बड़ी कृपा करके दिया यह। इससे हम अपनी मानसिक शक्तिको समझ पाते हैं। जहाँ रथ नहीं है वहाँ रथ, जहाँ पथ नहीं है वहाँ पथ—जहाँ अथ-इति नहीं है वहाँ अथ-इति—किसने बनाया रथ, पथ?

एक दिन मैंने स्वप्नमें देखा था कि कल्याण-सम्पादनका जो विभाग है, वहाँ लक्ष्मणनारायण गर्दे, नन्ददुलारे वाजपेयी, माधवजी, देवधरजी ये सब इटलीका युद्ध देखने गये। वहाँ जाकर हमको नीचे उतारकर छोड़ दिया और स्वयं हवाई जहाज लेकर उड़ गये। हम पुकारें कि अरे बाबा! हमको भी ले चलो—हमको भी ले चलो! ये लोग कोई सुने नहीं। लेकिन इतनेमें सपना टूट गया तो न हवाई जहाज, न देवधरजी, न माधवजी, कोई नहीं। मैंने पूछा क्यों माधवजी, रातमें तुमने हमसे ऐसा व्यवहार क्यों किया? बोले—हमको तो मालूम नहीं है। आप लोगोंको तो ऐसा नहीं करना चाहिए था। बोले—बाबा, न तो हम इटली गये, न हवाई जहाज न हम, न तुम! देखो, वह निर्माण किसने किया था? और जिस समय निर्माण हुआ था, बिलकुल सच्चा। उस समय झूठा नहीं मालूम पड़ता था। यह है हमारे मनकी शक्ति। विश्वामित्रने जो नयी सृष्टि बनायी थी, वह शक्ति विश्वामित्रको कहाँसे मिली थी? सारे संसारको संहार करनेकी शक्ति—हमारी सुषुप्ति, हम सब समेटकर सो जाते हैं।

हम दूसरी बात कह रहे थे। भूत, भविष्य बनानेवाला कौन है? आपका जो यही मिनट है—आपका जो यही वर्तमान जीवन है, यह एक ओर भूतको फेंकता जा रहा है और एक ओर भविष्यको बुलाता जा रहा है। भविष्यको भविष्य नाम किसने दिया? आपके वर्त्तमानने। और भूतको भूत नाम किसने दिया? आपके वर्तमानने। जरा वर्तमानका भी पोस्टमार्टम करलो। एक मिनट—आधा भूत, आधा भविष्य। एक सेकेण्डके अरबों हिस्से कर दो और उसमें आधा बादमें और आधा पीछे—बीचमें कौन है? अरे बाबा, भूत और भविष्यका जो विभाजक है, वह तुम हो।

तुम भूत बनाकर चलते हो और भविष्यकी सृष्टि करते चलते हो और भ्रमसे जो कभी दिखा नहीं, जो कभी पकड़में आया नहीं, उसको वर्तमान बोलते हो। एक महात्मा थे, वे कहते थे—जिसको कभी कोई छोड़ नहीं सका उसका नाम है 'परमात्मा' और जिसको कभी कोई पकड़ नहीं सका, उसका नाम है 'संसार' सीधी-सीधी बात है न! आजतक कोई इस संसारको पकड़ नहीं ले गया और कोई नहीं छोड़ सका, अपनी आत्माको। आप अपनी शक्तिपर विचार करें। यह पूरब-पश्चिम किसने बनाया है? ईश्वरने? ये ऊपर, नीचे, सामने, पीछे, दाहिने, बाँये किसने बनाया? ऐसे लगता है कि ईश्वरने पूरब-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण हमारे साथ कर दिया है।

देखो, हम यहाँ बैठे हैं तो आपलोग किस तरफ हैं? और वहाँ बैठ जायें तो? आप किस तरफ होंगे? ये बिन्नाणीजी और संगीताचार्य गङ्गादासजी बैठे हैं। अभी तो हमसे पूरब हैं और देवधरजी पश्चिम हैं लेकिन हम इनके पूरब जाकर बैठ जायँ तो ये हमसे पश्चिम हो जायेंगे। कौन पूरब-पश्चिम बनाता है? ईश्वर नहीं बनाता है। आपका मैं जहाँ रहता है, वहाँसे पश्चिम शुरू होकर-इधरको आता है। पूरब-पश्चिमका आदि-अन्त देखो। हमारे पास आकर पश्चिमका अन्त हो जाता है। नया-नया पूरब, नया-नया पश्चिम, नया-नया ऊपर, नया-नया नीचे हम बनाते चलते हैं। लेकिन इस आत्मशक्तिका बोध कहाँ है?

हमको दूसरी बात कहनी है। ये जो दुनिया दीख रही है, ये पेड़, ये पौधे, ये चिड़ियाँ, ये स्त्रियाँ, ये पुरुष,

ये पोथियाँ, ये रेकार्डर, ये सब किसने बनाये? हमारे ज्ञानने बनाया है। जब हम सो जाते हैं तो ये सब कहाँ जाते हैं? जिससे जिसकी उत्पत्ति होती है, जिसमें जिसकी स्थिति होती है और जिसमें जो लीन हो जाता है, उस उत्पत्ति, स्थितिके आधारसे, अधिकरणसे, अधिष्ठानसे उत्पन्न होनेवाला, स्थित होनेवाला, अलग होना ही नहीं है। हे भगवान्! सृष्टिका निर्माता कहाँ रहता है? बच्चेसे पूछते हैं। सृष्टि बनानेवाला कहाँ रहता है? अङ्गुली दिखा देगा आसमानमें। ठीक है, वह बच्चा है। धरती कहाँ टिकी है? बैलके सींगपर। आपलोगोंने सुना है कि नहीं? नहीं; आठ हाथी आठों तरफ रहते हैं और वे अपनी सूँड़पर धरतीको उठाये हैं। पर असली बात यह है कि धरतीको उठाये हुए है आपका मन—आपके मनके भीतर रहनेवाला परमात्मा। इसको आत्मा कहो, परमात्मा कहो। यदि यह नहीं, तो लय नहीं होता। जब हमारा भान रहता है तब सब मालूम पड़ता है। जब हमारा भान शान्त हो जाता है—भान माने मालूम पड़ना-प्रतीत होना। जब कुछ नहीं—मूर्च्छामें, सुषुप्तिमें, समाधिमें किसने यह दुनिया देखी है? कहाँ जाती है वह? जह हमारा होश है तब सब है और होश नहीं है तो कुछ नहीं है। होशसे जुदा दुनियाँ कुछ नहीं है।

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—जो पहले नहीं था और पीछे नहीं रहेगा—मध्यमें भी वह नहीं है, केवल नाम मात्र है, कल्पित नाम है। जिसके पहले माटी—पीछे माटी—मनगढ़न्त घड़ा। भूत माने प्रसिद्ध; जिससे जिसकी उत्पत्ति होती है, और जिससे जिसका भान होना है, वह अहम्—परमात्मा। जो दूसरेके द्वारा प्रकाशित होता है और दूसरेसे उत्पन्न होता है। वह उत्पन्न हुई परन्तु, वह मालूम पड़नेवाली वस्तु जिससे मालूम पड़ती है, जिससे उत्पन्न होती है, उससे निराली नहीं होती है, न्यारी नहीं होती है, जुदा नहीं होती है वह। वह ब्रह्म है, परमात्मा है। हमारे जाननेमें सब दुनियाँ बची है, हमारे सोनेसे हमारी दुनियाँ बिगड़ जाती है। 'अत्र पिताऽपिता भवति माताऽमाता, लोका अलोका:, देवा अदेवा: बेदा अवेदा:'। (बृहदा 4.3.22)। इसका नाम वेदान्त-दर्शन है। केवल भानसे मालूम पड़ता है और अभानसे लोप हो जाता है और केवल सत्से उत्पन्न होता है और सत्में लीन हो जाता है। सत् और भान दोनों एक हैं; इसलिए परमात्मासे अलग यह सृष्टि नहीं है। सृष्टि परमात्मा-रूप है।

गाँधीजी एक वाक्यका प्रयोग किया करते थे 'सबै भूमि गोपालकी यामे अटक कहाँ? जाके मनमें अटक है सोई अटक रहा'। कौन दुश्मन है? कौन दोस्त है? न दुश्मन है, न दोस्त है। अपने मनके खिलाफ हो तो दुश्मन हो गया और अपने मनके मुताबिक हो तो दोस्त हो गया। मतलब क्या हुआ? दोस्त-दुश्मन किसने बनाया? मनने बनाया। और हम मनके साक्षी, द्रष्टा मनसे परे, मनके भीतर बैठकर मनको देख रहे हैं। मनने देखी मनकी आदि। जब नींद टूटी तो मन आगया सामने। जाग्रत रहा, स्वप्न रहा—मन बना रहा। जाग्रत-स्वप्न गया फिर सुषुप्ति आयी मनकी आदि देखी। मनका मध्य देखा। मनका अन्त देखा। ये कौन है? हमने माँ बनायी, हमने बाप बनाया। हमने भाई बनाया। हमने जाति बनायी। हमने मजहब बनाया। हमने राष्ट्र बनाया। अपने-परायेका भेद किया और अपने ही बनाये हुए भेदमें ऐसे उलझ गये मानो यही त्रिकालाबाधित सत्य हो। यही परमात्मा हो—कभी न मिटनेवाला।

एक दिल्लीमें सेठ रहते थे। आर्यसमाजी थे। वे मुहूर्त वगैरह नहीं मानते थे। पञ्चाङ्ग, मुहूर्त, ग्रह कुछ नहीं मानते थे। एक बार उनके लड़केकी शादी पड़ी तो उन्होंने स्वयं निश्चय किया कि बारात यहाँसे शामको सात बजे निकलेगी और घण्टेभरमें वहाँ दरवाजेपर पहुँचेगी और फिर साढ़े आठ या नौ बजे तक विवाह सम्पन्न हो जायेगा और फिर खान-पान होगा। अब बरात निकलनेके समय बाजेवाले नहीं आये। देर हो गयी—देर हो गयी तो वे छटपटाये—भीतर जायें, बाहर निकलें और कहें मुहूर्त बिगड़ रहा है। अब सात बजेका मुहूर्त तो उन्होंने ही बनाया था, वह कोई ज्योतिषीने नहीं बनाया था। हमने एक बड़े पण्डितसे पूछा—यह सब भद्रा-वद्रा वहाँ वेदोंमें है? वेदमें तो भद्रा शब्द बड़े अच्छे अर्थमें आता है।

आनोभद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतः। ऋग्वेद 1.89.1

भद्रं कर्णेभिः श्रणुयाम देवाः भद्रं पश्ये माक्षभिर्यजत्रा। ऋग्वेद 1.89.8

तब ज्योतिषमें खराब अर्थमें भद्रा कहाँसे आयी? अब पण्डितजने तो कुछ बताया नहीं और हमको मिला नहीं। बात रह गयी ज्यों-की-त्यों। ये रविवार, सोमवार, मङ्गलवार जो हैं, इनका 2000 वर्षके पहलेसे किसी ग्रन्थमें वर्णन नहीं है। किसने बताया कि रविवार और शुक्रवारको पश्चिम नहीं जाना; सोमवार, शनिवारको पूरब नहीं जाना और मङ्गल, बुधको उत्तर नहीं जाना और गुरुवारको दक्षिण नहीं जाना। अब यह प्राचीन ग्रन्थोंमें तो कहीं मिलता ही नहीं है। किसने बनाया? हमारे बापने बनाया। हमारे दादाने बनाया। लेकिन भाई वह इसलिए नहीं बनाया कि कभी रविवार, शुक्रवारको पश्चिम चले जाओ तो नरक मिले—सोमवार शनिवारको पूरब जाओगे तो नरक मिलेगा? नहीं उसका स्वर्ग-नरकसे कोई सम्बन्ध नहीं है। वह एक लौकिक मान्यता है। हम बनाते हैं और अपने बनाये हुए जालमें स्वयं उलझ जाते हैं।

यह सारी सृष्टिकी स्थिति यही है। हमने बनायी यह—जातीयता, राष्ट्रीयता और मजहबीपना। यह सब हमने बनाया और हम बनाकर उसमें इतने उलझ गये—देखो आदिमें, मध्यमें, अन्तमें भगवान्की यह लीला है। इसका नाम विभूति है। आदिको मत देखो—अहम्को देखो—अन्तकी मत देखो, परमात्माको देखो। और महात्मा लोग यह देखते हैं, और देखते हैं इसलिए उनके लिए जीवन-मरण एक हो जाता है। आप तो गणितके बड़े विद्वान् हैं। सूर्यका सम्बन्ध पृथिवीसे क्या है, इसकी गणना करनेके लिए कोई गणित है? ज्योतिषी लोग नाराज न हों। अपने आप बनाते हैं और अपने आप रोते हैं।

आपने सुना होगा एक सज्जनने बाजारमें एक घड़ा तेल खरीदा। और एक कुलीके सिरपर रखवा लिया और तय किया कि एक रुपया मजदूरी देंगे हमारे घर तक पहुँचा दो। जब वह कुली चला—उसने सोचा, एक रुपयेसे मुरगी खरीदेंगे फिर बचे तो बकरी खरीदेंगे। फिर गाय खरीदेंगे। फिर घोड़ा खरीदेंगे। फिर मकान बनवायेंगे। फिर व्याह करेंगे। फिर घरवाली होगी। फिर बच्चे होंगे और मैं दरवाजेपर, पलङ्गपर बैठकर गुड़गुड़ी पीता होऊँगा और बेटा आकर कहेगा कि मुझे भोजनके लिए बुलाया है और मैं कहूँगा उँ! बस घड़ा गिर गया।

अब मालिकने कहा तुमने हमारा एक घड़ा तेल खराब किया!

उसने कहा—बाबू, तुम्हारा एक घड़ा तेल खराब हुआ और हमारे तो बकरी गयी, गाय गयी, घोड़ा गया, घर गया, घरवाली गयी, बच्चा गया, हमारा तो सर्वनाश हो गया।

यह अपने मनसे जो दुनिया बनाते हैं, यदि आप सोचोगे तो मालूम पड़ेगा। हम आप यदि इसपर विचार करेंगे कि क्या-क्या आपने बनाया है, और क्या-क्या आप बिगाड़ कर सो जाते हैं—तो केवल आत्मसत्ताके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं मिलेगी।

एक कुम्हार किसी राजाके महलके पास रहता था। दिनभर बिचारा घड़ा बनाता—माटी लाता, उसको तपाता, बाजारमें बेचता, रुपया दो रुपया मजदूरीका मिल जाता, काम चलता था। पर रातको जब सोता तब राजा हो जाता। महलका मालिक, रानी, सेनापति, धन, सम्पदा—रोज-रोज! अब वह जब घड़ा बनावे, माटी खोदे, बजारमें बेचने जावे तो रोता रहे—क्यों रोता रहे—अरे कब नींद आयेगी? हम सो जायेंगे और फिर राजा हो जायेंगे। वह सपनेका राजा उसके लिए इतना प्यारा हो गया, इतना अभ्यस्त हो गया। इतना वह ठीक समझने लगा, उस राज्यको कि उसको जाग्रत-अवस्थाकी कोई वस्तु अच्छी ही न लगे।

हमने यह जो अपना सपना सँजोया है, वह इतना पक्का हो गया है कि अपनी असलियत अच्छी नहीं लगती, अपनी बनावट अच्छी नहीं लगती। भगवान्‌को जाननेका, सृष्टिका आदि, मध्य, अन्त जाननेका फायदा क्या है? सच यह है कि हम जो अपने ही बनाये हुए कटघरेमें हैं, अपने ही बनाये जेलखानेमें हैं, अपने ही बनाये हुए बन्धनमें बँध गये हैं। इससे मुक्त हो जायेंगे। जीवन्मुक्त हो जायेंगे। जीवन्मुक्त हो जायेंगे और फिर निर्द्वन्द्व होकर जो काम करेंगे निश्चिन्त होकर करेंगे। उसमें न कोई आगेकी चिन्ता है, न पीछेकी चिन्ता है। इस समयको हम अपने-आपसे भर रहे हैं। अपने-आपसे हम सारे समयको भरते चल रहे हैं। हम समयके पराधीन नहीं है। समयको हम जान-बूझकर भर रहे हैं।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

प्रवचन : 7

(6-11-81)

सारी गीता सुनकर अर्जुनने अन्तमें कहा—'करिष्ये वचनं तव' (18.73) मैं आपकी आज्ञाका पालन करूँगा। गीताके प्रारम्भमें अर्जुनकी आज्ञाका श्रीकृष्णने पालन किया था! 'सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् (1.24)। कृष्ण दोनों सेनाओंके बीचमें मेरा रथ जमा दो। पहले भगवान्ने अर्जुनकी आज्ञाका पालन किया, और अन्तमें अर्जुनने कृष्णकी आज्ञाका पालन किया। 'करिष्ये'—करूँगा, कर्म-प्रेरणा प्राप्त हुई। पर कर्म-प्रेरणाके मूलमें दर्शन है कि नहीं, दृष्टि है कि नहीं ? दृष्टिहीन कर्म अन्धा होता है। आँख न हो और आदमी चलता हो तो उसको दृष्टिहीन कर्म कह दिया। बुद्धि न हो, तब भी कर्म करता है तो उसको दृष्टिहीन कर्म कह दिया। गीतामें अर्जुनको कर्म नहीं दिया है, दृष्टि दी है। बिना दृष्टिके जो कर्म होगा वह 'कान्दिशीक'—(संस्कृत भाषामें) कहलाता है—किधर जाना ? आँखके बिना अन्धा चले तो कहाँ जावे ? कर्म अन्धा है और दृष्टि पङ्गु है। पङ्गु माने लंगड़ी। आँख है लंगड़ी और पाँव है अन्धा।

एक जगह दो भिखारी थे। एक लंगड़ा और एक अन्धा। दोनोंके मनमें यह इच्छा थी कि हम बद्रीनाथकी यात्रा कर आवें। चुप-चुप रहते थे मनमें, एक दिन सलाह कर ली। सलाह कर ली तो दोनोंकी वही वासना थी। अन्धेने कहा क्या करें भाई; हमको दीखता नहीं, नहीं तो हम बद्रीनाथ जाते। लँगड़ेने कहा हमसे चला नहीं जाता—अगर चल सकते तो हम भी बद्रीनाथ जाते। अब दोनोंमें सलाह हुई। अन्धेके कन्धेपर लंगड़ा बैठ गया और वह रास्ता बताता जाय और अन्धा चलता जाय। तो लंगड़ेकी आँख और अन्धेके पाँव। दोनोंमें जब दोस्ती हो गयी तो बद्रीनाथकी यात्रा कर आये।

ये सांख्य-दर्शनके मूलमें ही सूत्र है। 'अन्ध-पङ्गु न्याय' बोलते हैं इसको। यह जो हमारा कर्म है यह अन्धा होता है—यह आगे-पीछेकी कुछ नहीं समझता और हमारी अन्तर्दृष्टि होती है, वह आगे और पीछेका सब समझती है। मनुष्यके अन्दर, जीवके अन्दर—शक्ति तो है परन्तु अन्तर्दृष्टि जो है वह शुद्ध नहीं है। शुद्ध नहीं है माने कभी घबड़ा जाता है—घाटा निकला सेठजीको—हमलोग तो सेठोंकी ही बात करते हैं—घाटा आया घबड़ा गये—तबीयत खराब हुई। डॉक्टरने आकर 2-4 सुई लगादी। पर वह जो घाटेवाला दु:ख है, वह सुई लगानेसे तो नहीं मिटता है। घबड़ाहटमें भी काम नहीं करना चाहिए और लोभमें आकर भी काम नहीं करना चाहिए। लोभमें आदमी गलत कदम उठाता है और घबड़ाहटमें, उद्वेगमें भी गलत कदम उठाता है। दृष्टि बनी रहनी चाहिए। और अपनी दृष्टिमें जब वासना मिल जाती है तब वह गन्दी हो जाती है और जब हमारी दृष्टिमें वासनाका मेल नहीं होता है तब स्वयं भगवान् बोलते हैं।

अद्भुत लीला है—आप देखें दोनों ओरसे भगवान् अपना स्वरूप बताते हैं। 'अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।' तब यह जगत् क्या है? यह संसार क्या है? यह प्रश्न हुआ।

अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च।

ये जो संसारके पदार्थ, प्राणी दीख रहे हैं, इनका आदि, मध्य, अन्त नहीं है। इसका अर्थ है कि जगत्के रूपमें भी मैं ही हूँ और आत्माके रूपमें भी मैं हूँ। तब? जहाँ जाओ वहाँ परमात्मा, जहाँ रहो वहाँ परमात्मा। जहाँ पहुँचो वहाँ परमात्मा। फिर तो फिक्र करनेकी कोई जरूरत ही नहीं है। बेफिक्र अपने कर्तव्यका पालन करते रहो। अब दृष्टि यहाँ क्या है? दृष्टि है—आत्मा ही परमात्मा है। यह तो देहके बन्धनमें, वासनाओंके बन्धनमें आजानेके कारण हम ठीक-ठीक नहीं देख पाते हैं।

एक बार महात्माओंकी पञ्चायत जुड़ी। 8-10 अच्छे-अच्छे महात्मा गङ्गा किनारे बैठ गये। श्रीउड़ियाबाबाने 12 घंटेका आसन जमाया। चर्चा हो रही थी कि हम यह कैसे समझें कि हमारे मनमें जो यह बात आयी है वह ईश्वर-प्रेरणा है या हमारी वासना है। आप समझ सकते हैं। यदि शत्रुको नीचा दिखानेके लिए आपके भीतर कोई प्रेरणा आती है तो उसमें वासना है और अपने सगे-सम्बन्धियोंका स्वार्थ सिद्ध करनेके लिए कोई प्रेरणा आती है तो उसमें भी वासना है। जब कभी हमारा अन्तःकरण शुद्ध होता है—ऐसे क्षण जीवनमें कभी-कभी आते हैं—जब वासनाएँ शान्त हो जाती हैं, जब चञ्चलताएँ मिट जाती हैं, जब भीतरका प्रकाश निर्बाधरूपसे अपने जीवनमें प्रकट होने लगता है—उस समय ईश्वरकी वाणी सुनायी पड़ती है। उस समय ईश्वरकी प्रेरणाका अनुभव होता है।

उसी समय 'इलहाम' अन्तः-प्रतिभा जाग्रत होती है—इसके लिए थोड़ी देर शान्त रहकर विचार करना आवश्यक है। पाँच मिनट ही सही। एक बार सब सम्बन्धोंसे, सब वासनाओंसे, मुक्त होकर, सब विक्षेपोंसे मुक्त होकर, थोड़ी देरके लिए बैठ जाना चाहिए। और देखो ईश्वर क्या बोलता है? 'हमको क्या तू ढूँढ़ें बन्दे हम तो तेरे पास हैं।' ऊपर जानेसे ईश्वर मिलेगा? नहीं, ऊपरका कभी अन्त नहीं होगा। पश्चिम-पूरब जानेसे ईश्वर नहीं मिलेगा। पूरब-पश्चिमका कभी अन्त ही नहीं मिलेगा। यदि संसारका अन्त कहीं मिलेगा तो अपने आपमें मिलेगा। द्रष्टामें संसारका अन्त मिलेगा। कितनी बड़ी प्रेरणा है अपने जीवनके लिए कि हमें ईश्वरको ढूँढ़नेके लिए, उसकी शक्ति लेनेके लिए—कहीं जानेकी जरूरत नहीं है।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। 18.81

हृदयमें ईश्वर रहता है। अब यह हुआ कि दुनियामें कुछ ऐसा है, कुछ वैसा है तो इसमें हम भटक जाते हैं। तो दूसरी बात भगवान्ने यह बतायी कि संसारके रूपमें भी, जगत्के रूपमें भी, मैं ही हूँ। यह तो हमलोग छोटी-छोटी चीजोंको देखते हैं। एक उच्चकोटिके वेदान्तका ग्रन्थ है—'खण्डन-खण्ड-खाद्य।' हमारे पितामह जब वेदान्त-ग्रन्थोंका नाम लिया करते तब 'अद्वैत सिद्धि', 'चित्त सुखी', 'खण्डन-खण्ड-खाद्य' और सिद्धान्तलेश' इन चार ग्रन्थोंका नाम एकसाथ लेते थे। वे बड़े गम्भीर ग्रन्थ हैं संस्कृत-साहित्यके। अब तो इनको पूरी तरहसे पढ़ने-पढ़ानेवाले भी कम होंगे। 'खण्डन-खण्ड-खाद्य'में एक प्रश्नोत्तर है। मैं जरा सरल

करके बोलता हूँ। इसकी भाषा तो कठिन है। एक जिज्ञासु आया। उसने सन्तसे प्रश्न किया—महाराज, यह सृष्टि कैसे हुई? जिनको अवकाश होता है और जिज्ञासा होती है और सत्सङ्गमें रुचि होती है, वे जानना चाहते हैं कि यह सृष्टि कैसे हुई?

महात्माजी बोले—भाई मेरे, हम तो स्वप्रकाश, चिदात्मा परब्रह्ममें बड़े आनन्दसे रह रहे हैं। हम मौजमें रह रहे हैं। हमको सृष्टि कैसे हुई, इस उधेड़-बुनमें पड़नेकी क्या जरूरत? अपने तो मस्तराम हैं—सृष्टि चाहे कैसे भी हुई हो! हम तो बड़े आनन्दमें हैं। कुछ पूछने-बतानेकी जरूरत नहीं।

नहीं महाराज, हमारी बड़ी जिज्ञासा है। आपको तो बतानेकी जरूरत नहीं पर आप हमपर कृपा करके बता दीजिये। हमें जरूरत है।

बोले—अच्छा तुमको कैसा लगता है?

बोले—हमको तो ऐसे लगता है कि सृष्टि हमेशासे ऐसी ही है।

भलेमानुष, सृष्टि रोज तो बदल रही है, हमेशासे ऐसी ही है—ऐसा कैसे मानते हो?

बोले महाराज, परमाणुओंसे जुड़कर बनी होगी?

बोले—परमाणु जुड़ेंगे कैसे ? वे तो निवयव होते हैं। उनके अङ्ग नहीं होते तो वे जुड़ेंगे कैसे ?

अच्छा महाराज, चित्तसे सृष्टि हुई होगी?

चित्तकी सृष्टि तो टिकाऊ नहीं होती। स्वप्नमें सृष्टि होती है, टूट जाती है।

अच्छा, तो शून्यसे सृष्टि हुई होगी?

अच्छाजी, प्रकृतिसे सृष्टि हुई होगी तो प्रकृति नित्य और बदलनेवाली भी हो, यह कैसे हो सकता है?

अच्छा, तो ईश्वरसे सृष्टि हुई होगी? ईश्वरको क्या पड़ी है कि वह सृष्टि करने आगया।

अब वह जिज्ञासु जितने सृष्टिकी उत्पत्तिके प्रकार बतावे, वह महात्मा उसका खण्डन करते जावें। यह सृष्टि क्या है? बोले जो मैं हूँ सो ही सृष्टि है। देखो!

अहमात्मागुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।

और,

अहमादिश्चमध्यं च भूतानामन्त एव च।

भगवान्‌ने कहा कि जो मैं हूँ सो तुम हो। और जो मैं हूँ सो सृष्टि है यह तो अद्भुत बात हो गयी। एकबार मैं अपने मित्रके घर ठहरा हुआ था। वे अफसर थे। दस बजे वे जब जाने लगे, उस समय एक बड़े अच्छे महात्मा ही थे बातचीतके प्रसङ्गमें उन्होने कहा कि तुम्हारी बुद्धि चञ्चल है। और उसके बाद 10 बजे वे किवाड़ बन्द करके मैं तो भीतर और वे कचहरी करने चले गये। जब कचहरी करके 4-4।। बजे लौटे, मैं वहींपर बैठा था। और तबतक मैंने यही विचार किया कि चञ्चलता क्या होती है? 6 घण्टेके भीतर यही विचार किया और आनेपर उनको सुनाया। सुनकर बहुत प्रसन्न हुए।

जो कुछ हमको सृष्टिमें दिखता है और जो मैं देखनेवाला हूँ—देखनेवाला 'मैं' होता है और

दीखनेवाला 'यह' होता है। और यहमें जो पास होना है उसको 'यह' बोलते हैं और जो दूर होता है उसको 'वह' बोलते हैं। हमारे लिए तुम 'तुम' हो मैं 'मैं' हूँ। परन्तु तुम्हारे लिए तुम 'मैं' हो और मैं 'तुम' हूँ। यह मैं और तुम—जिसका नाम 'मैं' है उसका नाम 'तुम' हो जाता है—जिसका नाम 'तुम' है, उसका 'मैं' हो जाता है। असलमें सृष्टि बिलकुल एक है, इसमें स्रष्टा, द्रष्टा और सृष्टि, दृष्टि—सब परमात्माका एक अविचलित स्वरूप है। इस विचारसे क्या हुआ कि हम संसारसे वैराग्य करें? या राग करें? भागवतमें इसकी बहुत विलक्षण व्याख्या है।

अच्छाजी, संसार है विकार और आत्मा है निर्विकार; तो आओ संसारका परित्याग कर दें। भागवतका कहना है कि यह तर्क अशुद्ध है—

नहि विकृतिं त्यजन्ति कनकस्य तदात्मतया, स्वकृतमनुप्रविष्टमिदमात्मतयावसितम्।

10.87.23

जैसे—सोना है। इसका विकार क्या है? कङ्गन है, हार है—ये उसमें आकार बने—चूरा, द्रव—सिल्ली सब आकार हैं। अच्छा जी, सोनेको तो रख लो और इन सबको फेंक दो। वस्तु तो रख लें और उसके विकारको फेंक दें। सोना तो रख लें और जेवर फेंक दें। मिट्टी रख लें और घड़ा फेंक दें? यह सर्वथा अयुक्त है। 'नहि विकृतिं त्यजन्ति कनकस्य तदात्मतया।' सोनेके विकारका कोई भी परित्याग नहीं करता क्योंकि 'तदात्मतया'—जो सोना है वही सोनेसे बना जेवर भी है। जो परमेश्वर है, वही जीव है। और जो परमेश्वर है वही यह सृष्टि है। कोई वस्तु इसमें तिरस्कार कर-कर छोड़ने योग्य नहीं है। 'स्वकृतमनुप्रविष्टमिदमात्मतयावसितम्।'

स्वयं बन गये, स्वयं बना लिया, स्वयं सबके रूपमें हो गये। यह श्रुति है। 'तज्जलानिति शान्त उपासीत'। (छान्दोग्य उप. 3.14.1) यह सृष्टि क्या है? तज्ज, तल्ल, तदन—उसीमें यह पैदा हो रही है, उसीमें यह स्थित हो रही है, उसीमें लीन हो रही है। अपने हृदयको रोग-द्वेष रहित जीवन्मुक्तिका विलक्षण सुख अनुभव करनेके लिए इससे और कोई बढ़िया चीज नहीं होती है। ये देखो श्याम, ये देखो श्याम, ये देखो श्याम—जहाँ देखता हूँ वहाँ तू-ही-तू है। यही परमेश्वरका निरन्तर दर्शन है। ऋग्वेदके ऋषिने गाया—'अयं मे हस्तो भगवान्'। (10.60.12) अद्भुत मन्त्र है। ये मेरा हाथ ईश्वर है। यह मेरा हाथ ईश्वरसे भी बड़ा है। 'अयं मे भगवत्तरः'। (10.60.12)

मैं जिसको छू दूँ उस मुर्देमें भी जान आजाय, ऐसा है यह मेरा हाथ क्योंकि इसमें-से ईश्वरकी शक्तिकी धारा प्रवाहित होती रहती है। जो जाग्रत कर लेते हैं—वे किसीके सिरपर हाथ रखकर भी शक्ति सञ्चार कर देते हैं। छूकर भी शक्ति सञ्चार कर सकते हैं। किसी-किसीके छूनेसे करेन्ट लगता है। अभी तो वैज्ञानिक लोगोंने भी यह अनुसन्धान किया है—वे ऐसा यन्त्र बनावेंगे कि शरीरसे जो उष्मा, गरमी निकलती है, उससे बैटरी चालू हो जावेगी तो वे उड़ सकेंगे। हमारे शरीरमें ही ऐसी गरमी है कि उस बैटरीके साथ सम्बन्ध जोड़कर एक व्यक्ति उड़ सकता है; जब उस शक्तिका सञ्चार हो जायेगा।

सारी शक्तियोंका केन्द्र—यह जो हाथ उठा लेता है और गिरा देता है, जो पाँव उठा लेता है और गिरा देता है, इन सब शक्तियोंका केन्द्र तो इस शरीरमें ही है न! और इसका जहाँ प्रेरक उपादान होकर सबका निर्माण करता है। उपादान समझो घड़ेके लिए मिट्टी। उपादान उसको बोलते हैं जो कार्यमें अनुगत होता है, जैसे मिट्टी घड़ेमें आयी—डण्डा तो नहीं आया, चाक तो नहीं आयी, कुम्हार तो नहीं आया तो वे सब निमित्त कारण होते हैं और उपादान कारण होता है वह, जो अपने कार्यमें भीतर रहता है।

ईश्वर जगत्का कुम्हार जैसा कारण नहीं है—माटी जैसा कारण है और माटी जैसा कारण होनेपर भी वह चेतन है। चेतनरूपसे तो वह द्रष्टा रहता है, आत्मा रहता है और उपादानरूपसे वह सारा संसार बन जाता है। अद्भुत है—माने ईश्वरके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है।

अब अर्जुनके लिए यह युद्ध भी भगवद्रूप ही है। इसमें भी धर्मका अनुगमन है। जो प्रेरक परमात्मा है, जो उपादान परमात्मा है, वह युद्धमें भी आया, वह कर्ममें भी आया। और तुम क्रिया को, मनको देखो, छोटी-मोटी चीजोंको मत देखो। यह मत देखो कि भीष्म ऐसे हैं और द्रोण ऐसे हैं और जयद्रथ और कर्ण और दुर्योधन ऐसे हैं—यह मत देखो। तुम यह देखो कि सबके भीतर एक परमात्मा है।

हत भी मैं ही और हन्ता भी मैं ही। तुम मुझपर दृष्टि रखकर अपना काम करो। वह दृष्टि दे दो जो सर्वात्म-भावसे युक्त होती है। जिनको यह सर्वात्म-भावकी दृष्टि नहीं प्राप्त होती है उनको कोई काम करनेसे ग्लानि हो जाती है, और कोई काम करनेसे अभिमान हो जाता है। देखो, हमारे महात्मा लोगोंने ऐसा कहा कि अपने मनसे अच्छा-से-अच्छा काम करोगे तो अभिमान होगा कि मैंने कितना बढ़िया काम किया है। और दूसरेकी आज्ञासे अगर कभी गलत भी काम हो जायेगा तो अपने मनमें उसकी ग्लानि नहीं होगी। यह होगा कि यह तो आज्ञासे हुआ है, अनुज्ञासे हुआ है। अच्छे कामका अभिमान अपनेमें नहीं आवे और बुरा कामकी ग्लानि नहीं आवे इसलिए 'करिष्ये वचनं तव'—अन्तमें अर्जुनको यह बोध प्राप्त हुआ।

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च।।

अब देखो, इसीमें यह प्रेरणा भरी हुई है कि आप जो अपना काम करते हैं, उसको कीजिये। वह कैसे ?

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानव।। 18.46

ये सबलोग चलते-फिरते कैसे हैं? अभी आत्मरस तो बना नहीं—आत्मबटी भी नहीं बनी—कलेजा, किडनी बदल देते हैं। अङ्ग-अङ्ग ब दल देते हैं। वह सब ठीक है, लेकिन कोई चैतन्यवटी बनाकर उसे मुर्देमें डाल दिया करे। अभी तो ऐसा कोई तत्त्व प्रकट हुआ नहीं है, जिसमें चैतन्यरस, चैतन्यवटी बन सके। उसका आविष्कार नहीं हुआ है। तो ये सब चलते-फिरते कैसे हैं? हमारी जो धड़कन है, यह पिताजीके वीर्यमें भी चल रही थी, माताके पेटमें भी चल रही थी और मरणपर्यन्त—अन्तिम क्षणतक चलती है—यह अपना काम करती है। धड़कन अपना काम बन्द नहीं करती। ये बाबाजी लोग कहीं-कहीं नुमाइश करते हैं—कि हम अपनी

धड़कन बन्द कर लेते हैं, यह एक मिथ्या अपचार है। इसमें कुछ सच्चाई नहीं है। हाँ, उसको हम ग्रहण नहीं कर पाते हैं। यह बात दूसरी है, लेकिन वह बन्द नहीं होती है।

वह तो प्राणन शक्ति है शरीरमें—शरीरमें एक धारणी शक्ति होती है पृथिवीकी और आप्यायनी शक्ति होती है जलकी। और प्रकाशिनी शक्ति होती है तेजकी—तेजस्विनी और चालिनी शक्ति होती है वायुकी और आधार-शक्ति होती है आकाशकी और वह सबके शरीरमें एक सरीखी रहती है, परन्तु चैतन्य रसके सम्बन्धसे ही सब-का-सब काम होता है। यह जो हमारी धड़कन है, यह अपना काम कभी बन्द नहीं करती और पृथिवी-शक्ति, जलकी शक्ति, वायुकी शक्ति, अग्निकी शक्ति, आकाशकी शक्ति, कभी काम बन्द नहीं करती है। इसलिए गीतामें बताया 'न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्'। (3.5) कोई निकम्मा तो क्षणक्षर भी रह ही नहीं सकता।

कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः। 3.5

यह प्रकृतिजन्य गुण ही है कि वे हर समय कोई-न-कोई काम लेकर रहते हैं। उसमें विश्राम भी एक दृष्टि है। विश्राम एक अवस्था नहीं है। विश्राम एक दृष्टि है। वह महात्माओंको प्राप्त होती है। काम करते रहते हैं और उनको विश्राम मिलता रहता है। काम करते हुए भी विश्राम! देखो, यह हमारा शरीर प्रवृत्त कैसे होता है? और किस मसालेसे बना है? आप इसी श्लोकमें देखो—'यतः प्रवृत्तिर्भूतानाम्'—यह तो है 'अहमात्मा गुडाकेश ' और 'येन सर्वमिदं ततम्' यह है 'अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च'। जो सबको हिलाता है और जो सब बना, अपने कर्मके द्वारा हमें उसीकी पूजा करनी है। गँवारू सेवा नहीं करनी चाहिए।

एक गँवारके घरमें गुरुजी आये। दोनों गँवार भाई-भाई थे। उन्होंने सेवा बाँट ली। दाहिना पाँव बड़े भाईका और बायाँ पाँव छोटे भाईका। बायाँ पाँव करवटमें दाहिने पाँवपर चढ़ गया। अब वह गँवार बोला—हमारेवाले पाँवपर तुम्हारेवाला पाँव चढ़ा है? हटा लो इसे। अब गुरुजीने फिर करवट बदली तो फिर चढ़ गया। अब उसने आकर एक लाठी उस पाँवको मारा। गुरुजी महाराज तो तिलमिला गये।

भगवान्के स्वरूपमें गँवारू सेवा जो होती है वह मूर्खता है, वह दुखदायी है। असलमें हमारी सेवा, हमारा कर्म जो होना चाहिए, वह सबके कल्याणके लिए, सबके मङ्गलके लिए होना चाहिए। जब हम उसको परिच्छिन्न कर देते हैं—

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।

कोई भी मनुष्य, इसमें स्त्री-पुरुषका भेद नहीं है—न हिन्दू-मुसलमानका, न अग्रज-अन्त्यजका—मानवको होना चाहिए मानव यानी मनुकी सन्तान और पूजा किसका करें? जो सबको हिलाता-डुलाता है और सब बना हुआ है। पूज्य कौन है? जो सर्वात्मा और सर्वरूप प्रभु है, वह पूज्य है और पुजारी कौन है? मनुष्य है। और पूजा किससे करता है? 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य'। अपने कर्मसे पूजा करता है। जो तुम्हारे हिस्सेका काम है उसके द्वारा 'अनेन सर्वात्मा भगवान् प्रीयताम्'—इससे सर्वात्मा भगवान् प्रसन्न हों। बस हो गयी पूजा। यहाँ जो योगका वर्णन किया, उसमें आत्माके रूपमें भगवान् और प्रपञ्चके रूपमें भगवान्। यह हो गया योग।

****

अब विभूतिकी बात आपको सुनाते हैं। अब देखो आदित्यका नाम ही पहले आता है—

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान्।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी।। 10.21

'आदित्यानामहं विष्णुः'। आदित्य शब्दका अर्थ होता है, अदितिके पुत्र। अदिति और दिति दक्षकी पुत्री हैं। काममें दोनों चतुर हैं। दक्ष माने जो कर्ममें अत्यन्त कुशल है। कौशलको ही दक्षता बोलते हैं। आजकल हिन्दीमें एक 'सक्षम्' शब्द आगया है—वह निरर्थक है। 'सक्षम' शब्दका प्रयोग होना चाहिए। सक्षम नहीं, क्षम होता है। क्षमके समान ही दक्ष शब्द है। दक्ष माने कोई भी काम आवे, निपुणतासे कर ले। दूसरोंको करते देखे—एक बार देख लिया-सीख लिया। एक बार सुन लिया, यह दक्षता होती है। दक्षकी पुत्री है दिति और अदिति। दिति माने—जो काटे, टुकड़े-टुकड़े करे, उसका नाम होता है दिति और जो जोड़ दे—काटे नहीं, उसका नाम होता है अदिति। 'दीङ् क्षये' धातुसे भी दिति शब्द बनता है और 'दो खण्डने' धातुसे भी बनता है। जो खण्ड-खण्ड करे, उसका नाम दिति और जो अखण्ड रखे, उसका नाम अदिति। टुकड़े-टुकड़े करना यह दिति वंश है; ये दैत्य कहलाते हैं और मेल-मिलाप कराना ये अदिति वंश है—ये आदित्य कहलाते हैं।

दिति, अदितिके हैं पति कश्यप। कश्यप माने होता है द्रष्टा 'पश्यकः-कश्यपः, पश्यति इति पश्यकः, पश्यक एव कश्यपो भवति' जो देखता है उसका नाम है पश्यक और पश्यक ही विपरीत विधासे कश्यप होता है। दृष्टि-सम्पन्न पुरुष जो है, उसका दक्षकी पुत्री दिति और अदितिसे विवाह होता है। दितिके जो पुत्र हैं वे तो हानिकारक काम करते हैं। दूसरोंको जिससे हानि हो, ऐसा काम करते हैं। वे सद्भाव-सम्पन्न नहीं हैं और अदितिके जो पुत्र हैं, वे सद्भाव-सम्पन्न हैं। उनको देवता बोलते हैं। आदित्य माने देवता। अदितेः अपत्यं पुमान्=आदित्यः। अदितिका जो पुत्र होता है—कश्यप रूपी द्रष्टा और अदिति रूपी मिलाप—दोनोंसे जो प्रकट हुआ उसका नाम हुआ 'आदित्य'। इसको हमलोग वेदमें 'आजान देवता'के नामसे जानते हैं। आजान देवता माने जो जन्मसे ही देवता हो। हम लोग जो पुरुष-सूक्त पढ़ते हैं—उसमें परमात्मा-रूप पुरुषके चक्षुसे सूर्यकी उत्पत्ति कही गयी है—

चक्षोः सूर्यो अजायत। (ऋग्वेद 10.90.13)

ये सूर्य जन्मसे देवता है। आदित्य जन्मसे देवता है। 'जन्मसे देवता हैं'—इसका अर्थ है कि उसमें पाँचों भूतोंका रस है। पृथिवीका रस, जलका रस, अग्निका रस, वायुका रस, आकाशका रस और सबसे बना एक रूप और वह रूप लेकर सूर्य देवता हमारे पास आ रहे हैं। सारी सृष्टि इन्होंने ही बनायी। बल्कि जो जलमें स्थिरता है वह भी सूर्यके कारण है, जलकी उत्पत्ति भी सूर्यकी किरणोंसे है और पृथिवीमें जो स्थिरता है वह भी सूर्यके कारण है।

यह जो सूर्य हैं अदिति और कश्यपके पुत्र, बारह देवता उसमें मुख्य हैं। द्वादश आदित्य बोलते हैं। इन्द्र भी उसीके पुत्र हैं और विष्णु भी उसीके पुत्र हैं। इन्द्र माने हमारे हाथमें रहकर जो काम करनेकी शक्ति है—

****

उसको इन्द्र बोलते हैं। और पाँवमें रहकर जो चलनेकी शक्ति है, उसको विष्णु बोलते हैं। हमारे शरीरमें सभी देवता रहते हैं। हाथोंमें इन्द्र माने बज्र उनके हाथमें है। कर्मकी बहुत बड़ी शक्ति है । जो हमारे जीवनमें प्रगति होती है उसके देवता विष्णु हैं। मुक्ति देनेवाले, विष्णु हैं—और साधन देनेवाले इन्द्र हैं। साधन और प्रगति ये दोनों सविता देवतासे प्राप्त होती है। गायत्रीमें भी सविता देवता है न! **'तत्सवितुर्वरेण्यम्'।**

जैसे सब देवता हमारे शरीरमें रहते हैं वैसे ही सारे देवता ब्रह्माण्डोंमें भी रहते हैं। यह पिण्ड ब्रह्माण्डका नमूना है। सब देवता हैं। आँखमें सूर्य देवता हैं। नाकमें अश्विनीकुमार हैं। जिह्वामें वरुण हैं। बोलनेवाली जिह्वामें अग्नि है। कानमें दिग् देवता हैं। त्वचामें वायुदेवता हैं। यह देवमय हमारा शरीर है और इसी तरहसे हम ब्रह्माण्डोंको समझते हैं। ये जो आदित्य हैं—अदिति और कश्यपके पुत्र—इनमें भगवान्‌की विभूति कहाँ है? मुख्यरूप भगवान्‌का क्या है?

आदित्य बहुत-से हैं। आदित्य है आँखमें, आदित्य है कानमें, आदित्य है त्वचामें, ये वायु, अग्नि, दिक्‌देवता सब आदित्य हैं। इन्द्र और विष्णु भी आदित्य हैं। परन्तु आदित्योंमें सबसे श्रेष्ठ कौन? बोले—**आदित्यानामहं विष्णुः।** (१०.२१)। मैं विष्णु नामका आदित्य हूँ। विष्णुका तीन रूप मानते हैं। एक तो विष्णुका रूप होता है—सब विभूतियाँ हैं न! सबको ऐसे ही समझनेका है। यह तो एक उसका नमूना है। आदित्य कहो सूर्यको तो जब हम सूर्यका चिन्तन करते हैं, तो उनके अनेक परिवर्तनशील रूप दिखायी पड़ते हैं। उनमें ध्यान किया जाता है। 'हिरण्यः पुरुषः' एक जैसे सोनेका चमाचम चमकता हुआ रूप होता है, वैसा।

सशङ्खचक्रं सकिरीटकुण्डलं, सपीतवस्त्रं सरसीरुहेक्षणम्।
सहारवक्षःस्थलकौस्तुभश्रियम् नमामि विष्णुं शिरसा चतुर्भुजम्।।

पहले आदित्य-मण्डलका ध्यान किया और आदित्य-मण्डलमें शङ्ख, चक्र, गदा, पद्मधारी नारायणका ध्यान किया। अब वे नारायण क्या हैं? नारायण भी प्रतीक हैं, उपलक्षण हैं किसके उपलक्षण हैं? वे ब्रह्मतत्त्वके उपलक्षण हैं। परमतत्त्वके रूपमें वे नारायण हैं। आराध्य देवताके रूपमें विष्णु हैं और मण्डलके रूपमें सूर्य हैं। अब विष्णुका एकरूप है व्यापक।

विवेष्टि विश्वम् इति विष्णुः।

× × ×

अत्यतिष्ठत् दशाङ्गुलम्।

वेदमें बताया कि सारी दुनियाको घेरकर विष्णु स्थित हैं और दुनियासे परे हैं। व्यापक का ही नाम विष्णु होता है। जितने भी दृश्य पदार्थ हैं उनसे जो बड़ा है, उसका नाम विष्णु है। भगवान्‌की विभूतिके रूपमें उपासना किसकी करनी? बोले व्यापक तत्त्वकी उपासना करनी। परिच्छिन्न तत्त्वकी उपासना नहीं करनी। अपनेको जेलमें मत डालो। अपनेको किसी घेरेमें बन्द मत करो।

दो जो विभूति यहाँ बतायी हैं—आत्मा और भूतोंकी आदि, मध्य, अन्त, ये तो दोनों मुख्य रूपसे योग हैं

और जो विभूति बतायी, वह आदित्यसे प्रारम्भ की। अब इन विभूतियोंको जब आप पढ़ते होंगे तो उस समय कितना आश्चर्य होगा—जब आप देखते होंगे कि उसमें जूएको भी भगवान्‌की एक विभूति बताया है। 'द्यूतं छलयतामस्मि'—उसमें जड़को भी विभूति बताया है। 'अश्वत्थः सर्ववृक्षाणाम्' (10.26)। 'स्थावराणां हिमालयः' (10.25)। हिमालयको भी एक विभूति बताया हुआ है। 'नराणां च नराधिपम्' (10.27)। राजाको भी एक विभूति बताया है। शाण्डिल्य भक्तिदर्शनमें इसपर बहुत विवेचन किया है कि ये विभूति कैसे हुई?

विभूतियोंका विभाजन, विश्लेषण कर दिया। कुछ तो उत्तम होनेके कारण विभूति हैं। कुछ उत्तमताकी प्राप्तिके हेतु होनेके कारण विभूति हैं। कुछ वर्जित विभूति हैं। वैभव तो बहुत है परन्तु आराध्यके रूपमें सब नहीं है। आत्मरूपसे सब विभूति है। प्रपञ्चाभावके अधिष्ठानके रूपमें सब ब्रह्म है परन्तु सब विभूतियाँ आराध्य नहीं हुआ करती है। 'प्राणित्वात् न विभूतिषु'—यह शाण्डिल्य दर्शन (2.1.24) का सूत्र है।

आखिर भगवान् इतने बने क्यों? क्या जरूरत थी कि वे इतने बने? अनेक हेतु बताकर कुमारिल भट्टने ईश्वरका खण्डन किया। यदि कोई कहे कि इस कारणसे ईश्वर है तो वह उचित नहीं है। नास्तिकताकी बात हम लोगोंके यहाँ बहुत अधिक है। चार्वाक-दर्शन, बौद्ध-दर्शन, जैन-दर्शन, सांख्य-दर्शन, पूर्व मीमांसा-दर्शनने तो अनेक दृष्टियोंसे उनका खण्डन किया। यह काम तो बिना ईश्वरके ही हो सकता है। यह करनेके लिए ईश्वरकी क्या जरूरत है? जो काम हम बटन दबाकर कर सकते हैं, उसके लिए ईश्वरको बुलानेकी क्या जरूरत? कुमारिल भट्टने खूब खिल्ली उड़ाई है।

शाण्डिल्य भक्ति-दर्शनमें उसका समाधान किया है। यह है भगवान्‌की करुणा। चाहे कोई साधन-सम्पन्न हो, चाहे निःसाधन हो, चाहे कुसाधन हो, सबके ऊपर भगवान्‌की करुणा बरसती रहती है। यदि भगवान् जीवके लिए नाक न बनाते तो वह सूँघता कैसे? उसको गुलाब और जूहीकी सुगन्धका पता कैसे चलता? यदि कान न बनाते तो सङ्गीत-स्वर कैसे सुनता? यदि आँख न देते तो रूप-सौन्दर्य कैसे निहारता? ये भगवान्‌की करुणा ही है कि सबके लिए भोग्य रूपसे भी और भोक्ता रूपसे भी। भोक्ता जीवको इन्द्रिय देते हैं और भोग्य रूपसे विषय बनकर सबके सामने प्रकट होते हैं।

आओ विभूतिके रूपमें भगवान्‌की आराधना करें। बोले नहीं सब विभूतियोंकी आराधना नहीं की जाती। क्यों नहीं की जाती? वेदमें स्पष्ट वर्णन है। 'अक्षैमीर्दाव्यः' (ऋग्वेद 10.34.13) चौपड़ मत खेलो। पौरुष छोड़कर एक आकस्मिक वृत्तिपर भरोसा करना—यह उचित नहीं है। जूआ कभी मत खेलो। यह वर्जित है। वह भगवान्‌की विभूति होनेपर भी उपादेय नहीं है, आराध्य नहीं है। दूसरी बात कही उन्होंने राजसेवा की। आप लोगोंने शायद कभी सुना हो। चन्देका अन्न, गणान्न और गणिकान्न—वेश्याका अन्न और राजान्न—राजाका अन्न और चण्डिकान्न—देवीका अन्न, जो मांस वगैरह होता है, इसके खानेसे मनुष्य पतित हो जाता है। उसकी जो मनोवृत्ति है वह तामस भावनासे ग्रस्त हो जाती है। चारों अन्न शास्त्रमें एक कक्षामें माने गये हैं।

हमारे एक भगत मुम्बईमें आये कि हम आपके लिए कुछ चन्दा कर लें। चन्दा कर लेते हैं तो आप जिस

फ्लेटमें रहते हैं तो इसकी व्यवस्था चलती रहेगी। हमने कहा—भाई मेरे, तुम लाख-पचास हजार चन्दा करके हमारी सारी आमदनीका सत्यानाश करना चाहते हो! ऐसे तो हमें रोज ईश्वर भेज देता है। बनी-बनायी सब्जी हमारे पास खानेको आजाती है और दूध आजाता है। कहींसे चावल आता है, कहींसे गेहूँ आता है! यदि तुम लोगोंसे रुपया लेकर बैंक वगैरहमें रख दोगे तो लोग कहेंगे उनकी तो व्यवस्था हो ही गयी, उसमें हमारी चले— न चले, हमारे ऊपर तो कृपा ही रखो। हमको चन्देके अन्नमें बिलकुल रुचि नहीं है।

रतन-सी भाईका ही जैसे सत्-साहित्य-प्रकाशन ट्रस्ट है—मैं उसका ट्रस्टी नहीं हूँ। उसके रुपयेसे, पैसेसे, हिसाबसे, किताबसे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है। यही लोग जानते हैं। हम तो कभी उसमें-से कुछ रुपया नहीं लेते हैं। वैसे लेनेका हमारा हक है। रॉयल्टी तो हमारी होनी चाहिए न! लेकिन हम कभी कुछ उससे लेते नहीं हैं। किसी दूसरे ट्रस्टसे भी नहीं लेते हैं। ट्रस्टोंमें मैं ट्रस्टी हूँ, पर इनके ट्रस्टमें तो ट्रस्टी भी नहीं हूँ। ये जो चन्देका अन्न है, इससे बुद्धि विकीर्ण होती है, बिखर जाती है।

भिखारीसे भी नहीं लेना चाहिए। ये चन्दा करनेवाले भिखारी ही तो होते हैं। यहाँ बताया—राजा एक विभूति हैं। राजसेवा तो शास्त्रमें वर्जित है। सेवा भी वर्जित है। माने उसकी व्यक्तिगत सेवामें न रहना। उसके बहुत पास जाना, यह भी एक खतरेका काम है। पता नहीं कब उनका मूड बिगड़े? फिर वे तो फाँसीका ही हुकुम देंगे और उसकी कोई अपील नहीं। इसलिए उनके बिल्कुल निकट नहीं जाना चाहिए। राजसेवाका निषेध है। उसको शास्त्रमें श्ववृत्ति बोलते हैं। श्ववृत्ति माने जैसे कुत्तेको पूँछ और जीभ हिलानी पड़ती है—ठीक वही काम करना पड़ता है। राजाकी सेवा भी निषिद्ध है और जूआ भी निषिद्ध है और भगवान्‌ने अपनी विभूतियोंमें इन दोनोंकी गणना की है। स्पष्ट रूपसे शाण्डिल्यने इसका निषेध किया कि ये द्यूत और राज सेवाको विभूतिके रूपमें भगवान्‌ने वर्णन किया है, यह आराधनाके लिए नहीं है।

तब आराधना किनकी करनी चाहिए? तो जिनकी आराधना शास्त्रमें वर्णित है। शास्त्रमें वर्णित है माने मत्स्य, नृसिंह, वराह, वामन, कच्छप, परशुराम—इनकी आराधना कर सकते हैं और यहाँ देखो 'आदित्यानामहं विष्णुः' वाक्यमें माने वामन।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

●

प्रवचन : 8

(7-11-81)

भगवान्‌के गुणोंका जितना वर्णन आता है, उनमें भक्तोंने यह निश्चय किया है कि करुणा ही सर्वश्रेष्ठ गुण है।

मुख्यं तु तस्य कारुण्यम्। 2.1.23

यह शाण्डिल्य भक्ति-दर्शनका सूत्र है। करुणा ही भगवान्‌के गुणोंमें मुख्य है। गुणोंमें परस्पर विरोध भी कभी होता है। कभी दया आती है, कभी असंगता आती है, कभी स्नेह होता है। कभी स्वरूप-स्थिति हो जाती है। भगवान् यह सब काम क्यों करते हैं? क्यों आते हैं? उन्होंने बताया कि सृष्टि तो बीज-वृक्ष न्यायसे अनादि ही है। आजतक कोई यह निश्चय नहीं कर सका कि पहले बीज कि पहले वृक्ष। पहले भी जीव था, प्रलय हो गया तो सो गया फिर सृष्टि हुई तो जाग गया।

भगवान् यह सृष्टि क्यों बनाते हैं? करुणावश। जीव सोता न रहे। अपने धर्म, अर्थ, काम, मोक्षरूप पुरुषार्थकी प्राप्तिके लिए प्रयत्न करे। इसके लिए सोते हुए को जगाते हैं। बुद्धि देते हैं, संकल्प देते हैं, इन्द्रिय देते हैं। शरीर देते हैं कि वह अपने पूर्व-पूर्व संकल्पके अनुसार पौरुष करे। जीवोंपर करुणा करके ही भगवान् यह सृष्टि बनाते हैं। फिर यह हुआ कि वे प्रकट क्यों होते हैं? प्रकट भी करुणा करके ही होते हैं। जब देखते हैं कि जीव अनात्म-वस्तुमें अत्यन्त आसक्त हो गया, जिसको न तो वह भगवान्‌के रूपमें देख पाता है और न तो अपनी आत्मासे अभिन्न देख पाता है, उस वस्तुके पराधीन होकर संसारमें जब भटकने लगता है तो करुणा करके भगवान् अनेक रूपोंमें प्रकट होते हैं।

उनमें एक रूप वामन है। यहाँ जो विभूतिका वर्णन है 'आदित्यानामहं विष्णुः' वह वामनका ही नाम यहाँ विष्णु है। केवल संकेत रूपमें आपको सुनाता हूँ। वेदमें मन्त्र है—'वामनो ह विष्णुरास' (शतपथ 1.2.55)। जो वामन है वही विष्णु हो गया। माने पहले बलिके यज्ञमें नन्हें-से वामनके रूपमें आये थे और फिर विराट् रूप धारण करके उसने बलिका सर्वस्व नाप लिया। 'आदित्यानामहं विष्णुः'। अदितिके पुत्रोंमें मैं विष्णु हूँ माने अन्तिम पुत्र मैं वामन हूँ—इसका अर्थ यह होता है। इसमें यदि आप करुणा देखेंगे तो पहली बात तो यह लगती है कि भगवान् अपने भक्तका पक्षपात करते हुए लगते हैं।

भगवान् अपना जितना शरीर प्रकट करते हैं, वह नित्य और पवित्र होता है। दिव्य और शाश्वत—माने हमेशा रहनेवाला होता है। हमारे शरीरमें भी वामन प्रकट हैं। उपनिषदोंमें इसका वर्णन है।

ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति।
मध्ये वामनमासीनं विश्वेदेवा उपासते।। कठोप. 2.2.3

प्राण हमारा ऊपरके रास्तेसे बाहर जाता है, लौटता है, और अपान नीचेके रास्तेसे निकलता है। इन दोनोंको अलग करके दोनोंके मध्यमें सन्धि जो है—वहाँ परमात्मा है।

कई लोग परमात्माका ध्यान प्राण और अपानकी सन्धिमें करते हैं। बहुत छोटा-सा, बहुत नन्हा-सा वह सन्धि-स्थल है। प्राणकी गति निराली और अपानकी गति निराली और दोनोंको अलग-अलग करनेके लिए बीचमें बैठ गये वामन भगवान्। नहीं तो मनुष्य जिन्दा ही नहीं रहेगा। प्राण यदि अपानमें मिल जाय और अपान प्राणमें मिल जाय तो मनुष्य जीवित नहीं रह सकता। यह जो हमारा जीवन चल रहा है, वह हमारे हृदयमें वामन भगवान् बैठे हैं, इसलिए चल रहा है।

हमारे ऊपर प्रत्यक्ष करुणा है भगवान्‌की, नहीं तो साँस बाहर निकलकर फिर लौट आये यह लोगोंको मालूम नहीं पड़ता—पर आश्चर्य है। साँस बाहर जाती है, और फिर लौट आती है। जब साँस शरीरसे बाहर निकल गयी तो क्या विश्वास है कि वह लौटकर आवे कि न आवे। लेकिन भगवान् भीतर बैठे हुए हैं। वही साँसको बाहर भेजते हैं और वही साँसको भीतर खींचते हैं, जिससे हम लोग जिन्दा रहते हैं। वैसे भगवान् प्रत्यक्ष दिखायी भी पड़ते। ऐसा नहीं है कि प्रत्यक्ष न दीखते हों। एक वामन तो ये हुए जो आपके शरीरमें रहकर प्राण, अपानका विभाग कर रहे हैं—जीवन दे रहे हैं। ये भी अदितिके ही पुत्र हैं।

अब दूसरे वामनका ध्यान करो। पक्षपाती भगवान्। हम भगवान्‌को पक्षपाती बोलते हैं। आर्यसमाजियोंके भगवान् न्यायकारी हैं। ब्रह्मसमाजियोंके भगवान् भी न्यायकारी होते हैं और जो इसाई, मुसलमान और हमारे सनातनधर्मी लोग हैं, इनके भगवान् सर्वदासे भक्तोंका पक्ष करते हैं। यद्यपि इसाई, मुसलमानके भगवान् निराकार हैं। पर वे मुहम्मद साहबके सिवाय तथा ईसाके सिवाय और किसीकी सुनते ही नहीं हैं। वे जिसकी सिफारिश कर दें, मान लेते हैं। तो वे निराकार होनेपर भी पक्षपाती हैं।

और हमारे भगवान्‌को तो कोई तुलसीदल चढ़ा दे, बेलपत्र चढ़ा दे, एक चुल्लू गङ्गाजल चढ़ा दे—उसीका पक्षपात करने लगते हैं। जब पक्षपात करते हैं तब भगवान्‌को थोड़ा छोटा होना पड़ता है। क्योंकि पार्टीमें आगये न! पार्टीमें आगये तो छोटे हो गये। अपने भक्तों की पार्टीबन्दीमें जब भगवान् आते हैं तब पक्षपात करने लगते हैं। देखो, अदितिने तपस्या की, कश्यपके बताये हुए विधानसे। उसमें पति, पत्नी दोनोंका योग है न! कश्यपजीने विधि बतायी और अदितिने उसका पालन किया—तेरह दिन। द्वादशाह पयोव्रत—बारह दिनका पयोव्रत है और तेरहवें दिन उसका उद्यापन है।

अब भगवान् प्रकट हुए अदितिके पास। अदितिसे पूछा क्या चाहिए? बोले—हमारे पुत्रोंकी विजय चाहिए। तुम्हारे पुत्रोंके जो शत्रु हैं बड़े धर्मात्मा हैं, यज्ञ-याग कर रहे हैं। उनको मारनेका तो समय नहीं है। भगवान्‌ने कहा जो रास्तेसे चल रहा है—जो ठीक सन्मार्गसे चल रहा है, उसको परमेश्वर भी गिरा नहीं सकता, पतित नहीं कर सकता। भगवान्‌ने अदितिको साफ कह दिया कि तुम्हारे पुत्रोंके शत्रु जो दैत्य हैं वे इस समय यज्ञ कर रहे हैं, धर्मात्मा हैं, उनको जीतकर पार नहीं पाया जा सकता। अदितिने कहा कि हमारा काम तो भगवान्, आपको करना ही पड़ेगा। तब कैसे करें? हमारा पक्षपात करना पड़ेगा। यदि जिसकी हम पूजा करते हैं वह हमारा पक्षपात न करें तो हम उनकी पूजा क्यों करें? तब तो बिना पूजाके ही हम बिलकुल ठीक हैं, जैसे हैं वैसे हैं। पूजा करने पर तो भगवान्‌को हमारा पक्षपात करना चाहिए।

भगवान्ने कहा कि ऐसे तो पक्षपात नहीं बनेगा। हम तुम्हारे बेटे बन जाते हैं। तब फिर पार्टीमें आगये। अब अपनी पार्टीमें आगये तो बदमाश भी दूधका धुला और दूसरेकी पार्टीका है तो दूधका धुला भी बदमाश! तो भगवान्ने पार्टी बन्दीमें अपनेको मिला दिया। अदितिकी तपस्यासे प्रसन्न होकर उसके बेटे बने तो आदित्य हो गये। अदितिके पुत्र होनेसे भगवान्का नाम हो गया 'आदित्य'। यह तो हो गया अदितिके प्रति पक्षपात अथवा देवताओंके प्रति पक्षपात।

अब यह कहो कि भगवान्ने इतनी कठोरता दैत्योंके साथ क्यों की? दैत्योंके साथ कठोरता नहीं की बल्कि देवताओंको जितना दिया, उससे ज्यादा दैत्योंको दिया। ऐसा प्रसंग है—'आदित्यानामहं विष्णुः।' इन्द्रमें भी व्यापक वही हैं और बलिमें भी व्यापक वही हैं। इसलिए उनका नाम होता है 'विष्णु'। माँगने वालेको छोटा बनना पड़ता है। इसलिए भगवान् विष्णुसे वामन हो गये—बौने। माँगनेवाला कभी बड़ा तो हो ही नहीं सकता। पर जब बलिके यज्ञमें जाकर उन्होंने माँगा तो वहाँ स्पष्ट लगता है कि इन्द्र और देवताओंका उन्होंने पक्षपात किया। छोटे होकर माँगने गये और लेते-लेते विराट् बन गये। और बलिका सर्वस्व ले लिया।

भगवान् बड़े अन्यायी हैं भाई! नहीं, भगवान्की रीति यही है कि छोटे-से बनकर हृदयमें आते हैं—जैसे कामना जो है वह छोटी-सी बनकर अपने हृदयमें आती है और जब संग मिलता है तब तरङ्गके रूपमें आती हैं और समुद्र बन जाती है। भगवान् भी ऐसे ही हृदयमें पहले छोटे-से बनकर आते हैं। दो मिनटके लिए भगवान्का नाम लेना शुरू करो, दो मिनटके लिए भगवान्का ध्यान शुरू करो, जब उसमें रस आजायेगा तब वह ध्यान घण्टोंके लिए हो जायेगा।

भगवान् जीवनमें नन्हें-सें बनकर प्रवेश करते हैं और फिर विशाल रूप धारण कर लेते हैं। बलिके सामने नन्हें-से बनकर आये और थोड़ी-सी चीज माँगी। दो मिनट माँगा—तीन मिनट समझ लो। केवल तीन मिनट माँगा। केवल तीन पग धरती माँगी। बाबा—हम थोड़ेमें ही सन्तुष्ट हैं। देखो, भगवान्की चालाकी है यह! पहलेसे ज्यादा माँगेंगे तो देंगे नहीं। शुक्राचार्य उसी समय काने हो गये थे। जब उन्होंने दान देनेमें रुकावट डाली तो काने हो गये। पक्षपात ही देखो—तीन पग माँगा दूसरे शरीरसे! संकल्प ले रहे थे दूसरे शरीरमें और बन गये बिलकुल विराट्।

एक पगमें बलिका लोक नाप लिया—दूसरे पगमें परलोक नाप लिया, परन्तु इतने-से उनके तीन पग पूरे नहीं हुए। हमें बताना यह है कि बलिपर भी भगवान् की कितनी करुणा है। इन्द्रको मिला एक पग—नहीं, उपेन्द्रको मिला दो पग। और बलिको डाँटा—तुमने तीन पग देनेकी प्रतिज्ञा की थी—तुम दे नहीं सके, इसलिए तुम्हें नरकमें जाना पड़ेगा। क्योंकि जो अपनी प्रतिज्ञाका पालन नहीं करता है, उसको नरकमें जाना पड़ता हैं। नहीं महाराज, हमारी प्रतिज्ञा झूठी नहीं है। आप तीसरा भी नाप लो। अब तुम्हारे पास है क्या? न लोक है, न परलोक है। हम नापें क्या? झट बलिने अपना सिर झुकाया।

पदं तृतीयं कुरु शीर्ष्णि मे निजम् । भाग. 8.22.2

आप तीसरा पग हमारे सिरपर रख लीजिये। हमने संकल्प करके अपने पौरुषसे उपार्जित यह लोक

दिया और धर्मसे उपार्जित परलोक दिया। लेकिन मैं जो पुरुष हूँ—पौरुष करनेवाला, पुरुषकार करनेवाला जो मैं हूँ, वह मैं तो अभी आपको अर्पित नहीं हुआ। मेरा पैदा किया हुआ लोक आपने एक पाँवमें लिया। मेरा पैदा किया हुआ परलोक दूसरे पाँवमें लिया। पैदा करनेवाला मैं तो हूँ न! मेरे सिरपर पाँव रखो। इसीको बोलते हैं—'अहम्'—सर्वस्व आत्मसमर्पण।

बलिको क्या मिला? भगवान्‌का चरणारविन्द मिला। इन्द्रको मिला राज्य—लोक, परलोक। और भगवान्‌का पक्षपाती होनेका सुयश मिला कि वे देवताओंका पक्षपात करते हैं और बलिने जब अपने आपको भगवान्‌को दिया—बलिने अपना सिर दिया—उसपर उन्होंने पैर रखा। बलि हो गये भगवान्‌के। बलिको क्या मिला? भगवान् मिले। भगवान् हो गये बलिके।

बलि अब जहाँ सुतल लोकमें रहते हैं, भगवान् हाथमें गदा लेकर उनके बारहों दरवाजोंपर, अकेले वामन भगवान् बलिके बारहों द्वारपर रहकर पहरा देते हैं। रावण आया—ऐसा अंगूठेसे उसको उछाला कि जाकर लंकामें ही गिरा।

अब आप देखो, भगवान् पक्षपाती हैं कि उनके हृदयमें करुणाकी प्रधानता है? अदितिका मनोरथ पक्षपाती होकर सिद्ध किया। वह भी एक करुणा है। अपने भक्तके प्रति पक्षपात। और बलिने अपना सर्वस्व दिया तो भगवान्‌ने बलिको लोक दिया, उसे अगले मन्वन्तरके लिए इन्द्र बनाया—परलोक भी दिया और—सबसे बड़ी चीज—बलिने जब अपना आपा दिया तो भगवान्‌ने अपना आपा भी दे दिया। यह है 'आदित्यानामह विष्णुः'का अर्थ। वह नन्हें-से वामन भी हैं—कश्यप, अदितिके पुत्र भी और वह स्वयं विराट् भी हैं और वह प्राण-अपानके विभाजक भी हैं। ये विष्णु ऐसे हैं! इसपर शाण्डिल्य भक्ति-दर्शनमें बहुत विचार है। उसपर दो बहुत विस्तृत भाष्य हैं। एक स्वप्नेश्वराचार्यका, एक हमारे नारायण तीर्थका। दिया क्या? अपना आपा।

अब यह जो विष्णुका वामनरूप है वह हम लोगोंके रूपकी तरह नहीं है। जैसे पञ्चभूतसे बना, वासनामूलक हम लोगोंका शरीर होता है। इसपर माता-पिताका भी प्रभाव होता है। नाना-नानी, दादा-दादीका भी होता है और कभी-कभी तो गोत्र-प्रवर्तक ऋषि हैं—जैसे किसीका गोत्र वत्स है—और किसीका गोत्र गर्ग है, किसीका गोत्र गोभिल है; पहले बड़े-बड़े आचार्य हुए हैं—जहाँसे हमारा गोत्र चला है, उनके वीर्यमें भी एक संस्कार था और वह संस्कार आजतक सुषुप्त था, आज आकर हमारे जीवनमें प्रकट हो गया। इसीको गोत्र बोलते हैं।

वसिष्ठ गोत्र, गर्गगोत्र, शाण्डिल्य गोत्र—जैसे गोयल। गोयल माने गोभिल गोत्र ही है। ये बंसल बोलते हैं जिसे उसके वंश-प्रवर्तक वत्स ही हैं। यह इसकी रीति है। उन आचार्योंके संस्कार, परम्परासे रजवीर्यमें छिपे रहकर कभी-कभी हजारों वर्षके बाद, लाखों वर्षके बाद प्रकट होते हैं। ये बात लोगोंको तब पता चलती है जब बहुत गम्भीरतासे सृष्टिके रहस्यपर विचार करते हैं—आपने सुना होगा—सैबेरियामें कुछ जौके दाने मिले। जाँच की गयी तो २००० वर्ष पहलेके थे। और वहाँ ज्यों-के-त्यों पड़े थे क्योंकि ठंड ज्यादा होती है। जब

वहाँसे उठाकर लाये गये, सामान्य भूमिमें इधर लाये गये, तो उनमें अङ्कुर निकल आये। २००० वर्ष बाद उनमें जो बीजशक्ति छिपी थी, वह ठंढमें प्रकट नहीं हो रही थी और अब प्रकट हो गयी। यह जो हम लोगोंके गोत्रका नाम लेते हैं, वह शक्ति भी रहती है।

मनुष्यका शरीर पञ्चभूतरूप उपादनसे बनता है और नाना-नानी, माता-पिता, तकमें गोत्र-प्रवर्तक ऋषिके उसमें संस्कार छिपे रहते हैं। इसीसे सज्जनको भी दुर्जन होते देखा जा रहा है। और दुर्जनको भी सज्जन होते देखा जाता है। हमने देखा है जो पहले बहुत दुष्ट थे वे शिष्ट हो गये। निराश कभी नहीं होना चाहिए कि यह दुष्ट है। इसके अन्दर शिष्टता कभी नहीं आयेगी। आशा रखनी चाहिए कि यह दुष्ट है। इसके अन्दर शिष्टता कभी नहीं आयेगी। आशा रखनी चाहिए, विश्वास रखना चाहिए कि यह आगे चलकर ठीक हो जायेगा। आप किसीको भी हमेशाके लिए बुरा मत समझिये। उसके भीतर जो अच्छाई है, उसपर ध्यान दीजिये। उसके भीतर शक्ति है, विशेषता है। हम लोगोंका जो शरीर बनता है, वह पञ्चभूतसे बनता है, जीवके पूर्व कर्मसे बनता है। जीवके पूर्व पुरुषोंसे आता है और गर्भके खानपानसे बनता है और संगसे बनता है। यह चरकसंहितामें सात प्रकारका कहा गया है।

भगवान्‌का जो शरीर है, उसमें ये सातों नहीं होते। न उनमें माता-पिताका प्रभाव है, न संगका प्रभाव है, न नाना-नानीका, न दादा-दादीका, न गोत्रप्रवर्तक ऋषिका; उनका शरीर-कर्म और वासनासे बना हुआ नहीं है। वह जो सच्चिदानन्दघन परमात्मा है, वह केवल करुणापरवश होकरके ही एक व्यक्तिके रूपमें प्रकट हुआ है। अब आप जब विभूतियोंका विश्लेषण करें तब उसमें देख लें कि कौन-सी विभूति, परमात्माका आविर्भाव है। जैसे यहीं 'आदित्यानामहं विष्णुः' ये उपास्य हैं। माने विष्णुकी उपासना की जानी चाहिए, क्योंकि उनका शरीर जड़ वस्तुओंसे बना हुआ नहीं है।

अब मत्स्य हैं, कच्छप हैं, वराह हैं, नृसिंह हैं, वामन हैं, राम हैं, कृष्ण हैं तो जो दिव्य सच्चिदानन्दघन-मूर्ति हैं। वे होते हैं, उपास्य और जो जड़ता-प्रधान हैं वे उपास्य नहीं होते हैं। यह सच्चिदानन्दघन अवतार लेकर आता क्यों है ? 'मुख्य तु तस्य कारुण्यम्।' यह उसकी करुणा, कृपा ही मुख्य है—करुणाके कारण ईश्वरकी असंगता द्रवित हो जाती है और जीवोंके कल्याणके लिए वे हम लोगोंके बीचमें कूद पड़ते हैं। जैसे गजेन्द्रके उद्धारके लिए भगवान् जलावतार ग्रहण करते हैं। जैसे द्रौपदीके लिए भगवान् वस्त्रावतार ग्रहण करते हैं। वैसे हम लोगोंके लिए भगवान् हमारे जैसा आकार लेकर अवतीर्ण होते हैं। लेकिन वह कर्म न वासना है, न परम्परा है, न कर्म है, 'लोकवत्तु लीला कैवल्यम्'। (ब्रह्मसूत्र 2.1.33) 'आकारमानत्वात्'। (शा० भ० सू० 2.26) शाण्डिल्यने बताया कि ये जो उपास्य विभूतियोंमें भगवान् हैं, उसमें आकार ही देवताका या मनुष्यका है—तत्त्व जो है वह तो सच्चिदानन्दघन ही है। मैटर वही है और शक्ल-सूरत भगवान्‌ने अपने मनसे गढ़ी है। केवल कर्मसे गढ़ी हुई नहीं है।

इस बातपर आपको यदि ज्यादा समझनेका मन हो तो जगत्‌के उपादानके सम्बन्धमें विचार करना पड़ता है। हमलोग जब दर्शनशास्त्र पढ़ते हैं तो देखते हैं कि चार्वाक सृष्टिका उपादान बहिरंग मानता है। चार-भूतोंसे

सृष्टि हुई। नैयायिक भी सृष्टिका उपादान बहिरंग मानते हैं। जैन भी मानते हैं परमाणु। लेकिन बुद्ध न चार भूतको उपादान मानते हैं, न परमाणुको। वे वासना विशिष्ट विज्ञानको ही जगत्का उपादान मानते हैं। माने अन्तरंग उपादान मानते हैं। यह जो बाहर सृष्टि दिख रही है, यह हमारे भीतरसे निकली हुई है।

सांख्ययोगमें जो सृष्टिका उपादान मानते हैं वह प्रकृति है। प्रकृति कहाँ रहती है? आजकल तो प्रकृतिवादी लोग तरह-तरहकी बात करते हैं। एक बार किसीने उड़िया बाबाजीसे कहा ये सब प्रकृतिने ही बनाया है। बोले तूने कभी प्रकृति देखी है? बोला—हाँ महाराज, यह सब क्या है? सब प्रकृति ही है न?

नहीं यह प्रकृति नहीं है, यह तो कार्य है। इस कार्यको देखकर तुम कारणके रूपमें प्रकृतिका अनुमान करते हो। प्रकृति बुद्धि और आत्मा दोनोंके बीचमें रहती है। प्रकृति से बुद्धि बनती है। यह जो हमारी बुद्धि बाहरकी चीजोंको देखती है, इसका नाम प्रकृति नहीं है। जब हमारी बुद्धि शान्त, सुषुप्त रहती है तब प्रकृतिमें स्थित रहती है। प्रकृति भी जगत्का अन्तरंग उपादान है। जो लोग सांख्ययोग मानते हैं वे मानते हैं कि वह बिलकुल अन्तरङ्ग है। कर्म भी किसीके साथ रहते हैं तो वे भी अन्तरङ्ग कारण हैं। ईश्वर भी अन्तर्यामी होनेसे अन्तरङ्ग कारण है। और माया? माया तो आत्मामें रहती ही है। इसलिए माया भी अन्तरङ्ग कारण है। लेकिन ये सब-के-सब, जब आत्माकी ब्रह्मरूपताका बोध होता है तो कारण और कार्यभाव ये दोनों विनष्ट हो जाते हैं।

दर्शन शास्त्रकी दृष्टिसे संसारका, विश्वका, सृष्टिका जो उपादान है वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्म है। इसीसे हमारे सिद्धान्तमें मूर्तिपूजा भी होती है क्योंकि उसमें भी उपादान सच्चिदानन्दघन ब्रह्म ही है। मत्स्य, कच्छप, वराह आदि आकृतियाँ होती हैं, शक्ल-सूरत होती है, लेकिन उपादान रूपसे उसमें ब्रह्म ही है। देखो भाई, बात दो टूक करनी चाहिए। यह बात संसारके किसी मजहबमें नहीं है। न इसाईमें है, न मुसलमानमें है, न बौद्धमें है, न जैनमें है, न यहूदीमें है, न पारसीमें है, न सिक्खमें है।

यह सर्वात्मा, सर्वकारण-कारण सर्वोपादान, अभिन्न निमित्तोपादान कारण हमारे परमात्मा है। इसीसे हमारी मूर्ति-पूजा भी है, अवतार भी है। श्राद्ध भी है, गौ-पूजा भी है, अश्वत्थ-पूजा भी है। अब यह बात आप यदि ध्यानमें न लोगे और खुदाको निकालोगे कुरानमें-से और ईश्वर निकालोगे बाइबिलमें-से और फिर कहोगे इसमें मूर्तिपूजा कहाँ है?

सत्यार्थ प्रकाशमें-से जो ईश्वर निकलेगा उसमें मूर्तिपूजा, अवतार, श्राद्ध कुछ नहीं होगा। लेकिन वेद, शास्त्र, पुराणमें-से जो ईश्वर निकलेगा उसमें अवतार, मूर्तिपूजा, श्राद्ध, वर्णाश्रम सब-का-सब उसमें-से निकल आयेगा क्योंकि यह सारा-का-सारा परमात्माका ही विलास है। यह जो हम देखते हैं कि राम क्षत्रियके रूपमें हैं। और श्रीकृष्ण यादवके रूपमें हैं और मत्स्य मछलीके रूपमें—यह आकार मात्र हैं, यह कोई कर्मजन्य या वासनाजन्य या प्रकृति आदि उपादानोंसे जन्य नहीं है। यह तो साक्षात् परब्रह्म परमात्माका स्वरूप है। इसलिए जब हम भगवान्‌के रूपका चिन्तन करने लगते हैं तब सम्पूर्ण विश्व-सृष्टि परमात्माका रूप निकल आती है।

यह केवल विभूति जो है—इसकी चर्चा इसलिए की कि ये हमारे हृदयमें जो राग-द्वेष हैं, जो शत्रु-मित्र हैं, जो गुण-दोष हैं ये सारे कलङ्क-पङ्कका प्रक्षालन करके और शुद्ध परमात्माके साथ मिला देनेके लिए हैं। अब ये जो विभूतियोंका वर्णन है वह एक तो भगवान्‌के रूपका ही विभूतिके रूपमें वर्णन है। जैसे मैं वृष्णिओंमें वासुदेव हूँ, 'वृष्णीनां वासुदेवोस्मि' (40.37) जैसे 'रामः शस्त्रभृतामहम्' (10.31)—शस्त्रधारियोंमें मैं राम हूँ। यह तो भगवद्रूप हूँ और कुछ अपनी-अपनी जातिमें उत्तम होनेके कारण विभूतिके रूपमें कहे गये हैं। जैसे 'स्थावराणां हिमालयः' (10.25) नराणां च नराधिपम् (10.27) ये अपनी-अपनी जातिमें श्रेष्ठ होनेके लिए कहे गये हैं। कुछको विभूति इसलिए बताया है कि वे उत्तमत्वापादक हैं। माने हमको उत्तम बना देनेवाले हैं—जों उस विभूतिका आश्रय लेगा वह उत्तम हो जायेगा।

तो भगवद्रूपको भी विभूति बताया गया उपासनाके लिए और जो अपनी-अपनी जातिमें उत्तम हैं, उनको भी विभूति बताया गया। और जो उत्तमत्वापादक हैं—उत्तमत्त्वापादक माने जैसे—'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि' (10.25) अब यह जप यज्ञको भगवान्‌की विभूति क्यों कहते हैं? इसलिए कि यदि आप जप यज्ञका आश्रय लें तो आप उत्तम हो जावेंगे। आप स्वयं भगवद्विभूतिरूप हो जायेंगे। उत्तमत्वापादक, जो इस यज्ञका आश्रय लेगा उसको यह यज्ञ उत्तम बना देगा। इसलिए इसको विभूति कहा गया।

हम विभूतियोंका केवल उद्देश्यमात्र सुनाते हैं। अब जप-यज्ञ क्यों है और वह भगवान्‌की विभूति क्यों है? यदि जपका आश्रय लें तो उत्तम हो जाते हैं? हम स्वयं उत्तम हो जाते हैं? इसलिए जप-यज्ञ—भगवान्‌की विभूति है। हमारे बाबा बोलते थे—

जपात् सिद्धिः जपात् सिद्धिः जपात् सिद्धिर्न संशयः।

आपको कोई भी सिद्धि प्राप्त करना हो तो जप कीजिये, जप कीजिये, जप कीजिये। वे अभागे लोग हैं जिनका जपपर विश्वास नहीं है। कोई भी सिद्धि जपके द्वारा प्राप्त हो सकती है। समाधि लगानेसे जो सिद्धि होती है सो, योगाभ्यास करनेसे जो सिद्धि होती है सो, क्योंकि जब हम भगवान्‌के नामका, मन्त्रका जप करते हैं, जप दोनोंका होता है—मन्त्रका भी होता है और नामका भी होता है। नाम अलग वस्तु है और मन्त्र अलग वस्तु है।

जपको जप क्यों कहते हैं—जन्मनः पाति। जो जन्म-मरणके चक्करसे छुड़ा दे। उसका नाम होता है जप। अब आओ आप भगवान्‌का नाम लो। पाठ दूसरी चीज है, उसमें अनेक शब्दोंका उच्चारण होता है और जप दूसरी चीज है, उसमें एक छोटा-सा शब्द या वाक्य ले लो और उसको दुहराते जाओ। 'जपश्रान्तश्चरेद् ध्यानम्'। जब जप करते थक जायें तब ध्यान करें। 'ध्यानश्रान्तश्चरेज्जपः।' जब ध्यान करते-करते थक जायें तब जप करें। 'जपध्यानपरिश्रान्तो ह्यात्मतत्त्वं विचारयेत्।' जब जप और ध्यान दोनोंमें प्रवृत्ति शिथिल हो जाय तो अपने स्वरूपका विचार करना चाहिए।

सब सिद्धियोंका निरूपण न करके आओ, जपके बारेमें थोड़ा विचार करें। हमने ऐसे जप करनेवाले देखे हैं, बड़े-बड़े बालवाला शरीर भगवान्‌का मान लिया, एक रोंवा खड़ा हो गया, दुबारा भगवान्‌का ।म

लिया, दूसरा रोंवा खड़ा हो गया—ऐसा देखा। आप लोगोंको सुनाया होगा—जबलपुरके पास भेड़ाघाट पर एक रामसनेही साधु रहते थे। एक बार कैलाशके महामण्डलेश्वर स्वामी चैतन्यगिरिजी भेड़ाघाट पर आये। देखा तो एक साधु पड़ा हुआ है। चैतन्यगिरिजीके मनमें करुणाका उदय हुआ। उसके पास जाकर बोले—महात्मा जवान हो उठो, भगवान्के नामका जप करो, ध्यान करो, अपनी उम्र ऐसे ही क्यों गँवा रहे हो?

उमरिया गँवाय दई रे प्रभु नहीं चीह्ना।

यह वहीं कि बोली है। उठो जप करो। उन्होंने आँख खोलकर देखा कि यह तो कोई महात्मा है तब बुलाया, हमारे पास आओ। यह हमारी हथेली अपने कानमें लगाओ। वह हथेली कानमें लगाये तो उसमें-से 'राम' 'राम' की ध्वनि आरही थी। फिर बोले हमारे सिरपर हाथ रखो। सिरपर हाथ रखा। सिर बोलता था 'राम' 'राम'। बोले मेरी छातीपर अपना कान लगाओ—छाती बोलती थी 'राम' 'राम' 'राम'—फिर बोले। हमारे पाँवपर अपना कान लगाओ। पाँव भी बोले 'राम' 'राम' 'राम'। अब चैतन्य गिरिजीने नमस्कार किया। बहुत बड़े विद्वान् थे—बोले महाराज, तुम पड़े रहो। तुम्हारे लिए जप, ध्यान करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

हमारे वृन्दावनमें एक चोर बाबा हैं तो जब मैं जबलपुर जाया करता था तो वे हमारे साथ कभी-कभी चले जाते थे। मुझसे पूछते—आप जबलपुर क्यों जा रहे हैं? मैंने कहा हम क़था कहने, प्रवचन करने जा रहे हैं। तुम क्यों जा रहे हो? बोले—हमारा एक यार है। उससे मिलने जा रहे हैं। वे यार वही थे। शरीरपर जपका कितना प्रभाव पड़ता है? रग-रगमें रोम-रोममें मन्त्रकी ध्वनि व्याप्त हो जाती है। जपकी एक बात आपको सुनाते हैं। आप समझो कि हमारे मनमें या तनमें परिवर्तन करना है तो कम्युनिस्टोंका जो हँसिया, हथौड़ा है, उससे तो हमारे हृदयका या हमारे मनका परिवर्तन नहीं हो सकता। और न तो वहाँ डाक्टरका हाथ पहुँचकर ऑपरेशन कर सकता है।

आप लोगोंने सुना होगा—आजकल एक ध्वनि-चिकित्सा विज्ञान निकला है। हमारे घुटनेमें दर्द होता था तो हेमलता रतनसी भाई एक डॉक्टर ले आये थे। वह एक मशीन हमारे घुटनेपर रखता था और वह कहता था, हमारा कान जितना सुन सकता है, उससे तीन लाख गुना ऊँची ध्वनि इस मशीनमें-से निकलकर घुटनेमें प्रवेश कर रही है। यह एक संचार कर देती है और घुटनेका दर्द मिट जायेगा। यह शब्द-चिकित्सा है। यह जो हमारे शरीरमें भगवन्नामकी ध्वनि व्याप्त होती है—रोम-रोममें, रग-रगमें, हमारे तनमें, हमारे मनमें, इस ध्वनिके कारण शरीरमें भी परिवर्तन हो जाता है और मनमें भी परिवर्तन हो जाता है। इसको आप साधारण बात न समझें।

हमको तो आश्चर्य होता है कि लोगोंका जप-पर विश्वास क्यों नहीं होता? एक ताराबाई महाराष्ट्रमें थीं। वे विदेशकी यात्रा करने गयीं थीं तो उनकी महिमा यह थी कि उनके सामने एक पात्रमें पावडर रखा जाता था। जब वह वीणा लेकर बजाती थीं तो जो राग-रागिनी बजातीं, उस राग-रागिनीका चित्र उस पावडरपर बन जाता था। माने ध्वनि जाकर जब उस पावडरपर टकराती थी तब कुछ पावडर उधर, कुछ इधर होकर वैसी तसवीर बन जाती। वहाँ एक बङ्गाली सज्जन थे तो उन्होंने कहा कि तुम शंकराचार्यका भैरवाष्टक गाकर सुनाओ तो

उन्होंने भैरवाष्टकको राग-रागिनीमें बाँधकर जो गाया सो उस पावडर पर एक तो बन गया कुत्ता और एक बन गया नाटा-सा काला-कलूटा पुरुष भैरव।

शब्दमें शक्ति होती है, उसके उच्चारणमें, उसकी ध्वनिमें शक्ति होती है। हमने एक खिलौना देखा। जब हम बोलते थे गो (go), वह खिलौना चलते देखा—जब हम बोलते थे स्टाप (stop)—वह खिलौना जो अंग्रेजी समझता था, संस्कृत नहीं समझता था, स्टाप कहनेपर खड़ा हो जाता था। मैंने पूछा यह क्या है? तो बोले इसकी बैटरी ऐसे ढङ्गसे बनायी गयी है कि जब 'गो' शब्द टकराता है तब बैटरी बन्द हो जाती है। इसीसे यह खिलौना चलता है और हिलता है। यह एक शब्दकी शक्ति बतानेके लिए मैंने सुनाया।

अभी हमारे पास कोई शाबर मन्त्रोंकी चर्चा कर रहा था। तो मैंने दो-चार शाबर मन्त्र बचपनमें सीखे थे। गोंडोंसे प्रत्यक्ष उसकी शक्ति देखनेमें आती थी। अब लोग कहेंगे कि यह सब अन्धश्रद्धा है, अन्धविश्वास है— हमने तो हमारे हृदयमें उस पिटारीको बन्द कर दिया कि जा भाई, अब मत निकल—अब मत निकल क्योंकि; लोग सुनकर विश्वास नहीं करते हैं तो उस यन्त्र, मन्त्र, तन्त्रकी पिटारी थी उसे बन्द कर दिया। अब वह हमारे किये होता भी नहीं है। कोई हमसे कहना भी मत। न अब उसका स्मरण है। मन्त्रका हमने चमत्कार देखा है। शब्दमें इतनी शक्ति है कि वह देवताको हृदयमें-से निकालकर बाहर रख दे और देवताको स्वर्गमें-से बुलाकर सामने ही खड़ा कर दे। ऐसी मन्त्रोंमें शक्ति होती है।

ब्रह्मसूत्रमें एक प्रकरण आया है—यह आपको जान-बूझकर सुनाते हैं—यह जो यज्ञ होता है, अग्निहोत्र होता है—उससे अन्तःकरणकी शुद्धि होती है। परन्तु वह तब करना चाहिए जब पत्नी साथ हो। पति-पत्नी मिलकर साथमें यज्ञ करते हैं। ब्रह्मसूत्रमें यह अधिकरण आया कि जिसकी पत्नी मर गयी हो वह अपनी शुद्धिके लिए क्या करे? क्योंकि अग्निहोत्र तो कही नहीं सकता, यज्ञ तो कर नहीं सकता। तब उसकी अन्तःकरण-शुद्धि कैसे हो? उसके उत्तरमें यह प्रकरण है। इस प्रकरणका नाम है 'विधुराधिकरण' माने विधुर पुरुषके अन्तःकरण-शुद्धिके लिए क्या कर्तव्य है। वहाँ बताया कि विधुरके लिए यज्ञकी कोई जरूरत नहीं है। क्या बिना यज्ञ, बिना अग्निहोत्रके अन्तःकरण शुद्ध ही नहीं हो सकता? यह बात नहीं है।

जपेनैव तु संसिध्येद् ब्राह्मणो नात्र संशयः। मनु० 2.87

यदि ब्राह्मण जप करेगा—ब्राह्मण माने क्षत्रिय, वैश्य सब—जपके अधिकारी हैं—वे जब जप करेंगे तो जपसे ही उनके अन्तःकरणकी शुद्धि हो जायेगी। आजकल तो हम जहाँ जाते हैं वहाँ कुछ-न-कुछ आश्चर्य तो हमको मिलता है। क्या आश्चर्य मिलता है? चाहे जो जिसको चाहे जो मन्त्र जपनेको बता देता है। अब उसको मालूम नहीं है कि यह मन्त्र किसके साथ ठीक बैठेगा? मन्त्रकी शक्ति कैसे काम करती है, उसको तो वह जानता नहीं है। गायत्रीका जप है उसमें मन्त्रकी शक्ति है, वह अलग है और मन्त्रसे जो लाभ होता है सो अलग। परन्तु वह जब ठीक जगहपर बैठे तब लाभ पहुँचाती है। यह नहीं है कि चाहे जिसको 'आनन्द-भैरव-रस' पिला दो—तो छटपटाने लगेगा गरमीके मारे। और हमको आनन्दभैरवरस पिला दो तो हममें ताकत आजायेगी। क्योंकि पित्तप्रकृति और वात प्रकृतिका अन्तर होता है।

इसी प्रकार ये मन्त्र भिन्न-भिन्न प्रकृतिवालोंके लिए होते हैं। गायत्रीका जप अलग है। महामृत्युञ्जयका जप अलग है। यजुर्वेदके तो प्रत्येक मन्त्रपर—कात्यायन सूत्रमें बहुत प्राचीन जप करनेकी विधि कही गयी है। यह श्रौतसूत्र है। श्रोतसूत्र, धर्मसूत्र और गृह्यसूत्र—ये तीन प्रकारके सूत्र होते हैं। वे वेदके छह अङ्गोंमें-से एक अङ्ग हैं । एक-एक मन्त्रका अलग-अलग कल्प कात्यायन-सूत्रमें बताये हैं। ये लोग जो कहते हैं अरे, मैंने तो किया, उसको ठीक अधिकारी पुरुष, ठीक विधिसे, परम्परासे प्राप्त करके जब उसका अनुष्ठान करता है, तब वह सफल होता है। अब संन्यासी होकर होम करे। कैसे काम बने? न चोटी न जनेऊ और वर्णधर्मसे भ्रष्ट संन्यासी होकर होम करने लगे—होम संन्यासीके लिए नहीं होता; क्योंकि उसके लिए अग्नि-स्पर्श वर्जित है।

एक सज्जन हैं। हमलोग उनके यहाँ जाते हैं। वे कोई साधारण क्रिया करते हैं और उँगली पर हमको उठा लेते हैं। प्रबुद्धानन्द, विमलानन्दको भी उठा लिया। लेकिन उसमें एक बात देखनेमें आयी कि यदि रजस्वला स्त्री उठानेवालोंमें शामिल हो जाये तो वह प्रक्रिया बिलकुल काम नहीं करती। जब उसको हटा देते हैं तब वे उठा सकते हैं। यह क्या संसारकी प्रक्रिया है, इसको साधारण दृष्टिसे नहीं समझ सकते हैं।

वेदके मन्त्रोंका जप अलग होता है। तन्त्रके मन्त्रोंका जप अलग होता है और पुराणके मन्त्रोंका जप अलग होता है और पञ्चरात्रके मन्त्रोंका जप अलग होता है। जप ओठ हिलाकर करना कि गलेसे करना कि हृदयके करना कि मूलाधारसे जप करना, इसकी भी अलग-अलग प्रक्रिया होती है। इसको यज्ञ इसलिए कहते हैं कि बाहर अग्नि प्रज्ज्वलित करके ब्राह्मण बुलाकर वेद-मन्त्रका सही-सही उच्चारण करके किया जाता है।

आप लोगोंको मालूम होगा कि त्वष्टाने इन्द्रको मारनेके लिए एक वेदके मन्त्रका उच्चारण करके अग्निमें हवन किया और उस मन्त्रके उच्चारणमें एक स्वरका अन्तर आगया—केवल एक स्वरका—और उसका अर्थ हो गया कि इन्द्रको नहीं मारे—इन्द्र अपने शत्रुको मारे। एक स्वरके अन्तरसे यह अर्थ हो गया। एक बार नारदजीको बड़ा अभिमान हो गया कि मैं संगीतका बड़ा भारी ज्ञाता हूँ। भगवान् अभिमान नहीं देख सकते। एक बार नारदजी गन्धर्वलोकमें गये। देखा कि राग-रागिनी कोई लंगड़ी हो गयी है, कोई लूली हो गयी है, कोई अन्धी हो गयी है। राग-रागिनी गन्धर्व-लोकमें मूर्तिमान होकर रहती हैं—लेकिन सब अन्धी, लंगड़ी, लूली—नारदजीने कहा—यह क्या हुआ? बोले महाराज, आप जो बेसुरा बजाते हो न! उससे हम लोगोंका अङ्ग-भङ्ग हो गया है। बेसुरा राग बजानेसे राग-रागिनियोंका अङ्ग-भङ्ग हो जाता है।

इसी प्रकार जब जप-मन्त्रोंका ठीक-ठीक जप नहीं किया जाता तब उनका अङ्ग-भङ्ग हो जाता है। हमारे जीवनके उत्तमका, जिसका हम नाम लेते हैं—बड़ा समझकर नाम लेते हैं—राम-राम, कृष्ण-कृष्ण तो उनको उत्तम भगवत्-रूप समझकर नाम लेते हैं। उनको उत्तमताका हमारे अन्दर अवतरण होता है और जब हमारे उच्चारण किये हुए शब्द जाकर उन भावमय मूर्तियोंका स्पर्श करते हैं—तो हमारे भाव ऊर्ध्वगामी हो जाते

हैं। यह बात प्रत्यक्ष देखनेमें आती है कि जो नीचेकी शक्तियाँ हैं, निम्न शक्तियोंसे सब ऊर्ध्वमुखी होकर जपसे ऊपर उठती हैं।

जप-यज्ञ क्या हैं? यह व्यक्तिको उत्तम अवस्थामें ले जानेवाले होते हैं। हृदयमें श्रद्धा आयी, ध्यान हुआ देवताका, उत्तम शब्दोंका उच्चारण हुआ और शरीरमें उत्तम स्फुरण हुए और रग-रगमें उस उच्चारणकी शक्ति व्याप्त हुई। तो जीवनमें सिद्धि लानेके लिए, शक्ति लानेके लिए और अपने जीवनका विकास करनेके लिए जप-यज्ञ बहुत श्रेष्ठ यज्ञ है, इसलिए भगवान्‌ने गीतामें 'यज्ञानां जपयज्ञोस्मि' कहा। यज्ञ बहुत प्रकारके होते हैं। कोई शब्दादि विषयोंको इन्द्रियाग्निमें हवन करते हैं। कोई इन्द्रियादिको शब्दादि विषयोंमें हवन करते हैं। कोई प्राणको अपानमें करते हैं। कोई अपानको प्राणमें करते हैं। बारह प्रकारके यज्ञोंका वर्णन गीतामें एक स्थानपर लिखा हुआ है। परन्तु वे सब यज्ञ हैं ही और जो बाहर यज्ञ होते हैं—जैसे अश्वमेध यज्ञ है, राजसूय यज्ञ है, वृहस्पति सव है, वाजपेय है, वैश्यस्तोम है, निषाद-स्थपति-याग है, आदि उन सब यज्ञोंके बीचमें भगवान्‌के नामका, भगवान्‌के मन्त्रका जप मूर्धन्य बन गया है।

यह जप अभिमानोत्पादक नहीं होना चाहिए, परम्परासे प्राप्त होना चाहिए, अधिकारीके द्वारा होना चाहिए, विधिपूर्वक होना चाहिए, श्रद्धासे होना चाहिए तो यह जप-यज्ञ मनुष्यको श्रेष्ठ बना देता है। जैसे यहाँ विष्णुका आराध्यके रूपमें विभूतिका वर्णन है वैसे वहाँ अनधिकारीको भी अधिकारी बना देनेवाले प्रेरकका प्रतिपादन है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

प्रवचन : 9

(8-11-81)

सबके अन्तर्यामी, सबके प्रेरक और सबके सारथि भगवान् हैं। पर सबके सारथि होनेमें और अर्जुनके सारथि होनेमें थोड़ा अन्तर है। साधारण जीवके सारथि हैं भगवान् अदृश्यरूपमें सामान्य प्रेरणा देते हैं। भक्तके सारथि हैं भगवान्—दृश्य रहकर। भक्त देखता है कि भगवान् हमको प्रेरणा दे रहे हैं, आज्ञा दे रहे हैं, अनुज्ञा दे रहे हैं। और जो अभक्त हैं उनको दिखाई नहीं पड़ता। वैसे सञ्चालक सबके भगवान् ही हैं। जैसे वर्णन आता है—'अग्निर्वै' वायुसारथि:'। अग्निका सारथि वायु है। 'अग्निर्वै वायु सचिव:'। अग्निका सचिव कौन है? वायु। सचिव है, सारथि है—सारयति अश्वान्—जो घोड़ेको चलाता है। पर अभक्तोंको इस बातका पता नहीं चलता है कि वह प्रेरक कौन है?

उपनिषदोंमें यह प्रश्न आया है कि किसकी प्रेरणासे हमारा मन कहीं जाता है? केनेषितं पतति प्रेषितं मन: (केन उप० 1.1) कौन हमारे प्राणोंका सञ्चालन करता है? किसकी प्रेरणासे हमारी आँखें देखती हैं? हमारे कान सुनते हैं। हमारी वाणी बोलती है। हमारा मददगार कौन है? क्या विडम्बना है जीवनकी कि हम अपने उस सहायकको, उस सचिवको, उस सारथिको, उस मददगारको पहचानते नहीं है। सो जानेपर भी जो हमारा साथ नहीं छोड़ता है—हमारे जीवनकी रक्षा करता है, मर जानेपर भी जो हमको मरने नहीं देता है, हमारे जीवनकी गतिको चालू रखता है। वह प्राणोंका प्राण प्रभु हमारे जीवनका सखा है। वेदमें एक मन्त्र आता है। जिसका भाव यह है कि जो अपने साथी और सचिव सखाको नहीं जानता है, उसको कुछ बोलनेका भी अधिकार नहीं है। जिसको यह मालूम नहीं है कि वाणीके भीतर बैठकर हमारी वाणीको शक्ति कौन देता है, उसको वाणीका प्रयोग करनेका भी अधिकार नहीं है। वही है अर्जुनका सारथि और यही है हमारा सारथि।

'धियो यो न: प्रचोदयात्' (ऋग्वेद 3.62.10) जो हमारे बुद्धिको प्रेरित करता है। दो बात गायत्रीमें कही गयी है। एक तो वह सृष्टिकर्ता स्वयंप्रकाश है और दूसरे हमारे बुद्धि-वृत्तियोंका प्रेरक है। एक प्रकारसे महावाक्य भी आगया इसमें और यह भी बात बता दी कि तुम विश्वके मूलमें जाकर परमात्माका साक्षात्कार नहीं कर सकते। यहीं अपने अन्त:करणके मूलमें बैठकर परमात्माका साक्षात्कार करो। 'अन्त: प्रवृत्त: शास्ता जनानाम्'। वेद भगवान् कहते हैं, वह सबके हृदयमें बैठा है। और सबका शासन कर रहा है। वही 'शरीरं रथमेव तु' (कठ उप० 1.3.3) शरीर रथ है और 'आत्मानं रथिनं विद्धि', (कठ० 1.3.3)। आत्मा रथी है और 'बुद्धिं तु सारथिं विद्धि।' तथा बुद्धिमें बैठकर वासुदेव सारथिका काम कर रहे हैं। गीताके जो गुरु हैं भगवान्, वे हमारे हृदयमें बैठे हैं। और हम उनके शिष्य अर्जुन हैं। वे जो कुछ कहते हैं हमसे ही कहते हैं। हम गीताकी बात सुनें तो भगवान् हमारे हृदयमें बोल रहे हैं।

देखो आपको एक कौतूहल दिखाते हैं। हमने कहा यदि हम मनुष्य न होते, ऊँट होते और भगवान् हमको बता रहे हैं-

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन। (2.47)

वहाँ कर्मका अर्थ क्या होता? बोझ ढोओ, गाड़ी चलाओ। खानेको तो तुम्हारा मालिक देगा 'मा फलेषु कदाचन'। अच्छा, हम बैल होते तो इसका क्या अर्थ होता? हम चिड़िया होते तो इसका क्या अर्थ होता? ऐसे हम लोग पहले गीता पढ़ते थे। 5-4 जने बैठ जाते। एकके हाथमें ज्ञानेश्वरी, एकके हाथमें शाङ्करभाष्य, एकके हाथमें मधुसूदनी, एकके हाथमें लोकमान्य तिलक। मैं, अवधूत, चक्रजी, गोस्वामीजी, पुस्तक खोल-खोलकर एक-एक श्लोकका अर्थ देखते। फिर थोड़ी देर आँख बन्द कर लेते। आओ भाई, अलग-अलग सोचें-हम स्त्री हैं तो भगवान् क्या बोल रहे हैं? हम पुरुष हैं तो भगवान् क्या बोल रहे हैं? सबके लिए निकलता था अर्थ। ऐसे नहीं कि जो भक्त चन्दन-टीका लगाकर जनेउ पहनकर गीताका पाठ करते हों उन्हींके लिए गीता हो, यह बात नहीं है। यह जो गीतामें बोलनेवाले भगवान् हैं, वे सबके लिए बोलते हैं।

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते। 10.8

मैं सबका बाप हूँ-संचालक हूँ। साफ कह दिया-

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्। 18.46

जो लोगोंका संचालन करता है और जो सब बना हुआ है। वह भगवान् है। गीताके भगवान्को, गीताके प्रेरकको आप अपनेसे दूर मत कीजिये। अबसे 5000 वर्ष पहले महाभारत-युद्ध कुरुक्षेत्रमें हुआ। और वहाँ एक रथ था, एक अर्जुन था, एक कृष्ण थे। हम उस इतिहासको मना नहीं करते। परन्तु अब जिस युगमें आप हैं-आपसे 5000 वर्ष दूर नहीं हैं भगवान्। आपसे 1000-2000 मील दूर नहीं है भगवान्। वह कुरुक्षेत्रमें नहीं हैं, आपके हृदयमें हैं। वह द्वापरमें नहीं हैं, इसी कलियुगमें हैं और वह दूसरे रथमें नहीं हैं, इसी रथमें हैं। वह अर्जुन दूसरा नहीं है, आप ही हैं। अपनेको पहचानिये। देखिये आपका मार्ग-दर्शक, आपका पथ-प्रदर्शक 'कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्'-वह जगदगुरु आपके साथ है।

जब हम पहले बोलते थे 'पिताहमस्य जगतः'-आनन्दमें भरकर बोलते थे। कभी-कभी चिल्लाकर भी बोलते थे-

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्सामयजुरेव च।।
गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्।।
तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन।। 9.17-19

आपने शायद दूसरे मजहबोंकी किताबें पढ़ी होंगी? मैं सत् और असत् दोनों हूँ। 'सदसच्चाहमर्जुन'। यह बोलनेवाला ईश्वर, हमारे कृष्णके सिवाय, दूसरे किसी मजहबका ईश्वर ऐसे नहीं बोलता। मैं ही सत् हूँ, मैं ही असत् हूँ। ऐसे बोलनेवाला ईश्वर 'मृत्युः सर्वहरश्चाहम्' (10.34)-मैं मौत हूँ। और फिर भी आप लोगोंको आश्चर्य हो जाता है कि 'द्यूतं छलयतामस्मि' (10.36) क्यों बोलते हैं? अरे भाई जब वह असत् है, सत् है-

मृत्यु है-'जीवनं सर्वभूतेषु' (7.9)। सबका जीवन है और 'मृत्युः सर्वहरश्चाहम्' (10.34)। वही मृत्यु है। वही सत् है, वही असत् है। ऐसा बोलनेवाला सर्वात्मा ईश्वर कोई मजहबी ईश्वर नहीं होता है। यह मजहब नहीं है। यह किसी आचार्यके द्वारा चलाया हुआ धर्म नहीं है। यह कहीं पेड़के खोडरसे आया हुआ सन्देश नहीं है। यह अपने बेटेके लिए भेजी हुई चिट्ठी नहीं है। यह तो आपके दिलमें बैठा हुआ जो आपका दिलदार है, वह बोल रहा है-आपके लिए।

उसने बताया-यह मैं, यह मैं, यह मैं, जड़ भी अपनेको बताया-चेतन भी अपनेको बताया। ऐसा परमात्मा आपको किसी मजहबमें नहीं मिलेगा। 'अचरं चरमेव च' (13.15) चर भी वही है-जो चलती-फिरती चीजें हैं। वह भी वही है और जो अचल चीजें हैं वह भी वही है। वैज्ञानिक कह देते हैं सब जड़ है, चेतन है ही नहीं। कोई कहते हैं परमात्मा चेतन ही है, जड़ है ही नहीं। यह ऐसा परमात्मा है कि अपनेको जड़ और चेतन दोनों बतावे। यह अभिन्ननिमित्तोपादान कारण नामका जो निरूपण है, वही कुम्हार है, वही माटी है, बननेवाला भी वही, बनानेवाला भी वही। बननेवाला घड़ा भी वही और बनानेवाला कुम्हार भी, माटी भी वही, ऐसे परमेश्वरका वर्णन है। मैं बार-बार यह बात इसलिए कहता हूँ कि दूसरे मजहबोंके मत हमारे ऊपर हाबी हो जाते हैं।

अहं आदिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च।

मैं ही भूतकी आदि हूँ, मध्य हूँ, अन्त हूँ। 'यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदमहर्जुन'। सम्पूर्ण प्राणियोंका बीज मैं हूँ। विभूति बतानेकी एक शैली है। इस तरफ आपका ध्यान खींचते हैं। आप ध्यान दें। जड़ वस्तुओंका नाम ले-लेकर भगवान्ने बताया ही है—विभूतियोंमें कि यह मैं हूँ—'स्थावराणां हिमालयः'। अपनेको साँप भी बताया है—'सर्पाणामस्मि वासुकिः। अनन्तश्चास्मि नागानां'—नाग भी बताया। और 'वैनतेयश्च पक्षिणाम्'—अपनेको चिड़िया भी बताया। यह 'मरीचिमरुतामस्मि' आया। ये मरुद्गण हैं, आदित्यगण हैं, वसुगण हैं, रुद्रगण हैं। इनमें एक-एक नाम लेकर भगवान् अपनेको बताते हैं। परन्तु एक-दो बात ऐसी हैं, अभी आपके सामने चर्चा करूँगा। मरुद्गणके उनचास नाम हैं। ग्यारह रुद्र होते हैं। द्वादश आदित्य होते हैं। आठ वसु होते हैं।

उनचास मरुद्गण होते हैं। जितने मरुत हैं—बहुत भेद होता है, उनका आवह प्रवह, आदि; किसीकी गति नीचेको होती है, किसीकी गति ऊपरको होती है। किसीकी गति टेढ़ी होती है, कोई बादल लानेवाला होता है, कोई गरमी लानेवाला होता है, कोई गन्ध लानेवाला होता है, वायुके अनेक भेद होते हैं। भगवान्ने बताया कि ये जितने मरुद्गण होते हैं उनमें मैं मरीचि हूँ। मरीचि नामक कोई मरुत् नहीं है। इसका अर्थ—वायुमें जो रश्मियाँ हैं, किरणें हैं वह मैं हूँ। सम्पूर्ण वायुके भेदोंमें जो एक ज्योति है, जो एक चमक है, जो एक गति देनेवाली संज्ञा है, वह मैं हूँ। बहुतोंमें एक—ऐसे बता दिया। मरुद्गण बहुत हैं और उनमें मैं मरीचि, सबमें रहनेवाला, मैं एक हूँ।

'अक्षराणामकारोस्मि' (10.33)। अक्षर बहुत-से हैं। जो कागजपर लिखते हैं, उनका नाम अक्षर नहीं होता है। ये जो लिपि है—काली स्याही या नीली स्याही पोत देते हैं कागजपर, वह स्याहीसे पुती हुई जो शकल है, लिपि है, उसका नाम अक्षर नहीं है। टङ्कण है—टाईप कर देते हैं—उसका नाम भी अक्षर नहीं है। जो तालके

पत्तेपर उल्लेख कर देते हैं, वह अक्षर नहीं है। एक लिपि होती है, एक उल्लेख होता है, एक टङ्कण होता, इनका नाम अक्षर नहीं है। लिपि चाहे चाइना हो, चाहे लेंटिन हो, चाहे रशियन हो, चाहे नागरी हो, जो हम 'क' बोलते हैं वह एक होता है। और क ख ग में 'अ' होता है वह एक होता है। 'अक्षराणामकरोस्मि'—ज़ो कण्ठ, तालु आदिके आघातसे उच्चारित होता है वह अक्षर है—चीनमें भी क क ही है और लेंटिनमें भी क क ही है और एशियामें भी क क ही है।

हमारे संस्कृत उच्चारणमें भी क क ही है। जो लिपियाँ अनेक होनेपर भी और देश अनेक होनेपर भी एक रूप जिसका उच्चारण होता है, उसका नाम होता है 'अक्षर'। 'न क्षरति' उसका नाश कभी नहीं होता। ब़िना 'अ'के कोई भी अक्षर बोला नहीं जा सकता। जिसके बिना किसी अक्षरका उच्चारण नहीं हो सकता वह क्या है? वह 'अ' है। परमात्मा कैसा है? जिसके बिना किसीकी सत्ता सिद्ध नहीं होती। जिसके बिना किसीका ज्ञान सिद्ध नहीं होता। जिसके बिना कोई रूप-रङ्ग नहीं है। उसको बोलते हैं अक्षर—अब आपका मन्त्र आया 'अक्षराणाम् अकारोस्मि' यह अलग हो गया। और 'गिरामस्म्येकं अक्षरम्'। (10.25) एक अक्षरमें, वाणीमें मैं एक अक्षर हूँ; यहाँ एक अक्षरका अर्थ है—ॐकार—'अक्षराणाम् अकारोस्मि' 'अ' है और वाणीमें ॐकार है।

अब देखो 'यज्ञानां जपयज्ञोस्मि'। (10.25) जप-यज्ञ हिंसा यज्ञ नहीं है। न इसमें लकड़ी लानी पड़े न आग जलानी पड़े—न मन्त्रके लिए ब्राह्मणकी आवश्यकता पड़े और न इसमें खास अधिकारीकी जरूरत पड़े। जप-यज्ञ सब कर सकते हैं। यहाँ तक कि 'अशुचिर्वा शुचिर्वापि'। चाहे पवित्र हो चाहे अपवित्र। जब भगवान्‌का स्मरण करेंगे तब पवित्र हो जायेंगे। न आग जलानी पड़ी, न लकड़ी लानी पड़ी, न घी लाना पड़ा और न ब्राह्मणको मन्त्र बोलना पड़ा। न आहुति देनेका प्रयास, न अधिकारका कोई प्रश्न। केवल जीभ हिला दी। जप हो गया। यज्ञ सम्पन्न हो गया।

और देखो गायत्रीका भी नाम है—'गायत्री छन्दसामहम्' (10.35)। छन्दोंमें गायत्री हूँ। जपके दो मन्त्रोंका स्पष्ट उल्लेख गीतामें हो गया। 'ओम् इत्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्'। और 'गायत्री छन्दसामहम्' और 'यज्ञानां जपयज्ञोस्मि।' जपमें सुगमता क्या है? इसमें 'हर्र लगे न फिटकरी और रङ्ग चोखा आवे'। बैठ गये—जीभ हिलाओ, चाहे मनसे करो। यह जो भेद करते हैं कि मनका जप सूक्ष्म है, यह वैखरी वाणीका जप है, यह मध्यमा वाणीका जप है, यह पश्यन्ती वाणीका जप है, यह परावाणीका जप है। ये वाणीके अनेक भेद होते हैं। मूलाधारसे परावाक् होती है। किनारामी लोग मानते हैं। मणिपूरकसे होती है। तान्त्रिक लोग मानते हैं—हृदयसे होती है। मूलाधारसे भी होती है—दोनों ही बात तन्त्रमें हैं। कोई कहते हैं कण्ठमें मध्यमा वाणी है। जिह्वामें वैखरी वाणी है। पर जप इसलिए नहीं किया जाता कि हम कहाँसे उसको बोल रहे हैं। जप इसलिए किया जाता है कि उसमें अपने प्यारे प्रभुका स्मरण हो। उसमें प्रभुकी शक्ति आती है।

भक्तिका सिद्धान्त यह है कि हम जो जप करते हैं वह हमारी शक्तिसे काम नहीं करता, प्रभुकी शक्तिसे काम करता है। नहीं तो अजामिलने किस नियमके अनुसार अपने बेटेका नाम लिया था? और कुब्जाने किस नियमसे कृष्णका रूप देखा? कोई नियम नहीं। परन्तु भगवान् अपने आपको कृपा करके प्रकट कर देते हैं।

एक बात तो जल्दी श्रद्धाके अन्दर नहीं आयेगी और असलमें बुद्धिसे जो बात समझमें नहीं आती उसीपर श्रद्धा करना चाहते हैं तो वह आपकी समझदारीके अन्तर्गत आगया। उसपर श्रद्धा करनेका कारण कहाँ रहा? श्रद्धा तो उसी बातपर की जाती है, जो ठीक-ठीक समझमें नहीं बैठती है। समझके बाहरकी वस्तुपर श्रद्धा की जाती है।

आपको एक हलकी-फुलकी बात सुना देते हैं। एक था गाँवका किसान। वह किसी महात्माके सत्सङ्गमें कभी-कभी जाता। एक दिन उसने बाबाजीसे पूछा कि बाबाजी, हमको कोई भगवान्‌का नाम बता दो हम उसका जप करेंगे। बार-बार लेते रहेंगे। हल भी जोतना है—नाम भी लेना हैं। बाबाजीने सोचा कि गाँवका गँवार क्या नाम लेगा? उसको बता दिया—'अघमोचन'। अघमोचन, अघमोचन 2-4 बार बोल दिया। हमारे पास भी ऐसे लोग बहुत आते हैं, जिनको हम कोई मन्त्र बता दें—वर्ष-दो वर्ष बाद मिलते हैं तो कहते हैं—भूल गये महाराज—याद नहीं है क्योंकि जब करेगा नहीं तो भूल ही जायेगा। कैसे याद रहेगा? वह बिचारा अघमोचन-अघमोचन करता चला। रास्तेमें भूल गया तो 'घमोचन घमोचन' बोलने लगा। 'अ' छूट गया—'घमोचन घमोचन' बोलने लगा और जाकर हल जोतने लगा।

यह नाम जब भगवान्‌ने वैकुण्ठमें सुना तो उनको हँसी आगयी। हँसी आयी तो लक्ष्मीजीने पूछा प्रभो, आप क्यों हँस रहे हैं? भगवान्‌ने कहा ऐसे ही हँस रहे हैं। उसमें कोई बात नहीं है। अब वे तो जिद्दपर आगयीं कि बताओ। मेरी कोई बात सोचकर हँसे होंगे। बताना पड़ेगा। आखिर लक्ष्मी-लक्ष्मी ही तो हैं। भगवान्‌ने कहा कि आज हमारा एक नया नाम संसारमें रखा गया है, वह सुनकर मैं हँस रहा हूँ। लक्ष्मीजी ने कहा क्या नाम है? बोलीं—बताने लायक नहीं है, बोले क्यों नहीं बताने लायक है? भगवान्‌ने कहा कि अच्छा तुम जाकर सुन आओ। देखो नया है कि नहीं? लक्ष्मीने कहा मैं अकेली नहीं जाऊँगी, तुम भी साथ चलो। अब दोनों हल जोतनेवाले किसानके पास पहुँच गये।

भगवान्‌ने कहा कि तुम जाकर सुन आओ, मैं जरा आड़में गड्ढेमें छिप जाता हूँ। वे गयीं—जाकर पूछने लगीं—भगतजी—भगवान्‌का क्या नाम ले रहे हो? अब वह तो बोले ही नहीं—'घमोचन, घमोचन'। सुन तो लिया तुम 'घमोचन-घमोचन' कह रहे हो, लेकिन यह नाम किसका है? अब वह तो अपना 'घमोचन' करे कि उनसे बात करे। जो जप करता है, उसको बात करना नहीं सुहाता है, वह नाराज हो गया। बोला—तेरे खसमका नाम ले रहा हूँ। अरे, लक्ष्मीजीने कहा कि यह तो हमको पहचान गया तब पूछा, उन्होंने कि आखिर वह है कहाँ? तो बोला गड्ढेमें। अब तो भगवान् और लक्ष्मी दोनों आकर उसके सामने प्रकट हो गये। इसको बोलते हैं—विश्वास। उसका विश्वास था कि भगवान्‌की ऐसी करुणा है कि वे अपने बलसे अपना दर्शन देने आते हैं।

जो लोग यह सोचते हैं कि हमारी श्रद्धा ही काम करती है—आप इसको थोड़ा गौरसे सोचो—जो लोग सोचते हैं कि हमारी मानसिक शक्ति काम करती है, हमारी श्रद्धा काम करती है, हमारा आत्मबल काम करता है, वे भगवान् पर विश्वास कहाँ करते हैं? उनका विश्वास तो भगवान् पर नहीं है, अपने मनपर है, अपनी श्रद्धापर है, अपनी करतूतपर है, वे भगवान् पर विश्वास कहाँ करते हैं? जपका अर्थ यह होता है कि जिसमें देवताकी शक्ति प्रकट होती है। स्वाध्यायात् इष्टदेवता-शम्प्रयोग: (योगसूत्र 2.44)। भगवान् पतञ्जलिने कहा कि जब हम

जप करते हैं तो इष्टदेवता आकर स्वयं हमसे मिलता है। वह जपकी शक्ति नहीं है वह भगवान्‌की शक्ति है। भगवान्‌ने अपनी शक्ति जपमें डाल दी। आपको यदि नामपर विश्वास न होता कि यह भगवान्‌का है तो आप बार-बार उसका उच्चारण क्यों करते ? बार-बार उच्चारण करते हैं, इसलिए आपका विश्वास है कि यह भगवान्‌का नाम है। इसका बोलना महत्वपूर्ण है—यदि यह श्रद्धा आपकी न होती तो क्यों बोलते? और बार-बार क्यों बोलते हैं। बार-बार बोलनेमें प्रेम है और विश्वास भी है।

जब बार-बार एक क्रिया जीभसे होगी—राऽऽऽम, राऽऽऽम—थोड़ा लंबाना चाहिए। राम-रामको रॅम-रॅम नहीं करना चाहिए, रम-रम नहीं बोलना चाहिए। राऽऽऽऽम, राऽऽऽऽम—आपके हृदयमें जो कूड़ा-करकट भरा हुआ है उसको हटाता है। इसको थोड़ा लंबादें। देखो 'रा' और 'म'के बीचमें आप जितना अवकाश, जितनी पोल—जितना स्थान रखेंगे—उसमें आपके मनमें कोई संसारकी वस्तु नहीं आयेगी। राऽऽऽऽम, कृऽऽष्ण, कृऽऽष्ण, कृऽऽऽष्ण—आधे सेकंडके लिए आपका मन विषय-वासनासे और विषय-चिन्तनसे रिक्त हो जायगा, खाली हो जायगा। और उतनी देरके लिए आपका मन जब लावारिस हो जायेगा तो उसमें भगवान् प्रकट हो जायेंगे। उसको संधिस्थान बोलते हैं। 'रा' और 'म' की सन्धि सामान्य चेतन। यह जो जपकी महिमा है, यह बड़ी विलक्षण है।

हमको तो यह कहना था कि वायुके रूप अनेक हैं उनमें मरीचि एक है। और अक्षर अनेक हैं और उनमें 'अ' एक है। और वाणी अनेक है और उसमें प्रणव एक है। इसमें भी लौकिक प्रणवसे वैदिक प्रणवका भेद होता है। वह अपने मनसे पुस्तकमें देखा—हमलोग संस्कृतमें ॐ कैसे बोलते हैं? किसीने कहा गाम् आनय—गाय ले आओ। उसका उत्तर हम देंगे ॐ, ॐ माने अच्छाजी। हाँ। दो-के लिए ॐ बोलते हैं। वहाँ भगवन्नाम नहीं है। किसीने कोई आज्ञा की और ॐ इति स्वीकारे। स्वीकारके लिए ॐ बोल दिया। इसको लौकिक ॐ बोलते हैं। अपने बेटेका नाम लोग ॐ रखते हैं। ॐ प्रकाश। ॐ नामके लड़के भी हमको कई मिले हैं। केवल ॐ । आर्यसमाजी लोग ओम् लिखते हैं तो ओ और म् के बीचमें ३ और लिखते हैं। माने उसका प्लुत उच्चारण होना चाहिए। यह उसका अभिप्राय होना है 'ओऽऽऽऽम्'।

एक तान्त्रिक भेद और होता है। हमलोग जो अ, आ, इ, ई, ए, ऐ 'ओ' चौदहवाँ स्वर जो बोलते हैं—इसपर बिन्दी लगा दी जाय—अनुस्वार लगा दिया जाय, तो ओं हो जाता है। वह भी वैदिकमें ही है। और एक वेदमें जिस रीतिसे प्रणवका उच्चारण आता है, अकार-उकार-मकार अर्धमाला; नौ विभाग होते हैं इसके। बिन्दु नाद, कला, अकार, उकार, मकार—अर्धमात्रा, तुरीय, नाद इनसे शरीरका कल्प होता है जैसे वैद्यलोग आयुर्वेदिक कल्प करवाते हैं वैसे ही मान्त्रिक कल्प होता है। भगवान् अपनेको ऐसे बता रहे हैं। यह तो नमूना है।

अब आप लोगोंको स्त्रियोंमें जो भगवान्‌की रुचि है, उसकी चर्चा भी कर देते हैं। जैसे वाणी अनेक है और उसमें प्रणव एक है—जैसे लिपि अनेक है, उसमें अक्षर एक है। स्वर-वर्ण अनेक हैं, उसमें 'अ'कार एक है, वैसे अर्जुनने कहा—कृष्ण, तुम अपनी सब विभूति बताते हो—किसी महिलाका नाम भी ले दो कि वह भी

तुम्हारी विभूति है। नहीं तो पीछे तुम्हारे ऊपर आक्षेप होगा कि स्त्रियोंका इतना प्रेम लिया और इतने ब्याह किये और जब विभूतियोंकी गिनती करनी हुई तो किसी महिलाका नाम ही नहीं लिया। इतनी उदासीनता क्यों ? श्रीकृष्णके मनमें भी यह बात आयी कि यदि मैं किसी एक महिलाका नाम लेऊँगा तो दूसरी महिलाएँ नाराज हो जायेंगी। यह मैं आप लोगोंपर कटाक्ष करनेके लिए नहीं कह रहा हूँ। यह कटाक्ष नहीं है—यह स्वभावका चित्रण है। भगवान् ने सोचा कि बात ऐसे ढङ्गसे कहनी चाहिए कि सब कहें कि यह हममें है, यह हममें है। हमको ही श्रीकृष्ण अपनी विभूति बता दें।

आप लोग सब उनकी विभूति ही हैं। क्योंकि पुरुषमें भगवान्ने जब अपनी विभूति बतायी तो आपके ध्यानमें होगा 'पौरुषं नृषु'। (7.8) पुरुषोंमें जो पौरुष है वह मैं हूँ। एक आदमीका नाम कहाँ हुआ? सामान्यरूपसे जो पौरुषयुक्त है, उसको भगवान् अपनी विभूति बताते हैं। उसमें आप हो सकते हैं कि नहीं? निश्चय ही जब आप पौरुष कर रहे हैं तो आप भगवान्की विभूति हैं। मुर्दे हो गये तो क्या विभूति हो?

उत्तिष्ठध्वं जागरध्वमग्निमिच्छध्वं भारताः।

अरे भारतो, प्रतिभा-सम्पन्न पुरुषो! उठो, जागो—अपने जीवनमें अग्निके ज्वलन—प्रकाशका आवाहन करो, यह भगवती श्रुति बोलती है। जैसे सब पुरुषोंमें पौरुषके रूपमें भगवान् हैं। बोले फिर हमारे अन्दर भगवान् हों तो पुरुषोंकी बराबरी हो गयी। भगवान्ने कहा नहीं-नहीं, पुरुषोंसे माताओं तुम बड़ी हो, महिलाओ, तुम्हारे अन्दर मैं एक नहीं सात रूपमें रहता हूँ। एक स्त्रीके भीतर सात रूपमें भगवान्।

कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा। 10.34

अब आप देखो, आप भगवान्की विभूति हैं कि नहीं? हम आपका नाम लेकर नहीं बोलते। आप स्वयं सोच लीजिये? आप भगवान्की विभूति हैं कि नहीं है? 'नारीणाम्' जितनी भी स्त्री जाति है—

विद्या समस्तास्तव देवि भेदाः स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु। सप्तशती 11.6

यह सब जगत्-जननी जगदम्बाका रूप है। इनमें भगवान् किस रूपमें रहते हैं। पहले बताया कीर्ति। आपके पासमें, पड़ोसमें, दूर, दूसरोंके मुँहमें आपका कीर्तन कैसा है? लोग भला कहकर आपका वर्णन करते हैं कि नहीं? यह भली स्त्री है। यह जो आपके अन्दर भलापन है वह भगवान्की विशेष विभूति है। फिर बोले 'श्री' जहाँ पाँव रख दिया, वहाँ लक्ष्मी आगयी। हम कई अच्छे घरोंकी बात जानते हैं। लोग बताते हैं महाराज, हमारे घरमें तो पहले कुछ नहीं था। जबसे इस बच्चेके पाँव हमारे घरमें पड़े हैं और लक्ष्मी अपने आप ही हमारे घरमें आने लगी है। 'श्री' माने लक्ष्मी लेकिन श्रीका अर्थ सौन्दर्य भी है। आप अपनेको ठीकठाक रखती हैं कि नहीं? शारीरिक सुन्दरता—असलमें चामकी सुन्दरता-सुन्दरता नहीं है। आँखकी सुन्दरता सुन्दरता नहीं है। ओठकी सुन्दरता-सुन्दरता नहीं है—जो चरित्रका सौन्दर्य है वही वास्तविक सौन्दर्य है। जहाँ चारित्र्य है वहाँ सुन्दरताका निवास है। इसीसे मनुस्मृतिमें तो ऐसे कहा—

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः। 3.56

जहाँ नारीका आदर है, वहाँ देवता लोग अपने आप ही आते हैं। स्वयं लक्ष्मी आपके घरमें स्त्रीके रूपमें

निवास करती हैं। परन्तु अपने रूप-सौन्दर्यको भी ठीक बनाये रखना चाहिए, गुण-सौन्दर्यको भी ठीक बनाये रखना चाहिए। यह नहीं कि बाजारमें गये तो सजधजकर गये और घरमें रहे तो बाल ऐसा, शरीर ऐसा, कपड़ा ऐसा। अब आपके पति यदि आपकी सुन्दरता देखना चाहते हों तो उन्हें बाजारमें जाकर आपकी सुन्दरता देखनी पड़ेगी। घरमें उन्हें देखनेको नहीं मिलेगी। नहीं—घरमें ही सुन्दर दिखना चाहिए। आपका सौन्दर्य बाजारमें लुटानेके लिए नहीं है। घरमें—'प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता'। (कुमारसम्भव 5.1) अपने प्रियजनोंको भाग्यशाली बना देना इसका नाम सौन्दर्य है। (यह कुमारसम्भवमें कालिदासका वचन है)। जो अपने प्रिय लोगोंको भाग्यवान् बना दे, भाग्यशाली बना दे, उसका नाम सुन्दरता है।

अब देखो एक बात आपको सुनाता हूँ। अपनी विभूति सुनाते-सुनाते श्रीकृष्णको वज्रकी याद आगयी। जब स्त्रियोंका नाम लेना था तो ब्रजकी याद आगयी। बोले पहले श्रीजीका नाम लेना चाहिए। श्री माने राधा है, पर पहले पत्नीका नाम लेंगे तो लोग हमको पत्नी भक्त कहेंगे। सबसे पहले सासका नाम लेना। 'कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणाम्।'—यह राधारानीकी माँ हैं। इस बातको आप ध्यानमें लें तब मालूम पड़ेगा। राधाकी माँ कौन? कीर्ति। श्रीकृष्णकी माँ कौन? यशोदा। यश और कीर्ति। जहाँ भगवान्का यश आप श्रवण, वर्णन करेंगे, वहाँ भगवान् प्रकट हो जायेंगे। और जहाँ कीर्ति होगी—वहाँ आराधना-राधा प्रकट हो जायेगी। आराधिका कौन बनेगा? जिसकी माँ कीर्ति होगी। पहले कीर्तिका श्रवण-वर्णन करो। राधारानी आयेंगी। सब स्त्रियोंमें कीर्ति भी है और श्री भी है।

अब तीसरी बात है कि सरस्वतीजी भी आकर बसी हैं। बड़ी मुखरा हैं। एक श्लोक है—जगन्नाथपुरीमें भगवान् लकड़ीके क्यों हो गये? बोले उनकी एक पत्नी हैं सरस्वती। वह इतना बोलती हैं कि भगवान्को बोलनेका मौका ही नहीं मिलता। और दूसरी पत्नी हैं लक्ष्मी। घरमें उनके पाँव टिकते ही नहीं। दिनभर घूमती रहें तो आदमी आदमी कैसे रहेगा? वह तो लकड़ीका हो जावेगा।

एका भर्या प्रकृतिमुखरा चञ्चला च द्वितीया।

एक बेटा है- उसका नाम है, काम, प्रद्युम्न। मन्मथ था; वह लोगोंका मन प्रचलित करता है और किसीकी बात मानता नहीं। दुर्निवार है। बेटेकी यह हालत। और साँपके पलङ्गपर सोना पड़ता है। और साँपोका जो दुश्मन है गरुड़-वह वाहन है। इसलिए-'दर्श दर्श स्वगृहचरितं दारूभूतो मुरारिः।' अपने घरका चरित्र देखकर भगवान्को लकड़ी का बन जाना पड़ा।

वाणी सत्य हो, प्रिय हो- एकबार आपके बारेमें आयडिया बिगड़ जायगा कि हमारी माँ, हमारी पत्नी, हमारी बहन, हमारी बेटी हमसे झूठ बोलती है, तो जिन्दगी भरके लिए आपको एक कष्ट आ जायेगा। सत्य बोलें, प्रिय बोलें, हित बोलें, थोड़ेमें बोलें, मौकेकी बात बोलें। कोई कठोर वाणीमें बोले तब भी आप मृदु बोलें। कोई कठोर-से-कठोर बोले आप कोमलतासे बोलिये। किसीने आपका बुरा कर दिया हो उसको भूल जाइये और प्रिय बोलिये। यदि कोई कैसे भी एक बार अनजानमें भी आपका उपकार कर दे, तो उससे सन्तुष्ट रहिये, उसकी याद रखिये। उस उपकारको बार-बार दुहराइये और अपकारकी चर्चा कभी मत कीजिये। दुश्मन

भी अपने घरमें आजाये तो पहले उठकर उसका स्वागत कीजिये। हाथ जोड़िये, उसको ऊपर बैठाइये। मुस्कराकर उससे बात कीजिये। आपकी वाणीमें भगवान्‌की विभूति है, भगवान्‌का निवास है।

स्मृतिः-पतिने कहा आज जरा हमारी बुशर्टमें बटन लगा दो और जब उनको ऑफिस जाना हुआ तो बोले मैं भूल गयी। यह विस्मृति-अपने कर्तव्यको भूल जाना, यह प्रेमकी कमीका लक्षण है। यह नहीं कि भूलना मेरा स्वभाव है। ऐसे नहीं चलता। स्मृति होनी चाहिए-ठीक समयपर। हमारे एक मेहमान आये। हमने एकसे कहा-इनको ले जाकर सुलाओ, भोजन कराओ। ले जाकर उन्होंने सुला दिया और भोजन कराना भूल गये। दूसरे दिन दस बजे जब वे पूजा-पाठ करके आये तो मैंने पूछा कि रातको सब भोजन-भाजन ठीक हो गया तो बोले-हाँ,हाँ,हाँ! पाँच शास्त्रके आचार्य हैं-उनकी उम्र अब 85 वर्षकी है। यह सच्ची घटना है। ब्रह्मचारी हरदत्त। माने अपने कर्तव्यकी स्मृति होनी चाहिए—ठीक समय पर। यह जो स्मृति है यह स्त्रीके जीवनका कोष है। उसको समयपर कर्तव्यका स्मरण होना चाहिए। अच्छा माल लो यदि किसीने नहीं कहा है तो अपनी अकल कहाँ गयी है? कहीं चरने थोड़े ही गयी है।

स्मृतिर्मेधा-मेधाका अर्थ है-एक बार जो बात बता दी गयी उसको धारण करे। और 'धृतिः'। धृति माने धैर्य्य। सहिष्णुता रहनी चाहिए जीवन में। कोई भी कष्ट आजाय। बोलते हैं दुनियामें पत्नी ही एक ऐसी होती है जो कष्टके समय अपने पतिका साथ नहीं छोड़ती। वह चाहे दोषी-से-दोषी हो जाय, शराबी हो जाय, कबाबी हो जाय, दुष्ट हो जाय अपने धैर्य्यको बढ़ाना चाहिए क्योंकि उसी समय तो पत्नीकी जरूरत है कि यदि वह नालीमें गिर गया तो वह जाकर उठावे और लाकर स्नान करावे। उसको होशमें ले आवे और उसको समझावे कि ऐसा काम नहीं करना चाहिए। यदि उसी समय स्त्री साथ छोड़कर चली जावेगी, सहिष्णुता उसके अन्दर नहीं होगी तो विवाह करनेका तो काई अर्थ ही नहीं हुआ। स्त्री ऐसी होनी चाहिए, चाहे बहन हो, चाहे पत्नी हो, चाहे माँ हो, जो संकटके समयमें साथ न छोड़े, सब कुछ सह ले।

क्षमा-यदि किसी से कोई अपराध हो जाय-बेटे से हो जाय तब तो क्षमा कर ही देते हैं। अपने आपसे हो जाय तब! तब तो इतनी क्षमा करते हैं कि बिलकुल किसीको पता ही न चले। अपने सौ-सौ अपराध आदमी क्षमा कर लेता है और दूसरोंमें जरा-सा भी अपराध दिख जाय-देवर है-कभी हँसी-मजाक कर दे, बेटा है-कभी गलत संगमें चला जाता है। पतिसे भी कोई गलती हो जाती है तो स्त्री के अन्दर क्षमा होती है। यह क्षमा कौन है? यह धैर्य्य कौन है? यह मेधा कौन है? यह स्मृति कौन है? यह मधुरवाणी कौन है? ये सौन्दर्य कौन है? ये कीर्ति कौन है? ये भगवान्‌की विभूति है। तो औरोंमें, भले ही पुरुषोंमें एक ही रूपमें भगवान् बैठे हों, लेकिन स्त्री-शरीरमें तो सात-सात रूपमें रहते हैं। बल्लभाचार्य ने तो लिखा है कि श्रीकृष्णका तो अवतार ही स्त्रियोंके लिए हुआ। यह भगवान्‌की विभूति सात-सात रूपमें एक-एक स्त्रीमें निवास करती है। पर नाम नहीं लिया। मैं समझता हूँ किसीका नाम लेनेमें डरते होंगे। बताया-सबमें रहता हूँ, जिससे कोई नाराज न हो।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

प्रवचन : 10

(9-11-81)

माँ मैं तुम्हारा अनुसन्धान करता हूँ । तुम्हारा ध्यान करता हूँ। एक सरस्वती वह है जो ब्रह्माके मुखसे निकलीं। वाग्देवी, वेदवाणी और एक सरस्वती गीता है, जो स्वयं भगवान् श्रीकृष्णके मुखसे प्रकट हुई है। यह गीता-सरस्वती-गीता-भारती हमारी माँ हैं। माँका अनुसन्धान करना चाहिए।

मातृदेवो भव, पितृदेवो भव। तै० उप० 1.1.2

आओ गीतापर ध्यान दें। हमको बचपनकी एक स्मृति है। किसी सन्तके पास जाकर हम उससे कहते कि हमको भगवान्का दर्शन करा दें। एक सन्तसे मैंने यही बात कह दी-मुझे भगवान्का दर्शन करा दीजिये। वे तो नाराज हो गये। आजकल जैसे हमलोग लल्लो-चप्पो करते हैं न! वैसे पहलेके फकीर लोग नहीं करते थे। वे तो बहुत खड़कझंझारी होते थे। डाँट देते थे। उन्होंने डाँट दिया। तुम भगवान्का दर्शन करना चाहते हो? यह सब क्या हो रहा है। तुम्हें सूर्यं, चन्द्रमा दिखते हैं कि नहीं? तुम्हें धरती, पानी, आग, हवा, अष्टमूर्ति भगवान् शंकरका दर्शन होता है कि नहीं? यह विराट्रूपका जो दर्शन हो रहा है, यह विराट कौन है?

इतना दर्शन दे रहे हैं तुमको भगवान्, इतनी-दर्शन, योग्य वस्तुएँ, पशु बनकर आगये, पक्षी बनकर आगये! वृक्ष बनकर आगये! सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, तारे बनकर आगये। स्त्री, पुरुष बनकर आगये! इतने रूपोंमें भगवान्के दर्शन हो रहे हैं। तुमने भगवान्को क्या निहाल कर दिया? कोई पूजा की? कोई भक्ति की? कोई सेवा की? जितने रूपोंमें भगवान्के दर्शन हो रहे हैं उनका तो तुमने अपने जीवनमें कोई आदर नहीं किया, सेवा नहीं की और तुम अपने मनकी एक मूर्ति बनाओगे और कहोगे कि उसके रूपमें भगवान्के दर्शन हों। बड़ी डाँट पड़ी मेरे ऊपर। माता भगवान् है, पिता भगवान् हैं, गुरु भगवान् हैं। प्रकृतिमें दीखनेवाले अनेक पदार्थोका नाम, शास्त्रमें भगवान्ने बताया है। जितने रूपोंमें भगवान् दीख रहे हैं, उन रूपोंमें तो हम भगवान्की सेवा नहीं करते, ध्यान नहीं करते, उपासना नहीं करते। उनको देखकर अपने हृदयमें सद्भाव नहीं लाते और जो नहीं दिखता है, उसके लिए व्याकुल होते हैं।

अभी थोड़ी देर पहले यह बात हमको याद आगयी। भगवान् दुर्लभ नहीं हैं। भगवद्-भाव दुर्लभ है। जिसके हृदयमें भगवद्भाव-का उदय हो गया, उसके लिए तो जब हमारी आँखकी रोशनी भगवद्भावसे अनुप्राणित होती है, भगवद्भावके रंगमें रंगकर जब हमारी आँखकी रोशनी निकलेगी तब तो हम जहाँ देखेंगे वहाँ भगवान्-ही-भगवान् हैं। भगवान् कहीं चले नहीं गये हैं। न दूर हैं भगवान्, न उसके मिलनेमें देर है। न दूसरा है। हमारा मन ही कुछ-का- कुछ पकड़कर बैठा है। एक पिताने अपने पुत्रसे कहा-छोटेसे पुत्रसे-कि बेटा, तुम यह काम कर दो तो तुम्हें मिठाई देंगे। पुत्रने वह काम कर दिया। और पिता जब मिठाई देनेके लिए आये तो पेड़ा लाये। पुत्रने कहा हमको मिठाई चाहिए, हमको पेड़ा नहीं चाहिए। यह तो पेड़ा है, यह तो पेड़ा है, यह तो बरफी है, यह तो कलाकन्द है। हमको तो मिठाई चाहिए। यह तो शक्कर है, यह तो मिश्री है, हमको तो मिठाई

चाहिए। मिठाई तो शक्कर भी है, मिश्री भी है, ओला भी है, पेड़ा भी है, बरफी भी है, जलेबी भी है। मिठाई तो हमको मिल रही है मगर जो सबमें मिठाई है वह तो हमको दीखती नहीं है और कोई कल्पित मिठाईके लिए हम तरस रहे हैं। जितने रूपोंमें हमें परमेश्वरका दर्शन हो रहा है, उसका हमारे हृदयमें कितना आदर है, यह चिन्तनीय है। यह विचारणीय है।

शास्त्रके अनुसार ही तो अवतारका ज्ञान होता है। यह नहीं कि चाहे जो कल्पना कर ले कि मैं अवतार हूँ। अपनी कल्पनासे भी कोई अवतार नहीं होता। और लाख-लाख बेवकूफ चेलोंकी कल्पनासे भी कोई अवतार नहीं होता। आपलोग बुरा मत मानना, हम आप लोगोंके लिए नहीं कह रहे। आपको छोड़कर बोल रहा हूँ। यदि बेवकूफ न होते तो चेला बननेकी जरूरत ही क्या होती? माने कुछ नहीं समझते हैं, उसको समझनेके लिए ही तो गुरु बनाने जाते हैं। वैसे ही नासमझ लोग यदि किसीको भगवान् कहने लगें तो उसकी कोई कीमत नहीं होती है। वह तो नासमझोंके भगवान् होते हैं। शास्त्रीय पद्धति इसमें यह है कि समग्र विराट्को हम देख नहीं पाते हैं। समझ भी नहीं पाते हैं। दिशाएँ विराट्के कान हैं। आकाश विराट्की नाभि है। सूर्य-चन्द्रमा विराट्के नेत्र हैं। वायु विराट्का श्वास है, पृथिवी विराट्का पाँव है।

यह पृथिवी ही नहीं जिसपर हम हैं, वह मृत्तत्त्व जो जलमें लीन है। अग्नि=तेजस्तत्त्व विराट्का मुख है। ये जितने अवतार होते हैं और जितनी मूर्तियाँ होती हैं ये सब विराट्के अवयव होते, विराट्के अङ्ग होते हैं। जहाँ वैदिक शास्त्र नहीं है, वहाँ भगवान्की पूजा पृथिवीके रूपमें होती है, जलके रूपमें होती है अग्निके रूपमें होती है, वायुके रूपमें होती है, आकाशके रूपमें होती है और हमारे शास्त्रज्ञोंने जब देखा कि मानवकी शक्ति कितनी है, उसकी बुद्धि कितनी है? तब उन्होंने निश्चय किया कि समग्र विराट्की धारणा मनुष्य ठीक-ठीक नहीं कर सकता। विराट्के एक अवयवमें एक अङ्गमें विराट् बुद्धि, विराट् पाँव है समझो धरती तो उसमें शिवलिङ्ग है, जो नर्मदामें-से निकलता है। उसमें शालग्राम है, जो गण्डकीमें-से निकलता है। और भी कहीं भी पाषाण-खण्डको हम गढ़के वैसी मूर्ति बना लेते हैं—चतुर्भुज, द्विभुज। वह है विराट्का अङ्ग। उसकी पूजाको भी विराट्की पूजा बोलते हैं।

एक बालक है, अपने पिताकी एक उंगली पकड़कर चल रहा है। लोग क्या कहेंगे? अपने पिताको पकड़कर चल रहा है। चल रहा है—वह पिताकी एक उंगली पकड़कर, पर कहा जायगा यह कि वह पिताको पकड़कर चल रहा है। इसी प्रकार हम उपासनामें विराट्के एक अवयव, एक अङ्ग, एक अंश, एक हिस्सेकी उपासना करते हैं और वह समग्र विराट्की उपासना हो जाती है। मनुष्यको गलेमें माला पहनाते हैं तो समूचे मनुष्यका आदर होता है। इस तरहसे भगवद्-बुद्धिसे हम विराट्के एक अंशकी ही सेवा करते हैं।

सब प्यासोंको हम पानी नहीं पिला सकते तो एक प्यासेको एक गिलास पानी पिलाते हैं। सब भूखोंको नहीं खिला सकते तो एक भूखेको खिलाते हैं। सब रोगियोंको दवा नहीं दे सकते तो एक रोगीको दवा देते हैं। तो यह जो भगवान्का विराट् रूप है, इसमें जहाँ ध्यानसे आप देखेंगे वहाँ आपको भगवान्की विभूति मिलेगी। जब आपने 'पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च' (7.9) पढ़ा तो विभूति सब जगह मिली या नहीं मिली? 'रसोऽहमप्सु

कौन्तेय' (7.8)—'तेजस्तेजस्विनामहम्' (7.10) पढ़ा, 'पवनः पवतामस्मि' (10.31) पढ़ा, 'शब्द खे पौरुषं नृषु' (7.8)। तो यह समग्र विराट् ही भगवान्‌की विभूति है, वैभव है। वर्णन करके इसका अन्त स्वयं भगवान् भी नहीं पा सकते हैं।

हम लोगोंको यह कहनेमें कि भगवान् यह बात नहीं जानते हैं, कोई संकोच नहीं है। हम ईश्वरके ज्ञानकी सीमा भी जानते हैं। हम कह दें कि यह बात ईश्वर नहीं जानते हैं—और यह काम ईश्वर नहीं कर सकते, यह भी हम बता सकते हैं। भागवतके मूलमें ही यह प्रसंग है। क्या भगवान्‌को अपना अन्त मालूम है? भगवान्‌का अन्त कहाँ है? किस देशमें है? किस कालमें है? किस रूपमें है?

भागवतके मूलमें यह बात कही कि भगवान् अपना अन्त नहीं जानता। तय यह हुआ कि भगवान् अज्ञानी हुआ। नहीं, अज्ञानी नहीं हुआ। यदि अन्त होता और ईश्वर न जानता तो अज्ञानी होता। जब अन्त है ही नहीं तो ईश्वर कैसे जाने? अन्तको न जानना ही ज्ञान है। ईश्वर क्या नहीं कर सकता, यह हम बतावें? ईश्वर दूसरा ईश्वर नहीं बना सकता। यदि ईश्वर दूसरा ईश्वर बनावेगा तो बनावटी ईश्वर पहले तो था ही नहीं। जो पहले ईश्वर था वह अभी ईश्वर है, आगे ईश्वर रहेगा और वह बीचमें बनाया गया होगा। नित्य ईश्वर अपनेको मार नहीं सकता—ईश्वर कहे कि—हमारी मौत हो जावे, नहीं हो सकती। ईश्वरके किये भी नहीं हो सकती। यह जो ईश्वरका विस्तार है, इस विस्तारको स्वयं ईश्वर भी नहीं जानता।

अब हम आपको एक-एक नाम लेकर बतावें, तो जो नाम लेकर बतानेमें स्वयं ईश्वर ही हार गया है, उनके नामोंकी गिनती हम कैसे करेंगे?

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परन्तप।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया।। 10.40

यह तो नाम गिना दिया। केवल उद्देश्य मात्र। एक गणना कर दी। दिग्दर्शन करा दिया। यह विभूति है, यह विभूति है। जब सब विभूति है तो उसकी गणना कहाँ करें? ऐसा आप समझो कि एक लड़कीका पिता लड़का देखने गया। पहले उसने देखा कि उसके पास धन-सम्पदा कितनी है? यह विभूति हो गयी। यह दसवें अध्यायमें है और फिर ग्यारहवें अध्यायमें देखा उसने—उसकी विशालता—उसका विस्तार कितना है? उसका व्यक्तित्व कितना बड़ा है? ये आसपाससे जान लिया। फिर तो महाराज, उससे प्रेम हो गया। यह बारहवाँ अध्याय है। भक्ति हो गयी। वह बड़ा वैभवशाली है—बड़ा विराट् है, यह तो भक्ति करने योग्य है। फिर तेरहवें अध्यायमें उससे पहचान हो गयी। उसका ज्ञान हो गया। और चौदहवें अध्यायमें उसका उसके सिवाय जो कुछ था उसको छोड़ दिया। गुणत्रय-विभाग हो गया। पन्द्रहवें अध्यायमें पुरुषोत्तम-योग हो गया। उससे विवाह हो गया। पन्द्रहवें अध्यायमें बेटी बिलकुल ब्याह दी।

यह गीताका क्रम देखो। दसवें अध्यायसे लेकर पन्द्रहवें अध्याय तक! वैसे सारा ही क्रम रहस्यपूर्ण होता है लेकिन अभी उसपर कहनेका समय नहीं है। यह आपने वैभव देखा। अब कोई तो पड़ोसीसे पूछ गया, कोई दलालसे पूछ गया। अर्जुनने कहा हम पड़ोसी या दलालकी बात नहीं मानते हैं। यदि कोई अपना झूठा वैभव

बताता हो तो उसकी बातपर विश्वास न करके, पड़ोसीसे पता लगाया जाता है। अब तुम तो स्वयं यहाँ मौजूद हो। अपने मुँहसे ही बता दो कि तुम्हारे पास क्या-क्या वैभव है? अर्जुन श्रीकृष्णका परम मित्र है और श्रीकृष्णने तो यहाँतक शिष्टाचारका पालन किया कि जब खाण्डव-दाहके समय इन्द्रकी इच्छा पूरी करनेके लिए श्रीकृष्णने अर्जुनसे नागकी रक्षा करवायी तब इन्द्रने श्रीकृष्णसे कहा कि श्रीकृष्ण, तुम वरदान माँगो। कृष्णने कहा, अच्छा महाराज, आप देवता हैं, मैं मनुष्य हूँ आप मुझे एक वरदान दीजिये। क्या? अर्जुन आपका पुत्र है, इससे मेरी मित्रता बनी रहे। कभी-कभी बाप लोग जो हैं वे अपने बेटेसे मित्रता करनेमें बाधा डालते हैं। तो आप हमेशाके लिए हमको यह वरदान दे दीजिये कि अर्जुनके साथ हमारी मैत्री सर्वदा बनी रहे। और इन्द्रने कहा कि यह वरदान हम तुमको देते हैं। इन्द्रने यह वरदान दिया।

अर्जुनके जो पिता हैं इन्द्र—इन्द्रके वरदानसे, अनुमतिसे श्रीकृष्ण और अर्जुनकी मित्रता है। और मित्रता तो स्वाभाविक रूपसे भी है। जीव-ईश्वर हैं? कहीं-कहीं तो बड़े शिष्टाचारके साथ अर्जुनको बोलते हैं, तुम मेरे भक्त हो, मेरे सखा हो, मेरे इष्ट हो और कभी बड़ी सादगीसे बुला लेते हैं—'अर्जुन'। यह मैत्रीकी बात है। मैत्रीमें बहुत शिष्टाचारकी आवश्यकता नहीं रहती है।

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया।। 10.40

यह मैंने जो विभूतिका विस्तार तुमको सुनाया, यह तो केवल नाम-मात्र, गणनामात्र है। वैसे तो सब नाम भगवान्के हैं और सब रूप भगवान्के हैं।आपको क्या बतावें—यह आँख देखनेके लिए जहाँसे शक्ति और चेतना लेती है, उसी शक्ति और चेतनाको अपने सामने रखकर देखती है। ईश्वर कहाँ रहता है? जहाँसे आँखमें रोशनी आती है। वह एक ऐसा, वह तार जो हृदयसे लेकर आँख तक जुड़ा हुआ है। जैसे तारपर चढ़कर बिजली आती है, वैसे उसी एक रश्मिपर चढ़कर ईश्वरकी चेतना और ईश्वरकी शक्ति आँखमें आती है। और आँख बाहर रखकर उसको देखती है।

यह हमारी जीभ बोलती है। बोलनेकी शक्ति कहाँसे आती है? कोई कहते हैं ऊपरसे आती है, कोई कहते हैं नीचेसे आती है। परावाक्मूलाधार चक्रमें है ; वहाँसे बोलनेकी शक्ति ऊपर चढ़ती है और कोई कहते हैं नहीं, मस्तिष्कमें ही चेतनाका केन्द्र है। वहींसे वाणीमें शक्ति आती है। ठीक है। ईश्वर ऊपर भी है, नीचे भी है। पर वाणी जहाँसे चेतना और शक्ति लेकरके शब्दोच्चारण करती है वही चेतना और वही शक्ति वह अपने शब्दोंके द्वारा वस्तुमें रखकर देखती है। वही सत्ता, वही ज्ञान सर्वत्र भरपूर है। लोक-व्यवहारमें बोलते हैं, ईश्वरकी सत्ताके बिना पत्ता भी नहीं हिलता है।

योन्तः प्रविश्य मम वाचमिमां प्रसुप्तां,
सञ्जीवयत्यखिलशक्तिधरः स्वधाम्ना।
अन्यांश्च हस्तचरणश्रवणत्वगादीन्,
प्राणान्नमो भगवते पुरुषाय तुभ्यम्।। भा० 4.9.6

हमारी इन्द्रियोंमें, हाथमें, पाँवमें, मनमें, जितनी भी शक्ति है, उस शक्तिके बिना—उसके अधिष्ठान, उसको धारण करनेवाले, अखिल कारक शक्तिधर वही एक प्रभु हैं जो भीतर भी हैं और भीतरसे इन्द्रियों द्वारा बाहर निकलकर अनेक रूपमें दर्शन देते हैं। आपको मालूम है—यदि हम सो जायें तो? इन्द्रियाँ बन्द हो जायें तो? तो बाहरकी वस्तुएँ नहीं दिखायी पड़ेंगी। सब भीतर सिमट जाती हैं।

यह उसकी विभूति है। यहाँ तो नाममात्र बता दिया। अच्छा तो विभूति पहचाननेका एक तरीका बताते हैं। तौर-तरीका, प्रक्रिया , शैली, ढङ्ग। किस ढङ्गसे हम भगवान्‌की विभूतिको पहचानें?

यद् यद् विभूतिमत्सत्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्।। 40.41

आप हमारी विभूतिको पहचानिये। जहाँ-जहाँ विभूति है, विशिष्ट भवन है वहाँ-वहाँ विभूति है। यह नहीं कि सारी सृष्टिमें सादृश्य है। सादृश्य होनेपर तो सृष्टिका बोध नहीं हो सकता। कानसे कुछ मालूम पड़ता है, आँखसे कुछ मालूम पड़ता है, नाकसे कुछ मालूम पड़ता है। जीभसे चखते हैं तो कुछ मालूम पड़ता है। और सब वस्तुओंकी अपनी-अपनी विभूति है। विशिष्ट भवन है। भवन माने होगा। विशिष्टरूपसे पृथक होना। कल एक सज्जन जैसे जिज्ञासा कर रहे थे। प्रेमसे पूछ रहे थे। असलमें यन्त्रके अनुरूप बिजली काम करती है। यह बात ध्यानमें रहनी चाहिए। बिजली एक होनेपर भी जहाँ जैसा जो यन्त्र होता है, उसके अनुरूप काम करती है। लाउडस्पीकरमें आवाज फेंकती है, हीटरमें गरमी, रेफ्रिजरेटरमें ठण्डक, पंखेमें हवा—बिजली तो एक ही है, परन्तु ये विभूतियाँ पृथक्-पृथक् क्यों हैं?

पूर्व-पूर्व कर्मानुसार विशिष्ट प्रकारका जो यन्त्र बन जाता है, भगवत्-शक्ति उसमें वैसा काम करती है। इसकी शक्तिमें विषमता नहीं, यन्त्रमें विषमता है, जिसके कारण विषमता आती है। दुनियामें कोई बड़ा भी होता है, कोई छोटा भी होता है 'यद् यद् विभूतिमत्'। अब आपको भगवान्‌का दर्शन करना हो तो देखिये कहाँ-कहाँ विभूति हैं? 'श्रीमत्'—कहाँ-कहाँ 'श्री' है? श्री माने सौन्दर्य भी होता है। श्री माने सम्पदा भी होता है। श्री माने आदर भी होता है—आदरणीय। आजकल जो बाबू लोग—कई लोगोंको ऐसी आदत पड़ी होती है 'सर' (Sir) बोलनेकी हमसे भी बात करते हैं तो 'सर' बोलते हैं। हम तो जानते ही नहीं हैं सर क्या होता है? लेकिन यह हम लोगोंके नामके साथ जो 'श्री' है इसका सर काटकर अलग रख लिया है। श्रीका 'सर' है—जहाँ-जहाँ विभूति है—सत्ता और जहाँ-जहाँ श्री है—लक्ष्मी और जहाँ-जहाँ ऊर्जा है—शक्ति। यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा' जो-जो पदार्थ हमें सृष्टिमें दिखायी पड़ते हैं।

तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम्। 10.41

भगवान्‌ने कहा 'देखो हमारा अंश'—हमारे तेजका ही—हमारे अंशका ही वह एक रूप है जहाँ तुम्हें ऊर्जाशक्ति दिखायी दे। यजुर्वेदके पहले ही मन्त्रमें ऊर्जा शब्दका प्रयोग है—इत्वा ऊर्जेत्वा (1.1)। जहाँ ऊर्जा है, जहाँ श्री है, विभूति है वहाँ भगवान्‌का दर्शन करो। आपको कोई ऐसी जगह नहीं मिलेगी जहाँ भगवान् नहीं। भगवान्‌को पहचानो। पर वर्णन करते-करते तो ऐसे लगता है कि श्रीकृष्ण भी थक गये। वर्णन करके पार नहीं पा सकते।

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्।। 10.42

आओ मेरे अर्जुन, तुम यह बहुत लम्बी-चौड़ी बात सुनकर, जानकर क्या करोगे? बात तो जितनी थोड़ेमें होती है, उतनी ही अच्छी लगती है। जब हम किसीको बहुत विस्तारसे समझाने लगते हैं, तो उसकी प्रतिक्रिया क्या होती है, आपको बतावें! अरे भाई, तुम्हारी बात तो हम पहले ही वाक्यमें समझ गये कि क्या कहना चाहते हो! अब तुम हमको इतना बेवकूफ समझते हो कि घण्टेभर वही बात समझा रहे हो? लेकिन वकील मुवक्किलकी बात एक मिनिटमें भले ही समझ जाय लेकिन यह नहीं कह सकता कि बस-बस समझ गया और मत बोलो। उसको तो सुनाना पड़ेगा। डॉक्टरको अपना रोग बताओ। डॉक्टर कहे—बस, मैं समझ गया। अरे साहब, मेरी तकलीफ तो समझ लीजिये। समझ लिया भाई। थोड़ा और सुन लीजिये। बोलनेवालोंको सन्तोष नहीं होता है। बहुत बोलनेकी प्रतिक्रिया अच्छी नहीं होती। इतने संक्षेपमें अपनी बात साफ-साफ समझा दें कि सुननेवालेकी समझमें आजाय और अपनेको सन्तोष हो जाय कि हमने समझा दिया। यहाँ अर्जुनकी प्रशंसा है।

देखो अर्जुन, तुम तो मुझको जानते हो। मेरी विभूति जानकर क्या करोगे? 'अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन'। एक-एक नाम लेकरके हम तुमको बतावें तो तुम जानकर क्या करोगे? उससे क्या लाभ है? 'यह तो नदिया एक घाट बहुतेरे'। नदी एक है घाट बहुतसे हैं। 'ऋजु-कुटिलनानापथजुषां नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव' (महिम्न स्तोत्र 7)। हजार-हजार विभूतियोंको मान लें परन्तु परमेश्वर तो एक ही है। जैनधर्ममें एक श्लोक बोलते हैं—जिसका भाव यह है—हे पार्श्वनाथ भगवान्, जैसे सारी नदियाँ जाकर समुद्रमें मिल जाती हैं वैसे सारी दृष्टियाँ जाकर आपमें मिल जाती हैं। उपर्युक्त महिम्न श्लोकमें कहा—कोई सीधे मार्गसे, कोई टेढ़े मार्गसे चलते हैं, फिरते हैं। मधुसूदन सरस्वतीने कह दिया—ऋजु मार्गसे वैदिक लोग जाते हैं और कुटिल मार्गसे अवैदिक लोग जाते हैं। पर पहुँचते सब एक ही स्थानपर हैं। बहुत वर्णन करके क्या करना है?

'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्'। हमने अपने एक छोटेके हिस्सेसे सारे जगत्को स्तब्ध कर रखा है। और मैं स्वयं अपने स्वरूपमें स्थित हूँ। इस सम्पूर्ण जगत्को जो हिलती-डुलती चीज है, जो चलती-फिरती चीज है, जो ज्ञानमें आती-जाती है, जो सत्तामें आकृति बनती-बिगड़ती है, उस सबको तो मैंने एक अंशमें स्तब्ध कर लिया है, स्तम्भित कर लिया है। और स्वयं अपने स्वरूपमें स्थित हूँ। यह भगवान्का कहना है।

आप गीता पढ़ते होंगे। न पढ़ते हों तो पढ़िये। वाल्मीकि रामायणमें जानकीजी रामचन्द्रजीसे कहती हैं—स्मारये त्वां न शिक्षये। मैं आपको स्मरण दिलाती हूँ; शिक्षा नहीं देती हूँ। सिखाती नहीं हूँ, याद दिलाती हूँ। गीता आप पढ़ते हैं, आप इसको समझते हैं। गीताके भगवान् यह बोलते हैं कि परमात्माके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है—मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय (7.7) मुझसे अलग दूसरी कोई भी वस्तु नहीं है।

अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा। 7.6
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव। 7.7

मैं सम्पूर्ण जगत्का प्रभव भी हूँ और प्रलय भी हूँ। विभूति जो होती है वह प्रभवके पहले नहीं होती और

प्रलयके पश्चात् नहीं होती। विभूति तो जीवन कालमें ही होती है। सृष्टि कालमें ही विभूति होती है। 'अहं सर्वस्य प्रभवः।' (10.8) जब विभूति नहीं थी तब मैं सबके कारणके रूपमें था और जब विभूति नहीं रहेगी तब मैं सबके प्रलयके रूपमें रहूँगा। मैं ही नामरूपात्मक इस विभूतिमय सृष्टिका आदि और अन्त हूँ। यह पहले ही कह दिया। 'अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च' (10.20)। 'बीजं तदहमर्जुन' (10.39)। इस विश्व सृष्टिका जो बीज है सो मैं हूँ। आपके ध्यानमें यह बात आनी चाहिए कि मजहब मजहब होते हैं और सिद्धान्त सिद्धान्त होते हैं। एक मनुष्यमें ही अनेक जातियाँ कल्पित होती हैं और एक ज्ञानको प्रकट करनेके लिए ही अनेक भाषाएँ बोली जाती हैं। यह भूलने लायक बात नहीं है। आप भाषाको पकड़कर बैठ जायेंगे तो ज्ञानसे वञ्चित हो जायेंगे। किसी भी भाषामें ज्ञान मिलता हो, हम उसको ग्रहण करनेके लिए तैयार हैं। सारी पार्टियाँ एक देशकी सेवा करनेके लिए होती हैं। पार्टीकी सेवा करनेके लिए देश नहीं होता।

हम बात तो मजहबकी कर रहे थे वह छूट गयी। इसको अर्थान्तरन्यास बोलते हैं। यह भी वाणीका एक अलङ्कार है। एक वस्तुका वर्णन करते-करते औरोंका भी नाम ले लिया। एक धर्मकी परिपुष्टिके लिए मजहब होते हैं। जहाँ वे एक धर्म विश्वधर्म, मानवधर्मके परिपोषणसे पृथक होकर अपने-अपने मजहबका पोषण करने लगते हैं, वहाँ वे धर्म नहीं रहते अधर्म हो जाते हैं। जब पार्टियाँ करने लगते हैं, वहाँ वे धर्म नहीं रहते अधर्म हो जाते हैं। जब पार्टियाँ राष्ट्रकी या राजनीति छोड़कर पार्टी-पोषणमें लग जाती हैं तब वे राष्ट्र-विरोधी हो जाती हैं। फिर वे विदेशसे भी धन लेंगी। दूसरोंके चलाये भी चलेंगी। देशको हानि भी पहुँचायेंगी। और जब भाषाका आग्रह हो जाता है तब भी चिन्तनमें संकोच हो जाता है। अरे; इस भाषामें तो चाहे जैसा साइन्स हो कैसा भी ज्ञान हो, कैसी भी औषधि हो, है तो दूध लेकिन जरा बकरेके चाममें रखा हुआ।

हमें किसी भाषामें ज्ञान लेना है। हम किसी भी पार्टीसे देशकी सेवाकी अपेक्षा रखते हैं। किसी भी जातिसे हम मानवताका सम्पोषण चाहते हैं। किसी भी मजहबसे हम—एक जो विश्व-धर्म है, भगवद्-धर्म है, उसकी रक्षा चाहते हैं, उसका सम्वर्धन चाहते हैं। जहाँ परमात्मा छूट जाता है और किसी भी जीवकी सेवा करते हैं—जीवको तो पकड़ लिया और परमात्मा छूट गया, यह भी उचित नहीं है। राष्ट्रके व्यामोहने विश्वको खण्ड-खण्ड कर दिया। जातिके व्यामोहने मानवताका तिरस्कार किया। भाषाके व्यामोहने ज्ञानका तिरस्कार किया। मजहबके मोहने सत्यधर्मका तिरस्कार किया। देखनेकी बात यह है कि हम कहाँ जा रहे हैं? परमात्मा एक है—यह गीताका सिद्धान्त है। सबसे बड़ा महात्मा दुनियामें कौन है?

गीता अपने मुँहसे बोलती है—'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते—वासुदेवः सर्वमिति' (7.19) वासुदेवः सर्वम् इति मां प्रपद्यते। सब परमात्माका स्वरूप है—'स महात्मा सुदुर्लभः।' देखो यह दृष्टिकोण है। हम भगवान्के पास गये तो क्या देखा? यह देखा कि वह तो सब है। जिसको मैंने गाली दी वह भी भगवान् है; जिसको मैंने मारा, वह भी भगवान् ही है। जिसकी निन्दा की वह भी भगवान् ही है। अरे भाई, पहुँच गये भगवान्के पास। बड़ी गलती हुई महाराज—'स महात्मा सुदुर्लभः'। वह महात्मा जिसकी दृष्टिमें सब परमात्मा, सब वासुदेव हो जाता है, वह महात्मा दुर्लभ है।

आप देखो बोलनेकी शैली! संस्कृतमें भङ्गी बोलते हैं। बोलनेकी भङ्गी, भङ्गिमा। भङ्गिमा माने दृष्टिकोण होता है। नेत्र-भङ्गिमा भी तो होती है न! देखो यह बोलनेकी भङ्गिमा, यह शैली, यह प्रणाली है कि परमात्मा तो सब है परन्तु महात्मा सुदुर्लभ है। जिसकी दृष्टिमें सब परमात्मा है वह महात्मा इस सृष्टिमें सुदुर्लभ है। किसीने कहा—ईश्वरने अपने संकल्पसे सृष्टि बनायी। बहुत बढ़िया—तुम्हारे मुँहमें घी-शक्कर। पर ईश्वरने संकल्पसे जो सृष्टि बनायी वह अपने भीतर बनायी कि बाहर बनायी? जैसे हम अपने संकल्पसे कोई सृष्टि बनाते हैं तो वह हमारे हृदयमें रहती है। हमारे हृदयमें संकल्प और संकल्पसे बनी चीज हमारे हृदयमें। ऐसे सर्वव्यापी परमात्माने यदि संकल्पसे यह सृष्टि बनायी तो अपने आपमें ही बनायी और अपने आपको ही सृष्टिके रूपमें देखा। यह बात दुनियाके किसी भी मजहबमें नहीं है। जीव भी वही—जगत् भी वही। 'अचरं चरमेव च' जगत भी वही है और स्थावर भी वही है। अचरं माने स्थावर और चर माने जंगम। सारी सृष्टि, स्थिति, प्रलय जो है, इसका एक कारण, सबके रूपमें एक होनेवाला भगवान् अपने एक अंशमें सारी सृष्टिको लेकर स्थित है।

अब शंकराचार्य भगवान् ने अंशका विचार किया है। देखो, आकाशके किस हिस्सेमें यह पृथिवी है? आप लोगोंके पास बड़े-बड़े कॉम्प्यूटर हैं। कुछ यहाँ हैं, कुछ जर्मनीमें हैं, कुछ अमेरिकामें हैं। आपके पास गणितकी कोई ऐसी रीति है, कि आकाशके जिस करोड़वें लाखवें, हजारवें या अरबवें हिस्सेमें यह धरती है, उसे आप गिन सकते हैं? यदि आप यह गिन सकते तो आकाशको नाप सकते हैं कि पृथिवीका इतना बड़ा आकाश है।

शंकारचार्यने कहा कि अनन्तका अंश भी अनन्त ही होता है। शून्यका लाखवाँ अंश क्या होगा? शून्यका अंश होता ही नहीं। अंश क्या होता है? अद्वितीयके किस अंशमें यह सृष्टि है? अद्वितीयमें तो अंश होता ही नहीं। फिर? इस सृष्टिका कितना गुना परमात्मा है? नापो! तब उन्होंने अंश शब्दका व्याख्यान किया। अंश इवांश:। ममैवांशो जीवलोके (15.7), इस श्लोकके अंशकी व्याख्यामें आचार्य शंकरने कहा कि 'अंश इवांश:'। हमलोग लौकिक दृष्टिसे जैसे अंशकी कल्पना करते हैं वैसे परमात्मामें भी यह अंशके समान कल्पित अंश है। वस्तुत: वहाँ अंश नहीं है। हमारी दृष्टिसे अंशांशि-भावकी कल्पना होती है। परमात्मदृष्टिसे अंशांशीकी कल्पना नहीं होती। यह तो देहमें 'मैं' करके नापने लगे! दुनियामें नाप-तौलकी बात की है। मुनियोंने बहुत कोशिश की, पर ईश्वरमें कोई वजन नहीं मिला कि ईश्वरका कितना वजन है। ये लेबोरेटरीमें तो वजन ही ढूँढ़ेंगे न! और वजन नहीं है तो मैटर ही नहीं—द्रव्य ही नहीं है। कितनी लम्बाई-चौड़ाई है ईश्वरमें? किसीके ढूँढ़े नहीं मिला। कितनी उम्र है ईश्वरकी? यह भी ढूँढ़नेसे नहीं मिली। उम्र न मिलना माने ईश्वरमें कामका अभाव है। लम्बाई-चौड़ाई न मिलना माने देशका अभाव है ईश्वरमें; और वजनका न मिलना माने द्रव्यका अभाव है ईश्वरमें।

तब यह अभाव ही अभाव है—नहीं; अभाव प्रकाशित किससे होता है, इसका साक्षी कौन है? चैतन्यरूप अधिष्ठान या चैतन्यरूप प्रकाशके बिना तो अभावकी भी सिद्धि नहीं हो सकती। ईश्वरको यदि जानना है तो वजनके मापसे मत जानो। देशकी लम्बाई-चौड़ाई मापकर मत जानो। उम्र मापकर मत जानो। क्या-से-क्या तक? तब, जरा अपनी ओर नजर डालो। जबतक अपने आपको इस शरीरमें रहनेवाले अपने आपका नहीं

जानेंगे तबतक आपको यह कैसे ज्ञात होगा कि ईश्वरके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है। 'मत्तः परतरं नान्यत्' 'अहं कृत्स्नस्य प्रभवः'। कैसे समझेंगे?

ईश्वरका जब अनुभव होता है, तब मालूम पड़ता है—ईश्वरके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। आत्मरूपमें यदि मैं ईश्वरसे अलग रह गया तो ईश्वर अधूरा हो गया। 'मैं' की न्यूनता और ईश्वर। और यदि मुझसे ईश्वर हो गया तो दृश्य, परोक्ष कल्पित ईश्वरका जो साक्षात्कार होता है, वह आत्मरूपसे ही होता है और इस सत्यको समझानेके लिए यह हमारे सम्पूर्ण वेद, शास्त्र, उपनिद्, गीता, ब्रह्मसूत्र हैं।

वेद तो हमारे ज्ञान हैं। गीता हमारी वाणी है। परमात्मा हमारा आत्मा है और विश्व-सृष्टि जो है वह अपना ही सर्वरूपमें दर्शन है। यह महात्माओंकी अनुभूति आप कल्पना करके, छोटा करके मत समझिये—'स महात्मा सुदुर्लभः' (7.19)—जिसने अपने अद्वितीयको, अपने आत्माको अद्वितीय रूपमें 'मत्स्थानि सर्वभूतानि' 'न च मत्स्थानि भूतानि' (9.4-5) करके जो बोलनेवाला है, जो जाननेवाला है, जो अनुभव करनेवाला है, जो साक्षात् अनुभवस्वरूप है।

श्रीकृष्णकी वाणी है यह गीता—आप लोग प्रेमसे सुनते हो। सबेरे जल्दी उठते हैं, आते हैं, तकलीफसे बैठते हैं—हमारे आयोजक—ये सब काकोजीकी प्रेरणासे ही होता है। यह जो आयोजन होता है, इसमें मूल वही हैं। उन्होंने एक बार आदित्यसे कहा कि तुम स्वामीजीका व्याख्यान कराओ। आदित्यने कराया और इन लोगोंके मनमें भी जो प्रेरणा है, वह वहींसे आयी हुई है। ये लोग अपने मनसे थोड़े ही करते हैं? ये तो निमित्तमात्र हैं। इनका भी प्रेम है, इनकी भी रुचि है, पर मूलस्रोत वही है, तो धन्यवादके पात्र तो ये लोग उतने नहीं हैं जितने वे हैं।

सारे परिवारके जो लोग अलग-अलग रहते हैं, सबकी धर्ममें व ईश्वरमें रुचि है। आप लोगोंका प्रेम, रुचि, यह तपस्या और उन लोगोंका आयोजन—हमको बोलनेका अवसर देता है और हम सच बताते हैं आपको, हमको यह बोलनेमें मजा आता है। हमारे कई रोग बोलनेके समय मिट जाते हैं। बुखार उतर जाता है। पल्स 130-150 होती है यहाँ आकर बैठ जाता हूँ तो यहाँसे उठनेके समय 100-90 रहती है। ब्लड प्रेशर कम हो जाता है। कल कड़ा जुकाम था—बोलनेके समय ठीक हो गया।

इसका अर्थ यह है कि जिस काममें अपनेको मजा आता है, आनन्द आता है, उसमें सब रोग, शोक, भय, सब निवृत्त हो जाते हैं। जो लाभ आप लोगोंका है सो तो है ही। पर हमारा इसमें बहुत लाभ है। हमको ईश्वरके बारेमें चिन्तन करनेका अवसर मिलता है। हम आप लोगोंके आभारी हैं, कृतज्ञ हैं और धन्यवाद देनेसे यदि वह पूरा होता है तो धन्यवाद भी देते हैं। परन्तु हमारी जो कृतज्ञता है—ये जो घण्टे भर रोज ईश्वरकी चर्चा करनी पड़ती है या चिन्तन करना पड़ता है, उसके लिए तो हम आप लोगोंके सदा-सदाके लिए कृतज्ञ हैं।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

●

आभार

पूज्यश्री स्वामीजी महाराज,
व
सत्संगप्रेमियो !

समापनका दिवस बहुत शीघ्र आजाता है। इन दस दिनोंका आनन्द हमें वर्ष भर तृप्त रखेगा। पूज्य स्वामीजी महाराजने यहाँ पधारकर हम सबको कृतकृत्य किया। मैं उन्हें हम सबकी तरफसे प्रणाम करती हूँ।

स्वामी प्रबुद्धानन्दजी व श्रीविमलानन्दजीने कार्यक्रमको सुचारु रूपसे चलानेमें सहायता की है। पं० श्रीदेवधरजी दिल्लीसे इसी सत्संगका लाभ उठाने आये हैं। मैं सबको धन्यवाद देती हूँ।

अब नूतन वर्षमें यहीं पूज्य स्वामीजीके वचनोंका श्रवण करेंगे। ईश्वर उन्हें स्वस्थ रखे, यही प्रार्थना है।

ईश्वर आप सबको स्वस्थ रखें। आप सबको धन्यवाद !

—जयश्री मेहता

सौ. मञ्जुश्री खेतानका समापन-भाषण

पूज्य श्रीस्वामीजी महाराज तथा सज्जनवृन्द,

परमेश्वरकी असीम अनुकम्पासे आज इस गीता-ज्ञान यज्ञकी पूर्णाहुति होने जा रही है। इस ज्ञानामृतके रसास्वादनसे हम सबको अत्यन्त आनन्द मिला है तथा ज्ञानके अङ्कुर हृदयमें उदित हुए हैं। ये अङ्कुर अध्ययन, मनन, चिन्तनसे भविष्यमें पेड़-पौधोंके रूपमें विकसित होंगे, यही आशा है।

इसके लिए मैं पूज्य स्वामीजीके चरणोंमें सादर-प्रणाम समर्पित करती हूँ। गीता-ज्ञान यज्ञकी सफलताके लिए पूज्य स्वामीजीका अखण्ड ज्ञान, उनकी दिव्य वाणी, उनकी सुगम शैली तथा प्रात:कालका शान्त वातावरण, इनसे उत्तम साधन और क्या हो सकते हैं? मेरा विश्वास है कि आजके भौतिक युगमें इस प्रकारके आयोजन जीवनके लिए सहायक एवं उपयोगी हों। मैं समवयस्क भाइयों एवं बहनोंसे प्रार्थना करूँगी कि वे इन प्रवचनोंसे अधिक-से-अधिक लाभान्वित होनेका प्रयास करें। पूज्य महाराजश्रीने आगामी वर्ष इसी समय यहाँ पधारनेकी स्वीकृति दी है तथा हम सबपर गीतामृतकी वर्षा करेंगे। पूज्य स्वामीजी, स्वामी प्रबुद्धानन्दजी तथा आप सबको अनेक-अनेक धन्यवाद!

गीता-दर्शन

तीन खण्डोंमें पूज्य महाराजश्री
स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वतीजीके
रोचक, सरस, प्रसन्न एवं गंभीर शैलीमें
प्रदत्त 130 प्रवचनोंका बेजोड़ संकलन है,
जिसके माध्यमसे भगवान् श्रीकृष्णका सन्देश
'गीता-दर्शन'के रुपमें, साधारण-से-साधारण
व्यक्ति भी समझ सकता है। पूर्ण विश्वास है कि
सुधी पाठक वर्ग पूज्य महाराजश्रीकी
प्रस्तुत व्याख्यासे अवश्य
लाभान्वित होंगे।

एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति

आनन्द कानन प्रेस